॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
१९४

ईशावास्याद्यष्टोपनिषदः

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतोरेयोपनिषद्
सान्वयानुवाद 'तत्त्वप्रकाशिका' संस्कृत एवं सरल हिन्दी व्याख्यायुक्त)

सम्पादक एवं व्याख्याकार
डॉ. स्वामी द्वारकादास 'काठियाबाबा'

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१९४

ईशावास्याद्यष्टोपनिषदः

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतरेयोपनिषद्
सान्वयानुवाद 'तत्त्वप्रकाशिका' संस्कृत एवं सरल हिन्दी व्याख्यायुक्त)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ. स्वामी द्वारकादास काठियाबाबा

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्राक्कथन

भगति भगत भगवन्त गुरु चतुर्नाम वपु एक ।
इनके पद वन्दन किये नाशहि विघन अनेक ॥

उपनिषद् शब्द रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अक्षरार्थ उप + निषद् = पास बैठना । उप-नि उपसर्ग पूर्वक षद् धातु का अर्थ पास बैठने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन् मत्स्यरूपिणः'[१] । अर्थात् राजर्षि सत्यव्रत मत्स्यरूपधारी भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों का चिन्तन करते हुए बैठ गये । 'उपनिषसाद' शब्द का अर्थ है—पास बैठा । अर्थात् शिष्य सद्गुरुदेव के पास बैठा, उपासक उपास्यदेव के पास बैठा ।

वेद, इतिहास और पुराण परमात्मा के निश्श्वास हैं—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्'[२] । इतिहास = महाभारतादि, पुराण = श्रीमद्भागवतादि । निःश्वास स्वाभाविक रूप से स्वतः निकलते हैं, इसलिये निश्श्वास शब्द से वेद, इतिहास और पुराणों की नित्यता एवं अपौरुषेयता सिद्ध हुई है ।

"सा विद्या या विमुक्तये" = वह विद्या जो मोक्ष के लिये हो। वह अध्यात्मविद्या उपनिषदों में भरे हुए हैं। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'[३] = हे अर्जुन ! मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या हूँ। चूँकि आत्मा का अधिकार करके जीव, जगत् और ब्रह्म का ज्ञान करानेवाली यह विद्या है। अतः उपनिषद् शब्द से तात्पर्य अध्यात्मविद्या के सद्ग्रन्थों से हैं।

अतएव कहा है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्[४] ।
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः[५] ॥
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्[६] ॥

---

१. श्रीमद्भागवत ८/२४/४ ।

२. वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद् २/४/१० ।

३. श्रीमद्भगवद्गीता १०/३२ ।

४. मुण्डकोपनिषद् ।

५. श्रीमद्भागवद्गीता ४/३४ ।

६. श्रीमद्भागवत ११/३/२१ । महाभारत इतिहास ग्रन्थ है और उसी में भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है, उनके श्रीमुख से निकली हुई दिव्य वाणी गीताशास्त्र है ।

अर्थ—उसको जानने के लिये वह समिधा हाथ में लेकर उस गुरु के पास जाये, जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है। उस तत्त्वज्ञान को समझो, उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुष तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे। इसलिये उत्तम श्रेय के लिए तत्त्वजिज्ञासुओं को शास्त्रज्ञ और ब्रह्म में निष्ठ सद्गुरु के पास जाना चाहिये; उनके श्रीचरणकमलों का आश्रय लेना चाहिये।

उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय

उपनिषदों का मुख्य विषय अर्थपञ्चक = १. उपास्य, २. उपासक, ३. श्रीभगवत्कृपा का फल मोक्ष, ४. भक्ति का रस प्रेमानन्द फलरूप भक्ति और ५. श्रीभगवान् की प्राप्ति के विरोधी रूप। तत्त्वत्रय = जीव, जगत् और ब्रह्म का विवेक, परमात्मा की प्राप्ति अर्थात् परमात्मा के दर्शन। उपासना की रीति, जगत्-सृष्टि आदि का वर्णन—ये समस्त विवरण इन प्राचीन आर्ष सद्ग्रन्थों में पाये जाते हैं। महाभारत, पुराण आदि अनेकानेक धर्मग्रन्थों में भी वर्णित हैं।

अथवा दूसरा अर्थ

उपनिषद् शब्द मुख्यवृत्ति से ब्रह्मविद्या को ही कहता है। जो परमात्मा के पास पहुँचाती है। 'उपनिषीदति परमात्मानं प्रापयति या परमात्मविद्या सा उपनिषद्' अर्थात् जो परमात्मविद्या परमात्मा को प्राप्त कराती है वह उपनिषद् है। ब्रह्मविद्या के रसिक श्रद्धालु सज्जनो! उसे जरा ध्यान से सुनिये। इस संसार के विविध दुःखों के कीचड़ों में डूबे हुए लोगों का शास्त्र ही प्रकाश है और दिव्य चक्षु है। वह भी उपनिषद् शास्त्र ही है—

'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमैति'[१]।
'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति'[२]।
'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः'[३]।

अर्थ—जीव पाप और पुण्य रूप कीचड़ों को हटाकर निर्दोष होकर परमात्मा की समता को प्राप्त हो जाता है। वह परमात्मा रसस्वरूप है। जीव उसे प्राप्तकर आनन्दवान् होता है अर्थात् श्रीमद् ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष है। परमात्मा से दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र श्रेष्ठ नहीं है। वही सबकी अवधि है और वही प्राप्य है। श्रुतियाँ अशेष कल्याणगुणों की एकमात्र राशि निर्गुण-सगुण परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण का ही प्रतिपादन करती है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। अर्थात् हे अर्जुन! सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेद = श्रुतियाँ अनेक हैं, पर उन सबों में जानने योग्य एक ही परमात्मा श्रीकृष्ण है। श्रुति का दूसरा नाम वेद है। स्मृतिकार भगवान् मनु ने कहा है—'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः'। सगुण और निर्गुण में कुछ भेद नहीं है—ऐसा वेद, पुराण, पण्डित और मुनि जन कहते हैं[४]। वही परम पुरुष श्रीभगवान् शास्त्रों में आत्मा नाम से प्रसिद्ध है—

---

१. मुण्डकोपनिषद्। २. तैत्तिरीयोपनिषद्। ३. कठोपनिषद्।
४. सगुन हि अगुन हि नाहि कछु भेदा।
गावहि मुनि पुरान बुध वेदा॥

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्'[१]।
'आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'[२]।
'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'[३]॥

अर्थ—'अतति व्याप्नोतीति आत्मा'। अत धातु निरन्तर चलना अर्थ में है। यह जगत् सृष्टि के पहले एक आत्मा ही (परमात्मा) था। अन्य कुछ नहीं था। यह सम्पूर्ण विश्व और इस विश्व में रहने वाले समस्त चर-अचर सब उस आत्मा (परमात्मा) से ही व्याप्त हैं। उस आत्मा (श्रीभगवान्) के द्वारा दिया हुआ उसी से अपना पालन-पोषण करो, किसी दूसरे की वस्तु (पदार्थ) में अभिकांक्षा (मोह) न करे अर्थात् पाने के लिए इच्छा मत करो। हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों का आदि, मध्य तथा अन्त मैं ही हूँ और सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण (हृदय) में स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ।

उपनिषदों की संख्या

सारतर उपनिषद् अष्टोत्तरशतसंख्यांक (१०८) उपलब्ध होती हैं। पर उनमें प्रधान उपनिषदें १० ही मानी गयी है। जो निम्न प्रकार हैं—

'ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा'॥

ईशादि अष्टोपनिषदों की अपेक्षा छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक-उपनिषद् द्वय बृहदाकार हैं। महर्षि बादरायण ने उपनिषदों के विचार के लिये ही **ब्रह्मसूत्र, वेदान्तदर्शन, ब्रह्ममीमांसा, शारीरकमीमांसा** अथवा **उत्तरमीमांसा का** प्रणयन किया है।

१. पूर्वमीमांसा, २. उत्तरमीमांसा, ३. सांख्यदर्शन, ४. योगदर्शन, ५. न्याय-दर्शन और ६. वैशेषिकदर्शन ये छः दर्शन शास्त्र हैं।

महर्षि बादरायणप्रणीत वेदान्तदर्शन ने श्रुति-स्मृति-धर्मशास्त्र-इतिहास तथा पुराणों की प्रतिष्ठा हेतु से इस जगत् में अनुत्तम प्रतिष्ठा पाई है। बड़े-बड़े मूर्धन्य मनीषी-आचार्य-महापुरुषों ने इस दर्शन पर भाष्य लिखकर सिद्धान्त-स्थापना की है[४]। जहाँ तक कि श्रीभगवान् ने भी ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) का उल्लेख करते हुए गीताजी में कहा है—

---

१. एतरेयोपनिषद्। २. श्रीमद्भगवत ८/१/१०। ३. श्रीमद्भगवद्गीता १०/२०

४. अंशांशिभावाद् जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति—परमात्मनो जीवोंऽशः, "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादिभेदव्यपदेशात् तत्त्वमसीत्याद्यभेदव्यपदेशाच्च। अपि चाथर्वणिकाः—ब्रह्मदाशा, ब्रह्मदासा, ब्रह्मकितवाः इति ब्रह्मणो हि कितवादित्वमधीयते! (ब्र.सू. निम्बार्क-भाष्य) चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोः, यथा—अग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदावगमाभ्या-मंशत्वावगमः। (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य। ब्र.सू. २/३/४२)

'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' ॥

अर्थ—यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों के द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है तथा वेदों की ऋचाओं द्वारा बहुत प्रकार से विभागपूर्वक कहा गया है और युक्तियुक्त एवं निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी कहा गया है। यह श्रीमद्भगवद्गीता जो धार्मिक जगत् में इस समय बड़े आदर की दृष्टि से देखी जा रही है, समस्त उपनिषदों के रङ्ग से रङ्गी हुई है[१]। शास्त्र में विद्याओं के और धर्म के चौदह स्थान बतलाये हैं—

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ॥

ब्रह्मविद्या के समस्त रसिक सुधीजनों ने प्रस्थानत्रयी = उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता के सामने अपना सिर झुकाया है, उनके लिये इनका विचार नित्य नवीन है। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः = अर्थात् बिना ज्ञान के मोक्ष लाभ नहीं होता और 'ज्ञानस्य परिपक्वावस्था भक्तिः' = ज्ञान का जो परिपक्वावस्था है वही भक्ति है। श्रीमद्भगवत में (१/५/१२) देवर्षि नारद महर्षि बादरायण से कहते हैं—

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्' ।

हे मुने ! जो मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन ज्ञान है, यदि अच्युत भगवान् श्रीपुरुषोत्तम की भक्ति से रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। इस सद्भावना से उपास्यदेवता भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के कृपाप्रसाद से तथा नित्यलीलाप्रवेश हमारे परमाराध्य सद्गुरुदेव योगिराज श्री १०८ स्वामी राधाविहारीदासजी काठियाबाबा की प्रेरणा से ईशादि अष्टोपनिषदों की भक्ति और वैराग्य वर्द्धन 'तत्त्वप्रभा' नाम्नी सरल एवं सुबोध तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी में व्याख्या "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" प्रस्तुत की है एवं अन्वय के साथ अनुवाद भी कर दिया हूँ। चूँकि उपनिषदों का संस्कृत नवीन नहीं है प्राचीन है। श्रीयुत अमोलकराम प्रभृति मूर्धन्य मनीषियों ने देवभाषा की प्राञ्जल शैली में तत्त्वप्रकाशिका नामक टीका लिखी है। जम्मू-काश्मीरस्थित केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के भूतपूर्व दर्शनविभागाध्यक्ष राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित डॉ. श्रीयुत मुरलीधरजी पाण्डेय डी लिट् ने ईश आदि आठों उपनिषदों की भूमिका लिखी है। यह महामूल्य सद्ग्रन्थरत्न आप सबके कर-कमलों में प्रस्तुत है।

दुर्लभ मनुष्य जीवन में जो परम उपादेय है और मनुष्य जीवन के लिये परम मननीय विषय है—जीव, जगत् एवं सर्वाधार ब्रह्म। उपनिषदों में मूल इन तीनों की व्याख्या के लिये विशेष महत्त्व दिया गया है। परमात्मा की स्वानुभूति अथवा उनकी प्राप्ति ही पुरुषार्थ है। उप = समीपे, नि = निश्चयेन, सीदति इति उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म के पास निश्चय करके पहुँचा देनेवाला यह उपनिषद् ही है।

---

१. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धागोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्' ॥

इसलिये मनुष्यों के चाहिये कि प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निकालकर उपनिषदों के उद्देशों को तथा उपदेशों को दृढ़ रूप से चिन्तन व मनन करते रहना चाहिये। यह निस्सन्देह है कि उपनिषदों का नित्य अभ्यास अर्थानुचिन्तन-मनन, रसदायक, आनन्ददायक एवं शान्तिदायक है। क्योंकि यह श्रुतियों का शिरोभाग वेदों का शिरोभाग ही उपनिषद् = वेदान्त है।

('वेदानाम् अन्तः चरमसिद्धान्तः, वेदान्तः श्रुतिशिरोभागः उपनिषद्। श्रुतिर्वेदः' ।)

वेदान्ते परमं गुह्यम् = उपनिषदों में परम गोपनीय अमृत कथा सम्यक् वर्णित है। ऐसी परिस्थिति में जब भूले-भटके को भलीभाँति राह बतलानेवाला उपनिषद् है तो ऐसे सर्वोत्तम सद्ग्रन्थों की टीका व व्याख्या परमावश्यक है। वह भी सरल एवं सुबोध देवभाषा संस्कृत और राष्ट्रभाषा हिन्दी में आज आप के हाथ में है।

अतः पाठकों से यह प्रार्थना है कि तत्त्वप्रकाशिका तथा तत्त्वप्रभा व्याख्याद्वय द्वारा उपनिषदों के गूढ़ तत्त्वों को जानकर इनसे श्रेय = अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करते हुए इनके प्रचार-प्रसार द्वारा देश एवं समाज का कल्याण करें।

अन्त में मैं आर्य ऋषियों की अमर आशीर्वाणी का स्मरण करता हुआ अपनी लेखनी को विराम देता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
(सभी सुखी होवें सदा, होवें सभी नीरोग।
सबका ही कल्याण हो, किसी को नहीं दुःखभोग)॥ इति शम्॥

श्रीमत्परमहंसमहाभागवतानां परमऋषीणां चरणधूलिः
द्वारकादासः काठियाबाबा इत्युपाह्वः
श्रीधाम वृन्दावन।

भूमिका

उपनिषद् को ब्रह्मविद्या कहते हैं। ब्रह्म का एक नाम वेद भी है। वेद का अन्तिम भाग वेदान्त है। कहा गया है कि 'उपनिषत्प्रमाणो वेदान्तः'। उपनिषद् शब्द की व्याख्या उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग सद् धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण = नाश होना, गति = प्राप्ति होना और अवसादन अर्थात् शिथिल होना। इस प्रकार उपनिषद् का अर्थ अध्यात्म विद्या है। जिस विद्या के अध्ययन से दृष्टानुश्रविक विषयों से वितृष्ण मुमुक्षुजनों की संसार-बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है। जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवासादि दुःखवृन्दों का सर्वदा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्म विद्या उपनिषद् है। इसी कोटि में वेद के ब्राह्मणभाग और आरण्यकभाग भी आते हैं। भगवत्पाद शंकराचार्य की इस व्याख्या के अनुसार उपनिषद् का मुख्य अर्थ है—ब्रह्मविद्या तथा गौण अर्थ है—ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष कठोपनिषद्। शाङ्करभाष्य में कहा है—ब्रह्म के स्वरूप उससे या उसमें प्रतीयमान उत्पन्न जीव और जगत् के साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय आदि विषयों को स्पष्ट करना उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है। वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है। जैसा सुरेश्वराचार्य जी ने बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्यवार्तिक में कहा है—

> उपनीयतमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।
> निहन्त्यविद्यां तज्जञ्च तस्मादुपनिषद् भवेत् ॥१॥

आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर अपने को ब्रह्मरूप जानकर आत्मा एवं ब्रह्म में द्वैतभाव मिटाकर जो अविद्या को और अविद्याजन्य संसार को मिटा देता है वह उपनिषद् कहा जाता है ॥१॥

> निहन्त्यनर्थमूलं स्वाऽविद्यां प्रत्यक्तया परम्।
> नयत्यपास्तसम्भेदमतोऽप्युपनिषद् भवेत् ॥२॥

अनर्थ के मूल अविद्या को जो मिटा देता है, परब्रह्म का जो प्रत्यक्ष बोध कर देता है और आत्मा ब्रह्म के मिला देता है, उसे उपनिषद् कहते हैं ॥२॥

> प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छदेकत्वतः।
> यतोऽवसाद्येदविद्यां तस्मादप्युनिषद् भवेत् ॥३॥

संसार में प्रवृत्ति के कारणों को जो समूल मिटा देता है और अविद्या को मिटा देता है वह शास्त्र उपनिषद् है ॥३॥

तैत्तिरीयोपनिषद् के 'अनन्ता वै वेदाः' के अनुसार वेद एवं वेदों की शाखाएँ अनन्त हैं किन्तु पतञ्जलि के काल में ११३१ शाखाएँ उपलब्ध थीं। इसका उल्लेख

पातञ्जलमहाभाष्य में है। इसलिए इसकी जितनी शाखाएँ हैं उतने ही उपनिषदें भी हैं। अत: प्रतिशाखा को वेदान्त या उपनिषद् कहा जाता है। वर्तमान में उपनिषद् संग्रह प्रकाशित हुआ है। उसमें लगभग १५० उपनिषदों की गिनती की गई है। मुक्ति उपनिषद् में १०८ उपनिषदों की नामावली इस प्रकार दी गई है। जैसे—

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा ब्रह्म, कैवल्य, जाबाल, श्वेताश्व, हंस, आरुणि, गर्भ, नारायण, हंस, बिन्दु, नाद, शिरः, शिखा, मैत्रायणी, कौषितकी, बृहज्जाबाल, तापनी, शाखाग्निकद्र, मैत्रेयी, सुबाल, क्षुरि, मन्त्रिका, सर्वसार, निरालम्ब, रहस्य, वज्रसूचिका, तेज, नाद, ध्यान, विद्या, योगतत्त्वात्मबोधक परिव्राट्, त्रिशिखी, सीता, चूड़ा, निर्वाण, मण्डल, शिण, शरभ, स्कान्द, महानारायण, रहस्य, रामतापनीय, वासुदेव, मुद्‌गल, शाडिलय, पैङ्गल, भिक्षु महतशारीरक, शिखार्द्र, तुरीयातीत, संन्यास, परिव्राजा, अध्यमालिका, अव्यक्त, एकाक्षर, पूर्ण, सूर्य, अध्यात्मकुण्डिका, सावित्री, आत्मा, पाशुपत, परब्रह्म, अवधूतका, त्रिपुरातापन, देवी, त्रिपुरा, काठ, भावना, हृदय, कुण्डली, भस्म, रुद्राक्ष, गण, दर्शन, तारसार, महावाक्य, पञ्चब्रह्म, अग्निहोत्र, गोपाल, ताप, कृष्णतापनीय, याज्ञवल्क्य, वराह, शांख्यायनी, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड़, कैवल्य, जाबालि, सौभाग्य, रहस्य, ऋच, क्षुरिका।

वहीं पर शान्तिपाठ के साथ किस वेद का कौन-सा उपनिषद् है, यह भी दिखाया गया है। ग्यारह उपनिषद् मुख्यरूप से प्रसिद्ध है। (१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डुक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) श्वेताश्वतर, (१०) छान्दोग्य तथा (११) बृहदारण्यकोपनिषद्।

इनमें विशेष रूप में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैताद्वैत प्राप्ति पादक ईश, केन आदि १० उपनिषद् विशेष महत्त्व रखते हैं। अत: श्रीशङ्कराचार्य जी ने इन्हीं १० उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। इनसे परवर्ती वेदान्त आचार्यों ने भी इन्हीं पर भाष्य लिखे हैं। कुछ आचार्यों ने श्वेताश्वतर के साथ रामतापनीय आदि पर भी भाष्य लिखे हैं। इन आठों में प्रतिपादित विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं। जैसे—

(१) ईशावास्योपनिषद्

ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेद काण्वशाखीय संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। मन्त्रभाग का अंश होने से इसका विशेष महत्त्व है। इसी को पहला उपनिषद् माना जाता है। शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम उनतालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का निरूपण हुआ है। यह उस काण्ड का अन्तिम अध्याय है और इसमें भगवत्तत्त्वरूप ज्ञानकाण्ड का निरूपण किया गया है। इसके पहले मन्त्र में "ईशावास्यम्" वाक्य आने से इसका नाम ईशावास्य माना गया है। इसमें कुल १८ मंत्र हैं। इनमें कर्म, विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति, मृत्यु और अमृत का विवेचन किया गया है।

(२) केनोपनिषद्

यह उपनिषद् सामवेद के तवलकार ब्राह्मण के अन्तर्गत है। तवलकार को जैमिनीय उपनिषद् भी कहते हैं। इसमें चार खण्ड है। प्रथम खण्ड में आठ मंत्र हैं। द्वितीय खण्ड में पाँच मंत्र हैं। तृतीय खण्ड में बारह मंत्र हैं। चतुर्थ खण्ड में नौ मन्त्र हैं।

प्रथम खण्ड में पूछा गया है कि किस के द्वारा प्रेरित होकर मन, प्राण, वाणी, आँख और कान को तत्-तत् कर्मों में कौन प्रवृत्त कराता है। द्वितीय खण्ड में कहा है कि कर्ण का भी कर्ण, वाणी की भी वाणी, मन का भी मन आँखों की भी आँख तथा जो प्राण का भी प्राण है। जो यहाँ से जाकर अमृत हो जाता है, वही सबका प्रेरक है, वह आत्मा है।

जो प्राणों को अनुप्राणित करता है और जो प्राणों से अनुप्राणित नहीं है उसको ब्रह्म समझो। अहंकार-आस्पद जड़-चेतनात्मक ब्रह्म नहीं है जिसकी उपासना करते हैं। तुम जो मानते हो कि मैं अच्छी तरह ब्रह्म को समझ गया तो सत्यतः तुमने बहुत थोड़ा जाना है। जिसने माना कि मैंने ब्रह्म के विषय में नहीं समझा है। वह कुछ-कुछ समझ गया है, अतः उस ब्रह्म को पूर्णतया समझो। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जिससे इस परमसत्य ब्रह्मतत्त्व को नहीं जाना उसकी बहुत बड़ी क्षति हुई। प्रत्येक भूत में वह ब्रह्म श्रीकृष्ण रूप में विराजमान है—ऐसा जिसने जान लिया वह अमृत ही जाता है।

ब्रह्म के द्वारा देवताओं ने विजय प्राप्त की। देवताओं को दर्प हो गया। तब ब्रह्म श्रीकृष्ण यक्ष के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने एक तृण सामने रखा। इन्द्र आदि सभी देव उस तृण की उठाने में, उड़ाने में और जलाने में असमर्थ हो गये। तब यक्षरूप श्रीकृष्ण भगवान् ने उमा का रूप धारण कर समझाया कि आप सबों में स्थित शक्ति वह ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं। इन्द्र ने कहा कि हमलोगों ने अन्तर्यामी श्रीकृष्ण की कृपा से विजय प्राप्त की है। इसके बाद इन्द्र, यम, वायु और अग्नि को यक्षरूप में परमब्रह्म श्रीकृष्ण का ज्ञान हुआ। यहीं पर परमात्मा श्रीकृष्ण को वन नाम से भी कहा गया है।

(३) कठोपनिषद्

वैशम्पायन के बहुत शिष्यों में से एक कठऋषि हुए हैं। उनके नाम पर कृष्णयजुर्वेद की एक कठशाखा है। यह उपनिषद् उस शाखा का है, इसलिये इसको कठोपनिषद् कहते हैं। इस उपनिषद् में नचिकेता की कथा और उसकी वह शिक्षा है, जो उसे मृत्यु से मिली है। मृत्यु का नाम अन्तक एवं यम भी है। यम सूर्य का पुत्र है। यम को यह अधिकार मिला हुआ है कि वह उन लोगों को दण्ड दे, जिन्होंने मर्त्यलोक में अपना धर्म पालन नहीं किया। दण्ड देने के लिये रौरव आदि आत नरक उसके अधीन हैं। इस उपनिषद् में यम और मृत्यु में भेद न रहने के कारण स्वर्ग में यम का अधिकार नहीं और धर्म से विमुख लोग उसके वश में पड़ते हैं।

इस उपनिषद् मे अतिथि-सत्कार, नचिकेता का पहला वर, दूसरा वर, तीसरा वर का वर्णन है। नचिकेता और यम के संवाद रूप में अग्नि साधन, जीवात्मा साधक और परमात्मा साध्य इन तीन तत्त्वों का वर्णन है। समस्त वेदोपनिषदों का परम तात्पर्य परब्रह्म की प्राप्ति है और उसी के स्वरूप का वर्णन है। परमात्मा नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है, अकेला जो बहुतों की कामनाओं को पूरा करता है। अंगुष्ठ मात्र अन्तरात्मा परमपुरुष परमात्मा सदा समस्त प्राणियों के उस-उस हृदय में रहते हैं।

(४) प्रश्नोपनिषद्

सुकेश, शैव्य, सौर्यायणी, कौशल्य भार्गव और कबन्धी ये ऋषि समित्पाणि होकर ब्रह्मज्ञान के लिए महर्षि पिप्पलाद के पास जाते हैं। इनमें कुल छः प्रश्न पूछे गये हैं। सबसे पहले कबन्धी ने पूछा—ये प्रजा कहाँ से जन्म लेते हैं ? पिप्पलाद जी ने उत्तर दिया कि प्रजा की कामना से प्रजापति ने तप किया था। उसी के फल से रयि नामक प्रकृति तथा प्राण नामक पुरुष उत्पन्न हुए। इसके बाद आदित्य, चन्द्र, विश्वानर, संवत्सर आदि की उत्पत्ति बतायी गयी है। वहीं पर दक्षिणायन एवं उत्तरायण का भी विवेचन किया गया है।

इसके बाद दूसरा प्रश्न वैदर्भी-भार्गव ने पूंछा—महर्षे ! कितने देव हैं ? इनमें कौन-कौन से देव इस शरीर को तत्-तत् कार्यों के लिए प्रेरित करता है और इनमें सर्वश्रेष्ठ कौन-सा देव है ? महर्षि ने इनमें प्राण को सर्व श्रेष्ठ कहा। फिर इन्द्रियों के साथ प्राण का संवाद चलता है। अन्त में प्राण के बाहर निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं और स्वीकार करती हैं कि हममें प्राण ही श्रेष्ठ है। इसके बाद आश्वलायन का प्रश्न होता है तथा प्राण, अपान आदि वायुओं का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। इसके बाद सौर्यायणी का प्रश्न है कि स्वप्न में कौन सोता है ? पिप्पलाद का उत्तर है कि वह विज्ञानात्मा अक्षरब्रह्म है, जिसमें सभी जीव प्रतिष्ठित हैं। इसके बाद शैव्य सत्यकाम ने पूछा—भगवन् ! इस शरीर को छोड़ते समय जो ॐ का ध्यान करता है वह किस लोक में जाता है ? पिप्लाद ने उत्तर दिया—यह ॐकार पर तथा अपर ब्रह्म है। तीन मात्राओं वाले ॐ का ध्यान करते हुए जो शरीर छोड़ता है वह ब्रह्मलोक में जाता है। इसके बाद भारद्वाजपुत्र सुकेशा पूछता है—महर्षे ! कोशलदेश के हिरण्यनाभ नामक राजकुमार ने षोडशकल पुरुष के विषय में पूछा था। मैं उत्तर न दे सका। अतः वह षोडशकल पुरुष कौन है ? महर्षि ने उत्तर दिया कि इसी अन्तः शरीर में जो पुरुष है वही षोडशकला वाला है। उसने ही आकाश, वायु, मन, इन्द्रियों तथा पञ्चभूतों आदि की सृष्टि की है। इसको जो जानता है वह नाम-रूप छोड़कर अकल और अमृत हो जाता है।

(५) मुण्डकोपनिषद्

ब्रह्माजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को इस ब्रह्मविद्या का सर्वप्रथम उपदेश दिया था। इसके बाद यह विद्या अथर्वा से क्रमशः भारद्वाज, अङ्गिरा, शौनक तथा महाशाल आदि को प्राप्त हुई। ब्रह्माजी ने कहा—विद्या दो है—परा विद्या तथा अपरा विद्या।

अपरा विद्याएँ हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्यौतिष। परा विद्या वह है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान होता है। उसमें हाथ, पैर, नाक, मुख और नेत्र आदि नहीं होते। जो नित्य है, विभु है, अव्यय है और जिससे उत्पन्न होते हैं। जो सर्वज्ञ है और ज्ञानमय है। मनीषी जन जिसका अनेक रूपों में वर्णन करते हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, प्राण तथा सभी प्राणियों के भीतर जो चैतन्य है वही ब्रह्म है। जिसका प्रतिपादन सभी वेद, सभी यज्ञ, सूर्य, चन्द्र तथा सर्व संसार करते हैं। समुद्र, नदियों तथा पर्वत में स्थित वही ब्रह्म है। वही सत्य है, अमृत है, अक्षर है तथा सत्य है। ॐ का ध्यान करके योगविद्या के द्वार उसको पाया जा सकता है। उसका ज्ञान हो जाने पर हृदयग्रन्थियाँ टूट जाती हैं तथा सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं। एक कर्मफल न भोगकर सुखी है तथा दूसरा कर्मफल भोगता हुआ दुःखी रहता है।

(६) माण्डूक्योनिषद्

इसमें चार मन्त्र हैं। श्रीगौडापादाचार्य जी ने इन पर माण्डूकारिका ग्रन्थ लिखा है। इसमें ॐ की महिमा वर्णित है। जो कुछ भूत, भविष्यत् एवं विद्यमान वर्तमान है, वे सब ॐकार हैं। वह आत्मा ब्रह्म चतुष्पाद् है। प्रथम वाद जागरित स्थान, द्वितीय पाद स्वप्नस्थान, तृतीय सुषुप्ति स्थान और चतुर्थ पाद जिसको तृरीय स्थान भी कहते हैं। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से ऊपर है। जागरित अवस्था में सभी विषयों का इन्द्रियों के द्वारा ज्ञानयोग होता है। स्वप्न में बाह्येन्द्रियाँ सुप्त रहती हैं। केवल मन गतिशील रहता है। चतुर्थावास्था में सुषुप्ति में अविद्या से आवृत आत्मा सभी विषयों से दूर रहता हैं। ॐ की तीनों मात्राएँ अकार, उकार तथा मकार है। जागरित वैश्वाकार ही अकार मात्रा हैं। स्वप्नस्थानीय तैजस रूप द्वितीय मात्रा उकार है। तृतीय पाद सुषुप्तस्थानीय मकार तृतीय पाद है। चतुर्थ पाद मृ अव्यवहार्य प्रपञ्चौरत शिव तथा अद्वैत हैं। वहीं ॐकार हैं।

(७) तैत्तिरीयोपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें ३ वल्लियाँ हैं। प्रथम शिक्षा-वल्ली है। इसमें ११ अनुवाक हैं। द्वितीय ब्रह्मानन्द वल्ली है। इसमें ९ अनुवाक हैं। तृतीय भृगुवल्ली हैं। इसमें १० अनुवाक हैं। जिनमें क्रम से १ में शिक्षा-शीक्षा; २ में अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्पय; ३ में वेदाध्यायी का स्वरूप तथा ब्रह्मवादी का स्वरूप एवं कर्त्तव्य; ५ में महाव्याहतियों की व्याख्या; ६ में इन्द्रियों और देह के अधीश्वर एवं ज्ञान का उद्गम स्थान आदि का वर्णन; ७ में दिशा वायु वायुभरे और पाङ्क्त तथा पाङ्क्त से पञ्चत्व संख्यायुत श्री नारायण का वर्णन है। ८ में ॐकार रूप परब्रह्म की व्याख्या है। ९ में ऋत, सत्य, तप, दम, शम, स्वाध्याय एवं प्रवचन की व्याख्या की गयी है। १० में पूर्वोक्त ऋत आदि से उत्तम स्वाध्याय एवं प्रवचन हैं। जीव स्थूल शरीर, लिङ्गदेह कर्म, विरजा नदी लिङ्गशरीर को वृक्ष की उपमा

देकर कर्म की छेदन करने की विधि वर्णित हैं। १०-११ में आचार्य के द्वारा वेदाध्याय अन्तेवासी के अध्ययनानन्तर क्रियमाण कर्मों का विस्तृत उपदेश तथा १२ में फलश्रुति वर्णित हैं।

द्वितीय ब्रह्मानन्द वल्ली के १ अनुवाक में शान्तिपाठ, श्रीकृष्णरूपी ब्रह्म का स्वरूप और इसके ज्ञान एवं उपासना महत्त्व, ३ में संसार की उत्पत्ति, विज्ञानमय आत्मा एवं आनन्दमय आत्मा की संस्तुति हैं। ४ में अन्न, जल, तेज आदि के विमिश्रण से शरीर स्थित मांस, रक्त आदि की उत्पत्ति एवं महत्त्व वर्णित हैं। २ अनुवाक में अन्न की महिमा वर्णित है, जिससे प्रजा आदि जन्म लेते हैं। यहीं पर पुरुष विद्या भी वर्णित हैं। ३ अनुवाक में प्राणमय व मनोमय पुरुष के सम्बन्ध में और ऋक् आदि चारों वेदों के मन, बाहु आदि की चर्चा करके अथर्वा ऋषि की प्रशंसा की गयी है। ४ अनुवाक में विज्ञान की महिमा वर्णित हैं और कहा गया है कि जहाँ वाणी, मन आदि नहीं पहुँच पाते वही ब्रह्म हैं। इसके बाद ब्रह्म का महत्त्व वर्णित हैं। ६ में ब्रह्म एवं आत्मा का स्वरूप, परलोक में जाना और सृष्टि के प्रारम्भ का कारण वर्णित हैं। ७ अनुवाक में कहा है कि सर्वप्रथम असत् था, उससे सत् हुआ। यही ब्रह्म है, यही रसरूप है और रस ही आनन्द रूप है और आनन्द ही ब्रह्म हैं। ८ अनुवाक में संसार की उत्पत्ति, आनन्दों में तारतम्य; देव, मनुष्य तथा गन्धर्व आदि के आनन्दों का वर्णन एवं श्रोत्रिय के आनन्द का वर्णन तथा अन्नमय, प्राणमय आदि के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन एवं महत्त्व वर्णित हैं। ९ में आनन्दमय का सर्वोत्तमत्व और मन आदि से अबोध्यत्व वर्णित हैं।

तृतीय भृगुवल्ली के १ अनुवाक में ऋषि भृगु का पिता श्री ब्रह्माजी के पास जाना तथा ब्रह्म विषयक प्रश्न करना तथा ब्रह्माजी का उपदेश देना कि जिससे संसार उत्पन्न होता एवं प्रतिष्ठित होता है व बाद में जिसमें लीन होता है वही ब्रह्म हैं। २ में भृगु जी का पिता वरुण के पास जाना और तप का महत्त्व वर्णित हैं। ३ अनुवाक में प्राण को ब्रह्म बतलाना। अन्त में विज्ञान को ब्रह्म कहना। ४ में मन को ब्रह्म कहना। ५ में विज्ञान को ब्रह्म कहना और तप के द्वारा ब्रह्मज्ञान करना। ६ में तप के द्वारा आनन्द रूप ब्रह्म की अधिगति तथा ब्रह्म में अभिसंविशन का वर्णन है। ७ में अन्न का महत्त्व तथा अन्न की कीर्ति वर्णित हैं। ८ में अन्न की महिमा वर्णित है। ९ में भी अन्नमहिमा है। रात्रि में घर आये अतिथि को अन्न जरूर दें। वह ब्रह्मवान् होता है। १० में अन्न तथा अन्नरूप परब्रह्म की महिमा वर्णित हैं।

(८) ऐतरेयोपनिषद्

ऐतरेयोपनिषद् में ३ अध्याय हैं। मुख्यतः इसमें सृष्टिक्रम तथा ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। प्रारम्भ में कहा गया है कि सर्वप्रथम वह आत्मा एक ही था। उसने ईक्षण (विमर्श) किया और यह लोक उद्भूत हो गया। पहले प्रजा हुई। पुनः मुख से वाणी आदि क्रम से सृष्टि हुई। इसी क्रम से सभी इन्द्रियों की और लोकों की उत्पत्ति

वर्णित हैं। किस प्रकार माता-पिता से गर्भ में जीव आता हैं इसका वर्णन है। पुनः यह दिखाया गया है कि वह आत्मा कौन है। उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति आदि सभी देव, पञ्चमहाभूत जो कुछ विद्यमान हैं वे सब ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। वही प्रज्ञान रूप ब्रह्म हैं।

श्री शंकराचार्यजी विरचित शारीरिक मीमांसा नामक ब्रह्मसूत्र भाष्य इस समय सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। उन्होंने एक ब्रह्मतत्त्व को ही पारमार्थिक सत्य व्याख्यायित किया।

श्रीमन् मध्वाचार्यजी नित्य भगवत्-सामीप्य को ही मुक्ति मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजी ने तत्त्वत्रयी को पारमार्थिक सिद्ध किया। ये तीन तत्त्व इस प्रकार है—१. सविशेष ब्रह्म, २. जीव तथा ३. जगत्। ब्रह्म का स्वरूप जो लक्ष्मीनारायण रूप में उपास्य माना गया, इनके सिद्धान्त को वैष्णव सिद्धान्त कहा गया। श्री रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय श्रीसम्प्रदाय नाम से जाना जाता है।

अचिन्त्य भेदाभेद गौड़ीय सम्प्रदाय मध्वसम्प्रदाय का अनुसरण करता है।

शुद्धाद्वैत वादी वल्लभ सम्प्रदाय विष्णुस्वामि सम्प्रदाय का अनुसरण करता है।

चतुर्थ निम्बार्क सम्प्रदाय—भगवान् हंसावतार से सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमारों ने ज्ञान प्राप्त कर इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए जो हंससम्प्रदाय अथवा चतुस्सन सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्धि हुई।

सनकादि महर्षियों से देवर्षि नारद, देवर्षि नारद से नियमानन्द के आश्रम में सांयकाल (सूर्यास्त गमन के पूर्व) ब्रह्माजी ने छन्न रूप से प्रवेश किया और भोजन के लिए कहा। फिर नियमानन्द जी ने भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र का आह्वान कर निम्ब वृक्ष पर स्थापित किया, वहीं चक्र का तेज दिन की भाँति प्रकाशित हुआ। इस घटना से निम्बार्क अथवा निम्बादित्य नाम की प्रसिद्धि हुई (निम्बे अर्कः = सूर्य इति निम्बार्कः), तत्कर्तृक उपबृंहित हंस सम्प्रदाय अथवा निम्बार्क सम्प्रदाय इस समय इस नाम से जाना जाता है। इनके उपास्य राधाकृष्ण युगल सरकार है। इनका कहना है कि जीव परमात्मा का अंश है, ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य का प्रणयन किया है, जो वेदान्तपारिजातसौरभ नाम से प्रसिद्ध है। उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने वेदान्तकौस्तुभ भाष्य की रचना की। उन दोनों पर जगद्विजयी केशव काश्मीरि भट्ट जी ने वेदान्तकौस्तुभप्रभा की रचना की। उस पर अमोलकराम शास्त्री ने भावदीपिका की रचना की है श्रीमद्भगवते निम्बार्कवेदान्तस्य समन्वयः हिन्दीभाषानुवादसहितः।

अवैदिक दर्शनों के प्रभाव से उपनिषदपनिषद वैदिकदर्शन बहुत दिनों तक कुहरा से आच्छन्न रहा। आठवीं शताब्दी में शंकरावतार श्री शङ्कराचार्यजी ने महर्षि व्यास निर्मित बादरायण ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ, प्रमुख ईशादि १० उपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता पर भाष्य लिखकर श्रौत ब्रह्माद्वैत का उद्धार किया। श्रीशङ्कराचार्यजी के द्वारा ब्रह्म पर आये विरोधों को दूर किया। पर इनके बाद आचार्यों की दृष्टि गई कि वह ब्रह्म कैसा है ? वह

निर्विशेष है कि सविशेष है ? और सविशेष है तो कैसा है ? श्रीशंकराचार्य निर्विशेष ब्रह्म को परम सत्य मानते थे। परवर्ती आचार्यों का मन सविशेष ब्रह्म पर अधिक आकृष्ट हुआ। इस पक्ष के अनेक आचार्यों के मत एवं नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र में उपलब्ध हैं। किन्तु आजकल बाहुल्येन प्रचलित सविशेष ब्रह्माद्वैत पक्ष के आचार्यों में श्रीरामानुजाचार्य जी का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। इन्होंने उक्त प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा है और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को प्रकाशित, प्रचारित एवं प्रसारित किया।

अमोलकराम प्रभृति विद्वानों ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय एवं ऐतरेय इन आठों उपनिषदों पर तत्त्वप्रकाशिका नाम की संस्कृत व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या बड़ी विद्वत्ता पूर्ण है। उपनिषद् के मन्त्रों के अर्थों को समझाने के लिए तथा स्पष्ट करने के लिए श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवदगीता के और भी अनेक शास्त्रों के वचनों का उद्धरण देकर बड़ी ही अच्छी व्याख्या की है।

यह व्याख्या बहुत ही विद्वत्तापूर्ण है। इसको आत्मसात् करने के लिए अनेक शास्त्रों का ज्ञान अपेक्षित है। साथ ही देववाणी का भी सम्यग् ज्ञान अपेक्षित है। इस दृष्टि से अनन्त श्रीविभूषित योगिराज स्वामि राधाविहारिदास जी काठिया बाबा के चरणारविन्दचञ्चरीक स्वामि श्री द्वारकादास काठिया बाबा ने हिन्दी में तत्त्वप्रभा नाम की व्याख्या लिखी है। उक्त तत्त्वप्रकाशिका के तत्त्वों को हिन्दी में प्रकाशित करने में स्वामी द्वारकादास जी का प्रयास स्तुत्य है। स्वामी श्रीद्वारकादासजी ने सर्वप्रथम सान्वय अनुवाद किया है, पुन: सभी शब्दों एवं अर्थों का संग्रह करके अथवा मिलाकर करके वाक्यार्थ रूप में प्रतिपादन किया है। यह अनुवाद पण्डितों के लिए तो मननीय है ही, साधारण संस्कृतभाषाविद् विद्वानों के लिए भी महान् उपयोगी बन गया है। भगवान् श्रीराधाविहारी महाप्रभु की कृपा से ही ऐसा बन सका है। यह बहुत ही उपादेय है। प्रभु श्री राधाविहारी जी श्रीकृष्णा की कृपा से यह व्याख्या विद्वज्जनमनोरञ्जनी तथा भक्तहृदयाह्लादिनी बने एवं स्वामी द्वारकादास पर प्रभुचरणों की कृपा उत्तरोत्तर बढ़ती रहें इसी कल्पना के साथ अपना प्रणाम प्रभु के चरणों में अर्पित कर रहा हूँ।

माघकृष्ण ४ रवि
६/१/०६

विदुषाम् आश्रव:
मुरलीधर पाण्डेय

उपनिषद् पृष्ठ संख्या

उपनिषद् पृष्ठ संख्या

[1] माण्डूक्य उपनिषद भाष्य में २९ गौडपाद कारिका पर भी भाष्य दिया गया है

॥ श्रीः ॥

ईशावास्योपनिषद्

यह ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेद के काण्व-शाखीय संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। प्रापञ्चिक पदार्थों में अनासक्तिरूप वैराग्यपरक होने के कारण मन्त्र (श्लोक) भाग का विशेष महत्त्व है। इस उपनिषद् में अठारह मन्त्र हैं। इसको सबसे पहला उपनिषद् माना जाता है। शुक्लयजुर्वेद के उन्तालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का निपुणरूप से निरूपण हुआ है। यह उस काण्ड का अन्तिम अध्याय है। इसमें भगवत्स्वरूप गुणादिरूप ज्ञान-वैराग्य तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके सर्वप्रथम मन्त्र में 'ईशावास्यम्' शब्द प्रवृत्त होने से इसका नाम 'ईशावास्य' माना गया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सान्वयानुवाद—अदः = वह परब्रह्म परमात्मा, पूर्णम् = सब प्रकार से आप्त = समस्त परिपूर्णकाम है, इदम् = यह (नामरूपात्मक जगत्), पूर्णम् = पूर्ण है, (क्योंकि) पूर्णात् = उस पूर्ण (परमात्मा) से ही, पूर्णम् = यह पूर्ण, उदच्यते = आविर्भाव (प्रकट) हुआ है। पूर्णस्य = पूर्ण के, पूर्णम् = पूर्ण को, आदाय = लेकर, पूर्णम् एव = पूर्ण ही, अवशिष्यते = अवशेष रहता है।

व्याख्या—आदि सत्ययुग में केवल प्रणव के रूप में ही वेद था। उसी में सारी लौकिक-वैदिक वाणी समायी हुई थी (श्रीमद्भा० ९।१४।४८)। वह सच्चिदानन्द दिव्यमङ्गलविग्रह आनन्दमय परमात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सब प्रकार से सदा-सर्वदा सर्वतः परिपूर्ण है। इसलिये यह दृश्यमान नामरूपात्मक जगत् भी उनसे ही पूर्ण है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण श्रीपुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है और अन्त में जाकर उसी में विलीन हो जायेगा। इस प्रकार परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की पूर्णता से समस्त जगत् पूर्ण है। अतः वह भगवान् श्रीहरि सर्वथा परिपूर्ण हैं। उस पूर्ण के पूर्णत्व को लेकर ही शेष श्रीहरि वासुदेव में (सूक्ष्मावस्था में) शेष रहता है। अपने शरीर, मन और वाणी से किसी का तिरस्कार नहीं करना चाहिये।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका

'श्रीमद्धंसं कुमारांश्च देवर्षिं नारदं नुमः ।
हृत्तमो नाशने शक्तं निम्बभानुं गुणार्णवम् ।।१।।
श्रीकृष्णाय नमस्तस्मै राधिकानन्ददायिने ।
परमानन्दसन्दोहसान्द्रानन्दवपुष्मते ।।२।।
अनन्यनृपतिं वन्दे शुचिरत्नमहोदधिम् ।
आशुधीरस्य शिष्यं श्रीहरिदासं दयानिधिम् ।।३।।
स्वामिनीशरणं नत्वा सकलदेशिकोक्तितः ।
ईशोपनिषदो व्याख्यां व्याकरवाणि यथामति' ।।४।।

चेतनाचेतनात्मकविश्वस्य स्वतः स्थितिप्रवृत्त्यभावाद्धरेरधीनत्वं निर्णीय वाजसनेयिनां संहितान्तिमाध्याये यत्तत्त्वमुपदिष्टं तत्तत्त्वमधिकारिण एव हृदयेऽवतिष्ठते नान्यस्येत्यधिकारसिद्धये प्रापञ्चिकपदार्थेष्वनासक्तिरूपं वैराग्यमुपदिशति—ईशावास्यमिति।

ईशेति शब्द 'ईश ऐश्वर्य' इति धातोर्निष्पन्नः क्विबन्तः, ईष्ट इतीट् स्वभावतोऽपास्ताखिलाविद्याक्लेशकर्मजन्मादिषड्भावसत्त्वादिगुणकार्यसम्बन्धः सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वादिधर्मको शक्तिबलैश्वर्यवात्सल्यौदार्यकारण्यक्षमादयामाधुर्यलावण्यमार्दवाद्यनन्तकल्याणगुणमहोदधिः सकलक्षेत्रज्ञप्रकृतिकालकर्मनियन्ता, अतिशयसाम्यवर्जितः, नित्यमुक्तैः स्वपार्षदवर्गैर्निषेवितः ब्रह्मरुद्राद्यचिन्त्यमहिमा जगज्जन्मादिहेतुः, वेदान्तैकवेद्यः प्रणतार्त्तिक्षपणस्वभाव उभयविभूतिर्भगवाँञ्छ्रीपुरुषोत्तमः श्रीकृष्णस्तेनेदं विश्वं समष्टिप्राकृतप्रपञ्चः, जगत्यां = मह्यां, यत्किञ्च जगत् व्यष्टिपदार्थश्च तत्सर्वं वास्यम् = वासार्हम् । व्याप्यमिति यावत् ।

'यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' ।। (म.ना.११।६)
'तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्' । (तै०आ०६।२।३)

इति श्रुतिभ्याम् । तेन ज्ञायते स्वयमिदं प्रवृत्तावशक्तं परमेश्वराधीनस्थितिप्रवृत्तिकमिति भावः । एतेनेशजगतोः स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये सिद्ध इति सूचितम् । यत एवमीश्वर एव स्वतन्त्रः, तेन कारणेन तेनेशेन त्यक्तेन = दत्तेन वित्तेन भगवदिच्छया लब्धेनेति यावत् । भुञ्जीथाः = भोगं कुर्याः । यत ईश्वराद् भिन्नस्य सर्वस्यापि पारतन्त्र्येण वित्तदाने सामर्थ्याभावात् कस्यस्वित् = कस्यापि राजादेः सकाशाद्धनं मा गृधः = मा काङ्क्षेथाः । इदञ्च धनाशाग्रहणमीश्वरेतरकृत्स्नविषयवैराग्योपलक्षणम् । अत्रायमभिसन्धिः । तथाहि—भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपं तत्त्वत्रयमनेन मन्त्रेणोपदिष्टम् । तथा च सर्वेश्वरेण सह चेतनाचेतनयोः स्वाभाविकभेदाभेदसम्बन्धः, तद्यथा सर्वनियन्तृत्वसर्वात्मत्वसर्वव्यापकत्वस्वतन्त्रत्वसर्वाधारत्वादिधर्मैश्च तस्य तयोश्चात्यन्तभेदः ।

'सर्वभूतान्तरात्मा अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' (यजुरारण्यके २।११ अनुवा.), 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' (म०ना०११।६), 'आत्मा परमः

स्वतन्त्रोऽधिगुणः, तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः, सर्वे पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा' (श्वे० १।६), 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (श्वे० ४।६), 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-मेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (श्वे० ६।१३) इति श्रुतिभ्यः। ब्रह्मात्मकत्व-तन्नियम्यत्वतत्तन्त्रसत्त्वपराधेयत्वादियोगेन चाभेदः। 'तत्त्वमसि' (छा०३।१।४), 'एत-दात्म्यमिदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा०३।१४।१), 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि देवते' (छा०६।८।७), 'तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि देवते' (बृ०१।३।१०) इति श्रुतिभ्यः ॥१॥

व्याख्याकर्त्तुर्मङ्गलाचरणम्

'ज्ञानानन्दमयं देवं निर्मलस्फटिकाकृतिम्।
आधारः सर्वविद्यानां हयग्रीवमुपास्महे' ॥

सान्वयानुवाद—जगत्याम् = संसार में, यत् किञ्च = जो कुछ भी, जगत् = जड़-चेतन रूप जगत् है, इदम् = यह, सर्वम् = सब, ईशा = ईश्वर से, वास्यम् = व्याप्त है। तेन = उस ईश्वर के द्वारा, त्यक्तेन = जो दिया हुआ है, भुञ्जीथाः = उसी से अपना पालन-पोषण करो, कस्यस्वित् धनम् मा गृधः = किसी दूसरे की वस्तु में अभिकाङ्क्षा मत करो, पाने के लिये लोभ मत करो ॥१॥

('गृधु अभिकाङ्क्षायाम्'। 'जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः।)

व्याख्या—अखिल विश्व (ब्रह्माण्ड) में जो कुछ भी यह समष्टि प्राकृत प्रपञ्च नामरूपात्मक जगत्, व्यष्टिपदार्थ देखने-सुनने में आ रहा है वह सब सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वाधिपति, दिव्यगुणनिधि, परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से व्याप्त है। इसलिये श्रीभगवद् इच्छा से प्राप्त धन से ही भोग करो, अपनी रक्षा करो, किन्तु भोग में त्याग रखो। मा गृधः = आकांक्षा मत करो—गीध मत बनो। कस्यस्वित् धनम् ? न कस्यस्वित् धनम् = धन किसका है ? धन किसी का नहीं, सर्वं हरेरेव धनम् = सब धन श्रीहरि का ही है, इसलिये श्रीहरि परमात्मा वासुदेव सदा-सर्वदा सर्वतः आप्त, समस्त परिपूर्णकाम हैं।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
तेन त्वदङ्घ्रिकमले रतिम्मे यच्छ शाश्वतीम्' ॥

(हे गोविन्द ! आपकी यह वस्तु है, आपको भेंट कर रहा हूँ अर्थात् भोग लगा रहा हूँ। उस भेंट से आपके श्रीचरणकमलों में हमारी अनपायिनी प्रीति हो, बस हम यही चाहते हैं।) इस लोक में मनुष्य-जीवन का इतना ही परम स्वार्थ और परमार्थ है कि वह भगवान् गोविन्द की अनन्य भाव से भक्ति करे। भजनं = भक्तिः। भक्ति का स्वरूप—'सर्वत्र तदीक्षणम्' = सब जगह परमात्मा श्रीकृष्ण का ही दर्शन हो। (श्रीमद्भा०७।७।५५)

ईशावास्यमिदं सर्वम्—'येन सर्वमिदं ततम्'। (गीता १८।४६) हे अर्जुन ! मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ (गीता १०।४२), सूत्र में रत्नसमूह के समान यह सम्पूर्ण जगत् मुझ वासुदेव में गुँथा हुआ है (गीता ७।७),

सब भूतों की उत्पत्ति का बीज (मूल कारण) भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन! जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है, तत्समस्त मुझसे भिन्न नहीं है। सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर जीवकला के रूप में भगवान् श्रीहरि ही प्रविष्ट हैं, इसलिये ऐसा जानकर सबको दण्डवत् करना चाहिये। सबके भीतर भगवान् किस रूप में रहते हैं इस पर आगे कठोपनिषद् की व्याख्या में विस्तृत प्रकाश डालेंगे। जो सब जगह मुझ परमात्मा वासुदेव को ही देखता है और सबको मुझ वासुदेव में देखता है, हे अर्जुन! मैं उसके लिये कभी अदृश्य नहीं होता और वह भी मेरे लिये कभी अदृश्य नहीं होता (गीता ६।३० में)। वस्तुतः ये भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं हैं। भगवान् श्रीहरि ने अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड को अपनी क्रीड़ा के लिये बनाया है। इसमें जो मालिक बनता है, वह झूठा है। जो मनुष्य भूल से भी इनमें अहन्ता, ममता और आसक्ति कर बैठता है वह मूर्ख है। ये सब भगवदीय हैं और उन्हीं की प्रसन्नता के लिये श्रौत-स्मार्त (फलाभिसन्धान होकर) निष्काम कर्मों का आचरण करना चाहिये। सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि की प्रीति के लिये सत्कर्मों का नित्य अनुष्ठान करना चाहिये। इसी में प्राणिमात्र का कल्याण है। इस बात का अगले मन्त्र में स्पष्ट वर्णन करते हुए मनुष्यों के प्रति वेदभगवान् का निर्मल उद्घोष है। इस लोक में जो वेदप्रतिपादित कर्म भगवान् श्रीहरि की प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं, दूसरे मन्त्र से विधान करते हैं॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—विषयतृष्णारहितस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मविद्याङ्गभूतं स्वोचितनिष्काम-कर्मानुष्ठानं कार्यमिति द्वितीयमन्त्रेण विधत्ते—कर्माणि = स्वोचितानि श्रौतानि स्मार्त्तानि च निष्कामानि ब्रह्मविद्याहेतुकानि, कुर्वन्नेवेह = लोके, शतं समाः = शतवर्षपर्यन्तं, जिजीविषेत्—पुरुषव्यत्ययः प्रकरणात् त्वं जिजीविषेः = जीवितुमिच्छेः। नोचित-कर्मत्यागे ध्वनयन्नाह—एवमिति। इतो हेतोस्त्वय्यन्यथा नास्ति, उक्तप्रकारेण त्वयि वर्तमानेकोऽपि दोषो नास्ति इति भावः। ईश्वराधीनोऽहमिति ज्ञानबलेन त्वयाऽनुष्ठितानि भगवदाज्ञापालनरूपनिष्कामकर्माणि न जन्मादिफलोत्पादकानि भविष्यन्तीति ध्वनयन्नाह—न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

सान्वयानुवाद—इह = इस लोक में, कर्माणि = शास्त्रविहित कर्मों को, कुर्वन् = (भगवत्परितोषणार्थ) करते हुए, एव = ही, शतम् समाः = सौ साल पर्यन्त, जिजीविषेत्—त्वं जिजीविषेः = जीने की इच्छा करो, एवम् = इस तरह, कर्म = किये जाने वाले कर्म, त्वयि = तुझ, नरे = मनुष्य में, न लिप्यते = लिप्त नहीं होंगे, इतः = इससे अलग, अन्यथा = दूसरा कोई उपाय अर्थात् मार्ग, नास्ति = नहीं है॥२॥

व्याख्या—पहले मन्त्र के कथनानुसार इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय के कर्ता सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी, स्वाभाविक सद्गुणों से युक्त अनन्तकोटिब्रह्माण्डा-

धिपति, राजाधिराज, महायोगेश्वर भगवान् श्रीहरि हैं—यह बतलाया गया है। श्रीभगवान् को आश्रय करने वाले मनुष्य अपने-अपने वर्णाश्रमोचित श्रौत और स्मार्त्त निष्काम कर्मों को सर्वदा करें एवं श्रीहरि का निरन्तर ध्यान करते हुए तदधीन होकर, श्रीभगवदाज्ञा समझकर श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करें। शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहंकार से और अपने-अपने अनुगत स्वभाव (आदत) से वह सब परमात्मा वासुदेव को समर्पित कर दे। समस्त कामनाओं का परित्याग करके समस्त धन-भोग एवं सुख का त्याग तथा श्रीभगवान् के लिए किये हुए यज्ञ, दान, जप, तप, होम, व्रत आदि मनुष्य जो कुछ भी कर्म करे वह सब भगवान् श्रीकृष्ण को अर्पण करता जाय। इस प्रकार सब कुछ भगवदीय जानकर, श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित वैदिक कर्मों का नित्य अनुष्ठान करते हुए ही शतवर्षपर्यन्त जीने की इच्छा करो। इस प्रकार कर्म करने से वे कर्म तुझे बन्धन में नहीं डाल सकेंगे एवं कर्मबन्धन से मुक्ति मिल जायेगी। कर्म करते हुए कर्मों में लिप्त न होने का यही एकमात्र मार्ग है। इससे भिन्न दूसरा कोई भी रास्ता कर्मबन्धन से मुक्ति पाने का नहीं है। ये वेदभगवान् के वचन हैं। जो अपने आपको श्रीभगवच्चरणारविन्द में समर्पित कर देता है, बाहर खड़ी मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती है। अम्बरीष सप्तद्वीपवती पृथिवी के राजा थे। वे भगवान् श्रीहरि के अनन्य भक्त थे। उनकी मन, वाणी, कान, हाथ, पैर आदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ श्रीभगवान् की ही सेवा में लगी रहती थीं। वे सब कर्म भगवदर्पण भाव से किया करते थे। चक्रवर्ती सम्राट् अम्बरीष श्रीहरि के मन्दिर में जाकर स्वयं झाड़ू लगाते, कानों से श्रीहरि के गुणानुवाद सुनते, आँखों से भगवन्मूर्त्ति का दर्शन करते, शरीर से भक्तजनों का स्पर्श करते, नाक से भगवान् के चरणारविन्द की सुगन्ध सूँघते, जीभ से तुलसी का आस्वाद लेते, पाँवों से भगवान् के वृन्दावनादि क्षेत्र में जाते और सिर से भगवान् के पादयुगल की वन्दना करते थे। इस प्रकार वे वासुदेवपरायण राजा अम्बरीष सर्वात्मभाव से भगवान् की सेवा-पूजा करते हुए प्रजा की रक्षा करते थे। (श्रीमद्भा.९।४।१८-२०) ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—ये च परमात्मज्ञानविहीनाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य स्वेच्छया काम्यनिषिद्धयज्ञादिकर्माणि कुर्वन्ति ते कामभोगेषु प्रसक्ताः सन्तो रौरवादौ नरके पतन्ति। अमुमर्थमग्रिममन्त्रेण निर्वक्ति—'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (तै.२।६९) इत्येवं वदन्तोऽसदुपासनया याथात्म्येनात्मस्वरूपमजानन्तः। ये के च जनाः, आत्म-हनः = आत्मानं घ्नन्तीति आत्महनः, याथात्म्येनात्मस्वरूपमजानन्तः। ते प्रेत्य = मृत्वा तान् लोकान् अभिगच्छन्ति। ते के ये लोका असुर्याः नामेति प्रसिद्धौ। असुषु प्राणेषु रमन्त इत्यसुराः, प्राणपोषणमात्रपराः केवलविषयासक्तास्तैः प्राप्या असुर्याः = सकल-सुखरहिताः। कीदृशाः ? अन्धेन = अतिनिबिडान्धकारेण तमसा आवृताः (आच्छा-दिताः) ॥३॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मफलरूप जन्मबन्धन से मुक्त होने का यथार्थ सत्पथ को

बतलाकर अब इसके विपरीत मार्ग पर चलने वाले ब्रह्मज्ञान से हीन मनुष्यों की गति का वर्णन करते हैं—

सान्वयानुवाद—असुर्या: = प्रमादी, विषयी असुरों के (जो), नाम = प्रसिद्ध, लोका: = हर तरह की योनियाँ और नरकरूप लोक हैं, ते = वे सभी, अन्धेन तमसा = अज्ञान तथा दु:ख क्लेशरूप अत्यन्त घने और गहरे अन्धकार से, आवृता: = ढके हुए हैं, ये के च = जो कोई भी, आत्महन: = आत्मा की हत्या करने वाले, जना: = मनुष्य हों, ते = वे, प्रेत्य = मरकर, तान् = उन लोकों को, अभिगच्छन्ति = प्राप्त होते हैं ॥३॥

व्याख्या—देवता लोग इस कर्मभूमि (भारत वर्ष) में उत्पन्न मनुष्यों की महिमा का गान करते हैं। वे कहते हैं कि इन लोगों ने क्या पुण्य किया है, जो इन पर भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हुए हैं और इनका जन्म भारतवर्ष में हुआ है। नि:सन्देह मनुष्य का जन्म सबसे सुन्दर है एवं इस कर्मभूमि (भारतवर्ष) में मनुष्य जन्म से बढ़कर कोई दूसरा जन्म नहीं है। यह मानव-शरीर अन्य सभी शरीरों से श्रेष्ठ तथा अत्यन्त दुर्लभ है। वह जीव को श्रीभगवान् के विशेष अनुग्रह से जन्म-मृत्यरूप भवसागर से पार होने के लिये ही मिलता है। ऐसे शरीर को पाकर भी जो मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा ईश्वर का पूजन नहीं करते और कामोपभोग को ही जीवन का परम ध्येय तथा श्रेय मानकर इसी में फँसे रहते हैं; संसार की आपातरमणीय वस्तु, नाना प्रकार के विषयों की लालसा और उनके यथेच्छ उपभोग में ही लगे रहते हैं वे वस्तुत: आत्मा की हत्या करने वाले 'आत्मघाती' ही हैं। इस प्रकार अपना पतन करने वाले वे लोग संसार में अपने मनुष्य जीवन को केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं बल्कि वे अपने को और भी ज्यादा कर्मबन्धन में जकड़ रहे हैं। वे ईश्वर को न प्राप्त होकर मरने के बाद कर्मों के फलस्वरूप अपनी कर्मवासना के कारण बार-बार उन शूकर, कूकर, सियार, कीट-पतङ्गादि विभिन्न शोक-सन्तापपूर्ण नीच आसुरी योनियों और भयानक रौरवादि नरकों में भटकते रहते हैं। इसलिये श्रीभगवान् ने गीता और श्रीमद्भागवत में कहा है—मनुष्य अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपने को नीचे न गिरावे अर्थात् अपना पतन न करे (६।५)। वृक्ष को कटते देख जैसे पक्षी अपना घोंसला छोड़ कर उड़ जाते हैं, वैसे ही प्रतिक्षण काल द्वारा क्षीण होती आयु को देख देहाभिमान त्याग कर मनुष्य को आत्म-परमात्मस्वरूप का बोध कर लेना चाहिये। यह मानव-शरीर अत्यन्त दुर्लभ दृढ़ नाव के समान है। भगवत्कृपा से ही यह सुलभ होता है, अपने पुरुषार्थ से नहीं। गुरु इसका कर्णधार है। मेरी कृपा अनुकूल वायु है। इसे प्राप्त करके भी जिसने संसाररूपी समुद्र को पार नहीं किया वह आत्मघाती कहलाता है (श्रीमद्भा० ११।२०।१५-१७) ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—निष्कामकर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणस्यैहिकामुष्मिकाशेषविषयेभ्यो व्यावृत्तस्येश्वरतत्त्वबुभुत्सवतः शिष्यस्य कोसावात्मा यद्विपरीतोपासनमसुर्यलोकप्राप्तिसाधनस्यादित्यपेक्षायां परमात्मतत्त्वोपदेशः क्रियते अनेजदित्यादिना मन्त्रेण—तत् = परमात्मस्वरूपं निर्भयत्वादेवानेजत्। एजृ कम्पने। न एजतीत्यनेजत्। अकम्पमानं न तु निष्क्रियत्वात्। एकम् = समाधिकरहितम्। न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते। (श्वे० ६।८) इति श्रुतेः। मनसो जवीयो = मनो हि वेगवत्प्रसिद्धं ततोऽपि वेगवत्तरम्। गत्यर्थकस्य ऋषतेर्ज्ञानार्थकत्वं तथा च याथात्म्येन ज्ञातुमशक्यत्वात् एतत् प्रकृतपरमात्मतत्त्वं देवा नाप्नुवन् तत्सुरैरप्यगम्यमुच्यते न तु सर्वथाऽगोचरत्वात्। पूर्वमर्षत्। ऋषी गतौ। गत्यर्थस्य ऋषतेर्ज्ञानार्थकत्वं तथा च भगवांस्तु सर्वान् अगमत् पूर्वं व्यजानात्। सर्वत्र सन्तिष्ठदेव तत् परं ब्रह्म धावतोऽन्यान् अत्येति अतिक्रम्य गच्छति। तिष्ठतो धावदतिक्रमणं न घटते, इति न शङ्क्यम्, सर्वनियन्तुः परमात्मा-चिन्त्यशक्तिमत्त्वात्। तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति—तस्मिन् = सर्वाधारे स्वतन्त्रसत्ताश्रये सर्वेश्वरे स्थितो मातरिश्वा—मातरि = अन्तरिक्षे, श्वयति = वर्द्धते, इति मातरिश्वा = वायुः। टुओश्वि गतिवृद्ध्योरिति धातुः। अपः = जलानि। उणादिगणे आप्नोतेर्ह्रस्वश्च, आप्लृ व्याप्तावित्यस्मात् क्विप् प्रत्यये ह्रस्वे च कृते निष्पन्नापूशब्दस्य जलवाचकत्वात्। दधाति = बिभर्त्ति। ततो वृष्टिसमये जलपातो जायत इति भावः। तदुक्तं छान्दोग्ये पञ्चविधसामोपासने—'वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत पुरो वातो हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावः' इति (छा० २।३।१) ॥४॥

सम्बन्ध—जो माया के गुण-दोषों से रहित स्वाभाविक, सकल, निज दिव्य सद्गुणयुक्त ब्रह्मशब्दाभिधेय परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं उनका सतत चिन्तन करते हुए, सकाम कर्मों का परित्याग करके उनकी प्रसन्नता के लिये श्रुति-स्मृतिविहित निष्काम कर्मों को करना चाहिये। वे कैसे हैं ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं—

सान्वयानुवाद—तत् = वे परब्रह्म परमात्मा, अनेजत् = सदैकरस, एकम् = अद्वितीय (उनके सदृश दूसरा कोई नहीं है), मनसः = मन से भी, जवीयः = अधिक वेगवान् है, पूर्वम् = पहले, अर्षत् = सबको एककालावच्छेद से जान लिये हैं। एनत् = इन परमात्मा को, देवाः = देवगण, न आप्नुवन् = नहीं पा सके अर्थात् न जान सके, 'न मे विदुः सुरगणाः' इति श्रीमुखवचनात्। अन्यान् = दूसरे, धावतः = दौड़ने वालों को, तिष्ठत् = स्वयं स्थित रहते हुए ही, अत्येति = अतिक्रमण कर जाते हैं। तस्मिन् = उसमें, मातरिश्वा = वायु, अपः = जल, दधाति = रहता है॥ मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥४॥

व्याख्या—वे सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर श्रीकृष्ण अकम्पमान (सदैकरस) हैं। उनके समान तथा उनसे बढ़कर कोई दिखलाई नहीं पड़ता। वे मन से भी अधिक वेगवान् हैं और सबके कारण हैं। भगवान्

श्रीहरि के मन में इतनी निर्हेतुकी कृपा-करुणा गजेन्द्र के लिये उदित हुई कि उन्होंने सिर्फ 'गो' सुना और छन्दोमय गरुड़ पर चढ़कर चल पड़ें। पुनः मार्ग में 'विन्द' सुना, जिसकी चोट से खड़ाऊँ गिर गयी और अन्त में जब उनको गरुड़जी के वेग से सन्तोष नहीं हुआ तब वे गरुड़ को छोड़कर 'मनसो जवीयो' अर्थात् मन की गति से भी तेज गति से पहुँच गये। इसलिये भगवान् श्रीहरि मन से भी ज्यादा गतिवाले हैं। देवगण तथा महर्षिगण उनके स्वरूप को पूर्णरूप से नहीं जानते किन्तु वे सबके आदि होने के कारण सबको पहले से ही जानते हैं। जितने भी तीव्र गतिवान् वायु इत्यादि देवता और इन्द्रियाँ हैं, अपनी शक्तिभर श्रीभगवान् के अनुसन्धान में हमेशा दौड़ लगाते रहते हैं लेकिन श्रीभगवान् अविचलित, सदा एक रस में रहते हुए ही उन सबको लाँघ कर आगे निकल जाते हैं। 'तदु नात्येति कश्चन' (कठोपनिषत् २।३।१) अर्थात् कोई भी उनका अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं है। इन्द्र, सूर्य, वायु आदि देवताओं में जो शक्ति है वह श्रीभगवदीया शक्ति है जिसके द्वारा वे यथासमय जलवर्षण, प्रकाशन, प्राणि-प्राणधारण इत्यादि कर्म करने में समर्थ होते हैं।

'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' इसका अर्थ गीतानुसार समझना चाहिये। उस परमात्मा वासुदेव में स्वर्ग, पृथिवी तथा उनके बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन पाँच रूपों में विभक्त प्राण है; एकादश इन्द्रियों के साथ मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और अन्तःकरण सब-के-सब ओतप्रोत हैं (गीता ७।७) ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—तदेव परमात्मतत्त्वमनन्ताचिन्त्यशक्त्यभ्युपगमेन प्रकारान्तरेण पुनरप्युपदिशति—तत् = परमात्मतत्त्वम्, एजति = चलति। तदेव न एजति = भयात् न कम्पते। यद्वा एजतिरन्तर्भावितण्यर्थः। तदेजयति दुष्टान्, तदेव नेजयति सदाचारानिति शेषः।

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' ॥

इति श्रीमुखवचनात्। तद् ब्रह्म दूरे = दूरदेशेऽस्ति। तदु = तदेव, अन्तिके = समीपेऽप्यस्ति, सर्वान्तर्यामित्वात्। यद्वा अविदुषां पराङ्मुखानाम् अब्दकोट्यप्राप्तत्वाद् दूरे एव, विदुषां हृद्यवभासमानत्वाद् अन्तिकः। तदुक्तं श्रीशौनकेन—

'पराङ्मुखा ये गोविन्दे विषयासक्तचेतसः।
तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद् दूरतरे स्थितम्' ॥१॥
'तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः।
विषयत्यागिनस्तेषां विज्ञेयश्च तदन्तिके' ॥२॥ इति ॥

अन्यदपि तस्य वैचित्र्यमस्तीत्याह—तदन्तरस्येति। अस्य = सर्वस्य विचित्ररच-

नात्मकस्य विश्वस्याभ्यन्तरे तदेव परमात्मतत्त्वमस्ति, सर्वस्य वस्तुनः बाह्यतः = बहिरपि तदानीमेव तदेवास्ति। एकस्मिन्नेव क्षणे तस्य परमात्मनो बहिष्ठत्वमन्तर्वर्त्तित्वञ्च दूरत्वमन्तिकत्वं कम्पत्वनिष्कम्पत्वमचिन्त्यानन्तविचित्रस्वाभाविकशक्तियोगाद् उपपद्यते नात्र विरोधोद्भावनीयः, तस्य लोकविजीयत्वात्।

> 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
> प्रकृतिभ्यः परं यत्तदचिन्त्यस्य लक्षणम्' ॥

(श्रीमन्महाभारते भीष्मपर्वः ५।१२)

> 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचराः।
> ब्रह्मणस्तु शतशः सर्गाद्या भावशक्तयः' ॥

(विष्णुपु०अं १, अ० ३, श्लो० १)

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे०उ०६।८) इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः ॥५॥

सम्बन्ध—अब अनन्त, अचिन्त्य, तर्कागोचर, विचित्र, स्वाभाविक स्वरूप, गुण, शक्ति आदि से युक्त परमात्मा श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता का प्रकारान्तर से पुनः वर्णन करते हैं—

सान्वयानुवाद—तत् = वे परमात्मा, एजति = दौड़ते हैं, तत् = वे, न एजति = द्वारे तिष्ठति = दरवाजे पर रक्षक बनकर रक्षा करते हैं, तत् = वे, दूरे = दूर देश में रहते हैं, तत् = वे, उ अन्तिके = अत्यन्त नजदीक में रहते हैं, तत् = वे, अस्य सर्वस्य = इस चराचर नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् के, अन्तः = अन्दर हैं, और तत् = वे, अस्य सर्वस्य = इस सम्पूर्ण जगत् के, उ बाह्यतः = बाहर भी हैं ॥५॥

व्याख्या—तदेजति—सर्वधर्मवेत्ता महान् योद्धा महाभागवत पितामह भीष्म कहते हैं—

हे त्रिभुवनसुन्दर, सकलसृष्टिसौन्दर्यधारी भगवन्! आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर मेरी प्रतिज्ञा सत्य करने के लिए रथ का पहिया लेकर रथ से युद्धभूमि में कूद पड़ें और मुझे मारने दौड़ पड़ें। उस समय आप इतने तीव्र वेग से दौड़े कि आपके कन्धे का उत्तरीय गिर गया, यह देख पृथिवी काँप उठी। (श्रीमद्भा० १।९।३७)

तन्नैजति—वे परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम श्रीवासुदेव सुतल लोक में धर्मवेत्ता ब्रह्मण्य बलि के द्वारपाल रहकर सपरिवार उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् श्रीहरि हर समय उनके साथ रहते हैं—

'सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान्'। (श्रीमद्भा० ८।२३।३५)

यदि आपका जन्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अच्छे वंश-कुल में हुआ है, आपको अच्छी विद्या मिल गयी है, आप अनिंद्य भागवतधर्म का पालन करने में सदा तत्पर रहते हैं तो यह आप पर श्रीभगवान् की अनुकम्पा है। जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण से प्रेम नहीं करते, जिनके हृदय में श्रीभगवद्भक्ति नहीं है, 'तत्' = वे भगवान् श्रीकृष्ण,

दूरे = उनसे दूर रहते हैं। वे श्रीभगवद्भक्तिहीन, ब्रह्मज्ञानहीन मनुष्य इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए धिक्कारे जाने लगते हैं—

'धिग् जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे' ॥
(श्रीमद्भा० १०।२४।४०)

(जो भगवान् श्रीहरि से विमुख है उन प्राणियों के त्रिविध जन्म को, विद्या को, व्रत को, बहुज्ञता को, कुल को और क्रिया के चातुर्य को; अधिक क्या कहें, उनका जो कुछ भी वैभव-ऐश्वर्य हैं उन सबको धिक्कार है, धिक्कार है।)

तद्वन्तिके—'तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्' ॥

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—

'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः' ॥
(श्रीमद्भा० २।२।३६,१०।९।१३)

श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित से कहते हैं—

हे राजन्! श्रीहरि भगवान् कृष्ण सर्वत्र विराजमान हैं; 'यत्सर्वत्र तदीक्षणम्'—सर्वत्र उनका दर्शन करना चाहिये, ऐसा समझकर मनुष्यों को सर्वदा उनका श्रवण, मनन, चिन्तन, कीर्तन और निदिध्यासन करना चाहिये। देश से, काल से और वस्तु से परिच्छेदशून्य सर्वसमानाधिकरणार्ह सर्वव्यापी परमात्मा श्रीकृष्ण जगदात्मक हैं। इसलिये जगत् को विवेकी पुरुष ब्रह्मात्मक बतलाते हैं। वे इस जड़-चेतन, नाम-रूप, स्थूल-सूक्ष्म, अणु-बृहत् समस्त जगत् के एकमात्र आधार हैं और सबके परम कारण हैं। इसलिये बाहर-भीतर सभी जगह वे ईश्वर श्रीकृष्ण ही व्याप्त हैं ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—पूर्वमन्त्रेण चेतनाचेतनात्मकविश्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमभिहितम्। सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं विजानतो विदुषो यत्फलं भवति तत्फलं यस्तु सर्वाणीति मन्त्रेणोच्यते—यस्तु = अधिकारी, सर्वाणि = चेतनाचेतनात्मकानि, आत्मनि = परमात्मनि, पश्यति = जानाति, सर्वभूतेषु चात्मानम् अनुपश्यति स ततः = ब्रह्मात्मकत्वदर्शनात्, न विजुगुप्सते = विजुगुप्सां घृणां न करोति। सर्वा हि घृणा आत्मनोऽन्यं निकृष्टं पश्यतो भवति सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं पश्यतो न घृणानिमित्तमस्ति ॥६॥

सम्बन्ध—अब अगले दो मन्त्रों में परब्रह्म परमात्मा वासुदेव को जानने वाले निष्काम ज्ञानी भगवद्भक्त की स्थिति का वर्णन किया जाता है।

सान्वयानुवाद—तु = वह तो, यः = जो, सर्वाणि = सब, भूतानि = भूतों को, आत्मनि = परमात्मा वासुदेव में, एव = ही, अनुपश्यति = निरन्तर देखता है, च = और, सर्वभूतेषु = सब भूतों में, आत्मानम् = परमात्मा वासुदेव को, पश्यति इति क्रिया शेषः। ततः = सब कुछ भगवत्स्वरूप है ऐसा ज्ञान होने के कारण, न विजुगुप्सते = किसी से घृणा, राग-द्वेष आदि नहीं करता ॥६॥

'वासुदेवः सर्वमिति', 'वेदैश्च 'सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता ७।१९, १५।१५) ॥६॥

व्याख्या—इस प्रकार जो अधिकारी, आत्मपरमात्मदर्शी मनुष्य सब जड़-चेतनों को परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव में ही देखते हैं और सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वेश्वर प्रभु वासुदेव को सब चेतनाचेतनों में देखते हैं वे कैसे किनसे घृणा, राग-द्वेष इत्यादि कर सकते हैं। वे तो सदा-सर्वत्र अपने प्राणपति श्रीहरि के ही दर्शन करते हुए सब भूतों के सामने सिर झुकाकर सबको नमन करते रहते हैं—'यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्य'। (श्रीमद्भा० ११।२।४१) जो भगवान् श्रीहरि के चरणकमलमकरन्द का नित्य पान करते हैं, अनन्य भाव-भक्ति से उनके श्रीचरणों को हृदय में धारण करते हैं श्रीभगवान् उन अनन्य भक्तों के हृदय में ज्ञान का प्रकाश कर वहाँ से कभी नहीं हटते हैं।

'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः' ॥ (श्रीमद्भा० ११।२।४५)

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में सर्वोत्तम अधिकारी, ज्ञानी भक्त का लक्षण कहा गया है। इसलिये सब भूतों में ईश्वर का दर्शन करना चाहिये ॥६॥

'ईशावास्यमि'त्यारभ्य 'ततो न विजुगुप्सते' इत्यन्तेन प्रबन्धेन सर्वनियन्तृत्व-स्वतन्त्रसत्त्वसर्वात्मत्वसर्वव्यापकत्वसर्वाधारत्वधर्मैश्च परब्रह्मणा सह चेतनाचेतनयोः स्वाभाविको भेद उपदिष्टः।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—सम्प्रति जगद्ब्रह्मणोः स्वाभाविकम्भेदसम्बन्धं यस्मिन् सर्वाणीति मन्त्रेण विधत्ते—यस्मिन् = काले, सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् सर्वाणि भूतानि परमात्माऽभिन्नानीति विजानतो विदुषः को मोहः, कः शोकः ? न कोऽपीत्यर्थः। सम्बन्धविशेषमाह—एकत्वमनुपश्यत इति। व्यापकादव्याप्यस्य पृथक् स्थितिप्रवृत्त्य-नर्हत्वात्। एकत्वमभेदं पश्यत इत्यर्थः। तथा च ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्य तत्तन्त्रसत्त्व-पराधेयत्वादिधर्मैश्च चेतनाचेतनयोर्ब्रह्मणा सह अभेदः, तेन जगद्ब्रह्मणोरभेदसंसर्गो भवतीति विवेकः ॥७॥

सान्वयानुवाद—यस्मिन् = जिस काल (समय) में, विजानतः = परब्रह्म परमात्मा वासुदेव को भली-भाँति जानने वाले विद्वान् के, सर्वाणि = सब, भूतानि = प्राणी, आत्मा एव = वासुदेवस्वरूप ही—'अहमात्मा गुडाकेश !' (गीता १०।२०),

अभूत् = ज्ञान का विषय हो जाता है, तत्र = उस समय, एकत्वम् = एक भगवान् वासुदेव का, अनुपश्यतः = सब में साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी भक्त के लिये, कः = कौन-सा, मोहः = मोह, कः = कौन-सा, शोकः = शोक ॥७॥

व्याख्या—विष्णुपुराण में स्वयं महाभागवत श्रीप्रह्लादजी का वचन है—

'विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः'। (१०।१।१३)

'सर्वगतादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं चराचरे'॥ (१।१९।८५)

ऐसे भक्तराज सर्वभूतसुहृद् प्रह्लाद थे। गीता में श्रीभगवान् ने भी इसका निर्वचन किया है—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः'॥
'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते'॥ (६।२९, ६।३१)

'सर्वत्र समदर्शी योगयुक्तचित्त विद्वान् पुरुष आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है'। (६।२९)

'जो मेरी एकत्व धारणा में स्थित होकर सब भूतों में स्थित मुझको भजता है वह योगयुक्तात्मा योगी सभी अवस्था में मेरी आँखों के सामने बना रहता है'। (६।३१)

अब इसके विपरीत मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों की गति को भी जरा सुनिये। इस मार्ग का वर्णन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

जो मनुष्यों में निकृष्ट (नीच), आसुर भाव-आश्रयकारी मूर्ख हैं ऐसे लोगों का असली ज्ञान उनके छल-कपट के कारण अपहृत (लुट) हो गया है और वे मेरी शरणापत्ति से विमुख हो गये हैं; मैं उन दुराचारी, हिंसक, अमङ्गलकारी, क्रूरस्वभाव नराधमों को सर्वदा संसार में आसुरी योनियों में ही फेंकता हूँ। (गीता ७।१५, १६।१९)

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—सर्वं चेतनाचेतनात्मकं ब्रह्म भिन्नाभिन्नमिति विजानती मुमुक्षोः स्वरूपं तत्प्राप्य परमात्मनः स्वरूपञ्च निर्वक्ति—सः = सम्यक्दर्शी, परमात्मानं पर्यगात् = लब्धवान्। इणो लुङि रूपमिदम्। तं विशिनष्टि—अकायम् = कर्माधीन-प्राकृतशरीररहितम्।

'न भूतसङ्घसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः'॥१॥

'स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः ।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलं स्नानमाचरेत्' ॥२॥

इत्यादिस्मृतिभ्यः प्राकृतशरीरस्यैव निषेधो दृश्यते न तु दिव्यमङ्गलविग्रहस्येत्यर्थः । 'यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि' (ईशा० १६), 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।७), 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पश्यति' (मु० ३।१।३) इत्याद्युपनिषत्प्रतिपाद्यस्याप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहस्येह निषेधायोगादिति भावः । शुक्रम् = अवदातं स्वप्रकाशरूपम् । अव्रणम् = प्राकृतशरीराभावादेवाक्षतम् । अस्नाविरम् = स्नायुः सिरा यस्मिन् विद्यते तत् स्नाविरं, तत् न भवतीत्यस्नाविरम् । अस्नाविरमव्रणमित्याभ्यां विशेषणाभ्यां कर्माधीनप्राकृतशरीरस्य प्रतिषेधो न तु सच्चिदानन्ददिव्यमङ्गलविग्रहस्येति भावः । शुद्धम् = अनाघ्राताज्ञानादिदोषगन्धम् । अपापविद्धम् = पुण्यपापादिलेशरहितम् । 'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः' इति श्रुतेः । (छा० ८।७।१)

उपास्यब्रह्मस्वरूपं निरूप्योपासकस्वरूपं निरूपयति—कविरित्यादिना । कविः = सर्वेश्वरस्वरूप-तद्गुणबोधककाव्यनिर्माणदक्षः । मनीषी = सौन्दर्यमाधुर्यलावण्यमार्दवादिभगवद्गुणानामनवरतस्मरणेन निगृहीतचेताः । परिभूः = कामक्रोधलोभादीन् शत्रून् परिभवति = तिरस्करोतीति परिभूः । परि-उपसर्गपूर्वकं भवतेः तिरस्कारार्थत्वात् । स्वयम्भूः = स्वयमेव परमनपेक्ष्य भवतीति स्वयम्भूः । हरेरन्यनिरपेक्षसत्ताकः । भगवदधीनसत्ताकः इति यावत् । अर्थान् = उपास्यस्वरूपादीन् पञ्चार्थान् । शाश्वतीभ्यः समाभ्यः = अनन्तवर्षेभ्यः, व्यदधात् = विविच्य हृदये धृतवान् ॥८॥

पाठकवृन्द सान्वयानुवाद व्याख्या में देखें—

व्याख्या—अब भगवती श्रुति 'सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक भिन्नाभिन्न ब्रह्म है'—इस प्रकार जानने वाले ज्ञानस्वरूप जीवात्मा का स्वरूप तथा उनके द्वारा प्राप्य परमात्मा का स्वरूप और अर्थपञ्चक का निर्वचन करती हैं।

परमात्मा का शरीर भूतसमुदाय से बना हुआ नहीं है। जो परमात्मा श्रीकृष्ण के शरीर को भौतिक जानता या समझता है, उसको समस्त श्रौत-स्मार्त्त विधान से बाहर कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय सत्कर्म में अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि उसका मुँह देखने पर भी सचैल (वस्त्र सहित) स्नान करना चाहिये।

हे अर्जुन ! जो मेरा अलौकिक जन्म एवं अलौकिक कर्म सकल तत्त्वतः जानता है वह शरीर को त्याग कर मद्भाव को प्राप्त हो जाता है एवं पुनः संसार में जन्म नहीं लेता।

'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' ॥ (गीता ४।१०)

श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित से कहते हैं—

हे राजन् ! वेदत्रयी (ऋग्०, यजु० और साम०), उपनिषद्, सांख्य, योग और वैष्णवजन जिनके माहात्म्य का सदा गान करते हैं उन श्रीहरि आनन्दकन्द परब्रह्म कृष्ण

को यशोदा मैया अपने अनन्य पाल्य-पालक भावरूप से उपचरित स्नेहजन्या अनपायिनी वत्सलरति का विषय बनाकर, अपना पुत्र बनाकर अपनी गोद में रखती हैं। (श्रीमद्भा. १०।८।४५)

इसी श्रीमद्भागवत में ही ब्रह्माजी ने श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहा है—

हे भगवन् ! आपने मुझ पर तथा उपासकों पर अनुग्रह करने के लिये ही यह स्वेच्छामय कोटिकन्दर्पसुन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामवर्ण प्रकट किया है। यह पाञ्च-भौतिक कदापि नहीं है। हे जगदीश्वर ! इस संसार में न जाने आपके कितने नाम हैं और कितने रूप हैं। स्त्री-पुत्र, धन तथा कुटुम्ब-परिवार मनुष्यों को तभी तक भय देता है और तृष्णा, शोक, लोभ, पराभव भी तभी तक सताते हैं जब तक मनुष्य आपके निर्भय पादपद्मयुग्म का आश्रय नहीं लेता।

भगवत्पाद श्रीमज्जगद्गुरुनिम्बार्काचार्यजी ने 'वेदान्तकामधेनु' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार परमात्मतत्त्व का निरूपण किया है—

'स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्' ॥

जो स्वभावतः सर्वप्रकार दोषों से रहित हैं, समस्त कल्याणात्मक दिव्यगुणों की एकमात्र निधि हैं; वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह जिनके अङ्ग हैं; जो सबके वरेण्य हैं (जीव जिनका आश्रय ग्रहण करके जिनके चरणारविन्द रूपी जहाज से संसारसमुद्र के पार चले जाते हैं), जो कमल के समान मनोहर नेत्र वाले हैं और जो स्मरण मात्र से आश्रित जनों के समस्त अमङ्गल (पाप-तापों) को हरने वाले हैं हम उन परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं।

श्रुत्यर्थ—अब इस प्रकार मन्त्र का अर्थ समझना चाहिये; जैसे—वह सम्यक्-दर्शी भगवदुपासक प्रकृतिजन्य षड्विध विकार गुणों से अस्पृष्ट, पञ्चविध विषय गुण-दोषों से अस्पृष्ट, सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप, स्वयंप्रकाशस्वरूप, नित्य शुद्ध-मुक्तस्वरूप, सच्चिदानन्दस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप वेदान्त-वेद्य हरि श्रीकृष्ण (तद्भाव) को प्राप्त हो गया। महाभारत का वचन है—श्रद्धा-भक्ति से श्रीकृष्ण को किया गया एक भी प्रणाम (साष्टाङ्ग दण्डवत्) दस अश्वमेध के बराबर होता है। दस अश्वमेध (याग) करने वाला मनुष्य जन्म धारण कर सकता है किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाला मनुष्य फिर संसार में जन्म नहीं लेता। वह आवागमन से छूट कर श्रीभगवद्भाव को प्राप्त हो जाता है। (महाभारत शान्तिपर्व० ४७ अध्याय)

तथा च शास्त्रम्—

'नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः ॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः' ॥

अब जीवात्मा का स्वरूप निर्वचन करते हैं—

'ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः'।

(इति वेदान्तकामधेनुः)

ब्रह्मविद् ज्ञानीजन बतलाते हैं—जीव ज्ञानस्वरूप (चित्स्वभाव) सदा-सर्वदा भगवान् श्रीहरि के अधीन रहते हैं, नाना शरीरों के साथ संयुक्त और वियुक्त होना ही उनका जन्म-मरण है। वे अणुपरिमाण, ज्ञातृत्वादि धर्मयुक्त एवं प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न अनन्त (असंख्य) हैं।

स्वयम्भूः = 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति'—जीवात्मा इन षड्विध विकारों से रहित हैं। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'। (कठोपनिषत् २।२।१३)

'अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्यात् देहादिर्यत् कृते प्रियः'॥ (श्रीमद्भा० ३।९।४२)

जो परमात्मा नित्य जीवों का भी परम नित्य है, चेतन (चित्स्वरूप) जीवों का भी परम चेतन है, वे एक ही परमात्मा असंख्य जीवों की कामनाओं और इच्छाओं का पूरण करते हैं। श्रीभगवान् ने ब्रह्माजी से कहा है कि—हे ब्रह्मन्! मैं समस्त आत्माओं का आत्मा हूँ और मैं ही स्त्री-पुत्रादि प्रियों का भी प्रिय हूँ। शरीरादि भी मेरे लिये प्रिय हैं। अतः मुझसे ही प्रेम (प्रीति, रति) करना चाहिये।

कविः = कवयति वर्णयति शुद्धं भागवतं धर्ममिति कविः। यथा—नारद-प्रह्लाद-शुकादयः।

नारदः—

'यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या'॥

प्रह्लादः—

'विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनो वचने हितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः'॥

श्रीशुकः—

'पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्'॥

जैसे वृक्ष की जड़ में पानी देने से उसके सभी अवयवों (अङ्गों) यथा—तना, डाली, पत्ता, मञ्जरी, फूल-फल इत्यादि सबका पोषण हो जाता है; प्राण को भोजन-आहार देने से समस्त इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं फिर अलग-अलग करके इन्द्रियों में अन्न

लेपन नहीं करना पड़ता, ठीक वैसे ही भगवान् श्रीहरि की पूजा करने से अखिल विश्व ब्रह्माण्ड का पोषण हो जाता है एवं उसके साथ समस्त देवताओं का भी पूजन हो जाता है।

धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये बारह प्रकार के गुणों से युक्त ब्राह्मण भी अगर पद्मनाभ भगवान् श्रीहरि के चरणारविन्द से विमुख है तो उसकी अपेक्षा उस चाण्डाल को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ जिसने भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों में मन, वाणी, कर्म, धन-सम्पत्ति और प्राण समर्पित कर दिया है। अभिमानी मनुष्यों पर श्रीभगवान् प्रसन्न नहीं होते। जन्म-कुलीनता, ऐश्वर्य, विद्या और धन—मनुष्यों में इन चारों के विद्यमान रहने पर मद आ जाता है ऐसा शास्त्रकारों का कथन है। वह चाण्डाल अपनी अनन्य भक्ति के प्रभाव से अपने सकल कुल को पवित्र कर देता है किन्तु वे अभिमानी ब्राह्मण अपने को ही पवित्र नहीं करते, कुल को कैसे पवित्र कर सकते हैं ?

साधु-सन्त-महात्मा, योगी-ज्ञानी, मुमुक्षु पुरुष परमपुरुष भगवान् श्रीहरि के चरित्ररूप कथामृत को सहृदयों के समाज में बाँटते ही रहते हैं, वे उनके दोनों कानों के प्याले में डाल देते हैं और वे प्रेम से पीते हैं। फलस्वरूप उनका विषयों से विदूषित अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की सन्निधि में शीघ्र पहुँच जाते हैं।

मनीषी = शास्त्रचिन्तक, मननशील मुनि, श्रीभगवदाज्ञा समझकर फलाभिसन्धानशून्य होकर यज्ञ-दान-तपरूप सत्कर्मों को करने वाला।

'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' ॥ (गीता १८।५)

परिभूः = इस प्रकार यज्ञ-दान-तपरूप सत्कर्मों का अनुष्ठान निष्कामभाव से केवल श्रीभगवान् की प्रसन्नता-प्रीति के लिये ही आचरण किया। समस्त जीवों के एकमात्र आधार भगवान् मुकुन्द के श्रीमच्चरणारविन्दों का निरन्तर ध्यान किया। उससे प्राप्त हुए अखण्ड भक्तियोग से काम, क्रोध, लोभ इत्यादि शत्रुओं का तिरस्कार कर दिया।

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः = 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः। असंख्येयवर्षीय कुमारों ने ठीक-ठीक विचार करके अर्थपञ्चक को हृदय में धारण किया है। तदुक्तं श्रीभगवत्पादैराद्याचार्यैः—

'उपास्यरूपं तदुपासकस्य च, कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः' ॥

१. उपास्य देवता के स्वरूप, २. उपासक जीव के स्वरूप, ३. श्रीभगवत्कृपा का फल मोक्ष, ४. भक्ति का रस = प्रेमानन्द फल रूप भक्ति और ५. आराध्यदेव

श्रीकृष्ण की प्राप्ति के विरोधी-प्रतिबन्धक—साधुजनों द्वारा इन पाँच अर्थों को जानना चाहिये।

(इस अर्थपञ्चक की अति विस्तृत व्याख्या सिद्धान्तकुसुमाञ्जलि एवं वेदान्तरत्नमञ्जूषा के चतुर्थ कोष्ठक में देखना चाहिये।)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रताः ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—ये केवलं कर्म केवलं ज्ञानञ्च मोक्षसाधनं वदन्ति तेषां निन्दा अन्धं तमःप्रविशन्तीत्यनेन मन्त्रेण क्रियते—ये अविद्यां विद्याभिन्नमसहायं कर्मोपासते। 'अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते'। (वि.अं. ६ श्लो. ६१) इति स्मृतेः। ते अन्धं तमः अतिगाढं तमः। अज्ञानं ये स्वाधिकारोचितकर्मत्यागेन विद्यायामेव रतास्ते ततः पूर्वस्मात् भूय इव तमः = अधिकमज्ञानं प्रविशन्ति। इवशब्दस्तमस इयत्ताया दुर्ग्रहत्वं द्योतयति ॥९॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रों में विद्या और अविद्या का लक्षण समझाया जायेगा। इस प्रकरण में अङ्गाङ्गीभाव = सेव्य-सेवक भाव विद्या-अविद्या शब्द से कहा गया है। ये दोनों विद्या-अविद्या भगवान् श्रीहरि के अंश (अवयव) हैं। उसी प्रकार शब्दब्रह्म और परब्रह्म श्रीहरि के अंश हैं। इन विद्या (ज्ञान), अविद्या (अज्ञान), शब्दब्रह्म और परब्रह्म चारों तत्त्वों को गुरुमुख से ठीक-ठीक समझकर उनका अनुष्ठान करने वाला विवेकी मानव ही इन चारों साधनों के द्वारा सर्वोत्तम तथा वाञ्छित फल प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। इस गुप्त बात को समझाने के लिए पहले अनुष्ठान करने वालों की दुर्गति का वर्णन करते हुए उनकी निन्दा करते हैं।

सान्वयानुवाद—ये = जो, अविद्याम् = अविद्या की, उपासते = उपासना करते हैं, (वे) तमः अन्धम् = घोर–घने अँधेरे में, प्रविशन्ति = घुसते हैं। (और) ये = जो, विद्यायाम् = विद्या में, रताः = संलग्न (लगे) हैं, ते = वे, ततः = उससे, उ = भी, भूयः इव = मानो ज्यादा, तमः = अँधेरे में घुसते हैं ॥९॥

व्याख्या—जो मनुष्य संसार के आपातरमणीय विषय भोगों में प्रसक्त होकर उनकी प्राप्ति के साधनरूप (अविद्या-माया) विविध प्रकार के असत्कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, मा = नहीं, या = जिसको प्राप्त कर रहे हैं। आप जिस वस्तु को प्राप्त कर रहे हैं वह असत् (अतितुच्छ) है। वे उन शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध विषयरूप तुच्छ-असत् कर्मों के फलस्वरूप अतिनिबिड अज्ञान-अन्धकार से सर्वतः परिपूर्ण नाना योनियों में (सुख-दुःखान्येतर साक्षात्कार) भोग को प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य जन्म के चरम और परम लक्ष्य परमात्मा श्रीवासुदेव को न पाकर लगातार शरीर-संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण संसार के प्रवाह में पतित हुये बहुविध तापों से तापित होते रहते हैं।

अब दूसरे मनुष्य की दुर्गति का वर्णन करते हैं—

विषयासक्त विषयी मनुष्यों से भिन्न जो मनुष्य न तो चित्तशुद्धि के लिये कर्त्तापन के अभिमान से शून्य भागवत धर्मों का अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-भक्ति, ज्ञान, विराग-योग के प्राथमिक साधनों का ही सेवन करते हैं, केवल शास्त्रों को पढ़-सुनकर अपने में-अपने को, विद्या के ज्ञान का झूठा आरोप करके विद्याभिमानी (ज्ञानाभिमानी) बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्या ज्ञानी मनुष्य अपने को ज्ञानवान् मानकर 'हमारे लिए दुनिया में कोई भी कर्त्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए भागवतधर्म कर्मों का बिल्कुल परित्याग कर देते हैं और श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना तथा घ्राण—इन इन्द्रियों के वश में होकर शास्त्रविधि से विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे विद्वान् मानने वाले लोग सकामभाव से कर्म करने वाले विषयासक्त विषयी अज्ञ मनुष्यों की अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकार को, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, कूकर, शूकर आदि विविध दुःखपूर्ण नीच योनियों को और रौरव-कुम्भीपाकादि घोर नरकों को प्राप्त होते हैं ॥९॥

'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'। (गीता १६।२०)
'शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू'।
'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धवशरीरिणाम्'।
(श्रीमद्भा. ६।१६।५१, ११।११।३)

हे कौन्तेय! वे जीव मुझको न पाकर ही उससे भी अधम गति को प्राप्त होते हैं। हे राजन्! शब्दब्रह्म और परब्रह्म ये दोनों ही मेरे सनातन अंश हैं। हे उद्धव! विद्या और अविद्या ये दोनों ही मेरी सनातनी मूर्त्तियाँ हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—किं तर्हि निश्रेयः साधनमित्यत्राह—विद्यया = कर्मनिरपेक्षविद्यायाः। पञ्चम्यर्थे तृतीया। अन्यद्भिन्नं निःश्रेयसाधनमित्याहुः वेदान्तः। अविद्यया ब्रह्मज्ञाननिरपेक्षकमर्णोऽभिन्नं मोक्षोपायमित्याहुरुपनिषदः। ये न इति। ये = पूर्वाचार्याः, तत् नः = अस्मभ्यं मोक्षसाधनं व्याचचक्षिरे = विविच्य कथयामासुः, तेषां धीराणामनवरतभगवत्स्मरणपराणां वचनमिति शेषः, इति शुश्रुम = एवं प्रकारं श्रुतवन्त इत्यर्थः ॥१०॥

सम्बन्ध—शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य वस्तु (तत्त्वत्रय—प्रकृति (जगत्), जीव और ब्रह्म) को आचार्यमुख से सुनकर साधन करने से जो-जो निरतिशय फल लाभ होता है उसका भगवती श्रुति वर्णन करती हैं।

सान्वयानुवाद—विद्यया = विद्या से, अन्यत् एव = दूसरा ही, आहुः = कहते हैं, अविद्यया = अविद्या से, अन्यत् = दूसरा, आहुः = कहते हैं, इति = इस तरह, धीराणां = परमहंसपरिव्राजकाचार्य अहर्निश हरिचिन्तन करने वालों के, शुश्रुम =

उपदेशामृत सुने हैं, ये = जिन्होंने, नः = हमें, व्याचचक्षिरे = विमर्श करके समझाया (कहा) था ॥१०॥

व्याख्या—निरतिशय फल प्राप्त कराने वाले भगवदुपासना का वास्तविक स्वरूप बतलाते हैं—ईश्वर, जीव, जगत्, भगवन्नमन, भगवत्स्तुति, भगवत्पूजन, भगवत्सेवा, भगवत्स्मरण तथा भगवत्कथाश्रवण, अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। यही समस्त शास्त्रों का निष्कर्ष है। जड़ त्रिगुणात्मिका प्रकृति से और नित्य चेतन जीवों से परे अनन्ताचिन्त्यवेदकप्रमाणगम्य सर्वाभिन्नाभिन्न भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण हैं। इस प्रकार सकल शास्त्र श्रुति-स्मृति-सूत्र-श्रीमद्भागवतादि पुराण बतलाते हैं। हमने उन भगवन्निष्ठ निवृत्तिपथाधिरूढ ब्रह्मसाक्षात्कारी परमहंसपरिव्राजकाचार्य निष्काम तत्त्वज्ञानी महापुरुषों से सुना है। जिन्होंने हमें षडङ्ग सहित तत्त्वत्रय को विचार करके ठीक-ठीक समझाया था ॥१०॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ स ह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—सामान्येनोपदिष्टं मोक्षोपायं विवृणोति—यः = वेदान्तशास्त्र-स्याधिकारी, विद्याम् = ईश्वरस्योपासनाम्, अविद्याम् = तदङ्गभूतकर्मात्मिकाम्, एतद् उभयं सह वेद = अङ्गाङ्गिभावेन सहानुष्ठेयं वेद। अविद्यया = विद्याङ्गतया नित्यनैमित्तिककर्मणा। मृत्युम् = विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं पुण्यपापरूपं प्राक्तनं कर्म। तीर्त्वा = उल्लङ्घ्य। विद्यया = सर्वेश्वरोपासनया। अमृतम् = मोक्षम्। अश्नुते = प्राप्नोति ॥११॥

सम्बन्ध—इस समय उपर्युक्त सामान्य रूप से बताये गये तत्त्वों को अर्थात् मोक्ष के बहुविध उपायों को स्पष्ट शब्दों में बतलाते हैं—

सान्वयानुवाद—यः = जो, विद्याम् = विद्या को, च = और, अविद्याम् = अविद्या को, सह = साथ-साथ, तद् उभयम् = इन दोनों का सेव्य-सेवक भाव से अनुष्ठान करना चाहिए, वेद = ऐसा जानता है। अविद्यया = अविद्या से, मृत्युः = पुण्य और पापरूप इन दोनों प्राचीन कर्म को, तीर्त्वा = तर कर (लाँघ कर), विद्यया = अहर्निश हरिचिन्तन से 'ध्यायेदजस्रं हरिम्' इति श्रीशुकवचनात्, अमृतम् = (वह) श्रीभगवद्भावापत्तिरूपा मुक्ति को, अश्नुते = प्राप्त कर लेता है ॥११॥

व्याख्या—जो मनुष्य प्रारब्ध-भोगों को भोगता हुआ मन, वाणी और शरीर से भगवान् श्रीहरि को साष्टाङ्ग दण्डवत् करता रहता है, लौकिक-वैदिक स्तोत्रों से उनकी स्तुति करता है, पूजनसामग्री से श्रीभगवदर्चन करता है, अपने हाथ से मन्दिर का मार्जनादि करता है, बीज मन्त्र का जाप करता है और छठा साधन सुश्लोकमौलि भगवान् श्रीहरि की मधुर लीलाओं का श्रवण-कीर्तन इन षडङ्ग सेवा के साथ-साथ सूर्य-ग्रहण इत्यादि पर्वों में गङ्गादि तीर्थों में स्नान-दान देवतोद्देश करके द्रव्यों का त्याग करता है। इस प्रकार श्रीभगवदुपासना और उनके अङ्गभूत सत्कर्मों को केवल

श्रीभगवत्प्रीत्यर्थ (परितोषणार्थ) सेव्य-सेवकभाव से अनुष्ठान करना ही चाहिये, इसलिए इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि—'यस्तद् वेदोभयं सह'। जो वेदान्तशास्त्र का अधिकारी मुमुक्षु इन दोनों विद्या-अविद्या को अङ्गाङ्गिरूप से जानता है, वह पूर्वोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म द्वारा श्रीभगवान् की प्रसन्नता से पाप-पुण्यरूप प्राचीन कर्मों को लाँघ (पार) कर समस्त धर्म-कर्मों का परित्याग करके केवल रात-दिन भगवच्चिन्तन से तद्भाव को प्राप्त हो जाता है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। इति श्रीमुखवचनम्।

'विद्ययाऽमृतमश्नुते' अथवा इसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—वह उपासक सदा-सर्वदा क्षणकालाबाधित, यथा गङ्गादिप्रवाहवत् अविच्छिन्न अनवरत श्रीभगवद्ध्यान से श्रीभगवद्भावापत्तिस्वरूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याः रताः ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—समाधिरूपा सम्भूतिः। असम्भूतिस्तु मानदम्भहिंसास्तेयादीनां योगविरुद्धानां निवृत्तिः। तत्रासम्भूतिमात्रावलम्बिनः केवलसम्भूत्यवलम्बिनः पुरुषान् निन्दति—ये पुंस असम्भूतिमेव = प्रागुपदिष्टां निवृत्तिमेव उपासते त उपासका अन्धं तमः प्रविशन्ति। ये पुनः समाधिरूपसम्भूत्यामेव रता ते भूय इव बहुतरमिव तमः प्रविशन्तीत्यर्थः ॥१२॥

सम्बन्ध—अब अगले मन्त्र में भगवती श्रुति असम्भूति और सम्भूति का वर्णन करती हैं—

सान्वयानुवाद—ये = जो, असम्भूतिम् = असम्भूति की, उपासते = उपासना करते हैं, (ते = वे) तमः = घोर, घना, अन्धम् = अँधेरे में, प्रविशन्ति = घुसते हैं। (च = और) ये = जो, सम्भूत्याम् = सम्भूति में, रताः = लगे हैं, ते = वे, ततः = उनसे, उ = भी, भूयः इव = मानो ज्यादा, तमः = अतिनिबिड अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

व्याख्या—जो मनुष्य स्त्री-प्रजा, धन-सम्पत्ति, मान, यश, प्रतिष्ठा और अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर में इस लोक तथा परलोक की भोग-सामग्रियों में लगे रहते हैं; उन्हीं को सुख का हेतु समझते हैं और उन्हीं के कमाने-खाने में, कुटुम्ब के भरण-पोषण में हमेशा लगे रहते हैं—ऐसे नराधम, गृहासक्त, विषयासक्त, आसुरी भावापन्न लोग 'यह मैं हूँ, यह मेरी वस्तु है' इस तरह समझकर स्त्री का सङ्ग करके रसनेन्द्रिय, जननेन्द्रिय और तीसरी स्त्री के वशीभूत होकर इन आपातरमणीय भोगसामग्रियों का अन्वेषण (खोज) प्राप्त-संरक्षण तथा वर्द्धन के लिये उन भैरवादि देवताओं को अपना उपास्यदेव बनाकर उपासना करते हैं, जो खुद जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए हैं। उन-उन देवताओं के उपासक वे परमात्मज्ञानविहीन स्वेच्छाचारी अपनी उपासना के

फलस्वरूप विभिन्न देवताओं के लोकों को और विभिन्न योनियों को प्राप्त होते हैं। यही उनका घोर (घने) अँधेरे में घुसना है।

'न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते' इति श्रीमुखवचनम्।

दूसरे जो मनुष्य श्रीभगवान् के सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप और सच्चिदानन्दस्वरूप, सौन्दर्य-माधुर्य-कारुण्य-वात्सल्यादि गुणों को न समझने के कारण न तो वे सतत हरिचिन्तन, पूजन, स्तवन, नमन ही करते हैं और वे केवल वेद के कर्मकाण्डभाग को ही पढ़ते हैं। जब ये वेदवादी कर्मकाण्डी वैदिक हो जाते हैं तब वेदप्रतिपादित धर्म-कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं और अपने को बड़ा भारी सद्-असत् विवेचक पण्डित मानते हैं।

वे पण्डितमानी अतत्त्वदर्शी मूर्ख लोग मन्त्र-तन्त्र का सहारा लेकर रतिदायिनी स्त्रियों की उपासना करते हैं और मैथुन-सुख में बड़ा प्रेम रखते हैं। अकिञ्चन भगवत्प्रिय महात्माओं का अपमान करते रहते हैं और उनको देखकर उनकी हँसी उड़ाते हैं, तिरस्कार करते हैं। अपने को भगवदुपासक बतलाकर सहृदय (सामाजिक) जनता से अपनी पूजा-अर्चना कराने लगते हैं। इतना ही नहीं, अपने आपातमनोरम वाक्जाल में फँसाकर उनके मनों में भी कामवासना पैदा करके भगवदुपासनादि के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं।

'वेदवादरता: पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिन:'। इति श्रीमुखवचनम्।

ऐसे लोलुप वनितोपासक वेदवादी मनुष्य अपने कुकर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य होकर सूअर, वानर, सियार, बिलार आदि नीच योनियों को तथा रौरवकुम्भी-पाकादि घोर नरक को प्राप्त होते हैं ॥१२॥

अन्यदेवाहु: सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—तर्हि किं मोक्षोपायमिति जिज्ञासायामाह—सम्भवात् = सम्भूते:, असम्भवात् = असम्भूते:। सम्भवमात्रादसम्भवमात्रादन्यदेव मोक्षोपायमित्युपनिषद आहु:। शेषं पूर्ववत् ॥१३॥

सान्वयानुवाद—सम्भवात् = सम्भूति से, अन्यत् एव = दूसरा ही, आहु: = बतलाते हैं, असम्भवात् = असम्भूति से, अन्यत् = दूसरा, आहु: = बतलाते हैं, इति = इस प्रकार, (हमने) धीराणाम् = निरपेक्ष हितकारी महात्माओं के, शुश्रुम = मुखारविन्द से निकला हुआ तत्त्वोपदेश सुने हैं, ये = जो, जिन्होंने, न: = हमें, तत् = मोक्ष का उपाय = साधन, व्याचचक्षिरे = ठीक तरह से विवेचन करके समझाया था ॥१३॥

इसका व्याख्यान पूर्ववत् समझना चाहिये।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयः स ह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका—अन्यदेवाहुरित्युपदिष्टमर्थं विवृणोति—सम्भूतिम् = समाधिम्। विनाशम् = समाधिप्रतिबन्धकानां निवृत्तिम्। चैतदुभयं योऽङ्गाङ्गिभावेन वेद। विनाशेन = योगप्रतिबन्धकानां वर्जनेन। मृत्युम् = योगविरोधिपापम्। तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतं = ब्रह्म अश्नुते। भगवदुपासनाविरोधिरूपाणां निवृत्तिं विना तदुपासना निष्पन्ना न भवति। अत एव तदुपासनानिष्पत्तये तद्विरोधिरूपाणामपनयनमावश्यकमित्यपि द्रष्टव्यम् ॥१४॥

सम्बन्ध—इस मन्त्र में श्रीभगवद्दास्ययोग का सम्यक् वर्णन करते हैं—

सान्वयानुवाद—यः = जो, तत् उभयम् = उन दोनों को, सम्भूतिम् असम्भूतिं च = संभूति और असंभूति को, सह वेद = साथ-साथ जानता है, विनाशेन = शरणापत्ति से, मृत्युम् = मृत्यु को, तीर्त्वा = पार करके, सम्भूत्या = अविच्छिन्न भगवदुपासना से, अमृतम् = अजन्मा परमात्मा को, अश्नुते = प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

व्याख्या—जो विवेकी मनुष्य ठीक तरह विचार करके यह समझ लेता है कि—वे सर्वाश्रय सर्वान्तर प्रभु सर्वात्मा अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा माया गुण-दोष लेशरहित हैं। सबसे बड़ा योग मन की समाधि है, सबसे पहले अपने मन को वश में करना चाहिये। श्रीभगवद्भक्तियोग के प्रतिबन्धक शिश्न एवं उदर ये दो इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। मनुष्यों की जीभ स्वादिष्ट रसों की ओर उनको खींचती है और मूत्रेन्द्रिय मैथुन की ओर खींचती है। संसार की समस्त वस्तु नाशवान् है, मिथ्या नहीं है ऐसी प्रतिपत्ति अपने में करनी चाहिये।

'वासुदेवः सर्वमिति'—जड़-चेतन सकल वस्तु भगवत्स्वरूप है इसलिये अपने शरीर, मन और वाणी से किसी भी वस्तु का तिरस्कार न करें। सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखने वालों को ही सम्यग्दर्शी तत्त्वज्ञानी कहा जाता है। यही भगवत्प्रपत्ति-शरणापत्ति है। ऐसे उन भगवत्प्रपन्न-शरणापन्न उपासक को देखकर मृत्यु ही भागने लगती है। इसको 'भगवद्दास्ययोग' शब्द से कहते हैं। भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक ये वस्तुएँ हैं—सर्वप्रथम मन की चञ्चलता, जीभ की रस-आस्वादता और जननेन्द्रिय की मैथुनेच्छा एवं स्त्री रूपी वानर-सदृश खिलौने में नहीं पड़ना चाहिये। जिसने ये सब छोड़-छाड़ दिया है वह तो अनायास ही पाप और पुण्यरूप प्राचीन कर्मों को लाँघ कर अविच्छिन्न भगवच्चिन्तन से सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

तत्त्वप्रकाशिका—भोग्यवर्गेच्छापिधानसमर्थं सर्वेश्वरम्भगवन्तं तत्साक्षात्काराय प्रार्थयते द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्—पोषयति विश्वमिति पूषा तत्सम्बुद्धौ पूषन्निति । निखिलजगत्पोषणकर्त्तेति तदर्थः । हिरण्मयेन पात्रेण = भगवत्साक्षात्कारविरोधिप्राकृतविषयसुखेन । अत्र विषयसुखस्य हिरण्मयपात्रोक्त्याऽतिरम्यत्वमुक्तम् । सत्यस्य = प्रत्यगात्मनः । मुखम् = मुखवत्, मुखसदृशं मनः । अपिहितम् = आच्छादितम् । तत् = जीवस्य मुखस्थानीयं मनः । सर्वनियन्ता त्वमपावृणु । मुखाच्छादकविषयपात्रापनयनेन निवारणं कुरु इत्यर्थः । तत्किमर्थमित्यत आह—सत्यधर्माय-सत्यस्य = प्रत्यगात्मनः, धर्मभूताय जीवस्य धर्मभूतज्ञानविकासनायेति यावत् । दृष्टये = दृष्टिर्दर्शनम्, त्वत्साक्षात्कारायेति भावः ॥१५॥

हे पूषन्निति प्राग्वत् व्याख्येयम् । एकर्षे = एकश्चासावृषिश्चेत्येकर्षिस्तस्य सम्बोधने हे एकर्षे = प्रधानर्षे । प्राधान्यञ्च तस्य सर्वविषयकद्रष्टृत्वेन । सर्वस्य नियमनात् हे यमेति सम्बोधितम् । सर्वान्तर्यामिन्निति तदर्थः । सूर्य = स्वाश्रितानां सुष्ठु प्रेरक ! प्राजापत्य = सर्वासां प्रजानां पते ! स्वार्थिकः प्रत्ययः । वैश्वानर इतिवत् । रश्मीन् = भगवदीयदिव्यमङ्गलविग्रहदर्शनायोग्यानन्तकिरणवृत्तिविशेषान् । व्यूह = व्यपोह दूरीकुर्वित्यर्थः । तेजः = त्वद्दर्शनयोग्यं प्रभात्मकं सौम्यं तेजःसमूहः समूहीकुरु । तत्कस्य हेतोस्तत्राह—यदिति । ते = तव अतिकल्याणतमं सौन्दर्यमाधुर्यमार्दवादिगुणातिशयेन प्रियतमं सर्वेभ्यः कल्याणगुणेभ्य अतिशयितं कल्याणञ्च शुभाश्रयभूतमित्यर्थः । ते यद् दिव्यं रूपं तत् पश्यामि पश्येयम् । लकारव्यत्ययश्छान्दसः ।

ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्यत्वतत्तन्त्रसत्त्वपराधेयत्वधर्मैश्च क्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणा सह स्वाभाविक अभेदः, इत्याशयेनाह—योऽसावसौ पुरुषः । गुणोपसंहारन्यायेन भेदोऽपि बोद्धव्यः । परमात्मना सह प्रत्यगात्मनां सर्वनियन्तृत्वसर्वात्मत्वसर्वव्यापकत्वादिधर्मेण स्वाभाविको भेदः, तथा च चेतनाचेतनं सर्वं ब्रह्म भिन्नाभिन्नमिति भावः ॥१६॥

सम्बन्ध—महाभूत सर्वनियन्ता परमात्मा श्रीकृष्ण का पूजन-नमन-ध्यानादि करने वाले उपासक श्रीकृष्ण को ही प्राप्त होते हैं—यह बात पूर्व में कही गयी है । इसलिये भगवान् श्रीहरि के भक्तों को शरीरवियोग काल में श्रीभगवान् से उनकी प्राप्ति के लिये किस प्रव..र आत्मनिवेदन करना चाहिये—इस बात को दो मन्त्रों से कहते हैं—

सान्वयानुवाद—पूषन् ! = हे विश्व का पालन-पोषण करने वाले श्रीकृष्ण ! हिरण्मयेन पात्रेण = आपके दर्शन करने में घेरा डालने वाले प्राकृत विषयसुख से, सत्यस्य = चित्स्वभाव मेरा, मुखम् = मुँह के समान मन, अपिहितम् = ढका हुआ है, तत् = मेरे मुखस्थानीय मन को, त्वं = आप, अपावृणु = मुँह को ढकने वाले विषय रूपी पात्र को हटा दीजिये, सत्यधर्माय = स्वकीय धर्मभूत ज्ञानविकास के लिये, दृष्टये = हे प्रभो ! आपके दर्शन के लिए ॥१५॥

पूषन् = हे सर्वभूतपरिपालक भगवन्! एकर्षे = हे सर्वज्ञ ज्ञानप्रदाता गुरो! सूर्य = हे अपने आश्रित भक्तों को भली-भाँति प्रेरणा करने वाले प्रकाशस्वरूप! प्राजापत्य = हे सभी जनताओं के स्वामी! रश्मीन् = किरणों को, व्यूह = दूर कर दीजिये, तेजः = तेज को, समूह = समेट लीजिये, यत् = जो, ते = आपका, कल्याणतमम् = कल्याणतम, रूपम् = रूप है, तत् = उस, ते = आपके कल्याणतम रूप को, (मैं) पश्यामि = देख सकूँ, यः = जो, असौ-असौ इत्यत्र—यथा साहित्यदर्पणसप्तम-परिच्छेदे तदुक्तम्—'यः स ते नयनानन्दकरः सुभ्रु! स आगतः।' यच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति। यथा—'आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनासौ समागतः'। पुरुषः = पुरुष है, सः = वही, अहम् = मैं, अस्मि = हूँ॥१६॥

व्याख्या—इस सोलहवें मन्त्र में गुणोपसंहारन्याय से भेद भी समझना चाहिये। स्वाभाविक भेदाभेदवाद सब शास्त्रों का सार है। यथा—

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'। 'ईश्वरः सर्वभूतानां
'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। 'तमेव शरणं गच्छ'॥

हे अर्जुन! मैं ही सब प्राणियों के हृदय में सन्निविष्ट हूँ। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। तुम उसी की शरण में जाओ। इस प्रकार स्मृति उपास्य और उपासक का स्वाभाविक भेद दिखलाती है। श्रुति भी कहती है—'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः' (बृहदारण्यकोपनिषद् ३।७।९)–जो परमात्मा श्रीकृष्ण आदित्य के भीतर रहता हुआ आदित्य से अलग (भिन्न) है।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'॥

कोई विषयवितृष्ण निष्काम ज्ञानी भक्त कहता है—मैं इन महात्मा पुरुषोत्तम को जानता हूँ। वे त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति से अलग (भिन्न) हैं। उन वेदान्तवेद्य श्रीकृष्ण को जानकर ही मनुष्य मृत्यु का उल्लङ्घन करने (मृत्युमत्येति) में अर्थात् इस शरीर-संयोग-वियोग रूप जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिये छुटकारा पाने में समर्थ होता है। भगवत्प्राप्ति के लिये इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता (उपाय) नहीं है (यह यजुर्वेद के अध्याय ३१ का अठारहवाँ मन्त्र है)। इसलिये परमात्मा जड़ और चेतन वर्ग से विजातीय है अर्थात् बिल्कुल अलग है। परन्तु स्वजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य नहीं है और निर्गुण-निराकार-निर्धर्मक-निर्विशेष भी नहीं है। वे परमात्मा सौन्दर्य-माधुर्य-कारुण्य-लावण्य-वात्सल्य-कैशोर्य-मार्दव आदि कल्याणमय दिव्य गुणों से युक्त हैं। विषयवितृष्ण भक्त भगवान् श्रीहरि से इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—हे भगवन्! आप अनन्त ब्रह्माण्ड के पोषक हैं, विषय की लालसा से मेरा लोभ बढ़ गया है, उस प्राकृत विषयसुख से मेरा विशुद्ध अन्तःकरण ढक गया, इसी में आप रहते हैं। हे प्रभो! आप अपनी अनुकम्पा से विशुद्ध अन्तःकरण को ढकने वाले विषयावरण को दूर कर

दीजिए। अपने धर्मभूत ज्ञान के विकास के लिये तथा आपका प्रत्यक्ष दर्शन मिले, बस यही मैं चाहता हूँ और मैं आपकी शरण में हूँ ॥१५॥

गुणोपसंहारन्यायः—'उपसंहारोऽर्थाभेदात् विधिशेषवत् समाने च'।

(ब्र.सू. ३।३।५)

सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यापि समाने विज्ञाने उपसंहारो भवति। अर्थाभेदात्। य एव तेषां गुणानामेकत्र अर्थः विशिष्टविज्ञानोपकारः, स एव अन्यत्रापि उभयापि हि तदेव एकं विज्ञानं, तस्माद् उपसंहारो विधिशेषवत्। यथा हि विधिं विशेषणम्। अग्निहोत्रादिधर्माणां तदेव एकमग्निहोत्रादि कर्म इति अर्थाभेदात् उपसंहरणम्। एवमिहापि (गुणानां विशेषणानां शाखादिभेदेन भिन्नानामपि गुणिनः एकत्वे उपसंहारः = एकत्र सञ्चयः कर्त्तव्यः इति गुणोपसंहारो नाम)। तद्यथा—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तज्जलानिति', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यभेदव्यपदेशात्। 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः', 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि', 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद', 'यस्य पृथिवी शरीरम्', 'यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत' इत्यादिना भेदव्यपदेशाच्चेत्युभयविधशास्त्रम्। अतः स्वाभाविको भेदाभेदसम्बन्ध एव द्रष्टव्यः। महाभागवत पितामह भीष्म ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है—

जितने शरीरधारी जीव हैं उन सबके हृदय में एक अजन्मा श्रीकृष्ण बैठा हुआ है (श्रीमद्भा.) (१।९।४२)। श्रीमद्भागवत में एक गोपस्त्री ने कहा है कि—मैं कृष्ण हूँ, देखो मैं कैसे सुन्दर चलती हूँ (कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति)। 'असौ पुरुषः सोऽहमस्मि' = वे प्राणपति परमपुरुष कृष्ण मेरी आत्मा है, मैं भी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हूँ ॥१६॥

'या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः'॥

(श्रीमद्भा. १०।४४।१५)

व्रज की स्त्रियाँ धन्य हैं, जिनके विशुद्ध अन्तःकरण के यान (रथ) पर सर्वदा ये श्रीकृष्ण विराजमान रहते हैं। वे गाय दुहते, धान कूटते, दही मथते, रोज छोटे-छोटे बच्चे को झूला झुलाते, बुहारी देते, बर्तन मलते तथा सब अवस्थाओं में अनुरक्त चित्त से आँसू बहाते गद्गद कण्ठ से इन उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण का ही गान (अनुस्मरण) करती हैं।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'। इति श्रीमुखवचनम्।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७॥

तत्त्वप्रकाशिका—देहाद्यतिरिक्तं स्वात्मानं प्राङ्निर्दिश्य तदनुग्रहं प्रार्थयते—वायुरनिलममृतमित्येतानि पदानि लिङ्गव्यत्ययेन विभक्तिव्यत्ययेन समानाधिकरणानि। अर्थवशाद् विभक्तेर्विपरिणामः। सर्वसम्मतस्तथा चायमर्थः। वातीति वायुरिति यौगिकार्थमाश्रित्य वायुशब्देन जीवात्मा उच्यते। स्वप्रारब्धकर्मानुगुणेश्वरेच्छावशेन देवमनुष्य-तिर्यङ्योनिषु लोकान्तरे च गन्तृत्वाद् वायुशब्दाभिधेयः प्रत्यगात्मा। अनिलमित्यस्य नपुंसकस्य पुंल्लिङ्गत्वेन तत्पदोत्तरद्वितीयायाः प्रथमान्तत्वेन च व्यत्ययः। एवममृत-मित्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अनिलम्—अ = ब्रह्मैव निलं = निलयनम् आश्रयो यस्यासौ तथोक्तः परमेश्वराश्रितो जीवः। अमृतम् = स्वरूपतो धर्मतश्चाविनाशी। 'अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' इति श्रुतेः। एतेन देहादिभ्यो भिन्नो हरेरधीनो, नित्यज्ञानाश्रय इति जीवस्वरूपं निर्दिष्टम्। जीवात्मशरीरयोरमृतत्वामृतत्वा-भ्याम्भेदमाह—अथेदं भस्मान्तं शरीरमिति। प्रकृतादर्थादर्थान्तरनिर्वचनमत्राथशब्दार्थः। कर्मवश्यमिदं शरीरं भस्मान्तं = भस्मान्ते यस्य तत्। अनेन शरीरस्य नश्वरत्वात् द्रुतं भगवदुपासनायां प्रवर्त्तयितव्यमिति ध्वनितम्। चिदचिद्वस्तुनो विविच्य प्रेरितारं सर्वेश्वरं प्रणवेनोपादत्ते ओमिति। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति योगदर्शनेऽभिहितम्।

भगवदनुग्रहं प्रार्थयते—क्रतो स्मर इति। क्रतो = श्रौताग्निष्टोमात्मकविष्णो ! मां स्मर = भक्तकर्मकं यद्विष्णोः स्मरणं तदनुग्रहस्तद् बुद्ध्याविषयी कुरु। 'अहं स्मरामि तद्भक्तं नयामि परमां गतिमि'ति श्रीमुखवचनमनुसन्धेयम्। कृतं स्मर = यत्कृतं यत्किञ्चिदानुकूल्येन त्वदनुशीलनं कृतं तं प्रतिसन्धाय त्वमेव शेषपूरणं कुर्वित्यर्थः। क्रतो स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥१७॥

सम्बन्ध—षड्विध विकारशून्य स्वरूप से तथा धर्म से अविनाशी शरीरादि से पृथक् ज्ञानस्वरूप श्रीभगवदाश्रित जीव अपने प्रारब्ध कर्मानुकूल भगवदिच्छा से वशीभूत होकर कभी देव-मनुष्य-पक्षी इत्यादि विभिन्न योनियों में एवं लोकान्तर में वायुवद् भ्रमण कर रहा है। जब उस जीव को ब्रह्मज्ञानी महात्माओं की चरणधूलि मिलती है, तब वह समस्त जीवों के नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करके शरीर का त्याग करते समय इस प्रकार सद्भावना करता हुआ श्रीभगवान् से प्रार्थना करता है—

सान्वयानुवाद—अथ = इस समय इस मन्त्र में दूसरी बातें बतलाने के लिए अथ शब्द प्रवृत्त है। वायुः = यह वायु शब्द यौगिक है, अतः यौगिक अर्थ के सहारे वायु शब्द से जीवात्मा बतलाया गया है। अनिलम्–अकारो वासुदेवः, निलम् = आश्रयः, वासुदेवाश्रितो जीवः = भगवान् के सहारे रहने वाला प्राणी, अमृतम् = छः विकारों से शून्य अविनाशी जीवात्मा एवं परमात्मा, इदं शरीरम् = यह शरीर नाशवान् है, भस्मान्तम् = जो अन्त में आग में जलकर भस्म हो जायेगा, ॐ = ओम् इस एकाक्षर ब्रह्म (वेदवाक्य) का उच्चारण करता हुआ (प्राणवियोग काल में) और वासुदेव का अनुस्मरण करें। क्रतो = हे यज्ञपुरुष सर्वगत भगवान् विष्णो ! स्मर = (आप मुझ

नन्हें अज्ञ जीव को) स्मरण करें, क्रतो = हे यज्ञमय विष्णो ! स्मर = स्मरण करें, कृतं स्मर कृतं स्मर = मेरे द्वारा किये हुये कर्मों का स्मरण करें, हे भगवन् ! आप मेरे कर्मों का स्मरण करें ॥१७॥

व्याख्या—जितने देहधारी जीव हैं उनकी मृत्यु जरूर होती है लेकिन देह का जन्मना और मरना होता है; देही जीव का जन्म-मरण नहीं होता। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'—हे अर्जुन ! मेरा ही सनातन अंश जीवलोक में जीवरूप से प्रसिद्ध है। वह स्वरूप से और गुण से अविनाशी है। सकल देहधारी जीव भगवान् श्रीकृष्ण के सहारे पड़े हैं। भगवान् ने श्रीमुख से स्वयं कहा है—

'प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्' ॥

(श्रीमद्भा. ५।५।६)

इसका अर्थ है—देहधारी मनुष्य जब तक भगवान् श्रीकृष्ण से प्रीति नहीं करेगा और उनके चरणों में रति-अनुराग नहीं होगा तब तक वह जीव देहसम्बन्ध से नहीं छूटेगा। यह शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों से बना हुआ है। जब पाँचों महाभूतों के अंश महाभूतों में जाकर मिल जाते हैं तब उसकी संज्ञा 'पञ्चत्व' की प्राप्ति अर्थात् मृत्यु हो जाती है। फिर वे जीवात्मा अपने प्रारब्ध कर्मानुकूल देव-मनुष्य-तिर्यङ् योनियों में जन्म लेते हैं और विभिन्न देवताओं के नाशवान् लोकों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उनको देह-पर-देह मिलते रहते हैं। 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'—हे कौन्तेय ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है ('आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन')। वे अपने उपास्यदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं—हे सर्वदेवमय यज्ञमय सच्चिदानन्द परिपूर्णकाम विष्णो ! आप अपने शरणागत भक्त को और मेरे निर्मल सत्कर्मों को स्मरण कीजिये। अथवा हे भगवन् ! आप स्वभाव से ही अज्ञ मेरा और अज्ञ द्वारा किया गया अच्छे-बुरे कर्मों का स्मरण करें। क्योंकि आपकी यह घोषणा है—

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः'।
'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः' ॥
'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः' ॥

अच्छे फल देने वाले कर्मों को और बुरे फल देने वाले कर्मों को भी आपके चरणों में समर्पण कर देने पर कर्मों के बन्धन से जीव छूट जाते हैं। यदि अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी एकाग्र चित्त से मुझको भजता है तो उसको साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि उन्होंने मेरे भजन में ही कृतनिश्चय कर लिया है। पापी-महापापी-पापीयान् जीव भी मन्नामोच्चारण करके कर्मबन्धन से तर जाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि मैंने कहा भी है—'अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्'—मैं अपने भक्त का स्मरण करता हूँ और उसे परम गति को प्राप्त कर देता हूँ। इसलिये नाशवान्

शरीरादि में ज्यादा आसक्त न होकर अखिल ब्रह्माण्डनायक सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण का भजन करें ।।१७।।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।१८।।

शुक्लयजुर्वेदीयवाजसनेयसंहितोपनिषद् यद्वा
ईशावास्योपनिषत्समाप्ता ।

तत्त्वप्रकाशिका—पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रार्थयते—हे अग्ने = अग्रतरे नयनशील ! अस्मदनुष्ठितानि विश्वानि = सम्पूर्णानि मोक्षाय पर्याप्तानि, वयुनानि = ज्ञानानि, विद्वान् = जानानस्त्वम्, राये = इष्टधनप्राप्तये, श्रीसर्वेश्वरधनाप्तये इति यावत्, सुपथा = पुनरावृत्तिवर्जितेनार्चिरादिमार्गेण, अस्मान् नय = प्रवर्त्तय । त्वदुपासनोत्पत्तिप्रतिबन्धकं कुटिलं पापमनयेत्याह—अस्मत् = अस्मत्सकाशात्, जुहुराणम् = कुटिलं बन्धात्मकम्, एनः = पापम्, अनिष्टं कर्मेति यावत् । युयोधि = वियोजय, युयो वियोग इति धातुः । हे देव ! एतदर्थं ते = तुभ्यं, वयम् भूयिष्ठाम् = अनन्यगतित्वेनावृत्तितो भूयसीम्, नम उक्तिम् = स्वावधिकोत्कर्षवत्तया ज्ञापनं नमःपदार्थः । नमस्कारवचनं विधेम = विदध्महे ।।१८।।

एतदुपनिषद आदिमन्त्रेण विश्वस्य हरेरधीनत्वं तत्त्वत्रयं वैराग्यञ्चोपदिष्टम् ।

द्वितीयतृतीयमन्त्राभ्यां ब्रह्मविद्याङ्गनिष्कामकर्मानुष्ठानम् । शास्त्रविधिमुत्सृज्य स्वेच्छया निषिद्धकर्माचरन्ति, ते निरयपातिन इत्यभिहितम् ।

तुर्यपञ्चममन्त्राभ्यां सर्वावासत्वेन प्रस्तुतस्येशस्यानन्तविचित्रशक्तियोगमुपदिष्टम् । षष्ठमन्त्रेण सर्वं जगद् ब्रह्मात्मकमित्यनुसन्धानस्यैहिकं प्रयोजनं प्रतिपादितम् ।

तदग्रिममन्त्रेण जगद्ब्रह्मणो भेदसहिष्णुरभेदसम्बन्धं विजानतो विदुषो शोकमोहगन्धोऽपि नावतिष्ठते, इत्युपदिष्टम् ।

सच्चिदानन्ददिव्यमङ्गलविग्रहरूपो भगवान् प्राप्यः तदुपासकश्चेत्यमिति तदग्रिममन्त्रेणाभिहितम् ।

त्रिभिर्मन्त्रैः केवलकर्मावलम्बिनः केवलविद्यावलम्बिनश्च पुरुषान् विनिन्दन् विद्याविद्ययोरङ्गाङ्गिभावेन सहानुष्ठानम् मोक्षावाप्तिसाधनमुपदिष्टम् ।

त्रिभिर्मन्त्रैः सम्भूतिमात्रनिष्ठानामसम्भूतिमात्रनिष्ठानां निरयप्राप्तिमभिधायोभयनिष्ठानान्तु मृत्युतरणामृतत्वप्राप्तिरूपफलमभिहितम् ।

पञ्चदशमन्त्रेण स्वरूपविकाररहितस्य प्रत्यगात्मनो मनो भगवद्विषयकानुभूतिप्रतिबन्धेन विषयसुखेनाच्छादितं, तेन भगवत्साक्षात्कारो न भवति; तं तिरोधानं कुर्विति प्रार्थनाऽभिहिता ।

षोडशमन्त्रेण भगवदीयदिव्यरूपदर्शनानुपयुक्तानन्तकिरणवृत्तिविशेषणान् निरस्य

(निराकृत्वा) भगवद्दर्शनोपयिकं दिव्यं नयनं देयं येन तव (हरे:) दिव्यरूपं पश्यामीति प्रार्थना पुरुषेऽभेदानुसन्धानञ्चोपदिष्टम्।

सप्तदशमन्त्रेण देहेन्द्रियादिभ्योऽतिरिक्तमात्मानं विविच्य प्रणवपदवाच्यस्य पुरुषोत्तमस्योपासनं विधाय च तदनुग्रहस्य प्रार्थना कृतेति निर्धारितम्।

अष्टादशमन्त्रेण भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकमस्माकं पापमपाकृत्वा अर्चिरादिमार्गेण स्वेष्टधनावाप्तयेऽस्मान् प्रवर्त्तयैतदर्थम् भूयसीम् उक्तिं विधेमेति प्रार्थनोपदिष्टा। इत्यनुसन्धेयम् ॥१८॥

अनादिनिवृत्तपथप्रवर्त्तकब्रह्मविद्योपदेशकलोकाचार्यश्रीसनन्दनादिप्रवर्त्तित-श्री १०८ महामुनीन्द्रभगवन्निम्बार्काचार्यचरणोपबृंहितवैदिकसत्सम्प्रदायानुगतपूज्यपादनिखिलरसिकचूडामणि-श्री १०८ स्वामिहरिदासपदाश्रिताश्रितपरमविरक्तमहानुभाव-श्री १०८ स्वामिनीशरणपादपद्मचञ्चरीकेण विदुषा श्रीअमोलकरामेण पूर्वाचार्योक्तित: संगृहीता तत्त्वप्रकाशिकाटीकासंवलिता ईशावास्योपनिषत् समाप्ता ॥१॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने उपास्यदेव परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण से प्रार्थना करके अब उपासक पुनरावृत्ति वर्जित अर्चिरादि मार्ग से भगवद्धाम में जाते समय 'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गीता १५।६) उपास्यदेव में अपना मन लगाकर प्रकारान्तर से पुन: प्रार्थना करते हैं—

सान्वयानुवाद—अग्ने = हे ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाशस्वरूप श्रीकृष्ण ! अस्मान् = हमें, राये = समस्त धन-सम्पत्ति के खजाना रमापति आपको पाने के लिये, सुपथा = अच्छे रास्ते से, नय = कृपाकर आप ले चलिये। देव = हे लीलापुरुषोत्तम ! विश्वानि = सकल, वयुनानि = कर्मों को, विद्वान् = आप जानने वाले हैं। अस्मत् = हमारे, जुहुराणम् = कुटिल, बन्धनस्वरूप, एन: = पाप को, युयोधि = बिल्कुल हटा (दूर कर) दीजिये, ते = आपको, भूयिष्ठाम् = भूयो भूय:, नम: = नमन, उक्तिम् = वचन, विधेम = वाणी से कहते हैं। हम आपको शरीर से, मन से और वाणी से बार-बार नमस्कार करते हैं ॥१८॥

व्याख्या—इस संसार में ऐसे कुछ पापीयान् नरकभागी जीव हैं वे परमात्मा के माया गुण-दोषलेशविरहित साकाररूप का अनादर करते हैं। देवों ने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी जिससे वे भ्रान्त बुद्धिवाले ब्रह्म को स्वजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्य बतलाते हैं। उपासक कहते हैं—हे निरतिशयदीप्तिमत्तर सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ! हे लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ! इस समय मैं आपके भाव को प्राप्त करना चाहता हूँ। कृपाकर आप शीघ्र ही मुझे पुनरावृत्तिविरहित कमनीय परम मङ्गलमय अर्चिरादि मार्ग से अपने परम धाम में ले चलिये। महाभागवत उद्धवजी ने इस श्रुति के कियदंशों को श्रीमद्भागवत में बिल्कुल अनुवाद करके रख दिया है—

'नाथ स्वधाम नय मामपि'। (श्रीमद्भा० ११।६।४३)

'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्'।

यहाँ अग्नि शब्द परब्रह्म का ही वाचक है।

'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः'। (गी० १५।१४)

इसलिये श्रुति में 'अग्नि' नाम से परब्रह्म का ही वर्णन हुआ है।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५।१५)। क्योंकि आप सर्वज्ञ भगवान् श्रीहरि हैं, मेरे अच्छे-बुरे सभी कर्म-कलाप को जानते हैं। मैंने कोई भी कर्म किया—शरीर से, मन से, वाणी से, बुद्धि से, इन्द्रियों से, अहङ्कार से—वह सब आपके श्रीचरणों में ही समर्पित कर दिया। फिर भी मुझसे कोई कविविगर्हित पापकर्म हो गया हो तो आप अनुग्रह करके उसे समूल नष्ट कर दीजिये। मैं आपको बार-बार साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करता हूँ।

'तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यम्'। (श्रीमद्भा. ३।९।४)

साष्टाङ्ग दण्डवत् करने की विधि शास्त्र में इस प्रकार है—

दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥
वन्दे पूरितचन्द्रमण्डलगतं श्वेतारविन्दासनं
मन्दाकिन्यमृताब्धिकुन्दधवलं क्षीरेन्दुहासं हरिम्।
मुद्रापुस्तकशङ्खचक्रविलसच्छ्रीमद्भुजामण्डितं
नित्यं निर्मलभारतीपरिमलं विश्वेशमश्वाननम्॥१॥
श्रीहंसञ्च कुमारकान् मुनिवरं श्रीनारदं सन्ततं
निम्बार्काध्वप्रवर्त्तकं हि युगलध्यानप्रसक्तात्मनम्।
श्रीनिम्बार्कमुनीश्वरं निजगुरुं तत्सम्प्रदायागतं
तं वन्दे बहुमुक्तितो मुहुरहो राधाविहार्याह्वयम्॥२॥

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्त्ति-
स्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबातर्कतर्कव्याकरणतीर्थपादपद्मान्तेवासी-
योगिराजस्वामिराधाविहारिदासजीकाठियाबाबाचरणारविन्दचञ्चरीक
डॉ. स्वामी द्वारकादास जी काठियाबाबा कृत अन्वयार्थ-
तत्त्वप्रभा नाम्नी हिन्दी टीका में यजुर्वेदीय
ईशावास्योपनिषद् समाप्त।

●

॥ श्रीः ॥

केनोपनिषद्

यह उपनिषत् सामवेद के तलवकार-ब्राह्मण के अन्तर्गत है। तलवकार को जैमिनीय-उपनिषत् भी कहते हैं। इस उपनिषत् में सबसे पहले 'केन' पद आया है, इसलिये इसका नाम 'केनोपनिषत्' हो गया। इसे 'तलवकार-उपनिषत्' और 'ब्राह्मण-उपनिषत्' भी कहते हैं।

इस उपनिषत् में वेदान्तवेद्य परतत्त्व श्रीकृष्ण का बहुत गहन विचार हुआ है। इसलिये उस परतत्त्व को भलीभाँति समझाने के लिए गुरु-शिष्य के संवादरूप में परतत्त्व का विवेचन किया गया है।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च। सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणं मेऽस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।। ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सान्वयानुवाद—ॐ = ओम् (यह एकाक्षर वेदवाक्य है), मम = मेरे, अङ्गानि = समस्त अवयव, वाक् = वाणी, प्राणः = प्राण, चक्षुः = नयन, श्रोत्रम् = कर्ण, च = और, सर्वाणि = सकल, इन्द्रियाणि = श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ तथा मन, अथः = एवं, बलम् = शक्ति, आप्यायन्तु = आप्यायित हों, सर्वम् = सर्वनामा, औपनिषदम् = उपनिषत्-वेद्य, ब्रह्म= श्रीकृष्ण है। अहम् = मैं, ब्रह्म = श्रीकृष्ण को, मा निराकुर्याम् = परित्याग न करूँ, ब्रह्म = श्रीकृष्ण, मा = मुझको, मा निराकरोत् = परित्याग न करे, अनिराकरणम् = उसके साथ मेरा अनवद्य नैष्ठिक सम्बन्ध, अस्तु = हो, मे = मेरे साथ, अनिराकरणम् = श्रीकृष्ण का नित्य-शाश्वत अन्वय हो, उपनिषत्सु = उपनिषदों में वर्णित, ये = जो, धर्माः = सकल गुण, तदात्मनि = उस परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण में, निरते = निरत है, मयि = मुझमें, सन्तु = हों, ते = वे सब, मयि = मुझमें, सन्तु = हों। त्रिविध दोषों की निवृत्ति हो।

व्याख्या—हे सर्वेश्वर ! मेरे अङ्ग-वाणी, आँख, कान, मन इत्यादि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ; प्राणसमूह (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान), शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज सब पुष्टि एवं वृद्धि को प्राप्त हों। हे भगवन् ! उपनिषदों में उपवर्णित आपका माहात्म्य-स्वरूप-गुण उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ

एवं आप भी मेरा कभी परित्याग न करें। मुझे हमेशा अपनाये रखे। उपनिषदों में आपके जिन माहात्म्य, स्वरूप और गुणों का गान किया गया है वे सब-के-सब धर्म उपनिषदों के एकमात्र लक्ष्य परब्रह्मस्वरूप आपमें नैरन्तर्य लगे हुये मुझ तदुपासक में सर्वदा प्रकाशित रहें, मुझमें अविच्छिन्न बने रहें। हम वाणी से, मन से और शरीर से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचायें। हमारे इन त्रिविध दोषों की निवृत्ति हो।

अथ प्रथमः खण्डः

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका

श्रोत्रादेश्च नियन्ता यश्चक्षुर्वागाद्यगोचरः।
श्रीमुकुन्दं परं ब्रह्म तं कृष्णं गुरुमाश्रये॥१॥
श्रीनिम्बार्कमताम्भोधि सन्तारे भाष्यनौकरः।
श्रीश्रीनिवासवर्यस्तच्चरणौ शरणं वृणे॥२॥
निम्बादित्यं गुरुन्नत्वा सम्प्रदायानुसारतः।
केनोपनिषदो व्याख्यां व्याकरिष्ये यथामति॥३॥

अथ कश्चिन्मुमुक्षुर्निष्कामकर्मानुष्ठानविशुद्धान्तःकरणतया सर्वनियन्तृवस्तुजिज्ञासुर्विधिवद् गुरुमुपेत्य मन आदि करणानां जडतया स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिमनुमाय तत्प्रवर्तकं स्वतन्त्रं चेतनं बुभुत्समानः पृच्छति स्म—केनेषितमित्यादिना। केन प्रेरितं सन् मनः, इषितम् इट् प्रयोगः च्छान्दसः। इष्टं स्वविषयं प्रति पतति = गच्छति। ननु स्वतन्त्रं मनः स्वयमेव स्वविषयं प्रति गच्छतीति प्रसिद्ध्या प्रश्नो न युक्त इति चेत्तर्हि प्रवृत्त्यादिविषये मनसः स्वातन्त्र्ये सर्वथा अनिष्टचिन्तनं न स्यात्। अनर्थञ्च जानतोऽपि सङ्कल्पदर्शनात्। अतिदुःखप्रदे च परस्त्रीगमनद्यूतादिकार्ये वार्यमाणस्यापि प्रवृत्तिदर्शनाच्चातो युक्त एव प्रश्नः तत्र केनेति।

कर्मणा तत्संस्कारेण वा जीवेन वा स्वाधिष्ठितदेवेन वा अथ केनचित् सर्वनियन्त्रा वेति। कर्मसंस्कारयोर्जडत्वेन प्रेरकत्वासम्भवात्। जीवस्यापि स्वातन्त्र्याभावेन तेन निगृहीतस्यापि मनसो विषयासक्तिदर्शनात्। केनचित् स्वतन्त्रेण सर्वनियन्त्रा प्रेरितमिति वाच्यम्। स क इत्यभिप्रायः।

केन प्राणः प्रथमः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति = गच्छति स्वव्यापारे प्रवर्तते इत्यर्थः। प्राणस्य प्राप्यत्वं सर्वेन्द्रियवृत्तीनां तत्पूर्वकत्वात् केनेषितां प्रेरितां वाचमिमां शब्दस्वरूपां वदन्ति प्राणिनः तथा चक्षुः श्रोत्रञ्च उ = भो गुरो! को देवो द्योतनस्वभावः स्वस्वविषये युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयतीति चक्षुः श्रोत्रमिति प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। उपलक्षणञ्चेदं सर्वेन्द्रियाणाम्॥१॥

व्याख्याकर्तुर्मङ्गलाचरणम्

शङ्खचक्रमहामुद्रापुस्तकाढ्यञ्चतुर्भुजम् ।
सम्पूर्णचन्द्रसङ्काशं हयग्रीवमुपास्महे ॥१॥

सान्वयानुवाद—केन = किसके द्वारा प्रेरित होकर, मनः = मन, प्रेषितम् = अभिलषित, पतति = अपने विषयों के प्रति जा रहा है, केन = किसके द्वारा, युक्तः = नियुक्त होकर, प्रथमः = मुख्य, प्राणः = प्राण, प्रैति = चल रहा है, केन = किसके द्वारा, इमाम् इषितां वाचं वदन्ति = जनता स्वेच्छापूर्वक जो चाहे सो वाणी को बोलती है। उ = हे ज्ञानप्रद विश्वगुरो !, कः देवः = कौन देव है, चक्षुः = आँख, श्रोत्रम् = कान आदि दस इन्द्रियों को, युनक्ति = अपने-अपने कार्य में नियुक्त करता है ॥१॥

व्याख्या—शिष्य ज्ञानवान् सद्गुरु से पूछता है—हे आचार्यदेव ! हम जो शब्द प्रयोग करते हैं—मैं ब्राह्मण, मैं विरक्त-संन्यासी, मैं हिन्दू, मैं मुसलमान, मैं ईसाई, मैं कसाई, मैं जैन इत्यादि—यह सब वस्तुतः क्या है ? हमारे शरीर का निर्माण कर उसमें मन, प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय (वाणी, हाथ, पाँव, पायु और उपस्थ) एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, जीभ और नाक) द्वारा किसने जीवन प्रदान किया, क्योंकि यह सब-के-सब तो जड़भूत हैं, स्वतः अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होने में असमर्थ हैं। इन सबको अपना-अपना कार्य करने की योग्यता प्रदान करने वाला और उन्हें अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त करने वाला कोई जरूर एक चेतन, सर्वशक्तिधारी पुरुष होगा। हमारे जीवन में वक्तृत्वशक्ति किसने प्रदान की ? 'न वाचं विज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' (कौषीतकोप० ३।२)। वाणी को न (मत) समझो, वक्ता को समझो (चेतन का ज्ञान करो)। इससे यह प्रतीत होता है कि वह वक्ता (चेतन-ईश्वर) हमसे दूर नहीं है। दूसरी बात ईश्वरहीन जीवन शून्य जीवन है अर्थात् मृत है। हे ज्ञानप्रद गुरुवर ! वह ईश्वर कौन है और उसका गुणस्वरूप कैसा है ?॥१॥

'प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्' ॥
'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्' ॥
(श्रीमद्भा. २।४।२२, ४।९।६)

जिन परमात्मा श्रीकृष्ण ने सृष्ट्यादि समय में ब्रह्मा के हृदय में स्मृति जागृत कर, उन्हीं की ही प्रेरणा से शब्दस्वरूप देवभाषा ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुई। वे प्रपन्नजनों की रक्षा करने के लिये सतत कटिबद्ध जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों।

समस्त शक्तियों को धारण करने वाले जिन सर्वात्मा भगवान् ने मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर अपनी ज्योति से मेरी प्रसुप्त वाग्देवी को जागृत किया और हाथ, पैर, कान, त्वचा आदि अन्यान्य जड़ इन्द्रियों को चेतन किया उन अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् श्रीकृष्ण को मैं साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करता हूँ।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं पृच्छते शिष्याय गुरुराह—श्रोत्रस्येति । उ भो शिष्य ! मन आदि कारणकलापस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयितेति यत् त्वं पृच्छसि तच्छृणु । श्रोत्रस्य श्रोत्रं स यत् यस्त्वया पृष्टश्चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीति ।

शृणोत्यनेन श्रोत्रं शब्दाभिव्यञ्जकमिन्द्रियं तस्य शब्दाभिव्यञ्जकत्वशक्तिप्रदः । मनसो मनः मननःसङ्कल्पादिशक्तिप्रदः । वाचो ह वाचं प्रथमार्थे द्वितीया । वागिन्द्रियस्य शब्दोच्चारणशक्तिप्रदः । प्राणस्य प्राणः प्राणनः सामर्थ्यप्रदः ।

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् ।
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।
ऊद्ध्‌र्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।

इति श्रुत्यन्तरात् । येन प्राणः प्रणीयते इति इहापि वक्ष्यते । चक्षुषश्चक्षुः रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो रूपप्रकाशनशक्तिप्रद इत्यर्थः । तथा च स इति तच्छब्दोदितः सर्वान्तर्यामितया श्रोत्रादिसर्वनियन्ता पुरुषोत्तमः श्रीवासुदेवः कृष्ण एवेति प्रकरणार्थो विवक्षितः ।

'यः श्रोत्रे तिष्ठन् श्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद, यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद, यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद, यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद, यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद' इत्याद्यन्तर्यामित्वप्रतिपादकश्रुत्यन्तरात् । 'मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते' । 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः' । इत्यादिस्मृतेश्च । एवं ज्ञातुः फलमाह । अतिमुच्येति । धीराः = धीमन्तो भगवतः श्रीकृष्णस्य सर्वनियामकत्वं ज्ञातवन्तः । अस्माल्लोकात् = शरीरात् । प्रेत्य = 'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या विरजां प्राप्य, अतिमुच्य = लिङ्गशरीरं विहाय, अमृता भवन्ति = श्रीभगवद्भावमापन्न इत्यर्थः ॥२॥

सान्वयानुवाद—यत् = जो, मनसः = मन का, मनः = मन है, प्राणस्य = प्राण का, प्राणः = प्राण है, वाचः = वाणी का, वाचम् = वाणी है, श्रोत्रस्य = कान का, श्रोत्रम् = कान है, उ = एवं, चक्षुषः = आँख का, चक्षुः = आँख है, सः ह = वे ही इन सबका प्रेरिता परमात्मा है। धीराः = परमात्मपरायण मुमुक्षुजन, अतिमुच्य = स्थूल देह का परित्याग कर, अस्मात् लोकात् = इस मृत्युलोक से, प्रेत्य = विरजा को पाकर, अमृताः भवन्ति = श्रीभगवद्भाव को प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥

व्याख्या—इस मन्त्र में शिष्यभाव से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर आचार्यश्री देते हैं—वत्स ! जो श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, वाणी का वाणी है, प्राण का प्राण है, नेत्र का नेत्र है; इसका अर्थ है—हे वत्सक ! तुम जो अपने दोनों कानों से बातों को सुनते हो उन कर्णद्वय में सर्वनियन्ता भूमा श्रीकृष्ण ठहरते हैं, उन्हीं की वजह से ही तुम शब्द सुनते हो, तुम्हारी वाणी बोलती है, जीभ हिलती है, साँस चलती है और मन

अर्थानर्थ की भावना करता है। लेकिन उनकी शक्ति इतनी दुर्विज्ञेय है कि वे इन मन, प्राण और दस इन्द्रियों में रहते हुए भी इनसे भिन्न हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण समस्त इन्द्रियों, मन, बुद्धि और प्राण का एवं समस्त जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं। उनसे ये सब उत्पन्न हुए हैं। उन्हीं की लेशमात्र शक्ति को प्राप्त कर ये सब अपना-अपना व्यापार करने में, तत्त्व विचारने में समर्थ हो रहे हैं। इन सबको जानने वाले वे ब्रह्म- शब्दाभिधेय रमापति श्रीकृष्ण इन सबका प्रेरिता हैं।

'अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति'।

इसका अर्थ है—भगवान् श्रीकृष्ण के माहात्म्यगुणों को जानने वाले विवेकी जन इस मृत्युलोक से प्राकृत लिङ्ग शरीर का परित्याग कर विरजा को प्राप्त होकर श्रीभगवद्भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'। (गीता ४।१०)

'किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः संस्पन्दते तमनु वाङ् मन इन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः'॥
(श्रीमद्भा० १२।८।४०)

हे भूमन्! आप देहधारी जीवों के सखा हो, हे सर्वेश्वर! मैं तो सदा आपके अधीन जीव भला आपके अनन्त माहात्म्य-गुणों का वर्णन क्या करूँ? आप मेरे प्राणपति हैं। आपकी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर समस्त प्राणियों, ब्रह्मा, शिव तथा मेरे शरीर में प्राण चल रहा है और फिर उसी के कारण वाणी, मन तथा इन्द्रियों में भी बोलने, सोचने, तत्त्व विचारने और करने-जानने की शक्ति आती है। इस प्रकार आप सबके प्रेरक सबके नियन्ता परमात्मा और स्वतन्त्र होने पर भी आप अपना भजन करने वाले भक्तों के प्रेमरूप रस्सी में बँध जाते हैं।

'दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने'।

भक्तों के परिश्रमरूप प्रेम को देखकर करुणाकर भगवान् श्रीहरि भक्तजनों के हाथों से बँधे जाते हैं॥२॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—तस्य साकल्येन दुर्ज्ञेयतामाह—न तत्रेति। तत्र = तस्मिन्नन्तर्यामिणि ब्रह्मणि चक्षुर्न गच्छति, तस्यापरिच्छिन्नतया साकल्येन तत्र प्राप्नोति। वाक् = वेदवाणी न गच्छति इयत्तावच्छेदेन प्रतिपादयति। मनोऽपि इयत्तावच्छिन्नतया न निश्चिनोति। इन्द्रियमनोऽगोचरतया वयमपि इदमित्थमितीयत्तावच्छेदेन न विद्मः, अत एव न विजानीमः। यथा = येन प्रकारेण एतद् वस्तु साकल्येन कश्चिदनुशिष्यात् शिष्याय उपदिशेदिति, यद्वा न तत्र चक्षुर्गच्छतीति = तस्यातीन्द्रियत्वमुच्यते। चक्षुरादीनां तत्प्रकाशतया तत्प्रकाशनशक्तिमत्त्वाभावात्। रूपगन्धप्रकाशने रसनश्रवणवत्। सूर्यादिप्रकाशने खद्योतादिवच्च॥३॥

सान्वयानुवाद—तत्र = उस अन्तर्यामी ब्रह्म तक, न = न तो, चक्षुः = चक्षु इन्द्रिय, गच्छति = पहुँच सकती है, न = न तो, वाक् = वागीन्द्रिय, गच्छति = पहुँच सकती है, नो मनः = न मन ही पहुँच सकता है। यथा एतत् अनुशिष्यात् = जिस प्रकार यह वस्तु उपदेश किया जाय वह ऐसा है। न विद्मः = हम नहीं जानते हैं, न विजानीमः = हम नहीं पहचानते हैं ॥३॥ 'नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि'। जो मन, लौकिक-वैदिक (वेद) वाणी एवं चित्तवृत्तियों से भी बिल्कुल दूर हैं हम उन परमात्मा को नमन करते हैं।

व्याख्या—मन सहित दस इन्द्रियाँ सर्वान्तर्यामी परमात्मा तक नहीं पहुँच सकती हैं, क्योंकि वे परमात्मा देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न हैं। इसलिये वे इन्द्रिय, मन का विषय नहीं हैं। हम भी इदम्, इत्थम् इस प्रकार इयत्ता से युक्त नहीं जानते हैं, इसलिये हम पहचान भी नहीं सकते हैं। जिस प्रकार बतलाया जाय कि यह वस्तु ऐसी है वह ऐसा है। इसलिये शास्त्र में परमात्मस्वरूप का जैसा गान किया गया है वैसी ही सद्युक्तियों के द्वारा ठीक तरह विचार करके शिष्य को उपदेश करना चाहिये। विरक्तशिरोमणि महाभागवत श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित से कहते हैं—हे राजन्!

'तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान्नृणाम्' ॥

जैसे आदमी मकानों में ठहरते हैं लेकिन मकान उन मकानस्थ आदमी के नजदीक में जाकर उन्हें छू नहीं सकता, क्योंकि मकान ग्यारह इन्द्रियों की भाँति खुद जड़ पदार्थ है और मकान में ठहरने वाले आदमी चेतन होने के कारण मकान को छूने में स्वतः समर्थ हैं। ठीक वैसे ही ये ग्यारह इन्द्रियाँ जड़ पदार्थ हैं अतः वे चेतन के समीप में जाकर स्पर्श करने में समर्थ कदापि नहीं हो सकती हैं।

'देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा नात्मानमन्यञ्च विदुः परं यत्।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥
तमक्षरं ब्रह्म परं परेशमव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम्।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरमनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे' ॥

(श्रीमद्भा० ६।४।२५, ८।३।२१)

शरीर, प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन पाँच रूपों में विभक्त प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन पाँच रूपों में विभक्त अन्तः-करण, पाँच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी, पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये सब-के-सब जड़ पदार्थ हैं एवं अपने को, इन्द्रियों को तथा उनके अधिष्ठाता देवतावर्ग को नहीं जानते हैं। किन्तु जीव इन सबको जानता हुआ भी जिन सर्वज्ञ अनन्तस्वरूप परमात्मा को नहीं जानता उन्हीं परमात्मा का मैं स्तवन करता हूँ। जो ब्रह्मादि देवताओं का नियन्ता और भक्तजनों का अभीष्टप्रदाता, जिन अव्यक्तरूपी परमात्मकर्तृक यह सब जगत् परिव्याप्त, जो ज्ञानमिश्रित भक्तियोग

द्वारा प्राप्त होते हैं, जो प्रकृति और जीववर्ग से विलक्षण हैं, जो सबके कारण हैं उन्हीं अविनाशी, अतीन्द्रिय, परब्रह्मस्वरूप, अनन्तस्वरूप, आप्तसमस्तकाम सर्वभिन्नाभिन्नस्वरूप श्रीकृष्ण की मैं स्तुति करता हूँ ॥३॥

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥४॥
यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥९॥

इति प्रथमः खण्डः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथ तस्य सर्ववैलक्षण्यं सर्वव्यापकत्वञ्च प्रपञ्चयन् सम्प्रदायं दर्शयति—अन्यदेवेत्यादिना । तच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिना प्रक्रान्तवस्तु'विदितात्' परिच्छिन्नविषयात् कार्यादाकाशादेरन्यदेव विलक्षणम् अपरिच्छिन्नत्वात् । ननु जीवस्यापि कैश्चिद् विभुत्वाङ्गीकारात् सिद्धान्तेऽपि जडवर्गाद् वैलक्षण्यस्य ज्ञानधर्मेण विभुत्वस्य च स्वीकाराज्जीव एवास्तामिति चेत्तत्राह—

अथो अविदितादिति । अविदितात् = अतीन्द्रियात् क्षेत्रज्ञाद्, अधि = अधिकमित्यर्थः । यद्वा अविदितात् = कारणात् प्रधानमहदादिवर्गादधिकमिति । यद्वा विदितात् = लौकिकाद् बद्धजीवाद् अन्यत् भिन्नम् । अविदितात् = मुक्तादप्यधिकं तयोर्नियामकत्वात् । इति शुश्रुम इत्येवं श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषां गुरूणां वचनं ये नः = अस्मभ्यं तद्वस्तु व्याचचक्षिरे उपदिष्टवन्तस्तेषामित्यर्थः ॥४॥

यद्वस्तु वाचा = वेदलक्षणयाऽनभ्युदितप्रायं कार्त्स्न्येनागोचरत्वात् । येन च नियन्त्रा प्रेरिता वाक् अभ्युद्यते प्राणिभिरुच्चार्यते । तदेव ब्रह्म विद्धि यद्वाचा साकल्येनाप्रतिपाद्यं यच्च वाक्प्रेरकं यत्तदेव स्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्बृहत्तमं वस्तु ब्रह्मेति जानीहि । यदिदमिदङ्कारास्पदं जडचेतनात्मकं कामिन उपासते तद् ब्रह्म न भवति । इदङ्कारास्पदप्रपञ्चविजातीयं ब्रह्म विद्धि इत्यर्थः ॥५॥

यद्वस्तु मनसा कश्चिदियत्तावच्छेदेन न मनुते न जानाति । येन चान्तर्यामिणा मनो मतं व्याप्तमाहुः = कथयन्ति तज्ज्ञाः, तदेव मनोगोचरं तद्व्यापकञ्च ब्रह्म त्वं विद्धि नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥६॥

यद् ब्रह्म चक्षुषा प्राकृतेन कश्चिन्न पश्यति। येन चान्तर्यामिणा व्याप्तानि चक्षूंषि पश्यन्ति जानन्ति। ब्रह्मज्ञाः पश्यन्ति इति पाठे दृश्यन्तीत्यर्थः। 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इति श्रुत्यन्तरात्। तदेव चक्षुरगोचरं तद्व्यापकञ्च ब्रह्म त्वं विद्धि नेत्यादि समानम्॥७॥

यद्वस्तु श्रोत्रेण 'मेधया न बहुना श्रुतेन' इत्यादि श्रुत्यन्तरात्। येन च श्रोत्रमिदं श्रुतं व्याप्तं तदेवेत्याद्युक्तार्थकं यद्वा यद्ब्रह्मकर्तृमनसा न मनुते न तस्य मनोऽधीनं मननं, चक्षुषा न पश्यति न चक्षुरधीनं रूपज्ञानं, श्रोत्रेण न शृणोति = श्रोत्रानधीनशब्दज्ञानकं तदित्यर्थः। अप्राणो ह्यमना अनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति, सर्वतः शृणोति इत्यादि श्रुत्यन्तरात्। शिष्टं समानम्॥८॥

यद्वस्तु प्राणेन न प्राणति न चेष्टते प्राणानधीनस्थितिः। कश्चिन्न शृणोति—तत्कृपां विना न लभते, शृण्वतोऽपि यं न विदुः। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य इति येन प्राणः प्रणीयते स्वविषयं प्रति प्राप्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि शिष्टं समानम्।

इति प्रथमः खण्डः॥१॥

सान्वयानुवाद—तद् = वह, विदितात् = मालूम हुयी वस्तुओं से, अन्यत् एव = अलग ही है, अथो = और, अविदितात् = जो हमें मालूम नहीं हैं उनसे परे है, अधि = सबके ऊपर में है (अखिल ब्रह्माण्डनायक है), इति = इस तरह, पूर्वेषाम् = पूर्वाचार्यों के मुख से, शुश्रुम = हम सुनते आये हैं। ये = जिन्होंने, नः = हमें, तत् = तत्त्वत्रय का, व्याचचक्षिरे = विवेचन करके समझाया था॥४॥

यत् = जो, वाचा = वाणी से, अनभ्युदितम् = नहीं कहा जा सकता है, येन = जिससे, वाक् = वाणी, अभ्युद्यते = बोली जाती है, अर्थात् सर्वनियन्ता परमात्मा से प्रेरित होकर (वाग्देवी) वाणी प्राणियों द्वारा उच्चारित होती है। तत् एव = उसी को ही, त्वम् = तुम, ब्रह्म विद्धि = ब्रह्म जानो, इदं यत् = वाणी के द्वारा बताने लायक, जड़ = जीव, उपासते = कामी पुरुष जिनकी उपासना करते हैं, न = वह ब्रह्म नहीं है, इदम् = इदङ्कारास्पद प्रपञ्च से बिल्कुल अलग, स्वरूप-गुणादि से बृहत्तम वस्तु को ही ब्रह्म समझो। वही ब्रह्म शब्द से सम्बोधित किये जाते हैं॥५॥

यत् = जिसको, (कोई भी) मनसा = मन से, न = नहीं, मनुते = जान सकता, येन = जिससे, मनः = मन, मतम् = व्याप्त है, आहुः = ऐसा ब्रह्मज्ञानी जन कहते हैं, तत् त्वम् ब्रह्म विद्धि = उसी को तुम ब्रह्म जानो, (तत्) एव = वही मन का विषय है। इदम् यत् उपासते इदम् न = गृहमेधी, कामी, शिश्नोदरतर्पिता पुरुष जिनकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है॥६॥

यत् = जिसको, (कोई भी) चक्षुषा = आँखों से, न = नहीं, पश्यति = देख सकता, येन = जिससे, चक्षूंषि = आँखों को अर्थात् घट, पट, मठ, चट इत्यादि विषयों को, पश्यति = देखता है, त्वं तत् एव ब्रह्म विद्धि, इदम् यत् उपासते इदम् न॥७॥

यत् = जिसको, (कोई भी) श्रोत्रेण = कानों से, न = नहीं, शृणोति = सुन सकता, येन = जिससे, इदम् श्रोत्रम् = यह कान, श्रुतम् = सुनी हुई है, तत् एव ब्रह्म त्वं विद्धि इदम् यत् उपासते इदम् न ॥८।

यत् = जो, प्राणेन = प्राण के द्वारा, न प्राणिति = चेष्टायुक्त नहीं होता, येन = जिससे, प्राणः = प्राण, प्रणीयते = चेष्टा युक्त होता है, तत् एवं त्वम् ब्रह्म विद्धि इदम् यत् उपासते इदम् न ॥९॥

व्याख्या—अब उसी परब्रह्म को प्रश्नों के अनुसार इन मन्त्रों (५-९) द्वारा समझाते हैं—

'यद्वाचो ह वाचम्' इसका परमात्मदृष्टि से परिष्कार करते हैं—वेदलक्षणा वाणी से भी जिस वस्तु को कहा नहीं जा सकता है, उन्हीं की वजह से ही देहधारी जीवों की वाणी बोलती है। उसी को तुम ब्रह्म जानो। परमात्माधीन जो जीववर्ग है वह ब्रह्म नहीं है। कामी पुरुष इदङ्कारास्पद जड़-चेतन की उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। शास्त्रों में परब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८)

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'।
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' ॥
'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'।
(श्रीमद्भगवद्गीता १०।८,७।६,१०।२०)

'भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः' ॥
'आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियःस्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्गयनावृतः ॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्' ॥
(श्रीमद्भागवत ३।२८।४१,७।७।१९-२०)

उस (परब्रह्म) के कार्य (प्राकृत शरीर) और करण (प्राकृत इन्द्रियाँ) नहीं हैं, उसके समान या उससे बड़ा दूसरा कोई भी श्रुति-स्मृति में नहीं दिखलायी पड़ता। इस परब्रह्म की स्वाभाविकी शक्ति, स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक बल और स्वाभाविकी क्रिया बहुविध ही सुनी जाती है। परा शक्तिः = अघटनघटनापटीयस्त्वरूपा कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सर्वसमर्थरूपा परमात्मा की परा शक्ति है।

हे गुडाकेश! मैं समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण और मुझसे ही समस्त जगत्स्थ प्राणी चेष्टायुक्त होता है। मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण हूँ।

सब प्राणियों की हृदयस्थित आत्मा मैं ही हूँ। मैं इनसे बिल्कुल अलग भी हूँ क्योंकि मेरा स्वरूप स्वाभाविक भिन्नाभिन्न है। इसका वर्णन भगवान् कपिलदेव करते हैं—भूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्रकृति, जीव इन सबसे द्रष्टा आत्मा भगवान् भिन्न है जिसका नाम ब्रह्म है। नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, अविक्रिय, स्वयंप्रकाश, (जगदुत्पत्ति का) कारण, व्यापक, असङ्ग और अनावृत—इन बारह लक्षणों से उपलक्षित आत्मा का लक्षण कहा गया है। विवेकी जन नाशवान् देहादि में अहन्ता, ममतारूपी झूठे व्यामोह को छोड़ दें। आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करें वही ब्रह्म है॥

प्रथम खण्ड समाप्त॥१॥

•

अथ द्वितीयः खण्डः।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥१॥
नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद् वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं शिष्येण पृष्टो गुरुः सर्वान्तर्यामितया मनःप्रभृतिप्रवर्त्तकं 'श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म' इत्युक्त्वा तस्येयत्तावच्छेदेन ज्ञानाविषयत्वादिकं प्रदर्श्य तमेव स्वार्थाभिप्रेतं शिष्यबुद्धिदार्ढ्यार्थं प्रकटयति—यदीति। यदि मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु साकल्येनाहं ब्रह्म वेद जानामीति तर्हि दहरमल्पमेवापि नूनं त्वं ब्रह्मणो रूपञ्चेत्येतत् स्वरूपगुणादेरनन्तत्वात् रूपशब्दो गुणोपलक्षकः। यतो दहरमेव त्वं वेत्थ अथ तस्मात् यत् अस्य ब्रह्मणः त्वं त्वयि रूपं व्यत्ययश्छान्दसः। यत् अस्य देवेषु च रूपं तदपि ते त्वया उ भो शिष्य! मीमांस्यं विचार्यमेवाद्यापि। एवमाचार्योक्तः शिष्यस्तद्वचनेन सम्यक् विचार्याह—मन्येऽहं विदितमेव मया ब्रह्मेति॥१॥

कथं विदितं तत्राह—नाहमिति। अहं सुवेद ब्रह्मेति न मन्ये नोऽपि न वेदेति मन्ये। अपि तु वेद च जानाम्येव ब्रह्मेति। ततश्चेयत्तावच्छेदेन तस्य ज्ञानविषयत्वं नास्ति। कियद् धर्मावच्छिन्नतया तु ज्ञानविषयत्वमस्त्येवेत्यभिप्रायः।

उपसंहरति—यो न इति। यः कश्चनास्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तत् ब्रह्म साकल्येनाहं वेदेति वक्ति स तत् ब्रह्म नो वेद न जानाति परिच्छिन्नदर्शित्वात्। यस्तु अहं न वेदेति वक्ति स वेद च अपरिच्छिन्नब्रह्मदर्शित्वात्॥२॥

सान्वयानुवाद—यदि = अगर, त्वम् = तुम, इति = यह, मन्यसे = मानते हो, सुवेद = मैं परब्रह्म को भलीभाँति जान गया हूँ, अपि = तो, नूनम् = निश्चय ही, ब्रह्मणः = ब्रह्म का, रूपम् = रूप, दभ्रम् = थोड़ा-सा, एव = ही, वेत्थ = जानते हो, अस्य = इस परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का, यत् = जो (रूप), त्वम् = तुममें और, अस्य

यत् = इसका जो रूप, देवेषु = देवताओं में है, अथ नु मन्ये = इसलिये मैं मानता हूँ कि, ते विदितिम् मीमांस्यम् एव = तुम्हारा जाना हुआ पूजित विचारणीय है ॥१॥

अहम् = मैं, सुवेद = ब्रह्म को ठीक-ठीक जान गया हूँ, इति न मन्ये = यह मैं नहीं मानता, नो इति न वेद = और न यही मानता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता, वेद च = अपि तु ब्रह्म को जानता ही हूँ। यः = जो कोई, नः = हम ब्रह्मचारियों के बीच में, तत् = उस परब्रह्म को, वेद = जानता है, मैं ब्रह्म को जानता हूँ ऐसा कहता है, सः तत् ब्रह्म नो वेद = वह उस ब्रह्म को नहीं जानता। इसलिये जो यह कहता है कि अहं ब्रह्म न वेद स एव ब्रह्म वेद = मैं उस ब्रह्म को नहीं जानता, ऐसा कहने वाला ब्रह्मचारी शिष्य ही उस परब्रह्म को जानता है ॥२॥

व्याख्या—इस प्रकार शिष्य द्वारा पूछा गया गुरु सर्वान्तर्यामी रूप से मनः प्रभृति प्रवर्त्तक 'श्रीकृष्णाख्य परब्रह्म' यह कह कर, परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का 'इयत्तावच्छेदेन ज्ञानागोचरत्वादि' प्रदर्शित करके उसी स्वार्थाभिप्रेत को शिष्य की बुद्धि को दृढ़ करने के लिये गूढ़ तत्त्व प्रकट करते हैं। 'ब्रह्मणो रूपम्' इसका अर्थ है 'श्रीकृष्णस्य रूपम्'। 'त्वयि देवेषु च, तदपि त्वया भो शिष्य ! विचारणीयम्' = श्रीकृष्ण का रूप तुममें और देवताओं में वह भी तेरे लिए विचारणीय है।

'न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः' ॥

(श्रीमद्भा. ७।१५।७७)

साक्षात् ब्रह्मा, शिवादि अपनी स्थिर बुद्धि से जिन परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन नहीं कर सके, वे श्रीकृष्ण हमारे मौन, भक्ति और उपशम से पूजित प्रपन्न जनों के परिपालक हम पर प्रसन्न हों।

'न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुर्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु' ॥

(श्रीमद्भा. ८।३।६)

जिनके पद (रूप) को देवगण तथा ऋषिगण नहीं जान-पहचान सके फिर दूसरा ऐसा कौन सामाजिक, आधुनिक जन = जीव जान सकता अथवा वर्णन कर सकता है ? अर्थात् उनके रूप को कोई भी वर्णन नहीं कर सकता है। जो नाना नाम-रूप भेदों से नट की भाँति वेष धारण करते हैं, जिस तरह अलग-अलग रूपों में नाट्य करने वाले अभिनेता के असली रूप को देखने वाले आदमी पहचान नहीं पाते हैं; वे दुर्विज्ञेय चरित्र वाले भूमा परमात्मा श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करें।

'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः' ॥ (गीता १०।२)

मेरी उत्पत्ति (सम्यक् रूप) को देवगण और महर्षिजन नहीं जानते हैं। क्योंकि मैं देवताओं तथा महर्षियों का भी हर तरह से आदि कारण हूँ ॥१-२॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥३॥
प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—शिष्याचार्यसंवादनिर्वृत्तमर्थं श्रुतिः स्वयं बोधयति—यस्येति। यस्य पुंसो देशादिपरिच्छेदेन ब्रह्म न मतम् = अविज्ञातं, तस्य मतं = ज्ञातं भवति। यस्य तु परिच्छेदेन मतं स न वेद = न जानाति। तदेव द्रढयति—अविज्ञातमिति। विजानतां = परिच्छिन्नज्ञानवतामविज्ञातं ब्रह्मेति। परिच्छेदमविजानतां विज्ञातं = साक्षात्कृतं भवति ब्रह्मेत्यर्थः ॥३॥

ननु परब्रह्मणोऽपरिच्छन्नतयेयत्तावच्छेदेन ज्ञेयत्वाभावे कथं तेनेष्टसिद्धिरित्यतो गुरुमुखनिर्गतवाक्यश्रवणादिपरम्पराप्राप्तध्रुवाख्यस्मृत्या कियद्धर्मावच्छिन्नतया ज्ञातस्यापि तस्य तदनुग्रहसहकृततत्साक्षात्कारात् मोक्षः, इत्याह गुरुः प्रतिबोधेति—येन पुंसा ब्रह्म मतं गुरुमुखात् श्रवणपूर्वकमननविषयीकृतं प्रतिबोधेन = निदिध्यासनपरिपाकध्रुवास्मृत्याऽयं परोक्षज्ञानेन विदितं = साक्षात्कृतं, स पुमान् अमृतं = ब्रह्म तद्भावरूपां मुक्तिं हि विन्दते = प्राप्नोति। यद्वा—प्रतिबोधो गुरूपदेश उपासनात्मकस्तेन यस्य—

'गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्।
सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमानिलमीश्वरम्' ॥

इत्यादि श्रुत्युक्तं परंब्रह्म विदितं ज्ञानविषयीभूतं भवति। तेनैव तत् सम्यग् ज्ञातं, स एव तदनुग्रहसहकृतं साक्षात्कारेणामृतत्वं विन्दते। कदा एतत् स्याद् इत्यत आह—आत्मनेति। आत्मना तेनैवान्तर्यामिणा वीर्यं बलं स्वप्राप्तिसाधनसामर्थ्यं यदा विन्दते तदा विद्यया = परमात्मोपासनया, अमृतम् = परमात्मानम्, विन्दते = लभते। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यादि श्रुत्यन्तरात् ॥४॥

सान्वयानुवाद—यस्य अमतम् = जिस पुरुष का देश, काल और वस्तु सीमा से ब्रह्म जानने में नहीं आता, तस्य मतम् = उसी पुरुष को ब्रह्म ज्ञात होता है। यस्य मतम् सः न वेद = जिस पुरुष को ब्रह्म सीमा से मालूम है वह पुरुष ब्रह्म को नहीं जानता है। विजानताम् अविज्ञातम् = सीमित ज्ञानवान् पुरुषों के लिये ब्रह्म अविदित है। अविजानतां विज्ञातम् = वह परब्रह्म अनन्यशरण भक्तिमान् सत्पुरुषों के लिये दृष्टिगोचर होता है ॥३॥

प्रतिबोधविदितम् = सद्गुरु से ज्ञानलाभ कर, मतम् = परब्रह्म को जाना, आत्मना = अन्तर्यामी श्रीकृष्ण से, वीर्यम् = तत्प्राप्तिसाधन-सामर्थ्य, विन्दते = जब प्राप्त करता है, विद्यया = तब भगवदुपासना से, अमृतम् = परमात्मा श्रीकृष्ण को, विन्दते = प्राप्त हो जाता है ॥४॥

व्याख्या—अब भगवती श्रुति स्वयं गुरु-शिष्य संवाद के सम्पन्न अर्थ को बतलाती हैं—जो कहता है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया है, वह परमात्मा के अनन्त कल्याण गुण, अनन्त महिमा, जिनकी महिमा का वेद, उपनिषत्, पाञ्चरात्रादि गान करते हैं; जिनकी असीम महिमा की कोई सीमा नहीं है वह ससीम जीव असीम परमात्मा को कैसे जान सकता है ? इसलिये जो यह समझता है कि मैंने परब्रह्म को पहचान लिया है, मैं ज्ञानवान् (ज्ञानी) हूँ, परमात्मा मेरे ज्ञेय हैं—वह वस्तुतः सर्वथा भ्रम में पड़ा है। क्योंकि वह परब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं अपितु ध्यान का विषय है। इसलिये इस तरह के जानने वालों के लिये परमात्मा सदा अज्ञात है। परमात्मा का दर्शन उन्हीं प्रपन्न महापुरुषों को होता है जिनमें सकल प्राणियों के प्रति दया-कृपा है एवं जानने का अभिमान थोड़ा-सा भी नहीं रह गया है ॥३॥

उपर्युक्त वर्णन में परमात्मा के जिस स्वरूप को लक्ष्य कराया गया है उसको शास्त्र दृष्टि से ठीक तरह विचार करके चिन्तन करना ध्यान, ज्ञान, पराभक्ति, ध्रुवास्मृति पर्यायभूत ज्ञान शब्द से शास्त्र में कहा गया है। इन साधनों से परमात्मा श्रीकृष्ण का साक्षात् दर्शन लाभ होता है। उन्हीं से उनकी प्राप्ति का ध्यानादि साधन-सामर्थ्य जब मिलता है तब जीव उनकी उपासना से उन परमात्मा श्रीकृष्ण को प्राप्त होता है।

प्रतिबोधविदितं मतम्—

'योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्' ॥

(श्रीमद्भा. १०।८७।५१)

जो इस विश्व के सृष्टि, स्थिति और लय को निरीक्षणमात्र अर्थात् संकल्प मात्र से करने वाले हैं एवं जो प्रकृति जीव के नियन्ता हैं, जिन्होंने इस विश्व की रचना कर पुनः अन्तर्यामी रूप से इसमें प्रविष्ट होकर ब्रह्मा के द्वारा समस्त जीवों का निर्माण किया और स्वयं उनके भीतर प्रविष्ट होकर शासन करते हैं अर्थात् तत्-तत् कर्मों में नियुक्त करते हैं, जिनको प्राप्त होकर यह बद्ध जीव कर्माख्य अविद्या को त्याग देता है; जैसे सोया हुआ प्राणी अपने देहाभिमान को छोड़ देता है। जीव, प्रधान प्रकृति, काल-कर्मादि नियन्ता, ब्रह्म-शिवादि वन्दित पादपीठ, स्वभावतः अपास्त समस्त दोष सार्वज्ञ्यादि अनन्त कल्याण-गुणनिलय, मुमुक्षु, जिज्ञास्य, मुक्त प्राप्य, इस विश्व का अभिन्न निमित्तोपादानकारण, ब्रह्मशब्दाभिधेय तथा सर्वभिन्नाभिन्नस्वरूप श्रीकृष्ण का ही निरन्तर ध्यान करना चाहिये ॥४॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं ध्रुवास्मृतिर्ब्रह्मसाक्षात्कारफलेत्युक्तं सा च मनुष्यदेहे एव सम्पाद्य इत्याह—इहेति। इह मनुष्यदेहे यदि परमात्मानम् अवेदीत् = विदितवान्। अथ = तदा सत्यफलं ब्रह्म प्राप्तिरस्ति तेन ब्रह्म लभ्यत एव। इह यदि नावदीत् तर्हि महती विनष्टिः = जन्मजरामरणादिप्रवाहाविच्छेदलक्षणा संसारगतिर्भवति। अतो धीराः = गुणदोषविवेकिनः, भूतेषु = स्थावरजङ्गमेषु सर्वभूतेषु, अन्तर्यामितया स्थितं परमात्मानं विचिन्त्य = विशेषेण देहान्ते ध्यात्वा, अस्माल्लोकात् शरीरात् प्रेत्य अमृता = मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥५॥

सान्वयानुवाद—चेत् = यदि, इह = इस मनुष्य शरीर में, (परमात्मा वासुदेव को) अवेदीत् = जान लिया, अथ सत्यम् = तब तो यह जीवन सत्य है, सफल है, अस्ति, चेत् = यदि, इह = इस मानव देह में, न अवेदीत् = वासुदेव को नहीं जाना तो, महती विनष्टिः = यह जीवन निष्फल हो गया, महान् विनाश हो गया, धीराः = गुण-दोषविचारक सुधीजन, भूतेषु भूतेषु = सम्पूर्ण चराचर भूतों में, अन्तर्यामिरूप से स्थित परमात्मा वासुदेव को, विचिन्त्य = विशेषरूप से देहान्त में ध्यान करके, अस्मात् लोकात् प्रेत्य अमृताः भवन्ति = इस स्थूल शरीर से छूटकर श्रीभगवद्भाव को प्राप्त होते हैं ॥५॥

व्याख्या—यह मानव-शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, इसे पाकर जो मनुष्य आत्मतत्त्व को पहचान लेता है उसके मानव-जन्म की परम सार्थकता है। यदि आत्मतत्त्व को पहचानने के लिये मनुष्य ने कुछ किया तो उसका बहुत बड़ा नुकसान हो गया, उसका महान् विनाश ही समझना चाहिये। बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार के प्रवाह में अविच्छिन्न गङ्गाधारादिवत् बहना पड़ेगा।

पहले खण्ड में यह कहा गया है—पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चप्राण, एकादश इन्द्रियाँ, मन, प्रकृति, जीव—इन सब चीजों से परमात्मा वासुदेव विजातीय है; बिल्कुल अलग है। इस प्रकार भेद को बतलाकर इस समय अभेद का निर्वचन करके प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः।
'त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्' ॥
(श्रीमद्भा. ७।९।४८)

हे भूमन्! आप वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, जल, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक्, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन, चित्त, अहङ्कार, यह सम्पूर्ण जगत् और सभी वस्तुएँ 'त्वमेव भगवन्'! अर्थात् आपसे अलग (भिन्न) नहीं हैं। इसलिये हे प्रभो! आपका स्वरूप स्वाभाविक भिन्नाभिन्न है। जो विवेकी जन इस प्रकार आत्मतत्त्व को समझते हैं वे समस्त दुःखों से निवृत्त होकर सदा के लिये जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से छूटकर अमर (मुक्त) हो जाते हैं।

'तरति शोकमात्मवित्' ।
'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ।
'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' ।
'तत्त्वमसि' ।

द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

•

॥ अथ तृतीयः खण्डः ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥
तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न
व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥२॥
तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥३॥
तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥
तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीद ँ सर्वं दहेयम् ।
यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥
तस्मै तृणं निदधावेतद् दहेति तदुपप्रेयाय
सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत
एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—परब्रह्मणः सर्वप्रशास्तृत्वं सर्वपरत्वमीश्वरेश्वरत्वं सर्वजयपराजय-हेतुत्वञ्च दर्शयन् इयत्तावच्छेदेन ज्ञानाविषयं ब्रह्मेत्युक्तार्थे आख्यायिकामारभते—ब्रह्म हेत्यादिना । देवासुरसंग्रामे उपस्थिते ब्रह्म ह किल देवेभ्यो देवानामर्थे विजिग्ये विजयं प्राप । दे-वानाविश्य जगद्विद्विषः स्वसेतुभेदकान् असुरान् जित्वा देवेभ्यो जयं प्रायच्छत् । अथ जयानन्तरं तस्य ह स्वाविष्टस्य ब्रह्मणो विजये सति देवादयः अमहीयन्त । 'महीङ् पूजायाम्' कण्ड्वादिः । पूज्या वयमिति गर्विता अभवन् । गर्वं दर्शयति—त इति । अस्मदन्तर्यामिणः सर्वकर्मफलदातुः सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो नायं जयो महिमा चेत्यस्माकमेवायं महिमेति ऐक्षन्त अमन्यन्त ॥१॥

तद्ध स्वान्तर्यामीश्वरकृतासुरविजयाज्ञाननिमित्तं गर्वादि । एषां देवानामाशयः, विजज्ञौ = विज्ञातवान् । तेभ्यः = देवेभ्यः । तान् स्वात्मतत्त्वं बोधयितुं ह स्फुटं यक्षरूपेण प्रादुर्बभूव ब्रह्मेति । तत्प्रादुर्भूतं यक्षरूपं ब्रह्म देवा न व्यजानन्त = न विज्ञातवन्तः । इदं यक्षं पूज्यं महद्भूतं किमिति ॥२॥

ते चान्तर्भया देवा अस्मदग्रे सरोऽयं सर्वज्ञकल्प एतज्जानीयादित्यभिप्रायेण

तथाऽस्त्वित्युक्त्वाऽग्निस्तद्यक्षमभ्यद्रवत् अभिमुखमगमत् प्रष्टुमिच्छन् तूष्णीं भूत्वा स्वसमीपे स्थितमग्निं कोऽसीत्यभ्यवदत् यक्षः। एवं पृष्टोऽग्निरब्रवीत्। अग्निरिति जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धोऽहमस्मीति ॥३-४॥

तस्मै एवं गर्ववतेऽग्नये एतत् तृणं ममाग्रे दह, इत्युक्त्वा अग्नेः पुरतः निदधौ स्थापितवदित्यर्थः। तत् तृणं दग्धुं न शशाक आहतप्रतिज्ञः तत एव यक्षात् यक्षरूपमज्ञात्वा निववृते देवान् प्रति गतवान्। न एतत् यक्षम् अशकं शक्तवान् अहं विशेषेण ज्ञातुं यद् एतद् यक्षमिति देवान् प्रति गत्वाऽब्रवीदिति शेषः ॥६॥

(मन्त्र का अन्वय सरल होने से प्रतिपद अर्थ यहाँ नहीं दिया गया है, व्याख्या में स्पष्ट है।)

व्याख्या—परब्रह्म सर्वशासक श्रीकृष्ण ने देवताओं पर अनुग्रह करने के लिये ही यक्ष का रूप ग्रहण किया था। यह देवासुर संग्राम की कथा श्रीमद्भागवत में है परन्तु यह कथा वहाँ अन्य ढंग से है। दोनों कथाओं का तात्पर्य एक है।

'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'।

सचमुच भगवान् का स्मरण समस्त विपत्तियों से छुटकारा देता है।

'तत्र देवासुरो नाम रणः परमदारुणः।
रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः'॥ (श्रीमद्भा. ८।१०।५)

हे राजन्! समुद्र के तट पर देवता और दैत्यों का बड़ा रोमहर्षक संग्राम हुआ। जो देवासुर-संग्राम के नाम से जाना जाता है। देवासुर संग्राम उपस्थित होने पर भगवान् ने देवताओं को विजय दिला दी। सदा जीवों की हिंसा करने वाले एवं भागवत धर्म की मर्यादा को भङ्ग करने वाले असुरों को जीतकर देवताओं के अन्दर घुसकर परमात्मा श्रीकृष्ण ने देवों को विजय प्राप्त करा दी। क्योंकि जीवों की सफलता तो भगवान् श्रीहरि के सहारे से ही प्राप्त होती है। यद्यपि देवता और दैत्य-दानव दोनों समान रूप से एक ही विजय कर्म में लगे रहे, तथापि भगवान् से विमुख होने के कारण दैत्यों-दानवों को विजयरूप सफलता नहीं मिली। देवताओं को इस प्रकार बड़ी भारी विजय दिलाकर भगवान् ने पुनः अपना रूप धारण कर लिया—'स्वं रूपं जगृहे हरिः'। यह विजय वस्तुतः श्रीभगवान् की ही थी, देवतालोग तो केवल निमित्तमात्र थे। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'।

'यत्र योगेश्वरः कृष्णः'—जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। देवताओं को बड़ी भारी सफलता मिलने के बाद वे अभिमान युक्त होकर आपस में कहने लगें—हम सब-के-सब पूज्य हुए। उनके गर्व को दिखलाती है—'त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति'। वे देवता लोग समझने लगे कि यह हमारी ही विजय है और यह हमारी ही महिमा है। हमारे अन्तर्यामी, समस्त कर्मों के फलदाता, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यह विजय और यह महिमा नहीं है ॥१॥

तत् ह = लोक-वेद प्रसिद्ध परब्रह्म ने, एषाम् = इन देवों के (अभिप्राय को), विजज्ञौ = जान लिया, तेभ्यः ह = उन देवताओं के सामने, प्रादुर्बभूव = स्वात्मतत्त्व का

ज्ञान कराने के लिये यक्षरूप से परब्रह्म श्रीकृष्ण हो गये। तत् इदं यक्षं किम् इति न व्यजानत = प्रकट हुए यक्षरूपी परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण को देवता लोग पहचान नहीं सके कि यह यक्ष पूजनीय महान् भूत कौन है ॥२॥

'भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान् पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि' ॥
(श्रीमद्भा. ११।२९।४९)

जिन्होंने जन्म, जरा और मरण भय की निवृत्ति के लिये समुद्र से अमृत को निकालकर देवताओं को पिलाया था। उसमें जो वेदसार और ज्ञान-विज्ञानसार है वह भवभय को दूर करने वाला भेषज है। वह भी भ्रमरवत् भगवान् श्रीकृष्ण ने ही निकाला है। इसलिये मैं उन वेदकर्त्ता, अमृतोदधि, इस जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को मालिनी छन्द के पद के द्वारा साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ।

ते = वे अन्दर से भयभीत इन्द्रादि देवताओं ने कहा—हमारे आगे चलने वाला यह सर्वसमर्थ यक्ष कौन है, एतत् विजानीहि = इस बात को ठीक-ठीक समझिये—इसका भलीभाँति पता लगाइये, इस अभिप्राय से, अग्निम् अब्रुवन् = अग्निदेव से कहा। अग्निदेव परम तेजस्वी हैं, वेदार्थ के विज्ञाता हैं और समस्त जात पदार्थों का ज्ञान रखते हैं। इससे उनका गौरवयुक्त नाम 'जातवेदा' है। इदं यक्षं किम् इति = हे जातवेद ! हमारे सामने यह यक्ष कौन है इसको जानो। अग्नि ने कहा—ओम्। यह कहकर अग्नि तुरन्त यक्ष के समीप जा पहुँचा। उन्हें अपने नजदीक खड़ा देखकर यक्ष ने पूछा—आप कौन हैं? अग्नि ने सोचा कि मेरे तेज:पुञ्ज स्वरूप को सब-के-सब पहचानते ही हैं, इसने कैसे नहीं जाना ? अत: उन्होंने धमक कर उत्तर दिया—मैं अग्नि तथा जातवेदा इन नामद्वय से प्रसिद्ध हूँ ॥३-४॥

यक्षरूपी परब्रह्म श्रीकृष्ण ने अग्नि से पूछा—तस्मिन् त्वयि किं वीर्यम् इति = आप अग्निदेवता हैं और जातवेदा = भूत का ज्ञान रखने वाले भी आप ही हैं, यह बड़े सौभाग्य की बात है पर यह तो कहिये—आप में क्या महान् गुण-शक्ति है, आप क्या कर सकते हैं ? श्रीभगवान् की यह मधुर वाणी सुनकर अग्निदेव ने पुन: साभिमान उत्तर दिया—अपि पृथिव्यां यत् इदम् इदं सर्वं दहेयम् इति = मैं क्या कर सकता हूँ? आप तो बच्चे की तरह व्यर्थ बातें कर रहे हैं। आप जानना चाहते हैं ? अये, मैं चाहूँ तो इस भूमण्डल में जो कुछ भी वस्तु देखने में आ रही हैं उन सबको जलाकर अभी—तुरन्त राख का ढेर कर दूँ ॥५॥

अग्निदेव का पुन: गर्वयुक्त वचन सुनकर सबको क्रियाशक्ति देने वाले यक्षरूपी परब्रह्म श्रीकृष्ण ने—तस्मै तृणम् निदधौ इति = गर्व करने वाले अग्निदेव के आगे एक सूखा तिनका डालकर कहा—एतत् दह = आप तो सारी चीजों को जला सकते हैं, कृपाकर आप तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृण को जला दीजिये। स: सर्वजवेन तत् उपप्रेयाय (उप = समीपे, प्र = प्रकर्षेण, इयाय = गत:) तत् दग्धुं न एव शशाक = अग्निदेव अपने सारे वेग से उस तिनके के नजदीक तीव्रता से पहुँचे और

उसे जलाना चाहा। जब नहीं जला तब उन्होंने उसे जलाने के लिये अपनी सारी क्रियाशक्ति लगा दी, तब भी उसको जलाने में किसी तरह समर्थ नहीं हुए। जला तो नहीं सके, उसको तनिक-सी आग की आँच भी नहीं लगी।

'यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' (गीता १५।१२)—अग्नि में जो अग्नित्व (धर्म) है, दाहिका शक्ति है वह तो शक्ति के राशि परमात्मा हैं, अग्नि में जो शक्ति (तेज) है वह शक्ति तो परमात्मा की ही है, अत: परमात्मा ने अग्नि में दाहिका शक्ति प्रदान की है। वे यदि उस शक्तिप्रवाह को अवरुद्ध कर दें तो फिर अग्नि में दाहिका-शक्ति कहाँ से आयेगी ? अग्निदेव इस तत्त्व को न समझकर ही अपने आप को बड़ा समझ रहे थे। पर जब सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने अपनी शक्ति को रोक लिया तो वह सूखा तिनका भी नहीं जला सके तब उनका सिर लज्जा से नीचे झुक गया और आहत-प्रतिज्ञ होकर यक्ष के यक्ष रूप को न जानकर चुपचाप देवताओं के पास लौट आये। अग्निदेव देवताओं के समीप जाकर बोले—हे देवगण ! मैं तो ठीक-ठीक नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है? ॥६॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥७॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८॥
तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ
सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥९॥
तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय
सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते
नैतदशकं विज्ञातुं किमेतद्यक्षमिति ॥१०॥
अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेत-
द्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत् तस्मात् तिरोदधे ॥११॥
स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां
हैमवतीं ताꣳ होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥१२॥

इति तृतीय:खण्ड: ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथानन्तरम्। अस्य सर्वत्र गतिमत्त्वात् अन्तरिक्षनिलयनाच्चैव यक्षं ज्ञातुमयं समर्थ इत्यभिप्रायेण वायुमब्रुवन्निति ॥७-८॥

आददीयम् = आदद्यां गृह्णीयामित्यर्थ: ॥९॥

तस्या इति पूर्वेण समानार्थकम् ॥१०॥

अथ वाय्वनन्तरम्। अस्मदीश्वरोऽयं बलवान् एष जानीयादित्यभिप्रायेणेन्द्रमब्रुवन्नित्यादि पूर्ववत्। तस्मात्तिरोदधे तस्मात् स्वसमीपं प्राप्तादिन्द्रात् तस्मात् प्रदेशात् वा तिरोहितमभूद् ब्रह्म। देवेश्वरत्वेन स्थापितोऽयं मया एतस्य गर्वभङ्गो मा भूदित्यभि-

प्रायेण। अथवा देवेन्द्रत्वादेतस्य गर्वोऽवश्यमपनेय इत्यभिप्रायेण तेन सह संवादमपि नाकरोत् ॥११॥

स इन्द्रस्तस्मिन्नेव यक्षातिरोधानाकाशप्रदेशे यत्र यक्षं तिरोदधे स्त्रियमाजगाम, तां दृष्ट्वा तस्याः समीपं प्राप। तत्रैव स्थित्वा किं तद् यक्षमिति चिन्तयत इन्द्रस्य स्वस्मिन् भक्तिं बुद्ध्वा इन्द्रोपदेशार्थं यक्षेणैव स्वशक्तिः काचिदुमारूपिणी गुरुस्थानीया प्रकटिता। इन्द्रस्तां हैमवतीं स्वर्णालङ्कारवतीमिव बहु शोभमानामतिशोभावतीम्, एतद्यक्षं किमिति ह स्फुटमुवाच पृष्टवानित्यर्थः ॥१२॥

सान्वयानुवाद—अथ = अनन्तर, वायुम् = वायुदेवता से, अब्रुवन् = (देवताओं ने) कहा—वायो = हे वायुदेव !, एतत् विजानीहि = आप जाकर इसका पता लगाइये, एतत् यक्षं किम् इति = यह यक्ष कौन है, तथा इति = तथाऽस्तु यह कहकर अग्निदेव तुरन्त यक्ष के नजदीक जा पहुँचे। (तत् अभि + अद्रवत्) तम् अभ्यवदत् = उन्हें अपने सामने खड़ा देखकर यक्ष ने पूछा—कोऽसीति = आप कौन हैं ?, अहम् वै वायुः अस्मि इति अब्रवीत्, मातरिश्वा अस्मि इति (च) = मैं सर्वत्र विचरने वाला वायु हूँ एवं मातरिश्वा इन नामद्वय से प्रसिद्ध हूँ, ऐसा वायुदेव ने उत्तर दिया। आददीयम् = अगर मैं चाहूँ तो सब-के-सबको बिना आधार के पकड़ लूँ, उड़ा दूँ। शेष व्याख्या पूर्ववत् ॥७-१०॥

इसके बाद देवगण ने इकट्ठे होकर स्वयं देवराज इन्द्र को इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये चुना और उन्होंने कहा—यह बलवान् हमारे ईश्वर हैं—मघवन्! एतत् विजानीहि = हे देवराज इन्द्र ! अब आप ही जाकर पता लगाइये कि एतत् यक्षं किम् इति = पूर्ववदनुवाद। इन्द्र के समीप वे तिरोहित हो गये। परमात्मा ने सोचा—मैंने ही इन्द्र को देवताओं के स्वामी रूप से नियुक्त किया है अतः इसका गर्व भङ्ग न हो इस अभिप्राय से यज्ञरूपी परमात्मा ने इन्द्र के साथ सम्भाषण नहीं किया ॥११॥

यक्ष के छिप जाने पर इन्द्र वहीं खड़े रहे, इतने ही में उन्होंने देखा कि जहाँ यक्ष छिप गया था। ठीक उसी जगह एक स्त्री आ पहुँची। इन्द्र उसको देखकर उसके पास जा पहुँचे, जाकर देखा—यक्ष के द्वारा ही अपनी शक्ति कोई उमारूपिणी गुरुस्थानीया सोने के अलङ्कारों से युक्त बिजली की तरह चमक रही है। अकारण करुणावरुणालय परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण ही उमा रूप से प्रकट हो गये। इन्द्र ने कहा—देवि ! आप सर्वेश्वर सर्वज्ञ श्रीहरि की अभिन्ना शक्ति हैं, आपने राहु का सिर चक्र से काट डाला और हमें संग्राम में बड़ी भारी सफलता प्रदान की। अब तो यह सारी-की-सारी पोल ही खुल गयी कि हमारे सामने प्रकट होने वाली आप साधारण स्त्री नहीं हैं अपितु सर्वनियन्ता साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। कृपाकर सर्वज्ञ आप किञ्चित् मुझे कहिये कि यह यक्ष, जो दर्शन देकर तुरन्त ही छिप गया, वह कौन है और किस कारण से यहाँ प्रकट हुआ था ॥१२॥

'असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्नानमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीन् तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि' ॥
(श्रीमद्भा.८।१२।४७)

जो विषया, कुमनीषी पुरुषों के लिए दृष्टिगोचर नहीं होते हैं वे तो प्रेमभाव से युक्त दयावान् (कृपावान्) सत्पुरुषों को ही मिलने योग्य होते हैं। अतः श्रीभगवत्पाद-पल्लव भक्ति से ही प्राप्य हैं जिन्होंने असुरों को ठगने के लिये, देवताओं पर कृपाकर उमारूपा युवति स्त्री का रूप धारण कर दैत्यों-दानवों को विमोहित किया और अपने चरणकमलों में प्रपन्न देवताओं को समुद्र-मन्थन से निकले हुए अमृत का पान कराया। जो भी उनके पादारविन्द की शरण ग्रहण करते हैं वे उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं, उन्हें सब अभीष्ट पदार्थ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। जिनकी निर्हेतुकी कृपा से मनुष्यों को यह भक्तिरस प्राप्त हुआ उन सर्वलोकेश्वरेश्वर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को मैं मालिनी छन्द के पद के द्वारा दण्डवत् प्रणाम करता हूँ। 'यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः' (६।११।२)—जहाँ श्रीहरि रहते हैं वहीं श्री है और वहीं गुण है।

तृतीय खण्ड समाप्त ॥२॥

•

अथ चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥२॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमिन्द्रेण पृष्टा सा त्वया पृष्टं यक्षं ब्रह्मेति ह किल उवाच। एतत् एतस्य युष्मदाविष्टस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वै किल विजये महीयध्वम् अस्मदन्तर्यामिणैवासुरा जिताः, वयं तत्र निमित्तमात्रमिति मत्वा तस्यैव विजयनिमित्तं यूयं महिमानं प्राप्नुथ। मास्य स्वविजयनिमित्तं गर्वं कुरुध्वमित्यर्थः। तत इति। ततो ह वै देवीवाक्यादेव इन्द्रो यक्षं विदाञ्चकार ब्रह्मेति। इतीन्द्रस्य स्वातन्त्र्यं व्यवच्छिनत्ति ॥१॥

तस्माद्वै किल एते देवाः, अतितरामिव इवेत्यनर्थकः। स्वमाहात्म्येनान्यान् देवानतिशयेनातिक्रान्तवन्तः। तानाह यदग्निरिति। योऽग्निर्यो वायुर्य इन्द्रस्तस्मादित्युक्तहेतुं व्यक्तीकरोति—ते हीति। ते देवा हि यत् एनद् यक्षरूपं ब्रह्म नेदिष्ठं समीपे स्थितं पस्पर्शुः (स्पृश संस्पर्शने) = दर्शनादिना तत्स्पर्शं चक्रुरित्यर्थः। गुणश्छान्दसः। हि यतश्च हेतोस्ते अग्न्यादय एनद् ब्रह्म प्रथमः प्रथमं विदाञ्चकार विदाञ्चक्रुरेतद् ब्रह्मेति ॥२॥

तत्राग्निवाय्वोरिन्द्रोपदेशात् यक्षस्य ब्रह्मत्वज्ञानम्। इन्द्रस्तस्या उपदेशेन ताभ्यां प्रथमं यक्षं ब्रह्मत्वेन विवेद अत इन्द्रस्ताभ्यामप्यधिक इत्याह। तस्माद्वा इति। पूर्ववाक्येन समार्थमेतत् ॥३॥

व्याख्या—इस प्रकार इन्द्र के भगवती उमादेवी से पूछने पर तब देवी ने इन्द्र से कहा—तुम जिन यक्ष के विषय में पूछ रहे हो—'ब्रह्मेति' = वे साक्षात् परब्रह्म हैं। तुम्हारे अन्दर विचरने वाले परब्रह्म परमात्मा की ही विजय में तुमलोगों को बड़ी भारी सफलता प्राप्त हुई। इ ...ते हैं—हमारे अन्तर्यामी वासुदेव के द्वारा ही सकल असुर जीते हुए हैं, हम तो उ में निमित्तमात्र थे। ऐसा समझकर उन परब्रह्म परमेश्वर की ही विजयनिमित्त को (हे देवे द्र!) तुम लोग महान् गौरव को प्राप्त हुये। इसलिये परमात्मा की स्वकीय विजयनिमित्त में तुम लोगों को अभिमान नहीं करना चाहिये। देवी के इस सदुपदेश से ही इन्द्र ने यक्ष को साक्षात् परब्रह्म समझा। इसके द्वारा इन्द्र के स्वाधीनत्व को (भगवान् ने) दूर कर दिया ॥१॥

अपने माहात्म्य से अन्य देवगणों को लाँघकर आगे बढ़ने वाले अग्नि, वायु, इन्द्र को ही श्रेष्ठ समझना चाहिये। क्योंकि सामने खड़े इस यक्षरूप ब्रह्म को उन्होंने दर्शनादि द्वारा स्पर्श किया है, इसलिये ये अग्नि आदि तीनों देवता देवताओं में अधिक श्रेष्ठ हैं। अग्नि-वायु-इन्द्र ने ब्रह्म को सबसे पहले जाना है अतः ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं ॥२॥

इन्द्र के उपदेश से अग्नि और वायु को यक्ष में ब्रह्मत्व का ज्ञान हुआ। इन्द्र ने देवी के सदुपदेश से अग्नि और वायु से पहले यक्ष को ब्रह्मरूप से जाना अतएव इन्द्र उन दोनों से भी अधिक श्रेष्ठ माने गये हैं। शेष पूर्ववत् अर्थ समझना चाहिये ॥३॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४॥

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—देवताविषयं ब्रह्मण उपास्यरूपमुपदिशति—तस्यैष इति। तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपदेशः। कोऽसावित्यत आह—यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा—आ उपमार्थेऽविद्युतत् इति बहुत्वं छान्दसत्वात्। विद्युदिव यदेतद् ब्रह्म व्यद्युतत्। दीप्तं कृतवदित्यर्थः। विद्युतादिति पाठे अडभावश्छान्दसः।

यथा विद्युद् अन्धकारं विदार्य सकृत् सर्वतः प्रकाशते तिरोधत्ते च, एवं ब्रह्म देवेभ्यः सकृद् आत्मानं दर्शयित्वा तिरोदधे। इति विद्युदिवोपास्यं ब्रह्मेति भावः।

यद्वा विद्युत् इति षष्ठी, विद्युत्सम्बन्धि तेजो यथा सकृत् विद्युतत् एवं यदेतद् ब्रह्म सकृत् विद्योतितवत्। यथा सकृद्विद्युतमिति श्रुत्यन्तरात्। इतिशब्द आदेशपरामर्शार्थः। इच्छब्दश्चार्थे। अयञ्च तस्यापर आदेशः। न्यमीमिषदा इति स्वार्थे णिच्।

यथा चक्षुर्विषयं प्रति प्रकाशते निमिषति च एवं ब्रह्माग्न्यादीन् प्रति प्राकाशिष्ट न्यमीमिषत्। तिरोदधे चेत्यर्थः। यद्वा इति इत् द्वावनर्थकौ निपातौ, यथा कश्चिन्न्यमीमिषत् चक्षुर्निमेषं कृतवान् तथा ब्रह्मेन्द्रोपरामकाले खे तिरोऽभूदित्यर्थः। इत्येवं देवेषु तस्योपमानदर्शनमुक्तम् ॥४॥

अथानन्तरमात्मनि देहे इत्यध्यात्मं देहे तस्योपदेश उच्यते—यदिति। एतद् ब्रह्म मनो गच्छति इव सम्यक् न गच्छति चिरं न विषयीकरोति इति यत एष उपदेशः। यथा—परमात्मानुगृहीतस्योपासकमनसो ब्रह्म विषयीकरणम्। एवं यक्षस्य ब्रह्मणः प्रकाशोऽपि। अनेन ब्रह्मणाऽनुगृहीतं सत् मन एतद् ब्रह्मोपस्मरत्यभीक्ष्णं भृशञ्च समीपतश्चिन्तयति—विषयीकरोति। कीदृशं मन इत्यत आह—सङ्कल्प इति। सङ्कल्पयति नानाविषयानिति सङ्कल्पः सङ्ककमित्यर्थः। अजहल्लिङ्गत्वाच्छान्दसत्वाद् वा लिङ्गव्यत्ययः। तस्यैष उपमादेशः। यथा भक्तानां मनो गुरुद्वारा परमात्मनाऽनुगृहीतं सम्यक् जानाति, एवमिन्द्रादयोऽपि देवीद्वारा तदनुगृहीताः सन्तस्तद् यक्षं ब्रह्मत्वेन सम्यक् ज्ञातवन्त इत्यभिप्रायः ॥५॥

व्याख्या—अब उपर्युक्त परमात्मतत्त्व को अधिदैवत दृष्टान्त के द्वारा विद्युत् और व्यद्युतद् + आ शब्द से निर्दिष्ट निरतिशय दीप्तिमत्तर परब्रह्म का ध्यान बतलाते हैं—उसी परब्रह्म का यह प्रकरण है तथा उनका यह उपदेश है। जिस तरह बिजली अंधकार को दूर कर चारों ओर एक बार चमकती है फिर तुरन्त लुप्त हो जाती है, इसी तरह परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण देवताओं के बीच में एक बार अपने को दिखलाकर छिप गये। इसी तरह बिजली के सदृश ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये।

न्यमीमिषदा = यह ब्रह्म का दूसरा ध्यान है—जैसे कोई आँखों के झपकने की भाँति अपने स्वरूप की क्षणिक झाँकी दिखला कर तुरन्त छिप जाता है इसी भाँति भागवतोत्तम देवर्षि नारद को ही भगवान् के इस स्वरूप का दर्शन हुआ था। इस प्रकार यह आधिदैविक बतलाया गया ॥४॥

अथ ध्यानम्—

'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः ॥१॥
नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय' ॥२॥

परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण गोपबालकों के साथ अपने चरणारविन्दचिह्नों से सुशोभित वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिर पर मोरपंख मुकुट के रूप में चमक रहा है। उनका नटवर-सच्चिदानन्द दिव्यमङ्गल विग्रह है। वे अपने दोनों कानों में कर्णिकार को धारण किये हुए हैं। पीतवर्ण का स्वर्णमय-छन्दोमय वस्त्र धारण किये हुये हैं। गले में पाँच वर्ण के पुष्पों की वैजयन्ती माला धारण किये हुये हैं। वे वेणु के छिद्रों को अपनी अधरसुधा से पूर्ण कर रहे हैं। गोपबालकवृन्द उनकी कीर्त्ति का कीर्त्तन-गान कर रहे हैं। हे भगवन्! आप ही समस्त वेद-उपनिषद्-वेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्म हैं, संसार में स्तुति-आराधना करने योग्य केवल एकमात्र आप ही हैं। मेघ के समान सुन्दर आप का श्याम-विग्रह है। उसमें बिजली के समान पीताम्बर चमक रहा है। आपके दोनों कानों में

घूँघुची के कुण्डल हैं। शिर पर मयूरपिच्छ-मुकुट से आपका मुखकमल सुशोभित है और आप वनमाला धारण किये हैं। आपके दायें हाथ में दही-भात का ग्रास है। काँख के नीचे बेंत है। विषाण—शृङ्गी—बाजा, बाँसुरी और श्रीवत्साङ्क-उदार कौस्तुभ से आपकी शोभा अपूर्व हो रही है। आपके चरण इतने कोमल हैं कि उनसे चट्टान भी पिघल जाते हैं। आप सब के मूल(बीज)भूत कारण हैं। अत: मैं आपको प्रसन्न करने के लिये नमन करता हूँ ॥१-२॥

पशून् पातीति पशुपो नन्दस्तस्याङ्गजाय पुत्राय। यद्वा—पशुपो नन्दस्तस्य अङ्गम् मित्रं वसुदेवस्तस्माज्जाताय। यद्वा—पान्तीति पा: पशवश्च पाश्च पशुपा वत्सवत्सपा अङ्गजा देहजा यस्य तस्मै। यद्वा—पशुपां गोपानां मध्ये गजाय मुख्याय। यद्वा—पशुं नन्दिनं पातीति पशुपो महादेव: अङ्गजो हृदयजो यस्य—पशून् प्राणिन: पाति पापात् रक्षतीति पशुपा गङ्गा अङ्गजा अङ्गुष्ठजा यस्येति वा। इति संक्षेप अनन्तार्थकोऽयम्। इति मम गुरुचरणा: कृता गूढार्थदीपिन्याम् ॥

अपना तथा जगत् का भान नहीं होता। जैसे—

'ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरि: ॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृत:।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयम्मुने' ॥ (श्रीमद्भा. १।६।१७-१८)

भक्तिभाव के वशीभूत निर्मल मन से भगवान् श्रीहरि के चरणारविन्द का ध्यान करने पर उत्कण्ठा से मेरी आँखों से आँसू निकल आये और धीरे-धीरे भगवान् मेरे हृदय में प्रकट हो गये ॥१७॥

हे मुने! मैं उस समय प्रभु में प्रेम का आधिक्य हो जाने से पुलकित अङ्गों वाला होकर निरतिशय सुखवान् हो गया और आनन्द के समुद्र में डूब गया। मुझे उस समय अपना तथा जगत् का ज्ञान नहीं रहा ॥१८॥

जो विभु-भूमा सर्वव्यापक भगवान् हैं वही स्वयं ही नारदजी के हृदय में प्रकट हो गये।

'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'।

अर्थात् ईश्वर श्रीहरि सब प्राणियों के हृदय में बैठे हैं। अब आध्यात्मिक दृष्टि से भगवत्प्राप्ति के मुख्य साधन बतलाते हैं—

जब कोई दयावान् अभिज्ञ जन-जीव पर महान् अनुग्रह करते हैं तब हर तरह के विषयों का सङ्कल्प करने वाला यह मन आपातरमणीय सांसारिक तुच्छ विषयों से हट कर निरन्तर परमात्मा का ही उपस्मरण (ध्यान) करता है।

जो विभक्ति, लिङ्ग अथवा वचन विशेष्य के होते हैं वे ही प्राय: विशेषण के होते हैं—ऐसा नियम (विधि) है, लेकिन कुछ ऐसे भी विशेषण शब्द हैं जो विशेष्य का

अनुसरण नहीं करते अर्थात् विशेष्य चाहे किसी लिङ्ग का हो किन्तु वे अपने लिङ्ग का परित्याग नहीं करते है।

यथा—'दुहिताश्च कृपणं परम्' (मनुस्मृतौ)।
'वेदाः प्रमाणम्'। 'तद्वत् सङ्कल्पो मनः'।

लड़कियाँ अत्यन्त दया की पात्र हैं। वेद साक्षी हैं। सङ्कल्प करने वाला मन है।

गच्छतीव—इसका अर्थ है मन श्रीभगवान् के समीप तक पहुँचता हुआ-सा मालूम पड़ता है, लेकिन वहाँ पहुँचता नहीं है। इसका मूल कारण यह है—

जिस व्यक्ति की वात-कफ-पित्त इन त्रिधातुक मृत शरीर में आत्मबुद्धि, स्त्री-पुत्रादि में आत्मीय बुद्धि, मिट्टी या चट्टान के बने देवताओं में पूज्य बुद्धि और जल में तीर्थबुद्धि रहती है, किन्तु ज्ञानवान्, अभिज्ञ महात्माओं में ऐसी बुद्धि नहीं रहती; वह तो गाय-बैल के समान पशु है। उसे विद्वानों ने पशुओं में खर, भारवाही बताया है। 'स एव गोखरः'। यह तत्त्वज्ञान न तप से प्राप्त होता है, न यज्ञ करने से, न तर्पण से, न घर-द्वार का परित्याग करके संन्यास ग्रहण करने से और न वेदाध्ययन से तथा जल, अग्नि, सूर्यादि किसी देवता की आराधना से भी नहीं प्राप्त होता। अर्थात् संसार में किसी की उपासना से तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक तत्त्वज्ञानी महात्माओं की सेवा-शुश्रूषा करके उनकी चरणधूलि का अभिषेक प्राप्त न हो। अर्थात् श्रीसर्वेश्वर-परायण महात्माओं की चरणधूलि में लोट-पोट हुये बिना यह तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता (श्रीमद्भा.१०।८४।१३,५।१२।१२) ॥४-५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं
वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—अन्वर्थं तस्योपासनमाह—तद्धेति। तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तत् ततं व्याप्तं च तत् वनं सर्वेषां वननीयं सम्भजनीयञ्चेति। तद्वनं नाम प्रख्यातं यत्तद् वनमिति। कल्याणगुणहेतुकं वननामकं तस्माद् तद्वनमित्यनेनैव कल्याणगुणाभि-धानेनोपासितव्यम्। अनेन नाम्नोपासकस्य फलमाह—स य इति। स यः कश्चित् अधिकारी, एतद् ब्रह्म एवं तद्वननामेत्येवं रूपेण वेदोपास्ते ह किल एनमुपासकं सर्वाणि भूतानि अभिसंवाञ्छन्ति = सर्वाभिलषितो भवति ॥६॥

व्याख्या—'वन सम्भक्तौ धातुः'। वह परमात्मा वन नाम से विख्यात है। वनम् = परायणम्, परः = परमात्मा एव आयनं = आधारः। 'तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे' (कठ. २।३।१); 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' (गीता ७।७)। वह सर्वभूतात्मसाक्षी आनन्दस्वरूप परमात्मा सबका अत्यन्त प्रिय है। उसके आश्रित सब लोक रहते हैं। दुःखरूप विषप्रद विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिये। परमात्मा में अपने मन को लगाकर उनका भजन-आराधन करना चाहिये। जो कोई विवेकी जन उस परमात्मा श्रीकृष्ण को इस प्रकार 'तद्वन' इस रूप से उपासना करता है, उसको निःसन्देह समस्त प्राणी सब ओर से चाहते हैं ॥६॥

'यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्' ॥ (श्रीमद्भा.४।९।४८)

भगवान् श्रीहरि मैत्री आदि गुणों से जिस पर प्रसन्न हो जाते हैं उसके आगे सब प्राणी नतमस्तक हो जाते हैं। जिस तरह जल स्वयं ही नीचे की ओर बहने लगता है तद्वत्।

अत्र वनशब्दोपलक्षितं मधुवनं ग्रहणं समीचीनम्।
'तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः' ॥
'भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना'।
'एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्'। (श्रीमद्भा.४।८।४२,४०,४१)

वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम श्रीयमुनाजी के पवित्र तट पर बसे पुण्य-स्थान मधुवन में चले जाओ जहाँ नित्य = सदा ही भगवान् श्रीहरि का निवास है। तुम भगवान् वासुदेव को सर्वात्म-समर्पण कर एकाग्रचित्त से उनका भजन करो। भगवत्प्राप्ति का मार्ग (उपाय-साधन) केवल भगवान् श्रीहरि की चरण-सेवा ही है।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमनुशिष्टः शिष्यः पुनराचार्यं पृच्छति—उपनिषदमिति। भो गुरो ! उपनिषदं ब्रूहीति। तत्र नायं श्रुतां ब्रह्मविद्यां पुनः पृच्छति, पिष्टपेषणवत्। प्रश्नस्य पुनरुक्त्यापत्तेः। नाप्यवशिष्टां, प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति। तस्याः फलकथनेनोप-संहारात्। तर्हि किं विद्यास्वरूपं पृच्छत्युत्पन्नविद्याया अवस्थितिहेतुमथ विद्यास्थानं वेति मनसि कृत्वा गुरुः क्रमेणोत्तरमाह—उक्तेति। अभिहिता ते = तुभ्यमुपनिषत्। का सेत्यत आह—ब्राह्मीमिति। ब्रह्मण इयं तां ब्रह्मविद्यां वाव = एव, ते = तुभ्यमुपनिषदम-ब्रूमेति। उपनिषत्स्वरूपस्य तत्प्रतिपाद्यब्रह्मस्वरूपस्य च ब्रह्मेति होवाचेत्यादिनोक्तत्वान्न तत्र वक्तव्यमवशिष्यते ॥७॥

व्याख्या—हे गुरुदेव ! कृपाकर आप मुझे उपनिषद्-विद्या का उपदेश करें एवं शास्त्र की रहस्यमयी गुप्त बातें बतलावें। इस पर गुरुदेव ने कहा—वत्स ! 'ते उपनिषत् उक्ता'—हम तुम्हें उपनिषत्-कथित उपास्य-उपासकस्वरूप, आत्म-परमात्म सम्बन्धी विद्या—उपनिषत्—का उपदेश कर चुके हैं। तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में—'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' से लेकर 'भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य' उपर्युक्त मन्त्रपर्यन्त जो कुछ स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध उपदेश किया गया है, तुम यह समाहित चित्त से समझ लो—ब्रह्म की यह विद्या उनका शरीर है। 'तनुर्विद्या' इति श्रीमुखवचनम् ॥७॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—तस्या विद्यायाः तपो दमः कर्म च प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाहेतुः। तर्हि शुद्धान्तःकरणेषु विद्या प्रतिष्ठिता भवति। तत्र तपो देहेन्द्रियमनसां समाधानं कृच्छ्र-

चान्द्रायणादिकं वा शास्त्रविचारो वा। दमः = उपशमः, कर्म = गुर्वाद्याराधनं, स्ववर्णाश्रमोचितक्रियाकरणं वा, वेदाः = सर्वाण्यङ्गानि—शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति षट्। सत्यञ्च तस्या आयतनं स्थानमित्यर्थः। तत्र वाङ्मनःकायानामकौटिल्येनापीडाकरं यथाभूतवचनं सत्यम् ॥८॥

व्याख्या—'तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या' (श्रीमद्भा. ६।४।४६)। श्रीभगवान् कहते हैं—हे ब्रह्मन्! तपस्या मेरा हृदय है और विद्या शरीर है। 'निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते'—बाहर की बुरी वृत्तियों को अपने वश में करना 'दम' कहलाता है। 'यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्' (श्रीमद्भा. १।६।३५)—इस लोक में जो कर्म किया जाता है वह कर्म श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिये किया जाता है।

'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥१॥
योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्' ॥२॥

इति श्रीमुखवचनम्।

मदाश्रित साधक, सर्वदा समस्त कर्म सम्पादन करने वाले भी मेरी प्रसन्नता से मेरा शाश्वत मोक्षपद (मद्भाव) को प्राप्त कर लेता है। मैंने वेदों में मोक्ष-साधन के तीन योग (उपाय) बतलाये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इनके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। प्रतिष्ठा = परमात्मा समस्त लोकों के आधार हैं।

'यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय' ॥ (श्रीमद्भा. २।७।५२)

जैसे सर्वात्मा सर्वाधार भगवान् श्रीहरि में मनुष्यों की भक्ति हो वैसे संकल्प करके (तुम) इसका वर्णन करो। वेदाः = ऋग्, यजुः और सामवेद। छः वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। सत्य ही आयतन (स्थान) है। इसलिये मधुर वाणी से प्राणी का अभिनन्दन करना चाहिये। दुर्वचनरूपी वाणी (पीड़ादायक शब्दों) का प्रयोग नहीं करना चाहिए। दूसरे को दुःख देकर मनुष्य कभी भी सुखी नहीं हो सकता। जो मनुष्य दूसरे को दुःख देता है वह दिये हुये दुःख को स्वयं भोगता है।

'भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत्'। (श्रीमद्भा. ४।८।१७)

ब्राह्मण, गाय, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ—ये सब भगवान् श्रीहरि के शरीर हैं। (श्रीमद्भा. १०।४।४१)

तज्ज्ञातुः फलमाह—य वेति।

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येष्ठे प्रतितिष्ठति प्रति-तिष्ठति ॥९॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—य एतां ब्रह्मविद्यां, एवं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तां वेदा स पाप्मानमपहत्य विधूयानन्तेऽपरिच्छिन्ने स्वर्गे लोके श्रीवैकुण्ठलोके ज्येष्ठे श्रेष्ठे सर्वोत्तर इति यावत्। प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितो भवति इत्यर्थः। ज्येष्ठ इति ज्यायसीति वक्तव्ये छान्दसः। ज्यायःपदसमभिव्याहारात् स्वर्गलोकशब्दो भगवल्लोकपरः। द्विरुक्तिर्गुरु-शिष्यसंवादसमाप्त्यर्था ॥९॥

इति सनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाद्याचार्यश्रीभगवन्निम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्द-
देवाचार्यविरचिता केनोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिका-
नाम्नी टीका सम्पूर्त्तिमगात् ॥

व्याख्या—पहले बतलाये हुए तरीके से इस तरह जो कोई भी इस ब्रह्मविद्या को जान लेता है वह सारे पापों को दूर (हटा) करके अनुत्तम अविनाशी श्रीवैकुण्ठलोक में स्थित हो जाता है। यहाँ 'प्रतितिष्ठति' पद का दो बार आवृत्ति गुरु-शिष्य-संवाद समाप्ति का सूचक है। स्वर्ग पद का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥
ज्ञानप्रदं विश्वगुरुं हयास्यं विज्ञानवात्सल्यदयादिसिन्धुम्।
प्रपन्नरक्षार्थनिबद्धकक्षं सर्वेश्वरं नित्यमहं स्मरामि ॥१॥
श्रीहंसञ्च कुमारकान् मुनिवरं श्रीनारदं सन्ततं
निम्बार्काध्वप्रवर्त्तकं हि युगलध्यानप्रसक्तात्मनम्।
श्रीनिम्बार्कमुनीश्वरं निजगुरुं तत्सम्प्रदायागतं
तं वन्दे बहुमुक्तितो मुहुरहो राधाविहार्याह्वयम् ॥२॥

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य त्यागमूर्तिस्वामि-
धनञ्जयदासजीकाठियाबाबा-तर्क-तर्कव्याकरण-तीर्थपादपद्मान्तेवासी योगिराज-
स्वामिराधाविहारिदासजीकाठियाबाबाचरणारविन्दचञ्चरीक डॉ. स्वामी
द्वारकादासजी काठियाबाबा कृत अन्वयार्थ तत्त्वप्रभा नाम्नी
हिन्दी टीका में सामवेदीय केनोपनिषत् समाप्त ॥२॥

●

॥ श्रीः ॥

कठोपनिषद्

इस कठोपनिषद् की उपनिषदों में बहुत प्रसिद्धि है। यह कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत है। ('कठचरकाल्लुक्'—पाणिनि-कृता अष्टाध्यायी ४।३।१०७) इस उपनिषद् में नचिकेता और यम के संवाद रूप में अग्नि-साधन, जीवात्मा-साधक और परमात्मा-साध्य इन तीन तत्त्वों का विशद वर्णन है।

'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' ॥ (ब्र.सू.१।४।६)

इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं।

शान्ति-पाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥

इस उपनिषद् में एक सौ उन्नीस मन्त्र हैं।

शान्ति-पाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च। सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणं मेऽस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ = यह एकाक्षर वेदमन्त्र है। नौ = हम दोनों (गुरु-शिष्य) की, सह = साथ-साथ, अवतु = ईश्वर रक्षा करें। नौ = हम दोनों का, सह = साथ-साथ, भुनक्तु = ईश्वर पालन-पोषण करें। सह = (हम दोनों) साथ-साथ ही, वीर्यम् = शक्ति, करवावहै = प्राप्त करें। नौ = हम दोनों की, अधीतम् = पढ़ी हुई विद्या, तेजस्वि = तेजोमयी, अस्तु = हो, मा विद्विषावहै = हम दोनों परस्पर विद्वेष न करें।

व्याख्या—सर्वात्मा सर्वनियन्ता जगदाधार सर्वज्ञ परमात्मा श्रीकृष्ण हम गुरु-शिष्य दोनों का साथ-साथ सब प्रकार से संरक्षण करें। वे हम दोनों को पालन-पोषण रूपा वृत्ति देते रहें। हम दोनों साथ-ही-साथ हर तरह से ओजबल प्राप्त करें। हम दोनों की अध्ययन की हुई विद्या-ज्ञान तेजस्वी हो—हमारे ज्ञान हमेशा ताजे बने रहें। ज्ञान का कभी भी किसी प्रहर में विस्मरण न हो। 'छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च'। हम दोनों जीवन भर परस्पर अनवद्य स्नेह-सूत्र से बँधे रहें अर्थात् आपस में प्रेम से मिल-जुलकर रहें, हमारे भीतर आपस में कभी राग-द्वेष न हो। शरीर, मन और वाणी से किसी का तिरस्कार न करें।

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—

इन्दीवरदलश्यामं कालीन्दीकूलसंस्थितम् ।
पूर्णानन्दप्रदं नित्यं वन्देऽहं नन्दनन्दनम् ॥१॥
निम्बभानुपदद्वन्द्वं प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।
यद्वन्दनेन मन्दोऽपि लभते तत्समानताम् ॥२॥
श्रीनिवासं गुरुं वन्दे करुणावरुणालयम् ।
बादरायणसूत्राणां भाष्यकारं मुनीश्वरम् ॥३॥
नत्वाऽन्यान् देशिकान् मान्यान् सम्प्रदायानुसारतः ।
काठकोपनिषद्व्याख्या व्याकरिष्ये यथामति ॥४॥

वश कान्तौ, कान्तिरिच्छा, तस्माद्धातोः शतृप्रत्यये उशन् इति रूपं निष्पन्नं, स्वर्गलोकमिच्छन् । ह वा इति निपातौ वृत्तार्थस्मरणार्थौ । वाजमन्नं तद्दानेन श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवाः, तस्यापत्यं (पुमान्) वाजश्रवसः, स महर्षिः । सर्वस्वदक्षिणाकेनेजे यजनं कृतवानिति यावत् । स तस्मिन् क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वदक्षिणां ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य नचिकेता नाम पुत्र आस बभूव ह किल ॥१॥

सान्वयानुवाद—उशन् = स्वर्गलोक की इच्छा करने वाले महर्षि वाजश्रवा के पुत्र महर्षि वाजश्रवस ने—वाजश्रवसः, सर्ववेदसं ददौ = अपना सब धन ब्राह्मणों को दे दिया। तस्य नचिकेता नाम पुत्र आस = उसका नचिकेता नामक एक आत्मज था ॥१॥

व्याख्या—प्रणताज्ञानसन्दोहध्वान्तध्वंसनकर्मठम् ।
नमामि तुरगग्रीवं हरिं सारस्वतप्रदम् ॥

यहाँ ऋषि वाजश्रवा है । इसका अर्थ है—वाज = अन्न, श्रव = यश, अन्न के दान से यश प्राप्त किया है जिसने वह वाजश्रवा है । अन्न दान करने से मनुष्यों का यश चारों तरफ फैलता है । अपने पास के अन्न का दान सत्पात्र में करना चाहिये । उससे उदय-उन्नति, अभ्युदय एवं उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सद्‌गति की प्राप्ति होती है । महर्षि वाजश्रवा के पुत्र वाजश्रवस ने स्वर्गलोक की कामना से विश्वजित् नामक एक बहुत बड़ा यज्ञ करना प्रारम्भ किया । इस यज्ञ में सर्वस्व दान करना पड़ता है । इसलिये ऋषि ने उस यज्ञ में अपना सब धन पुरोहितों और सदस्यों को दक्षिणा के रूप में दे दिया । उसके नचिकेता नामक एक पुत्र था ॥१॥

तꣳह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—तं ह नचिकेतसं कुमारं सन्तं बालमेव ऋत्विग्भ्यः यज्ञसदसि मिलिता ये सदस्याः तेभ्यश्च गोषु च सतीषु श्रद्धा पितुर्हितकामप्रयुक्तास्तिक्यबुद्धिराविवेश । हेत्याश्चर्ये, कुमारस्यापि श्रद्धा जातेति आविष्टश्रद्धा नचिकेता एवममन्यत ॥२॥

सान्वयानुवाद—दक्षिणासु नीयमानासु = दक्षिणाएँ जब ऋत्विज–पुरोहित लोग ले जा रहे थे, उस समय तं कुमारं सन्तम् = वह उसका छोटा पाँच वर्ष का बच्चा ही था। उस समय उस छोटे बालक में, श्रद्धा आविवेश = श्रद्धा उत्पन्न हुई, सः अमन्यत = वह इस प्रकार विचार करने लगा ॥२॥

व्याख्या—यज्ञ में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता ये चार प्रधान ऋत्विज होते हैं। ऐसा माना गया है कि इनको सबसे ज्यादा सर्वगुणसम्पन्न, वस्त्र, पुष्पमाला और सुवर्ण के हारों से अलंकृत कर गौएँ दी जाती हैं। प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्रह्मणाच्छंसी और प्रस्तोता—इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की अपेक्षा आधी गौएँ दी जाती हैं। अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र और प्रतिहर्त्ता—इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की अपेक्षा तिहाई और ग्रावस्तुत, नेता, होता और सुब्रह्मण्य—इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की अपेक्षा चौथाई गौएँ दी जाती हैं। इस विधि के अनुसार जब इन सबको दक्षिणा के रूप में देने के लिये गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय पञ्चवर्षीय बालक नचिकेता ने उनको देख लिया कि ये वृद्ध गौओं का मेरे पिता दान करने जा रहे हैं। जब कि सवत्सा गायों का दान करना चाहिये। इस प्रकार नचिकेता के विशुद्ध अन्तःकरण में श्रद्धा = आस्तिक्यबुद्धि (सद्युक्ति) ने प्रवेश किया और वह सोचने लगा ॥२॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—कथममन्यत इत्यत आह—पीतेति। पीतमेव न तु पातव्यमुदकं याभिस्ता पीतोदकाः। जग्धं भक्षितमेव न तु भक्षणीयं तृणं यासां ता जग्धतृणाः। दुह्यत इति दोहः, क्षीरं दुग्धमेव न तु दोह्यमस्ति यासां तास्तथोक्ताः। निरिन्द्रियाश्चक्षुःपादेन्द्रियशून्याः। अप्रजननसमर्थाः या गावस्ता गा ऋत्विग्भ्यः दक्षिणात्वेन ददत् प्रयच्छन् यः पुरुषः स एते प्रसिद्धा अनन्दा नन्दयन्तीति नन्दाः सुखजनकास्ते न भवन्तीत्यनन्दा असुखा लोकास्तान् गच्छति ॥३॥

सान्वयानुवाद—पीतोदकाः = जो जल पी चुकी हैं फिर दुबारा जल पी नहीं सकतीं, जग्धतृणाः = जो घास खा चुकी हैं फिर दुबारा घास खा नहीं सकतीं, दुग्धदोहाः = जिन गायों का दूध दुह लिया गया है। निरिन्द्रियाः = जिनकी इन्द्रियाँ—नेत्र, पैर इत्यादि नष्ट हो चुके हैं। ताः = गौओं को, ददत् = देने वाला, सः = वह पुरुष, ते लोकाः = वे लोक, अनन्दाः नाम = जो सब प्रकार से आनन्द से रहित दुःखपूर्ण लोक हैं, तान् गच्छति = उन लोकों को प्राप्त होता है ॥३॥

व्याख्या—इस संसार में गो-सेवा से बढ़कर दूसरा धर्म ही नहीं है। 'गो' में पशुत्व बुद्धि का परित्याग कर गो-माता बुद्धि से दुग्धहीन, प्रसवहीन वृद्ध गौ की भी सेवा करने से उससे पुण्य ही होता है। परन्तु उन गौओं को दान नहीं कर सकते। सवत्सा गौ-सेवा का अनन्त फल होता है। गौसेवा एक परम धर्म है। सभी सज्जनों

को गौसेवा अवश्य ही करनी चाहिये । उससे ऐहिक एवं पारलौकिक समस्त सुख तथा समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । उदाहरण के रूप में राजा दिलीप इसके साक्षी है । इसके लिए रघुवंश महाकाव्य पढ़ना एवं सुनना चाहिए । गौ, ब्राह्मण और अनाथ प्राणी ये साक्षात् भगवान् श्रीहरि की मूर्तियाँ हैं ।

यजमान वाजश्रवस का आत्मज नचिकेता वहीं पास में बैठा था । उसके ध्यान में यह बात आ गयी और वह मन से विचारने लगा कि मेरे पिता यह क्या कर रहे हैं? इससे तो उन्नति होने के स्थान में अवनति ही होगी । ये वृद्ध गौएँ पिता जी दक्षिणा में कैसे दान दे रहे हैं ? पानी न पी सकने वाली, घास भी चबा न सकने वाली तथा दूध न देने वाली इन वृद्ध गौओं का दान देने से लेने वाले का क्या लाभ होगा, जबकि इनमें गर्भाधान करने तक का भी सामर्थ्य नहीं है । गायों का दान करना बहुत अच्छा है लेकिन बछड़ा के साथ गाय अर्थात् सवत्सा गोदान करना चाहिए और साथ में दूध देने वाली भी होनी चाहिये । सोने-चाँदी-वस्त्र-माला आदि से गौओं को अलंकृत कर उनका दान करना चाहिये । अपना प्रिय तथा सबसे उत्तम वस्तु का सत्पात्र में दान करना चाहिये । दु:खदायिनी, अनुपयोगी, अप्रिय एवं कविविगर्हित वस्तुओं को दान के नाम पर देना तो दान के व्याज से अपनी विपद् टालना है और दान ग्रहण करने वालों को धोखा देना—ठगना है । इससे 'अनन्दा लोका: तान् गच्छति' अर्थात् इस प्रकार के दान से दाता को सकल सुख रहित—दु:खपूर्ण नरकादि लोक मिलते हैं, जिनमें सुख का कहीं लेश भी नहीं है । अत: सुहृदय व्यक्ति भलीभाँति सोच-विचार कर प्रिय इष्ट वस्तु का ही सत्पात्र में दान करें । नचिकेता मन-ही-मन विचारने लगा कि मैं इनका पुत्र हूँ, अतएव मैं पुन्नामक नरक से श्रद्धा द्वारा पिता की रक्षा करूँगा—यही सत्पुत्र का परम धर्म है ॥३॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यतीति । द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—एतादृशगोदानकर्त्तुरस्मत्पितुरनर्थावाप्त्यावश्यं भवितव्यमत एव पुत्रेण मया स निवारणीय इति मन्यमान: स कुमारो माम् ऋत्विग्भ्यो दत्वाऽपि ईदृश्य गावो न देया इति भावेन पितरमुवाच—किमिति (हे तात !) तात ! मां कस्मै दक्षिणार्थं दास्यतीति । एवमुक्ते बालस्वभावत्वादेवं वदति इति पित्रा मन्यमानेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि स कुमार: कस्मै मां दास्यतीति, द्वितीयं तृतीयं द्विवारं त्रिवारमथोवाच । न तादृशो बालकस्वभाव: सम्भवतीति मत्वा कुपित: सन् पिता तं कुमारं प्रत्युवाच—त्वा = त्वाम्, मृत्यवे = यमाय दास्यामीति । त्वं म्रियस्वेति शशाप ॥४॥

सान्वयानुवाद—स: = वह पाँच साल का बालक नचिकेता, पितरं उवाच = अपने पिता से बोला, तत मां कस्मै दास्यति इति = हे प्रिय पिताजी ! आप मुझे किसको देंगे ? द्वितीयं तृतीयं = इस तरह दुबारा और तिबारा कहा । तं ह उवाच = तब पिता ने कुपित होकर उससे इस तरह बोला—त्वा मृत्यवे ददामि इति = मैं तुझे मृत्यु को दूँगा ॥४॥

व्याख्या—यद्यपि नचिकेता की अवस्था पाँच वर्ष की थी तथापि उसकी पितृश्रद्धा और विमला मति थी। उसने पिता से पूछा कि पिता जी ! आप मुझे किसको भेंट रूप में देंगे ? अर्थात् मुझे किसको अर्पण करेंगे ? इस तरह कहने पर पिता ने समझा कि इसका बाल स्वभाव होने के कारण अनर्गल बक रहा है, इसलिये उसने उपेक्षा कर दी। दो-तीन बार पिताजी से पूछने पर वे कुपित होकर बोले कि मैं तुझे मृत्यु को भेंट दूँगा, तुम मर जाओ ॥४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किः स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं शप्तः पुत्र आह—बहूनामिति। बहूनां शिष्याणां पुत्राणां मध्ये प्रथमः मुख्यः सन् यममेमि। वर्त्तमानसामीप्याद् वर्त्तमानव्यपदेशः। मध्यमानाञ्च बहूनां मध्यमः सन् वा यममेमि। यथावसरं गुरोरिष्टं ज्ञात्वा शुश्रूषणे प्रवृत्तिर्मुख्या। आज्ञावशेन मध्यमा। तदपरिपालनेनाधमेति सूचनाय प्रथम-मध्यमशब्दौ प्रयुक्तौ। यमो मया यत् करिष्यति तत्कर्त्तव्यं यमस्य किंस्वित् न किमपि प्रयोजनं घटते, यमस्य पूर्णकामत्वात्। तथा च निष्प्रयोजनकमेव त्वदीयं दानमिति भावः ॥५॥

सान्वयानुवाद—बहूनाम् = मैं बहुत-से शिष्यों में तथा पुत्रों में, प्रथमः = श्रेष्ठ हूँ, एमि = अतः द्वादश भागवतधर्म के वेत्ता यमराज के आलय में, एमि = गच्छामि = पदार्पण कर रहा हूँ। बहूनां मध्यमः एमि = मैं बहुत-से शिष्यों तथा पुत्रों के बीच में प्रधान होकर यमालय चलता हूँ। यमस्य किंस्वित् कर्त्तव्यं = यम का कौन-सा ऐसा कर्त्तव्य है, यत् अद्य मया करिष्यति = कि जो मुझ से आज करायेगा ॥५॥

व्याख्या—श्रीमद्भागवत में भागवत धर्म के द्वादश आचार्य गिनाये गये हैं—ब्रह्मा, नारद, शिव, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, श्रीशुकदेव और यमराज—ये बारह महापुरुष भागवतधर्म को जानते हैं (श्रीमद्भा. ६।३।२०)। विवस्वान् की पत्नी संज्ञा से श्राद्धदेव मनु, यम (यमराज) और यमुना (युगल सन्तान) उत्पन्न हुए। यमुना का विवाह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से हुआ। मन की बात जानकर बिना कहे जो काम करें वह उत्तम पुत्र का लक्षण है। जो कहने पर करें वह मध्यम श्रेणी का, जो अश्रद्धा से करें वह अधम श्रेणी का और जो कहने पर भी न करें वह पिता के मल के समान त्याज्य है। अतः वह पुत्र नहीं है (श्रीमद्भा.९।१८।४४)। इस प्रकार शास्त्रों में शिष्यों और पुत्रों की तीन श्रेणियाँ कही गयी हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। चौथे वाले पुत्र को अपना पुत्र नहीं समझना चाहिये, वह पुरीषतुल्य है अर्थात् गुदा से निकला हुआ मल है। नचिकेता सर्वोत्तम (सर्वमहान्) है, क्योंकि उन्होंने अपने पिता के मन की बात को जानकर बिना कहे काम कर दिया। मृत्यु के रूप में भी साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही आते हैं और वे दुःख भी देते हैं। जिसका जैसा कर्मविपाक है, उसके अनुसार फल देते हैं। 'नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च'। (श्रीमद्भा. ४।२४।४२) सभी मनुष्य अपने-अपने कर्मविपाक के अनुसार भोग प्राप्त करते हैं। अतः मुझे

मृत्युदण्ड पिताजी ने दिया है। वस्तुतः उन्होंने ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है। मैं यमराज के समीप जाता हूँ और वहाँ मैं धैर्य से उनका सामना करता हूँ। भागवतधर्मी यम का ऐसा कौन-सा प्रयोजन है जिसको पिताजी आज मुझे उनको देकर पूरा करना चाहते हैं। वे तो आप्त-समस्त पूर्णकाम हैं। उनके लिये यह भेंट निष्प्रयोजन ही है। तथापि गुरु की आज्ञा शिरोधार्य मानकर वह नचिकेता निडर बनकर यम के पास जाता है ॥५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—ईदृशं पुत्रवचनं श्रुत्वा क्रोधावेशेन मया तथा वचनमुक्तं नेदृशं पुत्रं यमाय दातुमुत्सह इति पश्चात्तप्तहृदयं पितरमालोक्योवाच—अनुपश्येति। अनुपश्यालोचय, यथा येन प्रकारेण पूर्वे पितृपितामहप्रपितामहाः स्वधर्मे सत्यवचनादौ स्थिताः। यथा चापरे साधवोऽद्यापि तिष्ठन्ति। तांश्च प्रतिपश्यालोचय तथा वर्त्तितव्यम्। न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति, यतः सस्यमिव प्रावृट्काले वर्षधारासिक्तं सस्यं प्रादुर्भवति, तथा सञ्चितकर्मोद्भवे मनुष्योऽपि देहान्तरं प्राप्नोति। मर्त्यः पच्यते जीर्णो म्रियते मृत्वा च सस्यमिवाजायते पुनराविर्भवति म्रियते चातो किं मृषाकरणेन ? पालय सत्यं, प्रेषय मां वैवस्वताय इति भावः ॥६॥

सान्वयानुवाद—यथा = जिस प्रकार, पूर्वे = पहले हमारे पिता, पितामह तथा प्रपितामह सत्य वचन में स्थित थे, हजारों आपत्तियों के आने पर भी वे अपने धर्म से नहीं हटते थे। अनुपश्य = आप स्वयं विचार-विमर्श कीजिये, अपरे = आज भी वर्तमान में शिष्टजन, सत्यप्रेमी महात्मा लोग अपने सत्य का परित्याग कदापि नहीं करते हैं, वे निजधर्म में ही रहते हैं। तथा प्रतिपश्य = वैसे हमें भी रहना चाहिये। मर्त्यः सस्यं इव पच्यते = यह मरणधर्मा मानव अन्न-धान के समान पकता है। पुनः सस्यं इव आ + जायते = फिर से धान के समान ही उत्पन्न हो जाता है। जैसे श्रावण-भादो महीना आने पर वर्षाधारा से सिक्त होकर अन्न उत्पन्न होता है वैसे ही सञ्चित कर्मों के उद्भव होने पर मनुष्य भी दूसरा शरीर प्राप्त करता है ॥६॥

अतिथि-सत्कार

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताः शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—स बाल एवं पितृसन्निधावुक्त्वा यमालयं जगाम। स च यमागमनमवेक्षमाणस्तस्य गृहे तिस्रो रात्रीरनशनन्नेवोवास। ततो यमो लोकान्तरादागत इति श्रुत्यनुक्तमपि मध्ये वक्तव्यम्। आगते तु यमे यमभार्या यमं प्रत्याह—वैश्वानर इति। हे वैवस्वत !—विवस्वतः = सूर्यस्य पुत्र ! अतिथिर्ब्राह्मणः गृहिणां गृहान् वैश्वानरोऽग्निः सन् प्रविशति। अतस्तस्यातिथिरूपवैश्वानरस्यैतां श्रुत्याद्युक्ताम् अर्घ्यादिरूपां शान्तिं

शान्तिकरणं कुर्वन्ति । अन्यथा वैश्वानरेणातिथिना दाहः प्रसज्येत । अतोऽर्घ्याद्यर्थमुदकं हर आहर ॥७॥

सान्वयानुवाद—वैवस्वत = हे सूर्यपुत्र ! अतिथिः ब्राह्मणः = अतिथि ब्राह्मण देवता, वैश्वानरः प्रविशति = सद्‌गृहस्थ के घरो में अग्नि होकर प्रवेश करते हैं (गृह्णातीति गृहं, ग्रह उपादाने धातुः); 'गृहं गृहांश्च पुंभूम्नि कलत्रेऽपि च सद्मनि' इति मेदिनी । तस्य एतां शान्तिं कुर्वन्ति = उस ब्राह्मण की पाद्य, अर्घ्य, आचमन, आसन समर्पण करके चन्दन, पुष्प, दीप आदि के द्वारा बड़े आदर-सत्कार से पूजा करके शान्ति किया करते हैं । उदकं हर = आप उनके पादप्रक्षालन के लिये जल ले जाइये ॥७॥

व्याख्या—ब्राह्मण और अग्नि सर्वदेवमय भगवान् विष्णु के मुख हैं । जिन गृहों में ब्राह्मणों के पादप्रक्षालन जल से पङ्क (कीचड़) नहीं, शास्त्र और वेदध्वनि की गर्जना नहीं तथा स्वाहाकार और स्वधाकार नहीं वे घर श्मशानतुल्य कहलाते हैं । (श्रीमद्भा.८।१६।९ पुराणान्तर) यहाँ अतिथि-सत्कार के महत्त्व का वर्णन करते हैं—

मृत्युदेव यमराज तो सबके प्राण हरण करने वाले महान् सामर्थ्यवान् देव है—'मृत्युर्धावति पञ्चमः' । यम श्रीभगवान् के भय से प्राणियों का संहार करते हैं । पर अपने घर एक अतिथि ब्राह्मण आकर तीन दिन व तीन रात भूखा रहा, यह जानकर वह यम भी भयभीत होते हैं । गृहस्थ जनों के घरों में अतिथि का सत्कार अवश्य होना चाहिये । अतिथि को किसी प्रकार कष्ट नहीं होना चाहिये । जो गृहस्थी अतिथि के पहले भोजन करता है और अतिथि को भूखा रखता है वह अपने इष्ट, पूर्त, यज्ञ, प्रजा और पशु ही खाता है । इसलिये सर्वप्रथम अतिथि को भोजन करवाना चाहिये । ये वेद-शास्त्रों का उपदेश हैं । गृहस्थजनो ! ठण्डे शिर से हृदय पर हाथ रखकर जरा ध्यान से सोचो और यहाँ देखो कि प्रत्यक्ष मृत्यु (यमराज) भी अतिथि से घबड़ाता है और अतिथि को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है । जहाँ अतिथि के सामने यम भी भयभीत होता है वहाँ दूसरे गृहस्थियों एवं महात्माओं को भी अवश्य ही अतिथि की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए ।

वह बालक नचिकेता इस तरह पिता के समीप में कह कर यम के घर चला गया । यम को धर्मराज कहते हैं । वे आदर्श सद्‌गृहस्थी एवं साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के साले हैं । वे कभी भी अधर्म का आचरण नहीं करते । जिस समय नचिकेता यमालय गया उस समय यम घर में नहीं थे । यम के घर वालों ने भी उसकी पूछताछ नहीं की, इस हेतु उस बालक को यम के घर में तीन दिन और तीन रात तक भूखा रहना पड़ा । किसी गृहस्थी के घर में अतिथि ब्राह्मण को तीन दिन-तीन रात तक अन्न-जल न मिले यह तो उसका बहुत बड़ा अन्याय—घोर अनर्थ है और यह कार्य स्वयं धर्मराज के आलय में ही हुआ जो सबका न्याय करते हैं । नचिकेता के यमसदन पहुँचने पर पता लगा कि यमराज सदन में नहीं थे, पर उनके घरवाले तो जरूर होंगे । उनमें से किसी ने इस अतिथि का सत्कार क्यों नहीं किया । इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धिमान्

नचिकेता यमराज से ही मिलना चाहते थे दूसरों से नहीं । धर्मराज यम जब लोकान्तर से अपने आलय में आये तब उनको पता लगा कि मेरे सदन में एक ब्राह्मणकुमार अतिथि रूप से ठहरा है और वह तीन दिनों तक मेरी प्रतीक्षा करता हुआ प्रायोपविष्ट होकर बैठा है । जिनका मन महान् है वे सुहृदय गृहस्थ अपने कल्याण के लिये उस अतिथि रूप वैश्वानर को शान्त करने के लिये पाद्य, अर्घ्य, आचमन भेंट करके चन्दन-सौरभ, पुष्प, दीप आदि देकर उसका पूजन करते हैं । अतः हे सूर्यपुत्र ! 'उदकं हर'— आप उस ब्राह्मण बालक के पादप्रक्षालन के लिये शीघ्र जल ले जाइये । वह अतिथि लगातार तीन दिनों से आपकी प्रतीक्षा में अन्न-जल का परित्याग कर बैठा है ॥७॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—किञ्चानश्नन् ब्राह्मणो यस्याल्पमेधसः पुरुषस्य गृहे वसति एतत् एतस्याशाप्रतीक्षे । अप्राप्तस्य वस्तुनः प्राप्त्यर्थमिच्छा आशा । इदमेतस्मिन् काले सिद्ध्यतीति निश्चित्य प्रतीक्षणं प्रतीक्षा । ते आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सुहृत्सङ्गतं सूनृताञ्च वाणीमिष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादि क्रियाजं फलं सर्वान् पुत्रपशूंश्च वृङ्क्ते वर्जयति, विनाशयति इति यावत् । अयं च मत्कृतां पूजामगृह्णन्नेवास्त इति ॥८॥

सान्वयानुवाद—अनश्नन् = बिना भोजन के, ब्राह्मणः = ब्राह्मण, यस्य = जिस, अल्पमेधसः = अल्पबुद्धि, पुरुषस्य = मनुष्य के, गृहे वसति = घर में भूखा रहता है, आशाप्रतीक्षे = उसकी आशाएँ और आकांक्षाएँ, सङ्गतं = उसका समाज-कुल-सत्सङ्ग, सूनृतां च = मधुर वाणी, इष्टापूर्ते = उसके यज्ञ और जनोपकार के सकल कार्य, सर्वान् पुत्रपशून् = उसके सब पुत्र और पशु, एतद् वृङ्क्ते = इन सबका वह समूल विनाश कर देता है ॥८॥

व्याख्या—जिसके घर में अतिथि ब्राह्मण भूखा बैठा रहता है उस अल्प बुद्धिवाले मनुष्य की सभी वस्तुओं का वह समूल नाश कर देता है । अप्राप्त वस्तु की प्राप्त्यर्थ कामना को आशा कहते हैं । जो परमात्मा को परित्याग कर आपातरमणीय नाशवान् तुच्छ सांसारिक वस्तुओं की आशा करते हैं उन्हें दुःख ही मिलते हैं । दूसरों से किसी प्रकार की कोई आशा न करें । ('निराशः सुखी पिङ्गलावत्'—सांख्यदर्शन ४।११; 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्'—श्रीमद्भा. ११।८।४४) पिङ्गला की भाँति निराश होकर सुखी हो जाओ । यह बिल्कुल सत्य बात है कि आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है । 'मेरा यह कार्य इस समय साधित होगा' इस प्रकार निश्चय करके प्रतीक्षण करना ही प्रतीक्षा है । दूसरी किसी वस्तु की प्रतीक्षा न करें । सतत भगवच्चिन्तन करना चाहिये । 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' । (गीता ८।७) 'सङ्गतम्'—

'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥१॥

काम: सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः ।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्' ॥२॥

सङ्ग का सर्वथा त्याग करना चाहिये, किन्तु यदि सङ्ग का त्याग न कर सके तो सत्पुरुषों का—ज्ञानी महात्माओं का सङ्ग करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषों का सङ्ग सम्पूर्ण दुःखों की निवर्त्तक औषधि है। कामनाओं-इच्छाओं-आशाओं का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये किन्तु यदि न परित्याग कर सके तो मोक्ष के प्रति आशा-कामना करना चाहिये, क्योंकि मुमुक्षा ही कामनाओं का नाश करने वाली दवा है। 'सूनृताम्'—'ऋतञ्च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता' ॥ (श्रीमद्भाग. ११।१९।३८) प्रिय मधुर वाणी को ही कवियों ने ऋत कहा है। यज्ञ-दानादि को इष्ट कर्म कहते हैं और कुआँ, तालाब, विद्यालय आदि का निर्माण करना पूर्त कर्म कहलाता है। सदन में अतिथि ब्राह्मण तीन दिन-तीन रात्रि तक भूखा रहे यह किसी भी सद्‌गृहस्थ के लिए उचित नहीं है और आप तो धर्म की व्यवस्था करने वाले विश्वजननी यमुना के भाई धर्ममूर्त्ति हैं। अतः कृपाकर आप इस अतिथि देवता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करें। इस प्रकार भार्या की सदुक्ति सुनकर कृतान्त यम कुमार नचिकेता के सन्मुख जाकर कहने लगे ॥८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे-
ऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—भार्याभिरेवमुक्तो यमः पूजापुरःसरं नचिकेतसमुपसङ्गम्योवाच-तिस्र इति। हे ब्रह्मन्! नमस्यो नमस्कारार्होऽतिथिस्त्वं यत् यस्मान्मे मम गृहे तिस्रो रात्रीरनश्नन् एवात्सीः वासमकार्षीः, तस्मात् हे ब्रह्मन्! ते = तुभ्यं नम अस्तु। मे = मह्यं स्वस्त्यस्तु मङ्गलमस्तु। प्रति = तस्य प्रतीकाराय त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥९॥

सान्वयानुवाद—ब्रह्मन् = हे ब्राह्मणदेवता! नमस्यः = आप नमस्कार करने योग्य, अतिथिः = अतिथि है, यत् = जिस कारण, मे गृहे = मेरे घर में, तिस्रः रात्रीः = तीन रात्रियों तक, अनश्नन् अवात्सीः = बिना भोजन किये ठहरा है, इसलिये ब्रह्मन् = हे ब्रह्मन्! ते नमः अस्तु = आपको नमस्कार हो, मे स्वस्ति अस्तु = मेरा कल्याण हो। प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व = उस तीन दिन के बदले मेरे से तीन वर माँग लीजिये ॥९॥

व्याख्या—अतिथि को देखकर यमराज हाथ जोड़कर प्रणाम किये और एक दिव्य आसन पर बैठकर उन्होंने पाद्य-अर्घ्य भेंट करके चन्दन-सौरभ, पुष्प-दीपादि से उनका विधिवत् पूजन किया। 'नमस्यः' = तुम्हें प्रसन्न करने के लिये मैं तुमको नमस्कार करता हूँ। अहं त्वां प्रसादयितुं नमामि। यतस्त्वमतिथिः।

'अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रति निवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति' ॥

अतिथि भग्नाश होकर जिसके घर से लौट जाता है, वह गृहस्थ को अपना पाप देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है। हे ब्रह्मन्! मैं घर में नहीं था, आप अन्न-जल का परित्याग कर लगातार तीन रात्रियों से यहाँ भूखे बैठे हैं। मुझसे यह बड़ा अपराध हो गया है, आप मुझे क्षमा कर दें। अतिथि सत्कार करने योग्य होते हैं। 'मे स्वस्ति अस्तु' = इन मेरे दोषों की निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो। बिना अतिथिसेवा-शुश्रूषा-सत्कार किये किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता। इस वेदमन्त्र से ही स्पष्ट हो गया। 'तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व' = अत:तीन दिन के अनशनव्रत के कारण जो आपकी इच्छा हों, मुझसे स्वकीय इच्छानुकूल तीन वर माँग लीजिये ॥९॥

नचिकेता का प्रथम वर

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्
वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत
एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमुक्तो नचिकेता: प्रथमं वरं वृणोति। शान्तसङ्कल्प इति। हे मृत्यो! गौतम: = गोतमस्य गोत्रापत्यं मम पिता, मामभि = मां प्रति, वीतमन्यु: = विगतकोप:, अत एव मदनिष्टे शान्तसङ्कल्प:, सुमना: = प्रसन्नमनाश्च यथा स्यात्। किञ्च त्वत्प्रसृष्टं मां त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मां प्रतीत: स एवायं पुत्र आगत इति प्रत्यभिजानन् यथाऽभिवदेत् = सम्यग्वदेत्। एतत्पूर्वोक्तं त्रयाणां वराणां मध्ये प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

सान्वयानुवाद—इस तरह यम द्वारा कहा गया नचिकेता उनसे पहला वर माँगता है—मृत्यो = हे कृतान्त! गौतम: शान्तसङ्कल्प: सुमना मा अभि वीतमन्यु: = गोतमवंशीय मेरा पिता शान्तसंकल्प और प्रसन्न मन वाले तथा मेरे प्रति क्रोध एवं खेद से रहित हो, यथा स्यात् प्रतीत: = सोऽयं मम पुत्र: बाल: नचिकेता: आगत: इति प्रत्यभिजानन् सम्यक् वदेत् = वे मुझ पर विश्वास करके 'यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है' ऐसा समझकर अभिवदेत् = जैसे मेरे साथ पहले प्रेमपूर्वक वार्त्तालाप करते थे वैसे वे मेरे साथ भली-भाँति बातचीत करें। एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे = यह मैं आप से तीनों वरों में से पहला वर माँगता हूँ ॥१०॥

व्याख्या—यहाँ नचिकेता यमराज से पहला वर माँगता है। प्रसन्नमना शान्तसंकल्प क्रोधशून्य होकर गौतम मेरे साथ पूर्ववत् प्रेमपूर्ण वात्सल्य भाव से व्यवहार करें। मुझे किसको देंगे? इस तरह मेरे बार-बार पूछने के कारण उनको क्रोध आ गया और उन्होंने क्रोध से कहा—'मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ।' उनका यह क्रोध शान्त हो तथा वे शान्तसंकल्प एवं प्रसन्नचित्त हों। आपके द्वारा अनुमति पाकर जब मैं घर जाऊँ तब वे मुझे अपने पुत्र नचिकेता के रूप में पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् मधुर भाषण एवं

सदा-सर्वदा स्नेह से वार्त्तालाप करें। यहाँ पुत्र का धर्म बताया गया है। पिता ने पुत्र पर क्रोध किया तो भी पुत्र के लिए यही उचित है कि वह पिता पर क्रोध न करे। पिता की आज्ञा का पालन करे। उनके साथ प्रिय मधुर वाणी से प्रेमपूर्ण ही व्यवहार करे। पिता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करे। यह उत्तम पुत्र का लक्षण है। 'गुर्वर्थे त्यक्तराज्यः' (श्रीमद्भा. ९।१०।४)—भगवान् कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्र ने पिता की आज्ञा से राज्य का परित्याग कर दिया।

पुत्र की परिभाषा

'पुन्नाम्नो नरकात् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा'॥ (मनु.९।१३८)

पुन्नामक नरक से पुत्र जिससे पिता की रक्षा करता है इसलिए स्वयं ब्रह्मा ने उसे पुत्र कहा है।

यम का वरदान

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमुक्तो यमस्तथा भवत्वित्याह—यथेति। उद्दालकस्यापत्यं पुमान् इत्यौद्दालकिरारुणिररुणस्य गोत्रापत्यमारुणिस्तव पिता मृत्युमुखात् प्रमुक्तं त्वां ददृशिवान् पश्यन् मत्प्रसृष्टो मत्प्रेरितो वीतमन्युः सन् पुरस्तात् पूर्वं त्वां प्रति यथा = येन प्रकारेणावर्त्तत तथा भविता। प्रतीतः = प्रत्यभिज्ञावांश्च भविता। रात्रीः सुखं शयिता सुखनिद्रां प्राप्स्यति इति यावत्। अत्र पुरस्ताद् भवितेत्यनेन सुखं रात्रीः शयितेत्यनेन च शान्तसङ्कल्पत्वं सुमनस्कत्वञ्चोक्तम्भवति॥११॥

सान्वयानुवाद—मत्प्रसृष्टः औद्दालकिः आरुणिः = मुझसे प्रेरित (अनुमोदित) हुआ तुम्हारा पिता औद्दालकि आरुणि तुमसे, यथा पुरस्तात् प्रतीतः भविता = पंहले के समान पहचान कर बातचीत करने वाला ही होगा, मृत्युमुखात् प्रमुक्तं त्वां ददृशिवान् = मृत्यु के मुख से विमुक्त तुमको वह देखेगा तब, वीतमन्युः सुखं रात्रीः शयिता = क्रोध रहित होकर सुख की नींद से रात्रियों में सोयेगा॥११॥

व्याख्या—धर्ममूर्त्ति भागवतधर्मी यमराज अनशन व्रतधारी नचिकेता से कहते हैं—हे नचिकेता! तेरा कल्याण हो, मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हूँ। जब तुम मुझसे छूटकर घर जायेगा तब तेरा पिता औद्दालकि आरुणि अत्यधिक प्रसन्न होगा। 'मेरा बेटा मृत्यु से बचकर घर आया है' यह देखकर मेरी प्रेरणा से वह आनन्द से नृत्य करने लगेगा। मृत्यु के मुख से छूटकर आये हुए तुझे देखकर तेरे पिता का क्रोध वीतमन्यु हो जायेगा

अर्थात् क्रोध सर्वथा शान्त हो जायेगा और पहले की भाँति ही वह तुमसे बड़ा स्नेह करेगा। तुम्हें पाकर अब वह सुख की नींद से रात्रियों में सोयेगा। यह वर तुझे देता हूँ। अब मुझसे दूसरा वर माँगो ॥११॥

नचिकेता का द्वितीय वर

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥
स त्वमग्निः स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—स्वर्गे लोके किञ्चन भयं किमपि नास्ति। अत्र स्वर्गपदस्य मोक्षस्थानपरत्वं, भयादिराहित्यादिलिङ्गानामत्र विद्यमानत्वात्। एतस्य तत्त्वमुपरिष्टाद् व्यक्तीभविष्यति। हे मृत्यो! त्वं तत्र न प्रभवसि। जरया युक्तः सन्न बिभेति, जरातो न बिभेति। तत्र वर्त्तमानः पुमान् इति शेषः। अशितुमिच्छाऽशनाया, पातुमिच्छा पिपासा, ते उभे तीर्त्वा शोकमतिक्रम्य गच्छतीति शोकातिगः स्वर्गलोके = वैकुण्ठलोके मोदते॥१२॥

भयमरणाशनायापिपासाशोकरहितत्वगुणविशिष्टस्य मोक्षस्थानस्योपासनाद्वारा प्रातिसाधनीभूतमग्निं स्थण्डिलरूपाग्निं स त्वं पुराणादिप्रसिद्धस्सर्वज्ञस्त्वमध्येसि स्मरसि जानासीत्यर्थः। हे मृत्यो! ततस्त्वं प्रब्रूहि कथय। अग्निज्ञानं श्रद्धारहिताय तत्फलेच्छाविरहिणे च न वाच्यमित्यत आह—श्रद्दधानायेति। मोक्षश्रद्धावते मह्यम्। येनाग्निनोपासितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते परं पदं प्राप्ता अमृतत्वं स्वरूपाविर्भावलक्षणमोक्षशब्दवाच्यममृतत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति। तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥१३॥

सान्वयानुवाद—बुद्धिमान् नचिकेता कहता है—स्वर्गे लोके = स्वर्गलोक में, किञ्चन = कुछ, भयं = डर, न अस्ति = नहीं है। तत्र त्वं न = वहाँ आप (काल) नहीं है, जरया न बिभेति = वहाँ बुढ़ापे से कोई डरता नहीं है, अशनाया-पिपासे उभे तीर्त्वा = भूख और प्यास इन दोनों से पार होकर, शोकातिगः = शोक को लाँघकर स्वच्छन्द विचरण करने वाला ब्रह्मज्ञानी, स्वर्गलोके मोदते = 'परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्' (श्रीमद्भा. २।२।१८)—परम वैष्णवपद में अविनाशी सुख का अनुभव करता है। हे मृत्यो = अन्तक! स त्वं = वे आप, स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषि = वैष्णव-पद की प्राप्ति के साधनरूप—उपासनारूप अग्नि को जानते हैं, त्वं मह्यं श्रद्दधानाय प्रब्रूहि = कृपा कर आप वह उपासना मुझ श्रद्धावान् उपासक को ठीक-ठीक विचार करके कहिये, स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते = परम वैष्णवपद में रहने वाले ज्ञानीजन

अमृतत्व को प्राप्त होते हैं, एतत् द्वितीयेन वरेण वृणे = यह मैं आपसे दूसरे वर से माँगता हूँ ॥१२-१३॥

व्याख्या—यहाँ वैकुण्ठलोक का वर्णन करने योग्य है। वहाँ देवताओं का पर-नियन्ता काल भी समर्थ नहीं है; वहाँ सत्त्व, रज और तम का भी कोई प्रभाव नहीं है। वहाँ न अहङ्कार है, न महत्तत्त्व है और न ही प्रकृति है। उस परमपद को वैष्णवपद—वैकुण्ठधाम कहते हैं। परम वैष्णवपद का श्रुति में 'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चन' इत्यादि शब्दों से वर्णन हुआ है। इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि वे अपने मन से दुराग्रहों को दूर करके निर्मल मन से भगवान् श्रीहरि के चरणारविन्दों का निरन्तर ध्यान करें। 'किञ्चन भयं नास्ति। आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्'। (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।६) भगवान् के चरणारविन्दों का चिन्तन करने वालों को किसी से कोई भी भय नहीं होता। अरे मैत्रेयि ! निश्चित ही परमात्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाने पर यह सब मालूम हो जाता है। जरया न बिभेति—वहाँ वृद्धावस्था से नहीं डरते, शक्ति, ओज और बल से वहाँ सदा किशोरावस्था में रहते हैं। वैकुण्ठलोक में क्षुधा-पिपासा किसी को कष्ट नहीं देती। वहाँ रहने वाले मुक्तात्माएँ शोक को लाँघकर सब-के-सब परमानन्द में मग्न रहते हैं ॥१२॥

हे मृत्यो ! परम वैष्णवपद के साधनभूत अग्निविद्या को आप जानते हैं, उसे मुझ श्रद्धालु साधक को कृपाकर आप बतलावें। वैकुण्ठधाम को प्राप्त हुये उपासक अमरत्व (भगवद्भाव) को प्राप्त करते हैं। 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'—हे अर्जुन ! बहुत-से उपासक ज्ञान और तपस्या से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् वे मेरी सन्निधि को प्राप्त हो चुके हैं ॥१३॥

इस परमपद के अविनाशी सुख को प्राप्त करना चाहिये। इसकी प्राप्ति करने का उपाय एक अग्नि है। वह अग्नि कौन-सा है और उसको प्रदीप्त किस प्रकार करते हैं, उसमें किसका हवन किया जाता है—इस विषय में नचिकेता ने यम से पूछा है। तब यम इसका उत्तर देते हैं—

यम का द्वितीय वरदान

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानान्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमुक्तो यमः प्रतिजानीते। प्र ते ब्रवीमीति। हे नचिकेतः ! स्वर्ग्यं स्वर्गस्य = मोक्षस्थानस्य परम्परया साधनीभूतमग्निं प्र = प्रकर्षेण जानन्नहं ते ब्रवीमि। त्वन्तु मम सकाशात् तत् त्वदीप्सितं वस्तु निबोध = विजानीहि। ज्ञानस्य फलं दर्शयति—अनन्तेति। अनन्तस्य विष्णोर्लोकस्तत्प्राप्तिम्। 'तद्विष्णोः परमं पदं' इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात्। अथो = तत्प्राप्त्यनन्तरं प्रतिष्ठामपुनरावृत्तिश्च लभत इति शेषः। ननु कथमग्निज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वमित्यत आह—विद्धीति। ब्रह्मोपासनाङ्गतयैतज्ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वलक्षणमेतत्स्वरूपं

गुहायां निहितमन्ये न जानन्ति त्वं जानीहीत्याशयः। श्रुतिः स्वयमाह—लोकादि-मिति। तं नचिकेतसा पृष्टं लोकादिं सर्वलोकस्यादिं कारणं स्वर्ग्यमिति यावत्। अग्निं तस्मै नचिकेतसे यम उवाच। न केवलमेतावत् किन्तु या इष्टकाश्चेतव्या उपाधातव्या इति यावत्। स्वरूपेण यावतीर्यावत्संख्याका यथा वाऽग्निश्चीयते येन प्रकारेण तत्सर्वमुक्तवान् स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत् प्रत्यवदत् = प्रत्युच्चारितवान्। अथानुवादानन्तरमस्य नचिकेतसस्तुष्टः प्रसन्नो मृत्युः पुनराह ॥१४-१५॥

सान्वयानुवाद—नचिकेतसः = हे नचिकेता! स्वर्ग्यम् अग्निम् = परमपदप्रयिनी अग्निविद्या को, प्रजानन् = यथावत् जाननेवाला मैं, ते = तुम्हारे लिये, प्रब्रवीमि = भलीभाँति बतलाता हूँ, तत् उ मे निबोध = उस वस्तु को मुझसे सावधान होकर सुनो, एतं = इस साधन को, त्वं = तुम, अनन्तलोकाप्तिं = अनन्त भगवान् के लोकप्राप्ति, विद्धि = समझो, प्रतिष्ठां = सबकी स्थिति, अथो गुहायां निहितम् = और गुफा में छिपा है, इसको तुम ही जानते हो ॥१४॥

लोकादिं तम् अग्निम् = यम ने सब लोक का आदि कारण उस अग्नि का, तस्मै उवाच = उस नचिकेता को उपदेश दिया, याः वा यावतीः = जो जितनी और जिस तरह की उसकी साधन-सामग्री उसमें कितने कुण्ड निर्माण, इष्टकाः = जितनी ईंटे चाहिये, यथा वा = जिस तरह उनका चयन किया जाता है, वे सब आवश्यक वस्तुएँ भी बतायीं। सः चापि = उस नचिकेता ने भी, तत् यथा उक्तं = जैसे मृत्यु द्वारा कहा गया साधन, प्रत्यवदत् = दुहरा दिया, अथ = तब, मृत्युः अस्य तुष्टः पुनः एव आह = मृत्यु उन पर प्रसन्न होकर उनसे फिर बोले ॥१५॥

व्याख्या—यमराज बोले—हे नचिकेता ! तुमने जो मुझसे दूसरा वर माँगा है, मैं इस समय तुझे दूसरा वर देता हूँ। मैं उस परम धाम की साधनरूपा अग्निविद्या को भलीभाँति जानता हूँ और तुमको उसका यथार्थरूप से उपदेश करता हूँ। तुम उसको एकाग्रचित्त से सुनो। यह अग्निविद्या अप्राकृत विष्णुलोक की प्राप्ति कराने वाली है और उपासक इसी विद्या से वैष्णवपद को प्राप्त करते हैं। तुम सचमुच उपासक हो और तुम ही जानते हो। मोक्षसाधन अन्तःकरण में छिपा रहता है ॥१४॥

इस तरह से परम धामप्रदायिनी अग्निविद्या की महत्ता का वर्णन करके मोक्ष साधन का स्वरूप (अग्नि का स्वरूप) बताया। अग्नि के लिये कितने कुण्ड निर्माण, कितनी ईंटे, सब प्रकार की साधन-सामग्रियाँ एवं अग्नि का चयन किस प्रकार किया जाना चाहिये—यह सब यम ने भलीभाँति वर्णन करके समझाया। यम ने नचिकेता से पूछा कि वत्स ! तुमने जो कुछ मुझसे सुना, वह मुझे सुनाओ। तीक्ष्ण बुद्धिमान् नचिकेता ने सुनकर तुरन्त यम को सब ज्यों-का-त्यों सुना दिया—जिस प्रकार यम ने कहा था। शिष्य की विलक्षण स्मृति तथा प्रतिभा को देखकर यमराज बड़े ही प्रसन्न हुये और फिर वे नचिकेता से कहने लगें ॥१५॥

जो दुःख से मिश्रित नहीं और क्षयोन्मुख नहीं है, अभिलाष मात्र से उपनीत है वह सुख स्वर्गपद का वाच्य है।

प्रसन्न होकर यमराज फिर नचिकेता से कहते हैं—

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥
त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥
एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्योऽयमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

तत्त्वप्रकाशिका—किमाहेत्यत उक्तमनुवदन्नाह—तमिति । प्रीयमाणो महात्मा यमस्तं नचिकेतसं प्रत्यब्रवीत् । किं तवाद्येह प्रीतिनिमित्तं वरं भूयो ददामि । तं वरं दर्शयति । अयं मदुपदिष्टोऽग्निस्तवैव नाम्ना प्रसिद्धो भविता । इमामनेकरूपां स्वर्णमयीं सृङ्कां शब्दवतीं कण्डमालाञ्च गृहाणेति वरमदात् ॥१६॥

त्रिणाचिकेतः त्रिकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन सः त्रिणाचिकेताः । तद्विज्ञानः तदध्ययनः तदनुष्ठानवान् वा त्रिभिरग्निभिरनुष्ठितैरग्निभिः सन्धिं = परमात्मोपासनेन सम्बन्धमेत्य प्राप्य जन्ममृत्यू तरतीत्यर्थः ।

'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' (१।४।६) इति सूत्रव्याख्यानावसरे एवमेव ह्ययं मन्त्र उपन्यस्तः । 'अस्यामुपषद्युपायोपेयोपगं त्रयाणामुपन्यासः प्रश्नश्च पूर्वापर-वाक्यार्थविचारेण लभ्यते । आनुमानिकतत्त्वनिरूपणस्यात्रावकाशो नास्ति' । इति सूत्रार्थो वेदान्तपारिजातसौरभे आद्याचार्यैर्भाषितः त्रिभिरेत्य सन्धिमिति निर्दिष्टमङ्गभूतं परमात्मो-पासनमाह—ब्रह्मजज्ञमिति । ब्रह्मजज्ञः प्रत्यगात्मा तं देवमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा प्रत्य-गात्मानं ब्रह्मात्मकत्वेनावगम्येत्यर्थः । निचाय्य = स्वात्मानं ब्रह्मात्मकत्वेन साक्षात्कृत्येमां त्रिकर्मकृत् तरतीति पूर्वमन्त्रनिर्दिष्टां संसाररूपानर्थशान्तिमेतीत्यर्थः । अस्य मन्त्रस्यार्थः ('विशेषणाच्च'—ब्र.सू.१।२।१२) इति सूत्रस्य व्याख्यानावसरे प्रदर्शितः संक्षेपेण वेदान्तकौस्तुभे ॥१७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतत् ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यमिति मन्त्रोक्तं उपासकस्वरूपम् उपास्यस्व-रूपम् उपासनस्वरूपञ्च त्रिभिरनुष्ठितैरग्निभिः सन्धिं ब्रह्मोपासनेन सम्बन्धमेत्य जन्ममृत्यू तरतीति । प्रागुदाहृतमग्निस्वरूपञ्च विदित्वा शास्त्राचार्य्योपदेशेन ज्ञात्वा य अधिकारी एवं प्रागुपदर्शितप्रकारेण नाचिकेतमग्निं विद्वान् चिनुते निर्वर्त्तयति स मृत्युपाशान् = अज्ञाना-धर्मरागद्वेषलक्षणान् पुरतः = अग्रतः, पूर्वमेव शरीरपातात् प्रणोद्य = अपहाय शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके = मोक्षस्थाने ॥१८॥

प्रीत्या स्वदत्तं वरमवधारयति—एष इति । त्वं यं द्वितीयवरेणावृणीथाः एषः स्वर्ग्य अग्निरुपासनाद्वारा स्वर्गप्रयोजनको नाचिकेता इति ते = तव नाम्ना प्रसिद्धो

भविता। कथम्? एतमग्निं तवैव नाम्ना जनास: = जना: प्रवक्ष्यन्ति। एवं द्वितीयं वरं दत्वा प्रीत्या स्वदत्तं वरञ्चावधार्येदानीं तृतीयं वरं प्रार्थयेत्याह—तृतीयमिति ॥१९॥

नन्वत्र पठितानां स्वर्गशब्दानां मुक्तौ तात्पर्यं केन प्रमाणेन उच्यते—इति चेन्नैवम्। यत: त्रयाणामेव चैवमुपन्यास: प्रश्नश्च (१।४।६) इति ब्रह्मसूत्रे पूज्यपादै: श्रीश्रीनिवासाचार्यै: प्रकटीकृतोऽयमर्थ:—नेह प्रधानस्याव्यक्तशब्देन परिग्रहोऽस्ति, यतोऽत्र त्रयाणामेव परमात्मतदुपासनोपासकानामेवमुपन्यासो वक्तव्यतया प्रश्नश्च शेषतया कठवल्ल्यामस्ति। न तु सांख्यसिद्धस्य प्रधानादेरपि। तथाहि—'तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिर्नमस्य:' इत्यादिकं मन्त्रजातं पठितं तदर्थोऽपि संक्षिप्तानन्तरं द्वितीयेन वरेण स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि अमृतत्वं भजन्ते। एतद्द्वितीयेन वृणे वरेणेत्यनेन, मुक्त्युपायभूतां नाचिकेताख्याग्निविद्यां वृतवान्। हे मृत्यो! त्वं स्वर्ग्यं मोक्षहितमग्निमध्येषि स्मरसि जानासि। अतस्तं मह्यं मुमुक्षवे प्रब्रूहि। स्वर्गश्चतुर्थाध्यायोक्तार्चिरादिमार्गेण मुक्तगम्यो लोको येषां ते स्वर्गलोका:। वेदान्तिनो येनामृतं मोक्षं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे इत्यन्वय:। स्वर्गशब्दोऽत्र मोक्षसाधारण:। तथाहि—'हिरण्मय: कोश: स्वर्गो लोको ज्योतिरावृत: ब्रह्म यान्ति ब्रह्मविद: स्वर्गलोके' इति मन्त्रेऽध्यात्मशास्त्रसिद्धस्यापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकस्यैव ग्रहणमुचितम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते। इति तृतीयप्रश्नमन्त्रेऽमृतत्वभाक्त्वश्रवणाद् अमृतत्वशब्दस्याध्यात्मशास्त्रे मोक्ष एव प्रयोगात्। अजीर्यताममृतानामित्यत्रामृतशब्दस्यापि मुक्तपरत्वेनापेक्षिकामृतत्वपरत्वाभावात्। उत्तरत्र ततो मया नाचिकेताश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यै: प्राप्तवानस्मि नित्यम्। अभयं तितीर्षतां पारं नचिकेतं शकेमहि। इति परस्यैव ब्रह्मणो नाचिकेताग्निप्राप्यत्वकथनेन स्वर्गशब्दस्य प्रसिद्धस्वर्गपरत्वासम्भवात्। नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते। इति ब्रह्मेतरविमुखतया प्रतिपादितस्य नचिकेतस: क्षयिष्णुस्वर्गप्रार्थनाऽनुपपत्तेश्च।

सान्वयानुवाद—प्रीयमाण: = प्रसन्न हुये, महात्मा = महात्मा यम, तम् = उस नचिकेता से, अब्रवीत् = बोले, अद्य = इस समय मैं, तव = तुमको, इह = यहाँ, भूय: वरं ददामि = पुन: एक और वर देता हूँ, अयं अग्नि: तव एव नाम्ना = यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से, भविता = प्रसिद्ध होगी, च = और, इमाम् अनेकरूपां सृङ्कां गृहाण = यह अनेक रूपों वाली कनकमयी माला को ग्रहण करो ॥१६॥

त्रिणाचिकेता: = जिसने तीन तरह की नाचिकेत अग्नि का चयन किया है, उसे त्रिणाचिकेता कहते हैं; उस अग्नि के विज्ञान वाला, अध्ययन वाला और अनुष्ठान करने वाला। अथवा 'यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' ॥ (गीता १८।५) त्रिभि: सन्धिम् एत्य = इन पूजन, दान और तप तीनों के साथ सम्बन्ध जोड़कर, श्रीभगवान् की आज्ञा समझकर जो इन यज्ञ, दान एवं तपस्या ये तीन कर्म करता है वह, जन्ममृत्यू तरति = जन्म-मरण से तर जाता है। ब्रह्मजज्ञम् = स्वस्वरूप, देवम् = परस्वरूप, ईड्यम् = उपासनस्वरूप को, विदित्वा = जानकर, निचाय्य = सब जगह परमात्मा का

दर्शन करके, इमाम् अत्यन्तं शान्तिम् एति = इस आत्यन्तिकी शान्ति को प्राप्त करता है। अन्तं = मृत्युम् अतिक्रान्तः अत्यन्तः। 'अत्यन्तम्' यह विशेषण अज-हल्लिङ्ग है। यथा—'आपः पवित्रं परमं पृथिव्याम्' = पृथिवी में जल बहुत पवित्र हैं। यहाँ पर 'पवित्र' शब्द 'आपः' का विशेषण है, किन्तु नपुंसकलिङ्ग के एकवचन में प्रयोग हुआ है। जब कि 'आपः' विशेष्य स्त्रीलिङ्ग शब्द है और बहुवचनान्त है। नचिकेतः = हे नचिकेता! एतत् त्रयम् = अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा इन तीन तत्त्वों को, विदित्वा = जानकर, त्रिणाचिकेतः = तीन तरह की नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाला, यः एवम् = जो कोई भी इस तरह, विद्वान् = ज्ञानवान् साधक, नाचिकेतम् = नाचिकेत अग्नि का, चिनुते = चयन–सम्पादन करता है, सः = वह विवेकी उपासक, मृत्युपाशान् = मृत्यु के पाशों को, पुरतः = सामने, प्रणोद्य = काट-कर, परित्याग कर, शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते = शोकातिगामी परमपद में अविनाशी सुख का अनुभव करता है, एषः स्वर्ग्यः अग्निः = यह स्वर्गप्रयोजनक अग्नि, यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः = जिसको तुमने दूसरे वर से माँगा था, एतम् अग्निं तव एव = इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से, जनासः प्रवक्ष्यन्ति = लोग बुलाया करेंगे, नचिकेतः = हे नचिकेता! ते = अब जो तेरी इच्छा हो, तृतीयं वरं वृणीष्व = तीसरा वर माँग ले ॥१७-१९॥

व्याख्या—यमराज भगवान् श्रीहरि के परम भक्त हैं एवं उनके साले हैं। अतः वे महात्मा हैं, सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्नात्मा महात्मा यमराज ने ऋषिकुमार नचिकेता से कहा—तुम्हारी तत्त्वज्ञान ग्रहण करने की शक्ति देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, तुम्हें मनाने के लिये अब मैं तुम्हें एक और वर तुम्हारे बिना माँगे ही देता हूँ। यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी और साथ ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तुमको प्रिय वस्तु भेंट करता हूँ। यह लो, यह अनेक रूपों वाली सुवर्णमयी सुन्दर शब्द करने वाली माला देता हूँ। इसे कण्ठ में धारण करो ॥१६॥

अब यमराज नचिकेता को शान्ति का मार्ग बतलाते हैं—त्रि-नाचिकेतः। ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद इन तीनों वेदों से अथवा—उपनिषद्-गीता-ब्रह्मसूत्र इन प्रस्थानत्रयी से जिसने अपने विशुद्ध अन्तःकरण में रहने वाले सर्वभूतात्मा भगवान् वासुदेव का आराधन किया है। त्रिभिः सन्धिम् एत्य—श्रीभगवान् की आज्ञा समझकर कर्त्तव्य बुद्धि से जिसने निष्काम भाव से यज्ञ-दान-तप इन तीनों कर्मों को किया है वह जन्म एवं मृत्यु से छूट जाता है अर्थात् देहसंयोग एवं देहवियोग से छूट जाता है। अब उपासक, उपासना, उपास्य अथवा साधक, साधना एवं साध्य का वर्णन करते हैं—ब्रह्मजज्ञ यानी जीव ज्ञानस्वरूप (ज्ञानवान्) है। देव-श्रीकृष्ण ही ब्रह्म है—परतत्त्व है। 'ईड्यम्' यह उपलक्षण है। वाणी से श्रीकृष्ण की स्तुति करना, नित्य सेवा-पूजा, चरणारविन्द का ध्यान, कथा-श्रवण; अपने द्वारा किये गये समस्त कर्म, सकल वस्तु भगवदीय हैं—ऐसा समझकर सब श्रीकृष्णार्पण करना और मन्दिर में जाकर प्रभु के सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना। यही षडङ्ग साधना, भक्ति, उपासना-आराधना

है। इन्हीं तीनों को जानकर और जड़-चेतनों में परमात्मा श्रीकृष्ण का दर्शन करके आत्यन्तिकी शान्ति को प्राप्त करता है ॥१७॥

उपर्युक्त जीवस्वरूप, उपासनास्वरूप, भक्ति तथा उपास्य ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण इन तीनों तत्त्वों को जानकर और गुरूपदेश से प्रस्थानत्रयी का ज्ञान प्राप्त करके जो कोई भी विवेकी पुरुष इस नाचिकेत अग्नि का सम्पादन करता है, वह देहपात से पहले ही अज्ञान-अधर्म-राग-द्वेष-सुख-दुःखादि बन्धनों (मृत्युपाशान्) को अपने सामने टुकड़े-टुकड़े कर अर्थात् दूर कर शोक से रहित होकर वैकुण्ठलोक में नित्य सुख का अनुभव करता हुआ आनन्दवान् हो जाता है ॥१८॥

हे नचिकेता ! यह परमपद को प्रदान करने वाली अग्नि है। जो तूने इसको दूसरे वर से माँगा था। यह बात अब तुझे भी मालूम हो गयी, यह अग्नि तुम्हारे नाम से ही प्रसिद्ध होगी और आज से लोग तुम्हारे ही नाम से इस अग्नि को सम्बोधित करेंगे। अब तू अपनी इच्छानुकूल तीसरा वर माँग ॥१९॥

नचिकेता का तीसरा वर

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

तत्त्वप्रकाशिका—सन्ति मोक्षस्वरूपे वादिनां विप्रतिपत्तयः। तथाहि—दुःखनिवृत्तिमात्रं मोक्षः। आनन्दादिशब्दाश्च दुःखाभावमात्रावलम्बिनो यदि सुखरागेण वर्त्तेत ततो बन्ध एव प्रसज्येत रागस्य बन्धहेतुत्वात्। न च देहेन्द्रियमनसां निवृत्तौ विज्ञानोत्पत्तिर्हेत्वभावान्मुक्तो निःसंज्ञः पाषाणकल्पोऽवतिष्ठते, इति वैशेषिका वदन्ति। सांख्यास्तु चैतन्यस्वभाव आत्मा, तस्य द्रष्टुः स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमसम्प्रज्ञातयोगे निष्पन्नो मोक्ष इति मन्यन्ते। पातञ्जलास्तु असतो ब्रह्मभावस्य योगानुष्ठानताजन्ममोक्षः। केचित्—आत्मस्वरूपोच्छित्तिलक्षणं मोक्षमाचक्षते। अपरे तु अपहतपाप्ममात्मानं परमात्मानमभ्युपगच्छन्तस्तस्यैवोपाधिसंसर्गनिमित्तजीवभावोपाध्यपगमेन तद्भावलक्षणं मोक्षमातिष्ठन्ते।

निवृत्तिमार्गनिरतास्तु—अपहतपाप्मत्वादिसम्पन्नविज्ञानघनीभूतस्वस्वरूपाविर्भाव-पूर्वकत्वे सति श्रीभगवत्स्वरूपगुणादिविषयकानवच्छिन्नानुभूत्या स्थितिरूपां भगवद्भावा-पत्तिं मोक्षमाचक्षते। निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीत्यत्र परमं साम्यं भावपदेनाभिधीयते। साम्यञ्च स्वरूपेण गुणादिना च सादृश्यम्। तथा च ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वरूपसादृश्यम्। अपरिच्छिन्नज्ञानधर्मकत्वाद् गुणसादृश्यञ्च तत्त्वं नाम तद्भिन्नत्वे सति तद्‌गतभूयो धर्मवत्त्वम्। नियन्तृत्व-स्वातन्त्र्यवत्त्वाभावेन ब्रह्मभिन्नत्वे सति सार्वज्ञाद्यपहतपाप्मत्वादि भूयो ब्रह्मगतधर्मत्वात् लक्षणसमन्वयः।

तथा च विप्रतिपत्तिवाक्येभ्यो विचिकित्सा संशयो जायते। किमिति। मोक्षेऽधि-कृते मनुष्ये प्रेते = सर्वबन्धविनिर्मोक्षे तत्स्वरूपमस्ति, न वेति। तदपनोदाय मोक्षस्व-

रूपयाथात्म्यं त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्यां जानीयां, वराणामेष वरस्तृतीय इत्यर्थः। 'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' (१।४।६) इति ब्रह्मसूत्रभाष्ये श्रीश्रीनिवासाचार्यचरणैरस्य मन्त्रस्यार्थः संक्षेपेण विवृतस्तथाहि—तृतीयवरेण च परपुरुषार्थरूपपरमात्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्यस्वरूपप्रश्नमुखेन प्राप्यस्वरूपं प्राप्तृस्वरूपमुपायभूतोपासनस्वरूपं च पृष्टम्। अतो येये प्रेत इत्यस्य मुक्तस्वरूपप्रश्नपरत्वमेव न तु परलोकसम्बन्धि जीवात्मस्वरूपपरत्वम्। इतरथा—तस्यार्थस्य दुरधिगमत्वप्रदर्शनपुरःसरयोग्यतापरीक्षाया वैयर्थ्यं प्रसज्येत। प्रष्टुर्नचिकेतसोऽयमभिसन्धिः—परित्यक्तचरमदेहाविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणसम्पन्न आत्मा भवतीति यमवचनं निशम्य स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्तीत्यादिना मन्त्रद्वयेन मोक्षसाधनभूताग्निमप्राक्षम्। सम्प्रति मोक्षविषये वादिनां विप्रतिपत्तेः सत्त्वात् तद्विषये विमर्शो जायते। अयं स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्तीत्यादिना मयोपन्यस्तमपहतपाप्मत्वाद्यवच्छिन्न आत्माऽस्तीत्येके नास्त्यपरे। त्वयोपदिष्ट एतज्जानीयामिति। अत एव प्रतिवचने—'एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' (क.१।२।३) इत्येतत् प्रश्नानुगुण्यमेव दृश्यते। अतो यथोक्त एवार्थः साधीयान् ॥२०॥

सान्वयानुवाद—मनुष्ये प्रेते = आदमी के मरने पर, या इयं = जो यह, विचिकित्सा = ('विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरः) सन्देह होता है। एके अयम् अस्ति इति = एक कहता है कि यह है, एके अयं न अस्ति इति = दूसरा कहता है कि यह नहीं है, त्वया अनुशिष्टः अहम् एतत् विद्याम् = आपसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मैं इस विप्रतिपत्ति को ठीक-ठीक समझ लूँ, एषः वराणाम् = यह वरों में से, तृतीयः वरः = तीसरा वर है ॥२०॥

व्याख्या—मनुष्य के मरने के बाद कुछ लोग तो कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं—नहीं रहता। इस विषय में मुझको बड़ा संशय है, कृपा कर आप मुझे बतलाइये। दक्ष प्रजापति ने सृष्टि की वृद्धि के लिये हंसगुह्य स्तोत्र से भगवान् की स्तुति करते हुये कहा है—

'अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत्' ॥
(श्रीमद्भा.६।४।३२)

दो आदमी आपस में शास्त्रार्थ करने लगते हैं। आस्तिक कहता है कि—'मनुष्ये प्रेते' अर्थात् मरे हुए लोग रहते हैं और दूसरा नास्तिक कहता है कि नहीं रहते हैं। दोनों की युक्ति ईश्वर ही देते हैं। आस्तिक और नास्तिक के हृदय में ईश्वर ही बैठे हैं। वे सबके हृदय में सम हैं, पर हैं, सबके अनुकूल हैं और बृहत् = सर्वव्यापक विभु हैं। आपके द्वारा तत्त्वोपदेश पाकर मैं इन वादियों की विरुद्ध मतियों को भलीभाँति समझ लूँ। बस, तीनों वरों में से यही मेरा अभिलषित तीसरा वर है ॥२०॥

नचिकेता का यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराज इस प्रश्न का उत्तर देना नहीं

चाहते। वे नचिकेता को वचनों से प्रलोभित करते हैं पर बुद्धिमान् नचिकेता किसी भी प्रलोभन में नहीं फँसता। अब यहाँ से यम और नचिकेता के संवाद का उपक्रम होता है, उसे जरा पाठक एकाग्र चित्त से सुनें—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

एवमुक्तो नचिकेता आह–

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमुक्तो यमो मुक्तस्वरूपमतिगोप्यमतिगहनतया श्रोतुर्बुद्धिदार्ढ्याभावे न वक्तव्यमिति भावेन तद्बुद्धिपरीक्षणाय तस्य दुर्विज्ञेयत्वमाह—देवैरिति। हे नचिकेतः! पुरा = पूर्वमत्र मुक्तस्वरूपविषये देवैरपि, विचिकित्सितं = संशयितम्। कुतः? हि यस्मादेष धर्मः सुविज्ञेयो न। कुतः? यतोऽणुः सूक्ष्मो दुर्विज्ञेयः सामान्यधर्मस्य दुर्ज्ञेयत्वं सुतरामात्मतत्त्वस्य दुर्विज्ञेयत्वमिति भावः। तस्मादन्यं वरं वृणीष्व मा = मां मा उपरोत्सीः इदमेव वक्तव्यमित्युपरोधं मा कार्षीः, मा = मां प्रति एनं वरम् अतिसृज = विमुञ्चेत्यर्थः ॥२१॥

हे मृत्यो! त्वमेव यत् = यस्मात् देवैरपि अत्र विचिकित्सितं किलेति पुरावृत्तद्योतनार्थः। अत एव मुक्तात्मस्वरूपं सुविज्ञेयं न भवतीत्यात्थ। तस्मात्स एव वरो मया प्रार्थितो नान्यः। कुतः? इत्यत एतत्सादृश्याभावादित्याह—नान्य इति। अयमेव र अन्यस्मात् सम्पाद्यतामित्यत आह—वक्ता चेति। अस्य वरस्य वक्ता त्वादृक् = त्वादृशोऽन्यो न लभ्यः ॥२२॥

सान्वयानुवाद—नचिकेतः = हे नचिकेता! देवैः अत्र अपि पुरा विचिकित्सितं = देवों ने भी पहले इस मुक्तस्वरूप के विषय में सन्देह किया था। न हि सुविज्ञेयः = इसको ठीक-ठीक जानना-समझना आसान नहीं है। एषः धर्मः अणुः = यह धर्म अणु है। अन्यं वरं वृणीष्व = (इसलिये तुम हमसे और कोई) दूसरा वर माँग लो। मा मा उपरोत्सीः = मेरे ऊपर दबाव मत डालो। एनं मा अतिसृज = इस वर को छोड़ दो ॥२१॥

मृत्यो = हे मृत्यो! यमराज! देवैः अपि अत्र विचिकित्सितं = देवों ने भी इस मुक्तात्मस्वरूप के विषय में सन्देह किया था। न च सुविज्ञेयम् = इसलिये मुक्तात्माओं का स्वरूप सुविज्ञेय नहीं है। त्वं यत् आत्थ = आपने जो कहा, (वह तो बिल्कुल ठीक कहा) अस्य वक्ता = इस विषय का उपदेष्टा, त्वादृक् = आपके जैसा अन्य, न च लभ्यः = नहीं मिल सकता, एतस्य तुल्यः कश्चित् अन्यः वरः न = इसके समान कोई दूसरा वर नहीं है ॥२२॥

व्याख्या—'नैनद् देवा आप्नुवन्' (ईशावास्योपनिषत्), 'न यस्य देवा ऋषयः पदं

विदुः' (श्रीमद्भागवतम् ८।३।६), 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोपनिषत्), 'परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्' (श्रीमद्भागवतम् २।२।१८), 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः' (गीता १०।२)। देवगण इसको प्राप्त नहीं कर सके। जिस पद को देवगण एवं ऋषिगण नहीं जान सके उस परम पद को वैष्णवपद कहते हैं। समस्त वेद जिस परम पद का प्रतिपादन करते हैं। मेरे प्रभव को देवगण और महर्षिगण नहीं जानते हैं।

यमराज ने कहा--हे नचिकेता! प्राचीन समय में अनेक बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों ने इस अतिगोपनीय मुक्तात्माओं के स्वरूप की खोज करने का प्रयत्न किया था, पर वे भी इस मुक्तस्वरूप को नहीं जान सके। वे आपस में संशययुक्त हो गये। क्योंकि यह धर्म सुविज्ञेय नहीं है। यह सुखपूर्वक विशेष रूप से जानने योग्य नहीं है। यह धर्म अणु है अर्थात् सूक्ष्म है, दुर्विज्ञेय है। इसलिये यमराज नचिकेता से कहते हैं—तुम कोई दूसरा वर माँगो। मैं तुम्हे पहले तीन वर देने का वचन दे चुका हूँ। दूसरी बात महात्मा लोग सत्य से विचलित नहीं होते हैं। मेरे ऊपर व्यर्थ दबाव न डाल। एनं मा अतिसृज = इस वर को मेरे लिये छोड़ दो ॥२१॥

नचिकेता मुक्तात्मस्वरूप की दुर्ज्ञेयता तथा कठिनता की बात सुनकर तनिक भी घबराया नहीं। इस प्रकार यमराज का भाषण सुनकर बड़े धैर्य से मुक्तात्मस्वरूप को जानने की प्रार्थना करता है—हे मृत्यो! आपने जो यह कहा कि पूर्वकाल में देवगणों एवं बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने जब इस मुक्तात्मस्वरूप पर विचार-विमर्श किया था तब वे भी इसे जान नहीं पाये, उलटे उनकी बुद्धि चकरा गयी और वे आपस में संशयान्वित हो गये; यह बिल्कुल सत्य बात है। यह विषय सहज, सरल एवं सुकर भी नहीं है, बड़ा ही सूक्ष्म है। आपके समान सुयोग्य अनुभवी महात्मा-वक्ता के अतिरिक्त इसका उत्तर (जवाब) देने में समर्थ दूसरा कोई ढूँढ़ने पर भी मिलने वाला नहीं है। आप कहते हैं— 'एनं मा अतिसृज' लेकिन मैं कहता हूँ—'एतस्य तुल्य अन्यः कश्चित् वरं न' = इसके समान दूसरा कोई वर है ही नहीं। अतएव आप कृपाकर मुझे इसका उपदेश कीजिये ॥२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयञ्च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥
एततुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः ॥२५॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमुक्तो यमः सर्वात्मना विषयविरक्तस्यैव मोक्षशास्त्रेऽधिकार-श्रवणाद् अविरक्त-स्यैतादृशं मुक्तात्मस्वरूपं नोपदेष्टव्यमिति ज्ञापनाय नचिकेतसो मुमु-क्षास्थैर्यनिरीक्षणाय नानाविषयैस्तं प्रलोभयति—शतं वर्षाण्यायूंषि येषां ते शतायुषः तान् पुत्रपौत्रान् वृणीष्व। बहून् पशून् गोमहिष्यादिरूपान् हस्तिहिरण्यञ्च हस्तिहिरण्यमिति द्वन्द्वैकवद्भावः। अश्वान् भूमेर्महदायतनञ्च पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनं मण्डलं राज्याधि-पत्यं वृणीष्व। न केवलं पुत्रपौत्राणां शतायुष्ट्वम्, किन्तु त्वञ्च यावज्जीवितुमिच्छसि तावतीः शरदो जीव। सर्वञ्चैतद् अनर्थकं स्वयञ्चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयञ्चेति ॥२३॥

त्वदीयं वरमेततुल्यमेतस्य मया दीयमानस्य समं यदि मन्यसे, तर्हि दीयमानां वित्तं चिरजीविकाञ्च दीर्घजीवनहेतुक्षेत्रं दीर्घजीवनं वा उक्तोपलक्षणमेतत् वृणीष्व। न चेद-मन्यदपि दास्यामीत्याह—महाभूमाविति। हे नचिकेतः! त्वं महाभूमौ निमित्तसप्तमीयम्, महाराज्याधिपत्ये सतीति यावत्। एधि = अभिवृद्धो भव। त्वां कामानां = काम्यानां मध्ये कामितभाजं करोमीत्यर्थः ॥२४॥

एतदेव विवृणोति—ये य इति। कामाः = काम्याः, छन्दतः = इच्छानुसारेण। तानेव विशिष्याह—इमा इति। रथेन सह वर्त्तमाना इति सरथाः। सतूर्याः सवादित्रा इमा रूपादि गुणवतीः। मल्लोकस्था वा रामाः = रमणीयाः स्त्रियः प्रार्थयस्व। तासु विशेष-माह—न हीदृशा इति। तर्ह्येतादृशीभिः किं मे प्रयोजनमित्यत आह—आभिरिति। मत्प्रत्ताभिः = मद्दत्ताभिराभिः स्त्रीभिः परिचारयस्व। स्वनृत्यगानादिनाऽऽत्मनः परिचर्यां कारय। मरणमनुमरणान्मुक्तेः पश्चान्मुक्तात्मस्वरूपमिति यावत् माऽनुप्राक्षीः ॥२५॥

सान्वयानुवाद—यमराज इस समय मोक्ष में इच्छा रखने वाले नचिकेता को नाना विषयों से प्रलोभित करते हुए प्रलोभनों के द्वारा 'प्रेते मनुष्ये'—इस वर से हटाना चाहते हैं—शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व = सौ-सौ सालों की अवस्था वाले पुत्रों और पौत्रों = पोतों को (पुत्र का बेटा) माँग, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान् = बहुत-से पशु हाथी, सोना और घोड़ों को, भूमेः महत् आयतनं वृणीष्व = भूमि के बड़े स्थान को माँग लो, स्वयं च यावत् शरदः इच्छसि जीव = और तुम स्वयं भी जितने सालों तक चाहो जीते रहो ॥२३॥

'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः।

नचिकेतः = हे नचिकेता! एतत् तुल्यं वरम् = इसके समान वर, यदि त्वं मन्य-से = अगर तुम मानते हो, वृणीष्व = माँग लो, वित्तं चिरजीविकां च = चिर काल की जीविका - दीर्घ आयुष्य और धन-सम्पत्ति, महाभूमौ एधि = इस महान् भारतवर्ष में तुम वृद्धि को प्राप्त करो, त्वा कामानां कामभाजं करोमि = तुम्हें हर तरह के विषय-भोगों का अनुतम भोगी बनाकर विषयों को भोगने वाला बना देता हूँ ॥२४॥

ये ये कामाः = जो-जो इच्छाविषयीभूत पदार्थ, मर्त्यलोके = मृत्युलोक में, दुर्लभाः = दुर्लभ हैं, सर्वान् कामान् = उन सारे विषय-भोगों को, छन्दतः प्रार्थयस्व = इच्छानुसार माँग लो, सरथाः सतूर्याः इमा रामाः = रथों के साथ नाना प्रकार के बाजों सहित इन सुन्दरी स्त्रियों को भोगने के लिये ले जाओ, मनुष्यैः ईदृशाः न हि लम्भ-नीयाः = मनुष्यों को ये ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ निस्सन्देह अलभ्य हैं, मत्प्रत्ताभिः आभिः

परिचारयस्व = मेरे द्वारा दी हुई इन स्त्रियों से तुम अपनी परिचर्या कराओ, नचिकेतः = हे नचिकेता ! मरणं मा अनुप्राक्षीः = मरने के बाद मनुष्य, 'येयं प्रेते'— 'यह रहता है और यह नहीं रहता है' इस बात को मत पूछो ॥२५॥

व्याख्या—जब 'प्र' उपसर्ग जोड़कर 'इण् गतौ' धातु का प्रयोग करते हैं तब उसका अर्थ मरना हो जाता है। प्रेत = इस लोक से गया। प्रकर्षेण इतः = गतः, परलोकं प्राप्तः प्रेतः। परन्तु यहाँ वाचयामास अर्थ नहीं है। इसका अर्थ है—मनुष्य का शरीर नष्ट होने पर वह सभी बन्धनों से छुटकारा पाकर कहाँ जाता है ? उसका स्वरूप रहता है या नहीं ? यमराज नचिकेता से कहते हैं—हे नचिकेता ! तुम इस वर को लेकर क्या करोगे ? तुम इन वस्तुओं को ग्रहण करो। इन सौ-सौ साल जीने वाले पुत्र-पौत्रों (पोतों), बहुत-से उपयोगी पशु–गायों, हाथी, घोड़े, सुवर्ण, रत्न, भूमि का बड़ा स्थान और भी तुम्हें जो कुछ चाहिये हमसे माँग लो। इन सब विषयों को भोगने के लिये जितने सालों तक जीने की इच्छा हो, उतने ही सालों तक जीते रहो ॥२३॥

नचिकेता ! यदि तुम अधिक धन-सम्पत्ति, ज्यादे दिनों तक जीने के लिए तदुपयोगी वस्तुएँ, विषयसुख-सामग्रियाँ और भी जितने भोग भोगी आदमी भोग सकता है उन सबको मिलाकर इस मुक्तात्मस्वरूप विषयक वर के समान मानते हो तो इन सबको माँग लो। तुम इस विशाल भूमि में वृद्धि प्राप्त करो। मैं तुम्हें इन सब विषय-भोगों को इच्छानुसार भोगने वाला बड़ा भोगी बनाये देता हूँ ॥२४॥

जो-जो इच्छाविषयीभूत पदार्थ मर्त्यलोक में दुर्लभ हैं उन सबको तुम अपने इच्छानुसार माँग लो। ये बहुविध वाद्यों सहित रथों तथा स्वर्ग की सुन्दरी स्त्रियाँ हैं, ये ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ–अप्सराएँ मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते। मैं कहता हूँ कि तुम इन्हें ले जाओ, इन सबको बड़े प्रेम से तुमको भेंट कर रहा हूँ और इनसे अपनी सेवा-शुश्रूषा कराओ। नचिकेता ! मुक्तात्मस्वरूपविषयक प्रश्न मत पूछो ॥२५॥

श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता शतायुष इत्यादेरुत्तरमाह—हे अन्तक ! **मर्त्यस्य** = मरणशीलस्य पुरुषस्य यत् एतत् ये एते पुत्रपौत्रपश्वादयः ते श्व अभावः, श्वोऽपि न विद्यते भावः सत्ता येषां ते श्वोऽभावाः क्षिप्रविनाशा इति यावत्, केवलमेतावत् किन्तु स्वसद्भावदशायाञ्च सर्वेन्द्रियाणां तेजः = सामर्थ्यं स्ववृद्धिक्षय-चिन्तया जरयन्ति च तस्मान्न ते मया प्रार्थ्याः।

स्वयञ्च जीव शरदो यावदिच्छसीत्यस्योत्तरमाह—अपि सर्वमिति। सर्वमतिजीवितं ब्रह्मकल्पपर्यन्तं जीवनमप्यल्पमेव, तस्यापि पर्यवसानं स्यात्। निरवधिकजीवनस्य

मोक्षादन्यत्राभावात्। तस्मात्तदपि न प्रार्थये। इमा रामा: सरथा: सतूर्या इत्यादेरुत्तरमाह— तवैवेति। वाहा रथास्तवैव तिष्ठन्तु ॥२६॥

महावित्ते लब्धेऽपि मनुष्यस्य तृप्त्यदर्शनात्। यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्यात् लप्स्यामहे = प्राप्स्यामहे। चेत् यदि त्वाम् अद्राक्ष्म = दृष्टवन्तो वयं त्वद्दर्शनमात्रेण वित्तलाभो भविष्यतीति न पृथक् प्रार्थनीयमिति भाव:। जीवनमपि न पृथक् प्रार्थनीयं तस्य त्वदधीनत्वादित्याह—जीविष्याम इति। त्वं यावदीशिष्यसि तावज्जीविष्यामोऽतो नायं वरो वरणीय:। किन्तु मे = मया वरणीयस्तु वर: स एव य: प्राक् प्रार्थित: ॥२७॥

सान्वयानुवाद—अन्तक = हे मृत्यो ! श्वोऽभावा: = जो कल नहीं रहेगा नाशवान् पदार्थ, मर्त्यस्य = मरणधर्मा जीव के, सर्वेन्द्रियाणाम् = सारी इन्द्रियों का, यत् तेज: = जो तेज, एतत् जरयन्ति = उसको जीर्ण या क्षीण कर डालते हैं, अपि सर्वम् = और सब, जीवितम् अल्पम् एव = जीता हुआ थोड़ा ही है, तव वाहा: तव एव = (इसलिये) आप ही अपने घोड़े-वाहन इत्यादि, नृत्यगीते = अप्सराओं के नाच-गान अपने पास रखे रहें (मुझे नहीं चाहिये) ॥२६॥

मनुष्य: वित्तेन तर्पणीय: न = आदमी धन से तृप्त नहीं हो सकता, चेत् त्वा अद्राक्ष्म वित्तं लप्स्यामहे = यदि आपके दर्शन प्राप्त कर लिये हैं तब तो हम धन को भी प्राप्त कर ही लेंगे, यावत् ईशिष्यसि = आप जब तक प्राणियों का संहार करते रहेंगे तब तक, जीविष्याम: = हम जीते ही रहेंगे, मे = मेरे, वरणीय: वर: = माँगने लायक वर, तु = तो, स: एव = (मुक्तात्मस्वरूप विषयक) वही है ॥२७॥

व्याख्या—हे अन्तक ! मरणशील पुरुष के ये पुत्र-पौत्र, पशु इत्यादि सभी क्षणभङ्गुर-नाशवान् हैं। इनकी सत्ता कल तक भी नहीं रहेंगी, ऐसे जल्दी विनाश होने वाले पदार्थ हमें नहीं चाहिये। केवल इतना ही नहीं किन्तु अपनी सद्भाव दशा में सम्पूर्ण इन्द्रियों के सामर्थ्य को स्वकीय वृद्धि-क्षय चिन्तन से जीर्ण या क्षीण कर डालते हैं। इसलिये वे रथो, वाद्यों और सुन्दरी रमणियाँ मेरे लिए प्रार्थनीय नहीं हैं। आपने जो ब्रह्म कल्प पर्यन्त दीर्घ जीवन देना चाहा है वह भी थोड़ा ही है। ब्रह्मा का भी पर्यवसान होता है। निरवधिक जीवन का सुख मोक्ष में ही मिलता है, मोक्ष से अन्यत्र नहीं है। सबको लाँघकर जीता हुआ ब्रह्मा के कल्प तक का जीवन भी मुझे नहीं चाहिये। अतएव हम उसे भी नहीं चाहते। ये आपके रथ, हाथी, घोड़े, सोना-चाँदी, सुन्दरी स्त्रियाँ तथा इनके मधुर-मधुर नाच-गान, मुस्कान, चितवन, चलना, हँसना आदि आप अपने ही पास रखे रहें मुझे नहीं चाहिये ॥२६॥

हे भगवन् ! आप जानते ही हैं—मनुष्य धन से कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। इस संसार में जितना धन-धान्य हैं, सोना हैं, चाँदी हैं, स्त्री है, पशु है वे सब-के-सब मनुष्य को प्रसन्न या तृप्त करने में समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि काम मनुष्य को बार-बार घायल करता रहता है। विषय-भोग के द्वारा कामना की शान्ति कभी नहीं होती— 'न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' ॥

(भा.९।१९।१४) आग में जितनी भी आहुति डालिये, आग उतनी ही बढ़ती जाती है। इसी तरह इन्द्रियों को जितना भी विषय-भोग दिया जाये उतनी ही ये बढ़ती हैं। हे प्रभो ! मुझे जब योग-क्षेम का प्रयोजन होगा तब आपके दर्शन मात्र से ही अपने-आप प्राप्त हो जायेगा। रही लम्बी आयु (अवस्था) की बात, तो जब तक प्राणियों के संहार रूप पद पर आपका शासन है, तब तक मुझे मरने का भी डर क्यों होने लगेगा ? अर्थात् डर नहीं लगेगा। मैं जीता ही रहूँगा। इसलिये मेरा प्रार्थनीय तो वह मुक्तात्मस्वरूपविषयक वर ही है, जो पहले आवेदन किया था। मैं उसे लौटा नहीं सकता ॥२७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदाननतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

इति कठोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली ॥१-१॥

तत्त्वप्रकाशिका—अजीर्यतां = वयोहानिमप्राप्नुवतां जन्ममृत्युरहितानाम्। अत एव अमृतानां = मुक्तानाम्, उपेत्य = स्वरूपं ज्ञात्वा, प्रजानन् = आत्मानात्मवस्तुविवेकसम्पन्नः, जीर्यन् मर्त्यः = जरामरणवान्। तदास्थः = तेषु जरामरणाद्युपप्लुतेषु पुत्रादिष्वास्था स्थितिः तात्पर्येण वर्त्तनं यस्य स तदास्थः। ततोऽधिकतरं परमपुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्राप्तुमिच्छुः क्व तदास्थो भवेत्। न कथमपीत्यर्थः। यस्मादहं विवेकादिसम्पन्नः तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहमिति भावः। तत्रत्यान् वर्णरतिप्रमोदान्—वर्णाः = आदित्यवर्णत्वादिरूपविशेषाः, रतिप्रमोदाः = ब्रह्मभोगादिजनितानन्दविशेषाः, तान् सर्वान् अभिध्यायन् = निपुणतया निरूपयन्, अनतिदीर्घजीविते = अत्यल्प ऐहिके जीविते को विवेकी रमेत। न कोऽपीत्यर्थः ॥२८॥

प्रागुक्तमेव निर्धारयति—यस्मिन्निति। हे मृत्यो ! महति साम्पराये यस्मिन् मुक्तौ मुक्तस्यात्मस्वरूपमिदं कीदृशमस्ति न वेति। विचिकित्सन्ति = संशयं कुर्वन्ति तत् मुक्तस्वरूपमेव नो ब्रूहीति योजना। श्रुतिः स्वयमाह—य इति। योऽयं वरो गूढमात्मतत्त्वमनुप्रविष्टः प्राप्तस्तमेव नचिकेता वृणीते न तस्मादन्यमित्यर्थः ॥२९॥

इति कठोपनिषदि तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमाध्याये
प्रथमा वल्ली ॥१-१॥

सान्वयानुवाद—अजीर्यतां = जरा-मरणादि से रहित जन्म, अमृतानां = श्रीभगवद्भावापन्न महात्माओं के, उपेत्य = स्वरूप को जानकर, प्रजानन् = आत्म-अनात्म वस्तु विवेकसम्पन्न, क्व जीर्यन् मर्त्यः = कौन जरा-मरणवान् मनुष्य, तदास्थः = पुत्र-पौत्र इत्यादि, पशु-हाथी, घोड़े इत्यादि, सोने-चाँदी एवं महाभूमि में निष्ठा रखेगा, वर्णरतिप्रमोदान् = स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीडा, आमोद-प्रमोद, हाव-भाव, प्रेम-हास, विलास-चेष्टा एवं कटाक्ष आदि का; अभिध्यायन् = बार-बार ध्यान (चिन्तन) करता

ना, अनतिदीर्घे = बहुत थोड़ा, कः जीविते रमेत = कौन विवेकी जीवित रहने में
ण करेगा अर्थात् नहीं करेगा ॥२९॥

मृत्यो = हे यम !, यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति = जिसमें यह संशय करते हैं,
नुष्य सारे बन्धनों से छूटकारा पाकर (स्थूलकाय त्यागने के बाद) रहता है या नहीं।
त् महति साम्पराये तत् नः ब्रूहि = जो महान् साम्पराय (परलोकसम्बन्धी प्राप्ति) के
षय में है वह हमसे कहिये, यः अयं गूढं अनुप्रविष्टः वरः = जो यह गूढ अनुप्रविष्ट
र है, तस्मात् अन्यं वरं नचिकेताः न वृणीते = उससे भिन्न किसी दूसरे वर को
चिकेता नहीं माँगता ॥२९॥

व्याख्या—हे यमराज ! आप ही ठीक तरह विचार करके हमें बतलाइये—
आपके सदृश जन्म-जरा-मरणादि से शून्य श्रीभगवद्भावापन्न महात्मा (ब्रह्मा, नारद,
शिव, सनत्कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, वैयासकि एवं आप) के
दर्शन दुर्लभ सन्मार्ग एवं अमोघ सत्सङ्ग प्राप्त करके मृत्युलोक का जरा-मरणवान् ऐसा
कौन विवेकी मानव होगा जो उन सौ-सौ सालों की अवस्था वाले बच्चों-पोतों, बहुत-
से गाय आदि पशुओं, हाथी, घोड़े, सोना-चाँदी इत्यादि विषयों में आस्था तथा स्त्रियों
के सौन्दर्य, मुस्कान, चितवन, चाल, हास, हाव-भाव-कटाक्ष और आमोद में आसक्त
होकर इन्द्रियों के चक्कर में पड़कर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोक में थोड़े
समय तक जिन्दा रहने में आनन्द मानेगा ॥२८॥ नचिकेता कहता है—हे अन्तक !
जिस मुक्तात्मस्वरूप सम्बन्धी महान् साम्पराय (परलोकसम्बन्धी प्राप्ति) के विषय में
लोग संशय करते हैं कि—शरीर मर जाने के बाद उसमें जो चैतन्य है, उसका अस्तित्व
रहता है या नहीं, उसके सम्बन्ध में कृपाकर आप वह विप्रतिपत्ति हमें बतलावें। यह जो
मुक्तात्मस्वरूपविषयक प्रकृत वर है वह गुप्त है और सबके हृदय में प्रविष्ट है। जैसे कि
रूपादि विषय चक्षुरादि इन्द्रियों को नहीं जान पाते तद्वत्। उससे भिन्न और कोई वर
नचिकेता नहीं चाहता है। यह श्रुति का कथन है ॥२९॥

प्रथमाध्याय में प्रथम वल्ली समाप्त ॥१-१॥

•

अथ प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषः सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं नचिकेतसो विषयाभिलाषराहित्यादयं ब्रह्मविद्यायोग्य इति
भावेन विषयकामनायुक्तस्य तद्रहितस्य च स्वरूपं निरूपयति—अत्र श्रेय इति ब्रह्म-
विद्योच्यते, निःश्रेयसः साधनत्वात्। प्रेय इति प्रीतिविषयं पुत्रादिकाम्यमुच्यते। उत-
शब्दश्च शब्दार्थः। एवशब्दोऽवधारणार्थः। श्रेयोऽन्यद् विलक्षणमेव प्रेयस इति शेषः।
प्रेयश्च श्रेयसोऽन्यदेव। कथं श्रेयःप्रेयसोः परस्परं वैलक्षण्यमित्यत आह—त उभे इति।

ते उभे = श्रेय:प्रेयसी नानार्थे = भिन्नप्रयोजने मोक्षतदितराख्यविलक्षणप्रयोजनविषये, पुरुषं = जीवं, सिनीत: = बध्नीत: । षिञ् बन्धने धातु: । किन्ततस्तदुभयमाददानस्य फलमाह—तयोरिति । तयो: = श्रेय:प्रेयसोर्मध्ये य: पुरुष: श्रेय एवादत्ते साधु = भद्रं मोक्षाख्यं भवति । य उ यश्च प्रेय एव वृणीते स अर्थात् मोक्षाख्यप्रयोजनात् हीयते = हीनो भवति ॥१॥

सान्वयानुवाद—श्रेय: अन्यत् = श्रेय अर्थात् ब्रह्मविद्या, नि:श्रेय का साधन भिन्न है, उत प्रेय: अन्यत् एव = प्रीति का विषय पुत्रादि इच्छाविषयीभूत भोग्य पदार्थ उससे अलग ही है, ते उभे = वे दोनों (श्रेय और प्रेय), नानार्थे पुरुषं सिनीत: = भिन्न प्रयोजन में पुरुष को बाँधते हैं । तयो: = उन दोनों में से, य: = जो, श्रेय: = ब्रह्मविद्या को चाहता है उसका, साधु = मोक्षाख्य फल लाभ होता है, प्रेय: आददानस्य = विषय-भोग को ग्रहण करने वाले का, हीयते = सब-का-सब हीन हो जाता है, वृणीते = क्योंकि वह असत् (तुच्छ) सांसारिक विषय-भोग को माँगता है ॥१॥

व्याख्या—इस संसार में श्रेय और प्रेय ये दो पदार्थ हैं । 'श्रेय' उसको कहते हैं जिस विद्या के द्वारा सब तरह के दु:खों से सर्वथा छूटकर सर्वनियन्ता आनन्दमय परमात्मा श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के उपाय किये जाते हैं । प्रेय—विषयों का भोग अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति, मकान, नाम, यश-प्रतिष्ठा-सम्मान एवं प्राकृत हर तरह के सुखभोग की सामग्रियों को प्रेय शब्द से सम्बोधित किया जाता है । इसी तरह अपने-अपने ढंग से मनुष्य को सुख पहुँचा सकने वाले ये दोनों साधन आदमी को बाँधते हैं । उसे अपनी-अपनी ओर खींचते रहते हैं । प्रेय वस्तु को चाहने वाला कभी भगवदुपासक नहीं हो सकता । अधिकांश लोग तो प्रीति का विषय (पुत्रादि) भोगों में प्रत्यक्ष और तुरन्त सुख को प्राप्त करते हैं । उसका परिणाम सोचे-समझे बिना ही प्रेय की ओर जो खिंच जाते हैं वे कुमनीषी हैं । लेकिन जो ज्ञानवान् एवं दयावान् पुरुष हैं वे इन प्राकृत विषयभोगों की आपातरमणीयता एवं परिणामदु:खता का रहस्य जानकर उनसे डरकर विरक्त होकर छूटने के लिये ही श्रेय की ओर आकर्षित होते हैं । उन दोनों को ग्रहण करने वाले का फल बतलाते हैं—

श्रेय और प्रेय इन दोनों के बीच में जो पुरुष श्रेय को ही अङ्गीकार करता है उसको मोक्षाख्य फल मिलता है और जो प्रेय को ही स्वीकार करता है वह मोक्षाख्य प्रयोजन से हीन हो जाता है ।

जो पुरुष समस्त कामनाओं का परित्याग कर स्पृहाशून्य, ममतारहित एवं निरहङ्कार होकर विचरण करता है अर्थात् जीवन यात्रा का निर्वाह करता है वह पुरुष शान्ति को प्राप्त करता है (गीता २।७१) । जो भगवत्प्रपन्न ऐकान्तिक उपासक होते हैं वे परमात्मा से कुछ नहीं चाहते हैं, यहाँ तक कि मुक्ति भी नहीं माँगते हैं । (श्रीमद्भा.८।३।२०)

जो सर्वेश्वरेश्वर दुराराध्य भगवान् विष्णु की सम्यक् आराधना कर उनसे

मनोग्राह्य—काम्य भोग्य विषय माँगता है वह कुमनीषी है। क्योंकि वह विषय-भोग असत् है, तुच्छ है। (श्रीमद्भा.१०।४८।११)

श्रेयश्च प्रेयश्च मनष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—तदेव विशदमाह—श्रेयश्च प्रेयश्चेत्येतौ मनुष्यमेतः = प्राप्नुतः। तदा धीरः बुद्धिमान् पुमान् तौ प्राप्तौ श्रेयः प्रेयो रूपार्थौ सम्परीत्य = सम्यक् ज्ञात्वा, विविनक्ति = विवेचयति। हंसो यथाऽम्भसः सकाशात् क्षीरं विविच्य भुङ्क्ते। तथा प्रेयसः सकाशाद् विविच्य = ज्ञात्वा बुद्धिमान् पुरुषः श्रेय उपादत्त इति भावः। एवं विवेकान्तरं धीरः प्रेयसः प्रेयः परित्याज्य श्रेय एव वृणीते। यस्तु मन्दः = अल्पबुद्धिः विवेकासामर्थ्यात् योगक्षेमात्मकं प्रेय एव वृणीते। अलभ्यलाभो योगः। योगस्य प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः ॥२॥

सान्वयानुवाद—श्रेयः च प्रेयः च मनुष्यं एतः = श्रेय और प्रेय ये दोनों वस्तुएँ मनुष्य के पास आती हैं। धीरः तौ सम्परीत्य विविनक्ति = बुद्धिमान् पुरुष उन दोनों वस्तुओं को भलीभाँति जानकर विवेचन करता है। धीरः श्रेयः हि प्रेयसः अभिवृणीते = विवेकी पुरुष श्रेय को ही प्रेय से अधिक आदर करता है, अतः वह श्रेय वस्तु को ही चाहता है। मन्दः योगक्षेमात् प्रेयः वृणीते = अल्पबुद्धिवाला मनुष्य योगक्षेम चलाने के हेतु से प्रेय को ही माँगता है ॥२॥

व्याख्या—यमुनाभ्राता यम कहते हैं—नचिकेता! श्रेय और प्रेय ये दो पदार्थ मनुष्य के सन्मुख आते हैं। तब धीर बुद्धिमान् पुरुष उन दोनों मिले हुए श्रेयरूप और प्रेयरूप पदार्थों पर ठीक तरह से विचार करके दोनों को अलग-अलग कर निर्मल चित्त से जानने की चेष्टा करता है। जैसे हंस पानी से दूध को अलग कर पी जाता है, वैसे ही विद्वान् प्रेय से श्रेय को अनुत्तम समझकर श्रेय को ही ग्रहण करता है और प्रेय का परित्याग कर देता है। जो अल्प बुद्धि वाला मनुष्य है वह विवेकशील न होने के कारण जीवनयात्रा निर्वाह के लिए प्रेय को ही स्वीकार करता है। अलभ्य वस्तु की प्राप्ति को योग कहते हैं। प्राप्त वस्तु की रक्षा करना क्षेम कहलाता है। श्रेय और प्रेय इन दोनों में से श्रेय ग्रहण करने वाले मानव का प्रभूत कल्याण साधित होता है और प्रेय ग्रहण करने वाला अपने दुर्लभ मानव जन्म के ध्येय से बारम्बार संसार रूपी कूप में गिरता है अर्थात् प्रेय के पीछे पड़ने वाला मनुष्य कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'। (गीता ०२।७०)

इसलिये विवेकी मनुष्य प्रेय का अनादर करके श्रेय को ही स्वीकार करते हैं और अपने जीवन को सफल बनाते हैं।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—यत्प्रशंसार्थमेतदुक्तं तमिदानीं प्रशंसति—हे नचिकेतः! स

मया प्रलोभितोऽपि प्रियान् तत्र हेतुः प्रियरूपान् मनोहररूपान् कामान् काम्यान् मया दत्तानपि अभिध्यायन् चिन्तयन् तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान् अत्यस्राक्षीरतिसृष्टवानसि = परित्यक्तवानसि। एतां मया दत्तां वित्तमयीं सृङ्कां शृङ्खलां नैवाप्तः। यद्यन्येऽपि नैवाप्तास्तर्हि को विशेषोऽस्येत्यत आह—यस्यामिति। यस्यां वित्तमयी शृङ्खलायां बहवो मनुष्या मज्जन्ति तथा शृङ्खलया आत्मानं बध्नन्तीत्यर्थः ॥३॥

सान्वयानुवाद—नचिकेतः = हे नचिकेता! सः = मेरे द्वारा वरों से प्रलोभित किये जाने पर भी, त्वम् अभिध्यायन् = तूने अच्छी तरह विचार करके, प्रियान् = प्रिय लगने वाले, च = और, प्रियरूपान् = अत्यन्त सुन्दर मनोहर रूपवाले, कामान् = इच्छाविषयीभूत पदार्थ अर्थात् प्रिय और प्यारे दीखने वाले भोगों को, अत्यस्राक्षीः = छोड़ दिया है, एतां वित्तमयीं सृङ्कां = इस सम्पत्तिमयी शृङ्खला (बेड़ी) को, न अवाप्तः = नहीं प्राप्त हुये, यस्यां बहवः मनुष्याः मज्जन्ति = जिसमें बहुत-से लोग बँध जाते हैं ॥३॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—हे नचिकेता! मैंने भोग सम्बन्धी वरों से तुमको प्रलोभित किया परन्तु तुमने उनको स्वीकार नहीं किया। तुम बड़े ही बुद्धिमान्, आत्म-अनात्म वस्तु विवेकसम्पन्न विवेकी तथा वैराग्य से सम्पन्न हो।

मैंने बड़ी ही लुभावनी भाषा में तुम्हें बारम्बार पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, गौएँ, स्वर्ण-चाँदी, धन-सम्पत्ति, विशाल भूमि इत्यादि बहुत-से पदार्थ एवं दुष्प्राप्य और लोभनीय विषयभोगों का प्रलोभन दिया; इतना ही नहीं, स्वर्ग के दिव्य भोगों—सुन्दरी स्त्रियों के साथ चिरकालीन स्त्रीसङ्ग भोगसुख का लालच दिया, लेकिन तुमने सहज ही उन सबकी उपेक्षा कर दी।

तुमने प्रेय का परित्याग कर श्रेय को ग्रहण किया, अतः तुम अवश्य ही भगवत्तत्त्व का श्रवण करने के सर्वोत्तम अधिकारी हो। इससे तुम्हारे इस दुर्लभ मनुष्य जन्म का कल्याण साधित होगा ॥३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—श्रेयःप्रेयसोः स्वरूपं निरूपयन् उभे नानार्थे इत्युक्तमेव विवृणोति—या प्रेयोरूपा अविद्या विद्याविरुद्धेति विज्ञाता। या च श्रेयोरूपा विद्येति विद्वद्भिः। ते एते श्रेयप्रेयसी। दूरं विपरीते अतिविरुद्धे। विरुद्धत्वमेव विवृणोति—विषूची इति। विरुद्धफलहेतुरित्यर्थः। तत्राहं नचिकेतसं विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनमेव मन्ये। विद्याभीप्सितमिति वा पाठ आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठान्तस्य परनिपातश्छान्दसत्वाद्वा। कुतः? त्वा = त्वां, बहवः कामा न लोलुपन्त = न लोलुपन्ति, न प्रलोभयन्तीति यावत् ॥४॥

सान्वयानुवाद—या अविद्या = जो अविद्या (अज्ञान), च विद्या इति ज्ञाता =

और विद्या (ज्ञान) नाम से प्रसिद्ध हैं, एते विपरीते विषूची दूरम् = ये दोनों विपरीत तथा भिन्न परिणामवाली हैं। नचिकेतसं विद्याभीप्सिनं मन्ये = मैं नचिकेता को अधिकारी विद्यार्थी मानता हूँ, क्योंकि त्वा बहवः कामाः न लोलुपन्त = तुझे बहुत-से भोग की कामनाओं-इच्छाओं ने भी नहीं ललचाया ॥४॥

व्याख्या—यमराज आगे वर्णन करते हैं—इस संसार में अविद्या और विद्या ये दो तरह के ज्ञान हैं। अविद्या वह ज्ञान है कि इस परिदृश्यमान जगत् में जो जागतिक विषयसुख को देने वाला भौतिक पदार्थ का ज्ञान है, इससे मनुष्यों को हर तरह का जागतिक सुख मिलता है। आज-कल की व्यावहारिक या सामाजिक भाषा में इसको 'विज्ञान' कहते हैं। जो कि यह अज्ञान है। इस विज्ञान से सब तरह के यहाँ के साधन-सुख-उपभोग मिल सकते हैं। गाड़ी, मोटर, हाथी, घोड़ा इत्यादि नाना प्रकार के यन्त्र और जो कुछ भी जागतिक सुख के साधन हैं उन सबको विज्ञान कहते हैं एवं मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। इसका नाम अविद्या है अर्थात् अनात्मविद्या है। विद्या वह है कि जिससे आत्म-परमात्म का ज्ञान होता है। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'। 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्'। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। इस आत्म-परमात्मस्वरूप का ज्ञान विद्या शब्द से विख्यात है। इसलिये विवेकी मनुष्यों को चाहिये कि वे सबसे पहले भलीभाँति विचार करके ही इनका ग्रहण करें। इन दोनों में से जो उनको पसन्द हो।

नचिकेता ने व्यावहारिक सब तरह के सुखोपभोगों को दुःखरूप समझकर उनका परित्याग कर दिया। हे नचिकेता! मैं मानता हूँ कि तुम आत्म-परमात्मविद्या के वास्तविक विद्यार्थी हो। क्योंकि बहुत-से बड़े-बड़े भोग भी तुम्हारे मन में यत्-किञ्चित् भी लोभ पैदा नहीं कर सकें ॥४॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—श्रेयःकाम एव श्रेष्ठ इति भावेन प्रेयः कामान् निन्दति—काम्यकर्मादिलक्षणमविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूते इव तमसि वर्त्तमानाः पुत्रपश्वादि-तृष्णापाशशतैः स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रदक्षाश्चेति मन्यमानाः, ते दन्द्रम्यमाणाः = वक्रगतयः, मूढाः = जरामरणभोगादिदुःखैः अविवेकिनः, परियन्ति = परिगच्छन्ति। ननु बहूनामेवं प्रवृत्तेः कथमियं प्रवृत्तिः स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—अन्धेनैवेति। अन्धेन = दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थ-मृच्छन्ति तद्वत् ॥५॥

सान्वयानुवाद—अविद्यायाम् अन्तरे वर्त्तमानाः = अविद्या के बीच में रहते हुये, स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः = अपने-अपको बड़े बुद्धिमान् पण्डित समझने वाले, मूढाः दन्द्रम्यमानाः परियन्ति = वे मूर्खलोग टेढ़े रास्ते में ही हमेशा ठोकरें खाते हुए भटकते रहते हैं। अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः = जैसे अन्धे मनुष्य के द्वारा ले

जाते हुए बहुत-से अन्धे किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदि से टकराकर हर तरह के बड़े दुःख भोगते हैं ।।५।।

व्याख्या—इस प्रकार अविद्या के बीच में अर्थात् जागतिक भोगसाधनों में फँसने वाले मनुष्य अपने-आपको बड़े वैज्ञानिक समझकर घमण्ड करते हैं। वे समझते हैं कि हम बड़ी-बड़ी ज्ञान-विज्ञान की वस्तुओं का आविष्कार करते हैं। परन्तु वे आत्म-परमात्मज्ञान की दृष्टि से गाँव के गँवार से भी अधम होते हैं। वे मूर्खलोग ठोकरें खाते हुये पशु, पक्षी, पतङ्ग इत्यादि बहुविध दुःखपूर्ण योनियों में भटकते रहते हैं। जैसे अन्धे पुरुष द्वारा ले जाते हुए अन्धे बीच में ही ठोकरें खाते हुए भटकते हैं और काँटें-कङ्कड़ों से बींध कर गहरे गड्ढे आदि में गिर जाते हैं ।।५।।

इसलिये श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

'दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृते चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्' ।।

इस लोक में जो कुछ भी देखा और सुना जाता है, उसको असद् समझकर न तो उसका चिन्तन करना चाहिये और न भोग करना चाहिये, क्योंकि यदि उसके चिन्तन और भोग में लग जायेंगे तो जन्म-जरा-मरण होते रहेंगे और आत्म-परमात्मज्ञान बिखर जायेगा। जो सुखोपभोग से विरक्त होता है वही आत्मज्ञानी होता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।६।।

तत्त्वप्रकाशिका—परे काले देहपतनाद् ऊर्ध्वं सम्यक् इयते गम्यते इति साम्परायः = परलोकः, बालम् = अविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति = न प्रकाशते। प्रमाद्यन्तं = पुत्रधनादिष्वासक्तमनसं, तथा वित्तमोहेन = वित्तनिमित्तेनाविवेकेन, मूढम् = तमसाच्छन्नं सन्तमयमेव लोकोऽस्ति परलोको नास्तीति मन्यमानः पुनः पुनर्जनित्वा वशं = मदधीनतामापद्यते ।।६।।

सान्वयानुवाद—वित्तमोहेन प्रमाद्यन्तं बालं मूढं = धन के मोह से प्रमाद करने वाले गाँव के गँवार से भी अधम मूर्ख को, साम्परायः न प्रतिभाति = परलोक नहीं सूझता, अयं लोकः परः नास्ति इति मानी = यह लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा मानने वाला मूर्ख, पुनः पुनः मे वशम् आपद्यते = बार-बार मेरे (यम के) वश में आता है ।।६।।

व्याख्या—शास्त्रकारों ने चार प्रकार की बातों को मद बढ़ाने वाली बताया है। एक तो उत्तम कुल में जन्म, दूसरी प्रभुता = हुकूमत, तीसरी विद्या और चौथी धन। 'जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्'। मनुष्यों में जब इन चारों चीजों का मद आ जाता है तब वे मूढता को प्राप्त होते हैं। उनको परलोक नहीं सूझता, भगवान् का नाम नहीं भाता। वे हमेशा नशे में रहते हैं। ये भोगी यही मानते हैं कि बस, यही एक लोक है,

परलोक नहीं है। इस प्रकार मानने वाले अभिमानी मनुष्य बारम्बार यमपाश में जकड़ जाते हैं। भूख-प्यास से व्याकुल, सूर्य और दावानल की गरम-गरम वायु से तपता हुआ तथा तपी हुई बालू के मार्ग पर विवश होकर चलना पड़ता है। नहीं चलने पर पीछे से कोड़ों की मार पड़ती है। उस मार्ग में न कहीं विश्रामस्थान है और न पीने को पानी मिलता है। इस प्रकार प्रमादी, पापी एवं अभिमानी पुरुष बड़े कष्ट से यमलोक पहुँचाया जाता है। वहाँ कर्मानुसार नरकों की यातना भोगकर फिर नीच योनियों में जन्म लेते हैं। यमराज के दूत हाथ में पाश लेकर जब मनुष्यों को लेने जाते हैं तो यमराज धीरे से बुलाकर उनके कान में कहते हैं कि जहाँ भगवन्नाम का संकीर्तन होता हो, भगवान् की सुमधुर लीलाकथा में मनुष्य मग्न हो वहाँ भूलकर भी मत जाना और न उन्हें मेरे यहा यहाँ लाना।

'जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्' ॥

जिनकी जिह्वा कभी भगवान् का गुणगान नहीं करती, न भगवान् के मङ्गलमय नाम का उच्चारण करती है और न जिनका चित्त कभी भगवान् के चरणारविन्द का स्मरण करता है, जिनके मस्तक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल में कभी नहीं झुकते तथा जिन्होंने कभी भगवान् श्रीकृष्ण के पूजन आदि कृत्य नहीं किये ऐसे दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषों को मेरे समीप लाना (श्रीमद्भा. ६।४।२९) ॥६॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः प्राणिनां मध्ये बहूनां प्राणिनां भगवद्विषयकश्रवणमपि नास्ति। अस्ति केषाञ्चिच्छ्रवणं तथाऽपि न साम्परायः। तेषां यथार्थतः प्रतिभातीत्याह—शृण्वन्तोऽपीति। शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये आत्मानं न विद्युः = न विदन्ति। कुत इत्यतो वक्तृदौर्लभ्यादित्याह—आश्चर्य इति। कुशलेन गुरुणाऽनुशिष्टोऽस्य आत्मत्वस्य यथार्थतो ज्ञाता। ज्ञानानुसारेणास्य वक्ता आश्चर्यो दुर्लभः। कुशलोऽस्य लब्धा गुरूक्तप्रकारेण ज्ञाता श्रोतोऽपि आश्चर्य इति योजना ॥७॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, श्रवणाय = सुनने के लिये, अपि = भी, बहुभिः = बहुतों को, लभ्यः न = प्राप्त नहीं होता, शृण्वन्तः = सुनकर, अपि = भी, बहवः यं न विद्युः = बहुत-से लोग जिसको नहीं जानते, अस्य लब्धा = इसको प्राप्त करने वाला, कुशलः वक्ता आश्चर्यः = सही कहने वाला (भी) विरला है। कुशलानुशिष्टः ज्ञाता आश्चर्यः = कुशल गुरु से जिसे उपेदश मिला है। आश्चर्य है ॥७॥

व्याख्या—परमात्मतत्त्व की दुर्लभता बतलाने के लिए यमराज ने कहा—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'। सबसे पहले बताया

गया—परमात्मा की प्राप्ति में मुख्य साधन श्रद्धा—'आत्मा वा अरे श्रोतव्यः' = आत्मा का श्रवण करना चाहिये (बृहदारण्यक २।४।५)।

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' ॥

हजारों मनुष्यों के बीच में कोई एक मोक्ष के लिए यत्न करता है और उन यत्नशील सिद्धों के बीच में भी कोई एक मुझको तत्त्व से जानता है। (गीता ७।३)

आगे यमराज कहते हैं—'आश्चर्यो वक्ता आश्चर्यो ज्ञाता'। महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी ने परमात्मा को सर्वाश्चर्यमय बतलाया है—

'मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते'। (श्रीमद्भा.१।८।१६) जैसे हम सब भूत हैं, परमात्मा महाभूत हैं। हम सब पुरुष हैं, परमात्मा महापुरुष हैं। यहाँ मयट् प्रत्यय प्राचूर्यार्थ है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—सन्ति च शतशः विद्वद्गोष्ठिवरिष्ठा वेदान्तनिष्णाता बहवस्ते एवास्य वक्तारो भविष्यन्तीति कथं दुर्लभतेत्यत आह—न नरेणेति। अवरेण = हीनेन प्राकृतेन स्वपाण्डित्यख्यापनायाधीतवेदान्तेन, नरेण = देहात्माभिमानिना, एषः = आत्मा, प्रोक्तः = उपदिष्टः, सुविज्ञेयो न भवति = सुष्ठु सम्यक् विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो न हि भवतीत्यर्थः। कुतः? यस्माद् बहुधा चिन्त्यमानः। शून्यवादिव्यतिरिक्तवादिभिरस्तीति चिन्त्यमानस्तैर्नास्ति इति। चिन्त्यमानस्तत्रापि वादिनां विप्रतिपत्तयः सन्ति। तस्माद् विप्रतिपत्तिमता ह्युपदिष्ट आत्मा न लब्धुं शक्य इति भावः।

केनाचार्येणोपदिष्टो ज्ञातव्य इत्यत आह—अनन्यप्रोक्त इति। अनन्येन = भगवदेकमात्रनिष्ठेन निवृत्तिपथाधिरूढेन ब्रह्मसाक्षात्कारिणाऽऽचार्येण प्रोक्ते = उक्ते आत्मतत्त्वे गतिः पूर्वोक्तविकल्पविषयचिन्ता अत्र = आत्मनि नास्ति। यद्वा अनन्येनाचार्येणोपदिष्ट आत्मनि अत्र संसारे गतिः = गमनागमनं नास्ति। ननु येन केनाप्युपदिष्टेऽप्यात्मनि तर्कात्तन्निश्चयो भविष्यतीत्यत आह—अणीयानिति। तोऽणुप्रमाणादप्यणीयानात्माऽतस्तत्स्वरूपं न तर्कगोचरम् ॥८॥

सान्वयानुवाद—अवरेण नरेण प्रोक्ते = अनधिकारी मनुष्य के द्वारा उपदेश किये जाने पर, बहुधा चिन्त्यमानः = (और) उसके द्वारा बहुत प्रकार से चिन्तन किये जाने पर, (भी) एषः सुविज्ञेयः न = यह आत्मा—भगवत्तत्त्व सम्यक् ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अनन्यप्रोक्ते गतिः = अकिञ्चन सत्पुरुष के द्वारा उपदेश किये जाने पर भागवती गति की प्राप्ति होती है। अत्र नास्ति = फिर दुबारा इस संसार में आवागमन नहीं होता, हि अणुप्रमाणात् अतर्क्यम् = यह बिल्कुल सत्य है कि आत्मस्वरूप तर्क का विषय नहीं है, अणु प्रमाण से भी अतिशय अणु (सूक्ष्म) आत्मा है ॥८॥

व्याख्या—कोई गाँव के गँवार या आम्नायवादी, पण्डितम्मानी अर्थात् अपने-आप को बड़ा भारी विद्वान् मानने वाले ये मूर्ख लोग तथा तन्त्र इत्यादि का सहारा लेने वाले हीन जन लोग यदि शिष्यों को आत्मोपदेश देना शुरू कर दे तो सुविज्ञेय कदापि नहीं हो सकता। यदि निवृत्तिपथाधिरूढ ब्रह्मनिष्ठ जन आत्मोपदेश करे तो सद्गति मिलती है, जिस सद्गति को प्राप्त करने के बाद जहाँ से फिर दुबारा इस संसार में लौटना नहीं पड़ता।

'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः' ॥

(श्रीमद्भा.११।३।२१-२२)

इसलिये उत्तम श्रेय को जानने की इच्छा वाला अधिकारी गुरु की शरण में जाय। गुरु ऐसा हो कि शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म में निष्णात हो और उसमें उपशम = शान्तस्वभाव तथा निवृत्तिमार्गपरायणता भी होनी चाहिये। वहाँ गुरु को ही देवतात्मा समझकर और छल-कपट छोड़कर उसकी सेवा-शुश्रूषा करे। अधिकारी व्यक्ति ऐसे ही गुरु से भागवत धर्मों (भगवत्स्वरूपगुणादि) को सीखे। जिनसे परमात्मा भगवान् मुकुन्द बहुत प्रसन्न होते हैं।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वाङ्ङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—तदेव विवृणोति—अन्येन = ब्रह्मदर्शिनोपदिष्ट आत्मनि उत्पन्ना मतिर्नैषा तर्केण = स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीया = न परिणेयेति यावत्। अतस्तर्कनिष्णातेनाप्यात्मतत्त्वं स्वयं ज्ञातुं न शक्यते। हे प्रेष्ठ = प्रियतम! अन्येनाचार्येणोपदिष्टा मतिः सुज्ञानाय = मोक्षसाधनज्ञानाय भवति। का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्यत्राह—यां त्वमिति। यां मतिं त्वं मद्वरप्रदानेनापः = प्राप्तवानसि। सत्यावितथविषया धृतिर्यस्य स तथोक्तः। त्वं न चाल्पधैर्यवानसि। बत = इत्यनुकम्पायाम्। हे नचिकेतः! त्वादृक् = त्वत्सदृशः प्रष्टा (नोऽस्मभ्यं) भूयान्न = न भविष्यतीत्यर्थः॥९॥

सान्वयानुवाद—प्रेष्ठ = हे प्रियतम! एषा = यह, मतिः = बुद्धि, तर्केण = तर्क से, न आपनेया = नहीं मिल सकती। अन्येन = भगवत्तत्त्वज्ञ गुरु के द्वारा, प्रोक्ता एव सुज्ञानाय = बतलाये जाने पर ही यह मोक्ष का साधन ज्ञान के लिए होता है। यां त्वम् आपः = जिसे तुमने प्राप्त किया है। बत = यह अनुकम्पा में है। नचिकेतः = हे नचिकेता! सत्यधृतिः असि = तुम सम्यक् धैर्यवान् हो, त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात् = तुम्हारे सदृश ही पूछने वाला हमें मिलता रहे॥९॥

व्याख्या—जो वस्तु अतर्क्य और सूक्ष्म है उसके विषय में कदापि तर्क नहीं करना चाहिये। शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म में निष्णात उपशमशील गुरु के द्वारा बताये जाने

पर ही मति (बुद्धि) मोक्ष के साधन ज्ञान के लिये होता है। हे नचिकेता ! तुम सचमुच निस्सन्देह सम्यक् धैर्यवान् हो। क्योंकि तुमने सुख के इतने प्रलोभन मनोविलास को छोड़ दिया। हमें तेरे समान प्रश्न (आत्मपरमात्मविषयक) पूछने वाला शिष्य ही बार-बार मिला करें ॥९॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—नाहं त्वत्पृष्टं वक्तुमसमर्थस्त्वां विषयैः प्रलोभितवान् किन्तु त्वत्परीक्षणार्थमेव यतस्त्वत्पृष्टं जानामीत्याह—जानाम्यहं शेवधिर्निधिः। अत्र शेवधि-शब्दः कामनाविषयत्वगुणयोगात्कर्मफलं निर्वक्ति तथा च कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यते। स चानित्य इति जानामि हि यस्माद् अध्रुवैरनित्यसाधनैर्ध्रुवं तत् नित्यमात्मतत्त्वं न प्राप्यते। ततस्तस्मान्मया परब्रह्मावाप्तिकारणज्ञानोद्देशेनानित्यैरिष्टकादिद्रव्यैर्नाचि-केतोऽग्निश्चितस्तस्माद्धेतोर्नित्यफलसाधनं ज्ञानं प्राप्तवानस्मीत्यर्थः। अतः परब्रह्मप्राप्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्वस्य न विरोधः ॥१०॥

सान्वयानुवाद—अहं जानामि = मैं जानता हूँ, शेवधिः अनित्यम् इति = खजाना अनित्य है ('निधिर्ना शेवधिर्भेदाः' इत्यमरः)। हि अध्रुवैः तत् ध्रुवं न हि प्राप्यते = अनित्य वस्तुओं से वह नित्य वस्तु आत्मा नहीं मिल सकती। ततः = इसलिये, मया = मेरे द्वारा, अनित्यैः द्रव्यैः नाचिकेतः अग्निः चितः = अनित्य द्रव्यों से नाचिकेत नामक अग्नि का चयन किया गया। नित्यं प्राप्तवान् अस्मि = नित्य वस्तु आत्मा को प्राप्त हो गया हूँ ॥१०॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि—खजाना अनित्य है अर्थात् सभी भोगसाधन अनित्य हैं। जब तक मनुष्य इन अनित्य विषय भोगसाधनों में आसक्त रहेगा तब तक उन्हें नित्य वस्तु भगवान् नहीं मिल सकते। आगे कहते हैं—मैंने अनित्य साधनों के द्वारा नाचिकेताग्नि का चयन किया, नित्य वस्तु भगवान् को प्राप्त कर लिया। इसका तात्पर्य यहाँ यही है कि श्रीभगवान् ने कहा है—'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'। (गीता ९।३३) यह लोक अनित्य है, इसमें कोई सुख नहीं है। इस संसार में दुःख-ही-दुःख है। तुम नर बनकर इसमें आये हो, अतः मेरा भजन करो।

'यत् कृतं यत् करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन' ॥

जो कुछ मैंने किया और आगे जो करूँगा वह सब वस्तुतः मैंने बिल्कुल नहीं किया और न करूँगा; वह तो आपने किया है। अतः हे मधुसूदन ! आप ही फल के भोक्ता हैं। 'यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्'। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों से कहा—उपकार-प्रत्युपकार की भावना रखकर जो भजन करते हैं उसमें स्वार्थ है; वहाँ न प्रेम है, न सुख है और न धर्म ही है। जो निरपेक्ष

भजन करते हैं वहाँ प्रेम और धर्म दोनों हैं। जो दोनों में किसी का भी आश्रय नहीं लेते ऐसे प्राणी चार प्रकार के होते हैं—(१) आत्माराम—जिनकी बाह्यदृष्टि नहीं है। (२) पूर्णकाम—जो भोग-सामग्री रहते हुए भी कामनारहित हैं अर्थात् जिनको मेरा साक्षात्कार हो गया है। (३) कृतघ्न—किये हुए उपकार को नहीं मानने वाला, उनको अकृतज्ञ शब्द से भी कहते हैं। (४) गुरुद्रुह—जो उपकार भूलकर अकारण द्रोह करते हैं। यहाँ 'गुरुद्रुह' शब्द का अर्थ गुरुद्रोही नहीं है। गुरु यथा स्यात् द्रुह्यन्ति—जो भयङ्कर तथा अपराधी हैं। शास्त्र में उनके लिये यह शब्द आया है।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—जगतः = प्राणिमात्रस्य, कामस्याप्तिं क्रतोः = यज्ञादिकर्मणः, प्रतिष्ठां = फलभूतामालोच्य मोक्षस्वरूपमुपदिशति—आनन्त्यमभयस्य पारमित्यादिना। आनन्त्यम् = अविनाशित्वम् अभयस्य च पारं परां निष्ठां, स्तोमम् = अनेकगुणसंहतं तच्च तन्महच्च स्तोमं महत्। उरुगायं = उरुभिर्वेदैरुरुभिर्ब्रह्मादिभिर्गीयते इत्युरुगायम्। कीर्त्तिं प्रतिष्ठां स्थैर्यं एवम्भूतं मोक्षं दृष्ट्वा, धृत्या = धैर्येण, धीरः = धीमान्, सन् नचिकेत अत्यस्राक्षीः = लौकिकान् कामान् त्यक्तवानसीत्यर्थः। अथवा जगतः प्रतिष्ठां सकलजगदाधारकं सर्वकामाप्तिं क्रतोरानन्त्यमानन्त्यहेतुमभयस्य पारं मोक्षहेतुमिति यावत्। स्तोमं महत्। स्तोमेभ्यो वेदसमूहेभ्यो महान्तमत एव उरुगायम्। उरुभिर्वेदैर्ब्रह्मादिभिर्वा उरुत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वेन गीयत इत्युरुगीयमानं प्रतिष्ठां मुक्तौ प्रत्यगात्मनामाश्रयभूतं परब्रह्मस्वरूपं दृष्ट्वा सांसारिककामान् त्यक्तवानसीत्यर्थः ॥११॥

सान्वयानुवाद—नचिकेतः = हे नचिकेता! कामस्य आप्तिम् = कामनाओं की प्राप्ति, यज्ञ आदि कर्मफलों की प्राप्ति, जगतः प्रतिष्ठां = जगत् की संस्था, क्रतोः आनन्त्यं = यज्ञ का अनन्तत्व, अभयस्य पारं = निर्भय का पार (पार = किनारा), स्तोमं महद् = अनेक दिव्यगुणों से सम्पृक्त ब्रह्म, उरुगायं = विष्णु, प्रतिष्ठां = सर्वाधार श्रीकृष्ण को, दृष्ट्वा = देखकर, धीरः धृत्या अत्यस्राक्षीः = बुद्धिमान् नचिकेता ने धैर्य धारण करके सब विषयभोगों को बिल्कुल छोड़ दिया ॥११॥

व्याख्या—सारी कामनाओं की प्राप्ति, यज्ञ आदि कर्मों का फल परमात्मा श्रीकृष्ण की ही प्रेरणा से जीवों को प्राप्त होता है। 'संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः'। (श्रीमद्भा. १०।७२।६) जीवों को वे ही निर्भय पद को प्रदान करते हैं। वे सब प्रकार के दोषों से रहित समस्त दिव्य कल्याणात्मक गुणों से सम्पन्न हैं। यहाँ महत् शब्द बृहत् का वाचक है। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'। (तै.ब्रा.३।१२।९।७) अवेदज्ञ पुरुष उस बृहत् वस्तु ब्रह्म को नहीं जान सकता। श्रीमद्भागवत में 'उरुगाय' शब्द से भगवान् का एक नाम कहा गया है। 'जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते'। विवेकी नचिकेता ने परतत्त्व जगदाधार श्रीकृष्ण को जानकर धैर्य से समस्त विषयभोगों का परित्याग कर दिया ॥११॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥
एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रगृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—मुक्तस्वरूपविषयकं यत्तृतीयप्रश्नं पृष्टवान् तं निर्वक्ति—तं दुर्दर्शमित्यादिना मन्त्रद्वयेन—यत्त्वं प्राप्यस्य परब्रह्मणः स्वरूपं ज्ञातुमिच्छसि तं दुर्दर्शं द्रष्टुमशक्यं श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति प्रागभिहितत्वात्। गूढम् = अनादि-कर्मात्मिकाविद्यातिरोहितम्। अनुप्रविष्टम् = सर्वभूतानुप्रविष्टम्। गुहाहितम् = हृदय-गुहायां स्थितम्। गह्वरेष्ठम् = अन्तर्यामिणम्। पुराणम् = पुरातनमनादिमिति यावत्। अध्यात्मयोगाधिगमेन = विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगः तेनाधिगमो जीवात्मज्ञानं तेन हेतुना एवं परमात्मानं मत्वा प्रत्यगात्मज्ञानपूर्वकं परमात्मज्ञानमिति भावः। हर्षशोकौ विषयलाभालाभप्रयुक्तौ हर्षशोकौ जहातीत्यर्थः। अस्य मन्त्रस्यार्थो वेदान्तकौस्तुभे संक्षेपेण विवृतस्तथाहि—एवं मोक्षस्वरूपे पृष्टे तदुपदेशयोग्यतापरीक्षापूर्वकं प्रतिवचनमपि। तं दुर्दर्शमित्यादि तदेवं सामान्यत उपदिष्टे देवमिति निर्दिष्टस्य प्राप्यस्य स्वरूपं मत्वेति प्रतिपन्नस्य ज्ञानरूपोपायस्य स्वरूपम्। धीर इति प्रतिपन्नस्येति ॥१२॥

यो मर्त्यः मरणशीलोऽधिकारी एतदात्मतत्त्वं श्रुत्वा कुशलानुशिष्टाचार्येभ्यः सम्परिगृह्य = सम्यगवधार्य सम्यङ्मत्वेति यावत्। प्रगृह्य धर्म्यं = कर्मसाध्यं शरीरादि पृथक्कृत्य परित्यज्य, एवं स्वात्मभूतमेतं परमात्मानमणुं = सूक्ष्मं तस्मादेव प्राकृत-चक्षुराद्यगोचरं देशविशेषे प्राप्य स विद्वान् मोदनीयं = प्रीतिविषयमपहतपाप्मत्वादि-गुणाष्टकविशिष्टं स्वस्वरूपं लब्ध्वा मोदते आनन्दीभवतीत्यर्थः।

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'। (छान्दोग्ये ८।३।४) 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः'। (छान्दोग्ये ८।१२।३) श्रुत्यर्थोऽत्रानुसन्धेयः। एवं प्रश्नोत्तरमभिधाय मोक्षार्हत्वेन तं स्तौति। नचिकेतसं प्रति सद्म = वैकुण्ठधाम। विवृतम् = अपावृतद्वारं प्रवेशार्हं मन्ये ॥१३॥

सान्वयानुवाद—गूढम् = जो सम्पूर्ण प्राणियों में छिपा हुआ, अनुप्रविष्टम् = जो आकाश में शब्दरूप से, वायु में स्पर्शरूप से, अग्नि में तेजरूप से, जल में रसरूप से, पृथिवी में गन्धरूप से, अहङ्कार में सङ्कर्षणरूप से, मन में अनिरुद्धरूप से, बुद्धि में प्रद्युम्नरूप से और चित्त में वासुदेवरूप से अन्दर स्थित है। गह्वरेष्ठम् = इसलिये उपर्युक्त गुफाओं में सदा सन्निहित रहते हैं। गुहाहितम् = सम्पूर्ण भूतों के हृदयरूप गुहा में स्थित हैं। पुराणम् = सबके कारण, तं दुर्दर्शं देवम् = उस दुराराध्य श्रीकृष्ण को, धीरः = आत्म-अनात्मवस्तु विवेकसम्पन्न निष्काम ज्ञानी उपासक, अध्यात्मयोगाधिगमेन = अध्यात्म-योग के मार्ग से, मत्वा = ठीक तरह समझकर, हर्षशोकौ जहाति = हर्ष और शोक को त्याग देता है ॥१२॥

मर्त्यः = मनुष्य, एतत् = इस, धर्म्यम् = कर्मसाध्य शरीरादि को, प्रगृह्य = परित्याग करके, श्रुत्वा सम्परिगृह्य = सुनकर और भली-भाँति समझकर, एतम् अणुम् = इस सूक्ष्म-सर्वगुहाशय ईश्वर को, आप्य = प्राप्त करके, सः मोदनीयम् = वह आनन्दवान् हो जाता है। लब्ध्वा हि मोदते = अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक को पाकर आनन्दित हो जाता है। नचिकेतसं विवृतं सद्म मन्ये = नचिकेता के लिये वैकुण्ठधाम का द्वार खुला हुआ मानता हूँ ॥१३॥

व्याख्या—श्रुति में देव पद से श्रीकृष्ण ही विवक्षित है—

'देवः पायात् पयसि विमले यामुने मज्जतीनां
याचन्तीनामनुनयपदैर्वञ्चितान्यंशुकानि।
लज्जालोलैरलसविलसैरुन्मिषत्पञ्चबाणै-
र्गोपस्त्रीणान्नयनकुसुमैरर्चितः केशवो नः' ॥१॥

जो निष्काम उपासक इस शरीर से ऊपर उठकर ज्योतिस्वरूप वैकुण्ठधाम को प्राप्त होता है वह वहाँ अपने वास्तविक स्वरूप से सम्पन्न होकर आनन्दवान् हो जाता है। वह उत्तम पुरुष हँसता, क्रीड़ा करता एवं रमण करता हुआ सदा-सर्वदा वहाँ श्रीभगवद्भाव में मग्न रहता है। वह इन आठ गुणों—अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, विजिघित्स, अपिपास, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प—से हमेशा सम्पन्न रहता है।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका—तं दुर्दर्शमिति मन्त्रेण निर्दिष्टानां प्राप्यप्राप्तृब्रह्मोपासनस्वरूपाणां स्वरूपशोधनाय पृच्छत्यन्यत्र धर्मादित्यादिना। धर्मात् = पुण्यसाधनात्। अन्यत्र विलक्षणम्। अधर्मात् = अपुण्यरूपसाधनात्। अन्यत्र विलक्षणम्। ब्रह्मोपासनम्। ब्रह्मोपासनविषयकं प्रश्नं निरुच्य कार्यकारणपरिच्छेदकात् कालादन्यमपरिच्छिन्नमुपेयविषयकं प्रश्नं करोति। अस्मात्कृतादित्यादि न। एतत्प्रश्ने उपेतुः प्रत्यगात्मनो नित्यत्वात् प्राप्यान्तर्गतत्वाच्च तत एव तस्यापि तन्त्रेण प्रश्नः कृतः। कृतं कार्यमकृतं कारणं तयोः परिच्छेदकाद् भूतादतिक्रान्तात् कालाद् भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्त्तमानकालादन्यत्रापरिच्छिन्नं यदुपेयं पश्यसि तद्वद् मह्यम्। तदेतद्भाष्यकृद्भिः वेदान्तकौस्तुभे भाषितम्। तं दुर्दर्शमिति मन्त्रमुद्धृत्ये पश्चादुक्तं तदेवं सामान्यत उपदिष्टे देवमिति निर्दिष्टस्य स्वरूपं मत्वेति प्रतिपन्नस्य ज्ञानरूपोपायस्य स्वरूपं धीर इति प्रतिपन्नस्य प्राप्तुश्च स्वरूपं शोधयितुं पुनरप्यन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्यनेन पुण्यापुण्यरूपसाधनविलक्षणस्योपासनस्य 'अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्' अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यदित्यनेन कालापरिच्छिन्नस्योपेयस्य प्रश्ने च प्राप्तुरपि चेतनस्य नित्यत्वात् प्राप्यान्तर्गतत्वाच्च तत एव तस्यापि तन्त्रेण प्रश्नः कृतः।

अथवोपेयप्रश्नपरमेवेदं वाक्यम्। अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिति। प्रकृतस्यान्यत्र

शब्दद्वयस्य सामानाधिकरण्यवत्। अन्यत्रास्मात्कृताकृतादन्यत्र भूतादित्युपरितनान्यत्र-शब्दद्वयस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेरेवमप्युपेयप्रश्ने उपेतुरन्तर्भावाद् उपास्यास्यप्यन्त-र्भूतत्वात् त्रयमेव पृष्टमिति। पूर्वकल्पे प्रष्टव्यद्वयपरत्वाश्रयमपि क्लिष्टमेव। अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिति प्रक्रमस्थान्यत्रशब्दद्वयस्य सामानाधिकरण्यं यथा प्रतीयते तथा अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च चेत्यत्रान्यत्रशब्दद्वयस्यापि सामाना-धिकरण्यं वाच्यम्। यदि तत्र धर्माधर्मविलक्षणं कालत्रयविलक्षणञ्च यदिति शब्दद्वय-मश्रोष्यत तदान्यत्र शब्दयुगद्वयस्य स्वरसतः प्रतीतं सामानाधिकरण्यं पर्यत्यक्षत। अतः प्रक्रमरीत्यनुसारिप्रतीतिसामानाधिकरण्यभङ्गे कारणाभावादन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्ययम-प्यंशः प्राप्य ब्रह्मपर एवास्त्वित्याशयेनाथवेति कौस्तुभे कल्पान्तरमनुसृतम् ॥१४॥

सान्वयानुवाद—यत् तत् (त्वं) पश्यसि तत् (मह्यं) वद = नचिकेता कहता है—हे प्रभो ! आप जिस तत्त्व का दर्शन करते हैं उसे मुझको बतलाइये। यम ने कहा—उसमें न तो कार्य-कारण हैं, न साधन-साध्य हैं, न धर्माधर्म हैं, न पाप-पुण्य हैं और न भूत-भव्य हैं। अथवा इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार समझिये—धर्म और अधर्म, कृत और अकृत, भूत और भव्य इन सबके परे जो परतत्त्व है हे भगवन् ! कृपा कर आप उस परतत्त्व को हमें बतलायें। आप सब जगह उसका दर्शन करते हैं—यत् सर्वत्र तदीक्षणम्। नचिकेता के इस पकार पूछने पर यमराज ने नचिकेता से कहा कि तुम सचमुच आत्म-परमात्म-तत्त्व के जिज्ञासु हो। (सान्वयानुवाद में मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है अतः व्याख्या नहीं दी गयी है।) अब यमराज यहाँ से दोनों तत्त्वों का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳ सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं प्रार्थितो यमो बुद्ध्यारोहार्थं प्राप्यस्य परब्रह्मणो वैभवं प्रदर्शयन् सङ्ग्रहवचनं प्रतिजानीते—सर्व इति। सर्वे वेदा ऋगाद्या यत्पदं यस्य प्राप्यस्य स्वरूपमामनन्ति साक्षात्परम्परया वा प्रतिपादयन्ति। कृत्स्नाया उपनिषदः परिशुद्धात्म-स्वरूपपरत्वं निश्चीयते। न जायते म्रियते वा विपश्चित्। हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्। आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्। सा काष्ठा सा परा गतिः। एष सर्वेषु भूतेषु। पराञ्चि खानि। ईशानो भूतभव्यस्य। इत्यादि वक्ष्यमाणानां मन्त्राणां परिशुद्धात्मस्वरूपपरत्वस्य सम्प्रति-पन्नत्वात्। तपांसि सर्वाणि यद् वदन्ति। यत्प्राप्त्यर्थानि। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा। स्त्रीसङ्गराहित्यमिति यावत्। चरन्त्यनुतिष्ठन्ति। तत्पदं प्राप्यस्वरूपं ते तव सङ्ग्रहेण ब्रवीमि। एवं प्रतिज्ञातं परब्रह्मणः स्वरूपमुपदिशति—ओमित्येतदिति। एतत् त्वया पृष्टं प्राप्यस्वरूपम्। ओम् शब्दवाच्यम्। प्रणवपदस्य भगवति रूढत्वात्। ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत इति श्रीमुखवचनस्य

जागरूकत्वात्। प्रणवावयवयोरकारमकारयो: परब्रह्मवासुदेवप्रत्यगात्मवाचितया प्राप्य-प्राप्त्रोरप्युपदिष्टत्वमस्तीति द्रष्टव्यम्। विवृतञ्चैतद्द्राष्यकृद्भिर्वेदान्तकौस्तुभे। ततो ब्रह्म-प्रतिपादकतया प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यं प्राप्यप्राप्तृस्वरूपं वाचकरूपमुपायञ्च कथयद्भि-रिति ॥१५॥

सान्वयानुवाद—सर्वे वेदा: यत् पदं आमनन्ति = सम्पूर्ण (चारों) वेद जिन भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप-गुणादि का प्रतिपादन करते हैं। च = और, सर्वाणि तपांसि यत् वदन्ति = सारी तपस्या जिन भगवान् श्रीकृष्ण को बतलाती है। यद् इच्छन्त: ब्रह्मचर्यं चरन्ति = जिन भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। तत् पदं ते संग्रहेण ब्रवीमि = उस वैष्णवपद को तुम्हें मैं संक्षेप से बतलाता हूँ। ओम् इति एतत् = ओं ऐसा यह एकाक्षर मन्त्र है ॥१५॥

व्याख्या—इस लोक में चारों वेद, पुराण, इतिहास, आगम-निगम, तन्त्र-मन्त्र-सूत्र-धर्मशास्त्र इत्यादि परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप-गुणादि का न केवल कीर्त्तन-प्रतिपादन ही करते हैं अपितु वैकुण्ठ-लोक में सिंहासन पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख ये सब मूर्त्तिमान् होकर उनकी स्तुति करते हैं। इसलिये वैकुण्ठलोकवासी उद्धवजी कहते हैं—

'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमै:।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यै: कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते'॥

दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, जप, वेदाध्ययन, संयम (शम-दम) तथा अन्य नाना प्रकार के कल्याणकारी साधनों (यागादि) से श्रीकृष्ण में भक्ति ही प्राप्त की जाती है। उन साधनों का प्राप्तिरूप परमफल यही है कि श्रीकृष्ण की भक्ति चित्त में आवें। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा भी है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:' अर्थात् सम्पूर्ण वेदों से जानने योग्य जो वस्तु है वह मैं ही हूँ। गुरुकुल-निवासी ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य इत्यादि कठिन व्रतों का अनुष्ठान (पालन) श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये करते हैं।

'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता:।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्'॥ (गीता ९।२३)

हे कौन्तेय! श्रद्धायुक्त होकर जो सकल भक्त दूसरे देवताओं का पूजन करते हैं वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् 'विधानं विधि: वेद:, विधत्ते इति विधि:'। उन अज्ञजनों की पूजा वेद-शास्त्रपुर:सर नहीं है।

हे नचिकेता! मैं उस परम पद को संक्षेप से तुम्हें कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त से उसका श्रवण करो। 'ओम् तत् सत् इति' यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम-निर्देश है, ऐसा वेद में ब्रह्मवादियों के द्वारा उच्चारण किया गया है ॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

एतदालम्बनः श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

तत्त्वप्रकाशिका—परब्रह्मवाचकं प्रणवं फलप्रदर्शनमुखेन स्तौति—हि द्वयमत इत्यर्थे। यत ओङ्कारो ब्रह्मवाचकोऽत एतदक्षरं ब्रह्मैव तत्प्राप्तिसाधनत्वात्। 'ओमित्यनेनैवाक्षरेण परमपुरुषमभिध्यायीते'ति श्रुत्या परब्रह्महेतुध्यानविषयत्वबोधनात् प्रणवस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वं निश्चीयते। एतदक्षरं प्रणवमेव जप्येषु ध्येयेषु परं सर्वोत्कृष्टम् अत एवैतदक्षरं प्रणवं ज्ञात्वोपास्यो योऽधिकारी यदिच्छतस्य पुंसस्तत्फलम्भवति हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥१६॥

एतत्प्रणवरूपमालम्बनं श्रेष्ठं प्रशस्यतमम्। अत एवैतदालम्बनकं ध्यानादिपरम्। सर्वेभ्य उत्कृष्टम्। एतत् परमालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके ब्रह्मैव लोकस्तस्मिन् महीयते पूज्यो भवतीत्यर्थः ॥१७॥

सान्वयानुवाद—हि-हि = दोनों का अर्थ अतएव = इसलिये। एतत् अक्षरं ब्रह्म = यह अक्षर ब्रह्म है। एतत् अक्षरं परम् = यह अक्षर श्रेष्ठ है। एव-एव इन दोनों का अर्थ है निश्चय। एतत् एव अक्षरं ज्ञात्वा = इस अक्षर की उपासना करके, यः = यत् इच्छति, तस्य तत् = जो (उपासक) जिसकी इच्छा करता है, उसको वह प्राप्त हो जाता है ॥१७॥

ओम् रूप इस एकाक्षर वेदमन्त्र द्वारा परम पुरुष श्रीकृष्ण का ही निरन्तर ध्यान करना चाहिये।

एतत् श्रेष्ठं आलम्बनम् = यह श्रेष्ठ आलम्बन है।

एतत् परं आलम्बनम् = यही उच्च आलम्बन है।

एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा = इस आलम्बन की आराधना करके, ब्रह्मलोके महीयते = ब्रह्मलोक में पूजित होता है ॥१७॥

(मन्त्रार्थ सरल होने से व्याख्या नहीं दी गयी है।)

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुः हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायः हन्ति न हन्यते ॥१९॥

तत्त्वप्रकाशिका—जीवात्मस्वरूपं निरूपयति—न जायते इत्यादि मन्त्रद्वयेन—विपश्चिन्मेधावी न जायते नोत्पद्यते। वाशब्दश्चार्थे न चायं कदाचिन्म्रियते। नायं प्रत्यगात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद् बभूव। यतो न जायतेऽतोऽजो न म्रियतेऽतो नित्यः। इति द्वाभ्यां पदाभ्यां जन्ममरणलक्षणविक्रिये निरस्ते। अस्तित्वलक्षणविकारवारणायाह—शाश्वत इति। सनातनः = प्राकृतवत्सदसत्परिणामशून्यः। वृद्धिलक्षणक्रियावारणायाह—पुराण इति। पुराऽपि नव एव। यो हि सावयवः सोऽवयवोपचयाद् वर्द्धते।

अयन्तु निरवयवो ज्ञानैकस्वरूपत्वान्न वर्द्धते। परिशिष्टौ परिणामापक्षयजन्ममरणा-स्तिवृद्ध्यभावादेव निरस्तौ। एवं षड्विधविकारशून्यः प्रत्यगात्मा शरीरे हन्यमाने सति न हन्यते। शरीरमेव हननक्रियायाः कर्मभूतमित्यर्थः ॥१८॥ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्। अहमेनं वधिष्यामीति देहात्मदृष्ट्या मन्यते चेदित्यर्थः। हतश्चेन्मन्यते हतम्। छिन्नदेहा-वयवो देहात्मदृष्ट्याऽऽत्मानं हतोऽहमिति मन्यते चेदित्यर्थः। तावुभौ न विजानीतः। आत्मस्वरूपानभिज्ञौ अतो नायं हन्ति न हन्यते हननक्रियायाः कर्त्ता कर्म न भवति ॥१९॥

सान्वयानुवाद—अयं विपश्चित् न जायते वा म्रियते = यह मेधावी जीवात्मा न जन्म लेता है और न मरता है। अयं कुतश्चित् न बभूव = यह किसी से पैदा नहीं हुआ। कश्चित् न = कोई उत्पन्न नहीं हुआ। अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः = अजन्मा, सनातन, शाश्वत तथा पुराण है। हन्यमाने शरीरे न हन्यते = शरीर के नाश किये जाने पर भी जीवात्मा का नाश नहीं किया जा सकता ॥१८॥

चेत् हन्तुं मन्यते = अगर हनन करने वाला समझता है कि मैं इसका वध कर दूँगा। चेत् हतः हतं मन्यते = और मरने वाला यदि समझता है कि मैं मर गया। तौ उभौ न विजानीतः = वे दोनों नहीं जानते, अयं न हन्ति न हन्यते = यह (जीवात्मा) न मारता है और न मारा जाता है ॥१९॥

व्याख्या—श्रुति-स्मृति एवं ब्रह्मसूत्रकार महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी का निश्चित रूप से यही सिद्धान्त है कि जीवात्मा का स्वरूप से जन्म-मरणादि नहीं होते। जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नहीं मरता। वह—जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति—इन षड्विध विकारों से रहित है। यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा न तो जन्मता है और न तो मरता ही है। सब शास्त्रों का यह सिद्धान्त है कि जीवात्मा स्वरूप से उत्पन्न नहीं होता।

'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते'। (छा.उ.६।११।३)

'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'॥
(गी.२।१९-२०)

'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'॥ (ब्र.सू.२।३।१८)

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः·····'॥ (५।९)

बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जायें और उनमें से एक टुकड़े के पुनः एक

सौ टुकड़े किये जायें, तो उतना ही माप जीवात्मा का समझना चाहिये। अर्थात् य जीवात्मा अणु परिमाण वाला है और परमात्मा का अंश है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं प्राप्तुः चेतनस्य स्वरूपं निरूप्य प्राप्यस्य परब्रह्मणः स्वरूपं निरूपयति—परमात्माऽणोरणीयान्। सूक्ष्माच्चेतनादपि सूक्ष्मतरः, तदन्तःप्रवेशार्हः। महतो महीयान्। महत्परिणामवत आकाशादेरपि महत्तरः स्वाव्याप्तवस्तुरहित इत्यर्थः। अस्य जन्तोर्न जायते इत्यादि श्रुतिद्वयेन प्रतिपादितस्य प्रत्यगात्मन आत्मा गुहायां निहितः। अन्तः प्रविश्य नियन्ता। अनेन प्रागुदाहृतमन्त्रद्वयप्रतिपाद्यस्य प्राप्तुश्चेतनस्य एतन्मन्त्रनिर्दिष्टात् प्राप्यस्वरूपाद् भेदः स्वरूपेण सिद्धः इतरेतरात्यन्तविलक्षणत्वात्। तयोर्ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्यत्वतद्व्याप्यत्वतत्तन्त्रसत्त्वपराधेयत्वादियोगेन चाभेद इति भावः। तं तादृशं परमात्मानमक्रतुर्निष्कामो धातुर्धारकस्य परब्रह्मणो वासुदेवप्रसादादनुग्रहादात्मनो महिमानं महत्त्वसम्पादकं स्वसार्वज्ञ्यादिगुणाविर्भावहेतुभूतं परमात्मानं यदा पश्यति तदा वीतशोको भवतीत्यर्थः ॥२०॥

सान्वयानुवाद—आत्मा अणोः अणीयान् = आत्मा (परमात्मा) अणु से अतिअणु है, महतः महीयान् = महान् से भी महान् है, अस्य जन्तोः गुहायां निहितः = इस जनसमूह के हृदयरूप गुफा में ठहरते हैं, आत्मनः तं महिमानं = परमात्मा की उस महिमा को, वीतशोकः अक्रतुः धातुः प्रसादात् पश्यति = वीतराग निष्काम ज्ञानी भक्त भगवान् श्रीहरि की प्रसन्नता से ही देख पाता है। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' इत्यमरः ॥२०॥

व्याख्या—परमात्मा अणु से अतिशय अणु है। सूक्ष्म चेतन जीव से भी सूक्ष्मतर है। वे जीवों के भीतर प्रवेश करने में समर्थ हैं। महत्परिमाण आकाश आदि से भी महत्तर हैं। परमात्मा सर्वत्र व्याप्त हैं, उनसे दूसरा कोई व्यापक वस्तु नहीं है। वे सभी प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से निवास करते हैं। विषय-वितृष्ण अनन्यशरण उपासक जब परमात्मा के अनुग्रह से अपहत-पाप्मत्वादि गुणाष्टक-विशिष्ट अपने स्वरूप को देखता है तब वह शोकसागर से मुक्त हो जाता है—'तरति शोकमात्मविद्' (छा.उ.७।१।१३) ॥२०॥

'यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्' ॥
'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' ॥

(श्रीमद्भा. ४।९।४८;१०।३९।२)

परमात्मज्ञानवान् पुरुष शोक को पार कर जाता है। जिसके ऊपर स्वयं भगवान् श्रीहरि मैत्री आदि गुणों से प्रसन्न हो जाते हैं उसके सामने सब प्राणी नतमस्तक हो जाते हैं, जिस प्रकार जल स्वयं ही नीचे की ओर बहने लगता है। हे राजन्! यद्यपि श्रीपति

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसन्न होने पर कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है तथापि श्रीशपरायण जन कुछ चाहते ही नहीं हैं।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

तत्त्वप्रकाशिका—सुदेवानुग्रहगृहीतस्य पुंसः परब्रह्मतत्त्वं लोकोत्तरत्वादुरधिगममित्याह—आसीन उपविष्ट एव दूरं व्रजति। शयान एव सर्वतो याति। तं मदामदं सहर्षं तं परमात्मानं भगवदनुग्रहानुगृहीतमादृशजनादन्यः को वा ज्ञाता न कोऽपीत्यर्थः। स्थितित्वगतित्वसहर्षत्वनिर्हर्षत्वादयो विरुद्धधर्माः तस्याचिन्त्यशक्तिमहिम्ना लीलायामुपपद्यन्ते नात्र शङ्कावसरः प्रसरति ॥२१॥

व्याख्या—परमात्मा बैठा हुआ ही दूर पहुँच जाता है, सोता हुआ ही सब ओर (सब जगह) चलता रहता है। उस मद-अमद, सहर्ष-निर्हर्ष देव = श्रीकृष्ण को मुझसे भिन्न दूसरा कौन जानने में समर्थ है ॥२१॥

ईशावास्योपनिषद् का यह कथन है कि 'तदेजति'—भगवान् चलते हैं, नाचते हैं और 'तन्नेजति'—भगवान् बैठते हैं, सोते हैं। 'तद्दूरे'—कभी-कभी बैठे हुए और सोते हुए ही भगवान् दूर चले जाते हैं। 'तद्वन्तिके'—भगवान् अपने वैकुण्ठधाम में सदा विराजमान रहते हैं। जब वे भक्तों की आर्त्त पुकार सुनते हैं तब उनके सामने आकर खड़े हो जाते हैं।

उन्होंने द्रौपदी का पत्र, गजेन्द्र का पुष्प, शबरी का फल और राजा रन्तिदेव का जल सप्रेम ग्रहण किया था। भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा भी है—

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः' ॥

जिस समय परमात्मा श्रीकृष्ण सङ्कर्षण के साथ रङ्गभूमि में पधारे उस समय वे नवरसों से युक्त एवं परमात्मा एकरस से और अधिक होकर मनुष्यों को दशधा प्रतीत होने लगे।

'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः' ॥

मल्लों को वज्ररूप, मनुष्यों को उत्तम नर, स्त्रियों को मूर्तिमान् कामरूप, गोपों को अपने प्रिय-बन्धु, दुष्ट राजाओं को शासक, माता-पिता को बालरूप, कंस को मृत्युरूप, योगियों को परतत्त्व और वृष्णिवंशियों को इष्ट देवता के रूप में परमात्मा श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। एक ही समय में उन परमात्मा श्रीकृष्ण में विरुद्ध धर्मों की अचिन्त्य-अनन्त शक्ति महिमा द्वारा लीला में भी उपपन्न होते हैं। अणु से अणीयान् एवं महान् से भी महान् परमात्मा के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

तत्त्वप्रकाशिका—परमात्मविज्ञानाच्छोकात्यय इति दर्शयति—अशरीरं प्राकृत-शरीररहितं शरीरेषु देवमनुष्यादिशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्वनित्येष्ववस्थितेषु नित्यत्वेन स्थितम्। महान्तं प्रसिद्धवैभवशालिनं विभुं सर्वव्यापिनमात्मानं परमात्मानं धीरो धीमान्मत्वा ज्ञात्वा न शोचति ॥२२॥

व्याख्या—जीवों के शरीर अनित्य और विनाशशील हैं, जीवों के शरीर की मृत्यु जरूर होती है। यह शरीर पञ्चमहाभूतों से बना हुआ है। जब पाँचों भूतों के अंश पाँचों भूतों में मिल जाते हैं तब शरीर की मृत्यु होती है। इसलिये प्राणियों का जीवन अस्थिर कहा गया है—

'निमिश्चलमिदं विद्वान् सत्रमारभतात्मवान्'। (श्रीमद्भा.९।१३।२)

अनवस्थितेषु शरीरेषु अवस्थितं = परमात्मा अस्थिर शरीरों में स्थिर रहते हैं। 'मां चैवान्तःशरीरस्थम्'। (गीता १७।६) देव-असुर-मनुष्य-तिर्यङ् आदि के नश्वर शरीरों में परमात्मा शाश्वत अवस्थित रहते हैं। अतः किसी से द्रोह नहीं करना चाहिये। उस प्रसिद्ध वैभवशाली सर्वव्यापी परमात्मा को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम् ॥२३॥

तत्त्वप्रकाशिका—आत्मप्राप्त्युपायं दर्शयति—अयमात्मा प्रवचनेन मननेन न लभ्यः प्राप्यः। न मेधया ध्यानधारणया न बहुना श्रुतेन श्रवणेन। अत्र ध्यानश्रवणयोर्मेधाश्रुतशब्देन बोधनात्। प्रवचनशब्देन मननं ग्रहीतव्यम्। लक्षणया वृत्त्या। प्रवचन-शक्यार्थस्याध्यापनस्य हेतुत्वाप्रसक्तेः। तर्हि केन लभ्य इत्यत आह—यमेवैष इति। एष आत्मा परमात्मा भक्त्या प्रसन्नः सन् मदीयोऽयमिति यमुपासकं वृणुते तेन लभ्यः प्राप्यः। तस्योपासकस्यैष आत्मा परमात्मा स्वां तनूं स्वस्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति, स्वात्मानं प्रयच्छतीत्यर्थः ॥२३॥

सान्वयानुवाद—अयं आत्मा प्रवचनेन लभ्यः न = यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त नहीं हो सकता है। न मेधया = न मेधा से और न ही, बहुना श्रुतेन = बहुत प्रवचन सुनने से प्राप्त हो सकता है। एषः यं एवं वृणुते = यह परमात्मा जिसको चाहता है, तेन लभ्यः = वही उसे पा सकता है। एषः आत्मा तस्य स्वां तनूं वृणुते = यह परमात्मा भक्ति से प्रसन्न होकर उस उपासक के लिये अपना स्वरूप प्रदान करते हैं।

व्याख्या—केवल विद्वानों के प्रवचन और कथावाचकों की रसमयी कथा सुनने से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता; केवल बुद्धिवैशद्य तर्कशास्त्र को पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषाओं से मेधाबुद्धि को बढ़ाने से परमात्मा का कदापि अनुभव नहीं हो

सकता एवं सुज्ञ और बहुश्रुत होने से भी मनुष्य परमात्मज्ञानवान् नहीं हो सकता। एष: यं वृणुते तेन लभ्य:—परमात्मा भक्ति से प्रसन्न होकर 'यह मेरा उपासक है' ऐसा जानकर वे जिस उपासक पर महान् अनुग्रह करते हैं वही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है और उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं ॥२३॥

'स्मरत: पादकमलमात्मानमपि यच्छति'।   (श्रीमद्भा.१०।८०।११)

वे परमात्मा श्रीकृष्ण इतने महाकारुणिक हैं कि भजन करने वाले उपासकों के लिए अपने आपको ही दे देते हैं।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित:।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

तत्त्वप्रकाशिका—यो दुश्चरितात् इन्द्रियाणां दुष्टविषयेषु चरणादविरतोऽनिवृत्तो, नाशान्त: = अनुपशान्तकामक्रोधवेग:, अथवा भगवन्निष्ठबुद्धिरहित:। नासमाहित: = नानाविधव्यापारविक्षिप्ततयाऽनवहितचित्त:। नाशान्तमानस: = अनिगृहीतमना: चैनं परमात्मानं प्रज्ञानेन नाप्नुयादित्यर्थ: ॥२४॥

व्याख्या—जो दुश्चरित्र से पीछे नहीं हटता अर्थात् चरित्रहीन होकर दुराचार करता ही जाता है, जिसका मन काम-क्रोधादि से हमेशा अशान्त रहता है, जो शान्त-शिष्ट नहीं है अर्थात् जो उद्दण्ड है वह केवल प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता ॥२४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदन:।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स: ॥२५॥

इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—भगवत: सर्वसंहारकर्तृत्वरूपं माहात्म्यं वदंस्तस्य दुर्ज्ञेयत्वमाह—यस्य परब्रह्मण:, ब्रह्म = ब्राह्मणत्वजात्यभिमानी ब्राह्मण:, क्षत्रञ्च = क्षत्रत्वजात्यभिमानी क्षत्रिय:, इत्युभे ओदन: = अशने भवत:। सर्वसंहारोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनं व्यञ्जनं घृतं वा, स निखिलचराचरसंहर्त्ता परमात्मा यत्र वैकुण्ठादौ तिष्ठति तं भगवन्तं, इत्था = उक्तप्रकारेण, को वेद ? न कोऽपीत्यर्थ:। अत्र ब्रह्मक्षत्रग्रहणस्य चराचरमात्रोपलक्षणत्वं युक्तम्। उक्तश्च श्रीबादरायणाचार्येण—'अत्ता चराचरग्रहणात्'। (ब्र.सू. १।२।८) व्याख्यातश्चैतत्सूत्रं भाष्यकारै: वेदान्तकौस्तुभे। तथाहि—अत्रात्ता खलु परमात्मा भवितुमर्हति। कुत: ? चराचरग्रहणात्। चराचरयोरिहाद्यत्वेन ग्रहणात्। ननु नात्र चराचरशब्दोऽस्तीति चेन्माऽस्तु चराचरशब्दो ब्रह्मक्षत्रग्रहणेनोपलक्षणार्थेन चराचरग्रहणात् मृत्योश्चराचरान्वयित्वेनोपसेचनविषयस्यौदनस्य चराचरात्मकस्य ग्रहणाच्च। तस्मादत्ता विश्वसंहर्त्ता परमात्मेति फलितोऽर्थ:। न ह्यग्नेर्जीवस्य वा कृत्स्नजगदत्तृत्वमुपपद्यते—अनश्नन्निति कर्मफलभोगप्रतिषेध इति ॥२५॥

इति काठकोपनिषद: तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमाध्यायस्य
द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥

व्याख्या—जिस परमात्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणीमात्र भोजन बन जाते हैं तथा सबका संहार करने वाला मृत्यु उपसेचन (व्यञ्जन, घृत, शाक-भाजी, चटनी) बन जाता है, वह कृत्स्न चराचर विश्व का संहार करने वाले परमात्मा श्रीकृष्ण वैकुण्ठादि में रहते हैं—उक्त प्रकार से कौन जान सकता है अर्थात् कोई भी नहीं जान सकता। ब्रह्मसूत्रकार महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी कहते हैं—'अत्ता चराचरग्रहणात्'। चर और अचर सबको ग्रहण करने के कारण यहाँ अत्ता = भक्षक अर्थात् भोजन करने वाला परमात्मा ही है। श्रुति में यद्यपि चराचर पद का उल्लेख नहीं है तथापि ब्रह्म-क्षत्र शब्द से ध्वनित चराचरात्मक जगत् का ग्रहण किया गया है। इस परिदृश्यमान जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार यह परमात्मा की लीला है। वे प्रलय के समय मृत्युसहित समस्त चराचर जगत् को अपने पेट में रखकर शयन करते हैं और सृष्टि के समय उनके नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। जैसे उदुम्बर (गूलर) के फल में छोटे-छोटे कीड़े रहते हैं वैसे ही ये सारी सृष्टि प्रलय काल में परमात्मा के ही उदर में रहती हैं। परमात्मा का ही जगदुपसंहार सूत्र में अत्ता (भोक्ता) पद से कहा गया है ॥२५॥

द्वितीय वल्ली समाप्त ॥२॥

'वेदान्ताभ्युपगीयमानमहिमा तर्काप्रतिष्ठो हि यो
ध्यानाभ्यासविनिश्चलेन मनसा साक्षात्कृतो मोक्षदः।
तं देवं कमलाभिलालितपदं गोपीकटाक्षार्चितं
गोपालं शरणं व्रजामि सततं वंशीकरं सद्गुरुम्' ॥१॥

•

अथ प्रथमाध्याय तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्रागुपदर्शितमन्त्रे परब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वमभिहितं तत्त्वे च तदुपासकस्तस्य परब्रह्मण उपास्तिं कथं कर्तुं शक्नोति इत्याशङ्क्योपासकोपास्ययोरेकहृदयगुहाप्रविष्टत्वेन परब्रह्मणः सूपास्यत्वमुपपादयति—ऋतं सत्यमवश्यम्भावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ न चेशस्य कर्मफलभोगयोगः। छत्रिन्यायेन पातृजीवसम्बन्धात् पिबन्तावित्युपचारात्। अन्यतरस्य पातृत्वेन जीवत्वे सिद्धे द्वितीयस्य चेतनस्यैव युक्तत्वात्।

अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्यादौ सजातीयग्रहणस्यैव लोके दर्शनात्। न चैवं जीवान्तरं ग्राह्यम्। एकस्मिन् भोक्तरि जीवद्वयायोगात् तस्माज्जीवेश्वरावेवात्रोच्येते। न बुद्धिजीवौ।

सुकृतस्य = स्वनुष्ठितस्य, कर्मफलभोगायतने = लोके शरीरे, गुहां = हृदयलक्षणां प्रविष्टौ, तत्रापि परमे = पराध्यें उत्कृष्टे हार्दाकाशे प्रविष्टौ। परार्धसंख्याया

उत्तरावधिस्तदर्हतीति परार्ध्यमिति व्युत्पत्तेः। छायातपौ = स्वतन्त्रपरतन्त्रौ परब्रह्मप्रत्यगात्मनौ।

विवृतञ्चैतद् वेदान्तकौस्तुभे—यथा छायाऽऽतपेनापसारयितुं शक्या न तु छाययाऽऽतप इत्येवं छायाऽऽतपौ स्वाधीनपराधीनौ ब्रह्मजीवात्मनाविति। गार्हपत्यो दाक्षिणाग्निराहवनीयः सभ्य आवसस्थ्यश्चेते पञ्चाग्नयः तेषामुपासनेन शुद्धान्तःकरणाः। त्रिणाचिकेतास्त्रिः कृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः। एवम्भूता ब्रह्मविदो वदन्ति। अस्य मन्त्रस्य प्रत्यगात्मपरमात्मपरत्वं श्रीबादरायणेन सूत्रितम्—'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्'। (ब्र.सू.१।२।११) व्याख्यातञ्च भाष्यकृद्भिर्वेदान्तकौस्तुभे। तथा हि—तत्र संशयः, किमिह बुद्धिजीवौ गुहां प्रविष्टाविति निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति। किमत्र युक्तं ? बुद्धिजीवौ भवतः। गुहां प्रविष्टाविति वचनात्। सर्वगतस्य परमात्मनः गुहाप्रवेशासम्भवात्। ऋतं पिबन्ताविति कर्मफलभोक्तृत्वमाप्तकामस्य परस्यासम्भवाच्च। सुकृतस्य लोके स्वानुष्ठितस्य कर्मणः फलभोगायतने लोक्यन्ते भुज्यन्ते कर्मफलान्यस्मिन्निति लोके शरीरे कर्मजन्ये सम्बन्धासम्भवाच्च। किञ्च जीवात्मनोर्बुद्धि-भिन्नत्वेन ज्ञानार्थम्।

'ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती'त्येके 'नायमस्ती'ति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहमिति प्रश्नदर्शनाच्च। तावेवास्मिन् मन्त्रे प्रतिपाद्येत इति प्राप्ते, उच्यते—गुहां हृदयलक्षणां प्रविष्टौ आत्मनौ हि चेतनावेव। ननु जीवात्मनोऽणुत्वेन प्रवेशो युक्तः। परमात्मनो विभुपरिमाणस्य तु गुहाप्रवेशो न सङ्गच्छत इति पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थ इति चेन्न। तद्दर्शनात्। व्यापकस्यापि तस्य परमात्मनः स्वानन्यजनेच्छया अस्यामेवोपनिषदि—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्ये'ति स्वानन्यजनगुहायां दर्शनविधानात्। 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं यो वेद निहितं गुहायामि'ति तद्दर्शनाच्च। 'या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती सा भूतेभिर्व्यजायते'ति जीवस्य गुहाप्रवेशव्यपदेशाच्च। किञ्च ऋतं पिबन्तावित्यत्र कर्मफलभोक्तृत्वेनैकस्मिन् चेतने निश्चिते सति द्वितीयेनापि चेतनेनैव भाव्यम्। संख्याश्रयणे सति संख्यावतोर्हि समानजातीयत्वस्य लोके दर्शनादित्यर्थः 'तद्यथाऽस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेवान्विष्यते नाश्वो न गर्दभः' इति महाभाष्ये स्थितम्। यदुक्तं जीवात्मनो बुद्धिभिन्नत्वेन ज्ञानार्थं प्रश्नदर्शनादिति तस्य प्रश्नस्य तु अनयदेवोत्तरं न त्विदं न च ऋतपानानुपपत्तिरिति वाच्यम्। छत्रिणो यान्तीतिवद् ऋतं पिबन्ताविति निर्देशस्य सम्भवात्। जीवः पिबति तमपरः पाययतीति प्रयोजककर्तृत्वसम्भवाच्च। यो हि कश्चिदनन्यशरणस्तत्कृतकर्मफलस्य तदर्पितस्याग्रभुगयञ्जगत्कारणभूतः परमात्मेति सर्वत्र प्रसिद्धेश्च। कर्मजन्यशरीरवर्त्तित्वमपि परस्यैतेन व्याख्यातमिति ॥१॥

व्याख्या—गृहपति के द्वारा नित्य अनुष्ठेय जो पञ्चाग्निसाधन गार्हपत्य, दाक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसस्थ्य—ये पञ्चाग्निसम्पन्न याग हैं; इनकी उपासना से जिनका अन्तःकरण (चित्त) शुद्ध हो गया और जिनके द्वारा तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया है वे वेदज्ञ जन छाया-आतप स्वाधीन ब्रह्म और पराधीन जीव को कहते हैं। दोनों जीवात्मा और परमात्मा हृदयस्वरूप उत्कृष्ट गुफा में

छिपे हुए सत्य का पान करने वाले हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा भी है—

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। अर्थात् मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और फलदाता हूँ।

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'। अर्थात् हे अर्जुन! मुझसे श्रेष्ठ (बड़ा) अन्य कोई भी नहीं है।

'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'। हे अर्जुन! सकल प्राणियों के हृदयरूप गुहा में स्थित आत्मा (परमात्मा) मैं ही हूँ।

कर्म न गुण करवाते हैं और न प्रकृति करवाती हैं। सबके भीतर बैठकर सर्वनियन्ता ईश्वर कर्म करवा रहा है।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयलक्षणा गुहा में बैठा सर्वनियन्ता मैं अपनी कृपा से ('मायादम्भे कृपायाञ्च' इति विश्वः) कठपुतलियों के समान उनको घुमा-चला रहा हूँ। इसलिये महाभारत में इसी तथ्य का सङ्केत करते हुए महाभिमानी दुर्योधन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानामि पापं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'॥

हे भगवन्! मेरी धर्म या पाप में स्वतः प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होती। हृदय में स्थित आप सर्वनियन्ता ईश्वर हैं, जैसी प्रेरणा करते हैं वैसा ही मैं करता हूँ।

सनातनी श्रुति कहती है—

'स एव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति'।

जिसे वह ऊपर (स्वकीय धाम) उठाना चाहता है अर्थात् अपने धाम बुलाना चाहता है उससे वही अच्छे कर्म करवाता है। उसी तरह जीव सत्य (कर्म) का पान करते हैं और परमात्मा सत्य को पिलाते हैं अर्थात् शुभाशुभ कर्मों का फल भुगवाते हैं। यह 'ऋतं पिबन्तौ' का अर्थ है। इसका दूसरा समाधान इस प्रकार है—'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति'। अर्थात् अनन्ताचिन्त्य सर्वगत सर्वशक्तिमान् परमात्मा सब प्राणियों में जीव रूप से स्थित हैं। (श्रीमद्भा. ३।२९।३४)

'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्'। (ब्र.सू.१।२।११) हृदयरूप गुफा में घुसे हुए दोनों—आत्मानौ = जीवात्मा और परमात्मा ही हैं, वे श्रुतियों में देखे जाते हैं। 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्यादि। दूसरी श्रुति में इस प्रकार वर्णन मिलता है—

'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य नामरूपे

व्याकरवाणि'। (छा.उ.६।३।२) उस देवता परमात्मा ने ईक्षण (सङ्कल्प) किया कि मैं इस जीवात्मा के साथ इन तेज आदि तीनों देवताओं में प्रवेश कर नाम और रूप का विस्तार करूँ। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उपर्युक्त कठोपनिषद् के मन्त्र में कहे हुये—'छायातपौ' छाया और धूप-सदृश दो जीवात्मा और परमात्मा ही हैं। अन्यत्र—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' ॥

एकत्र स्थित सख्यभावापन्न दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक वृक्ष पर बैठे हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष का मीठा फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है॥ यहाँ 'दोनों पक्षी फल खाते हैं' ऐसा नहीं कहा। इससे भी यही सिद्ध होता है कि परमात्मा कर्मफल का भोक्ता नहीं है। परमात्मा कर्त्ता है, अकर्त्ता है, भोक्ता है और अभोक्ता है। परमात्मा साध्य है और वही साधन भी है। 'वासुदेवः सर्वमि'ति ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतः शकेमहि ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—ईजानानामिति कानजन्तशब्दः। यागकर्तॄणां कर्मिणां यः परमात्मा सेतुः = कर्मफलप्रापकः। अक्षरं = यन्निर्विकारं परम्ब्रह्म। संसारार्णवं तितीर्षताम्, अभयं = भयरहितं, पारं = दृढं तीरम्। नाचिकेताग्निं प्राप्यमुपासितुं शकेमहि = शक्नुवन्तः। अतो दुरुपास्यमिति बुद्ध्या न भेतव्यम्॥२॥

सान्वयानुवाद—यः ईजानानां सेतुः = जो यज्ञ करने वाले कर्मशील मनुष्यों का सेतु (पुल) है। तितीर्षताम् अभयं पारम् = (जो संसारसागर को) तैरने वालों के लिए भयशून्य किनारा है। नाचिकेतम् = नाचिकेत अग्नि को, (और) यत् अक्षरं परं ब्रह्म शकेमहि = जो अक्षर परब्रह्म है उसको जानने में हम समर्थ हों। अतएव आराध्यदेव कठिन है ऐसी बुद्धि से डरना नहीं चाहिये॥२॥

व्याख्या—इस मन्त्र में 'यः सेतुः' कहकर परमात्मा को साधन बतलाया और 'अभयं पारम्' यह कहकर साध्य भी दिखलाया दिया है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र का यह कथन है—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' ॥

जो एक बार भी सर्वात्मभाव से मेरी शरण में आकर 'मैं आपका हूँ' यह याचना कर लेता है मैं उस प्रपन्न को सब भूतों से अभय प्रदान करता हूँ; यह मेरा व्रत है।

'यः ईजानानां सेतुः' यह मन्त्र इस अभिप्राय से प्रवृत्त है—'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर'। अर्थात् हे कौन्तेय! त्वं मदर्थं—मत्सेवार्थं कर्म मुक्तसङ्गः सन् सम्यक् आचर। 'यज्ञो वै विष्णुरि'ति श्रुतेः।

निष्काम भाव से भगवदाराधनार्थ मुक्तसङ्ग होकर कर्मशील उपासक भली-भाँति कर्म करें। जो संसार-समुद्र से छुटकारा चाहते हैं उन अनन्यशरण पुरुषों के लिये यह भयरहित दृढ़ तीर है। उस निर्विकार परब्रह्म परमात्मा को और नाचिकेत अग्नि को प्राप्त करने में हम समर्थ हों। इस प्रकार भगवती श्रुति प्रार्थना करके यह भाव दिखलायी है ॥२॥

'क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः' ॥
(श्रीमद्भा.४।२४।६२)

श्रद्धान्वित योगिजन क्रिया-कलापों से इस पञ्चभूत-इन्द्रिय-अन्तःकरणोपलक्षित मायागुणदोषलेशरहित परमात्मा की आराधना मोक्ष प्राप्त करने के लिये करते हैं। वे ही वेद और शास्त्रों में कोविद हैं। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' इति श्रीभगवद्वचनात् अतः विचिकित्सा न कर्त्तव्या। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। इसलिये परमात्मा को जानने के लिए जरूर शास्त्रज्ञ एवं वेदज्ञ होना चाहिये।

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—इन्द्रियनियमनमवश्यं सम्पाद्यमिति वक्तुं तदुपयुक्तत्वेन किञ्चिदुपदिशति—आत्मानमिति। आत्मानम् = शरीरेन्द्रियाधिष्ठातारं, रथिनं = रथस्वामिनं विद्धि। शरीरं रथं विद्धि। अश्वस्थानीयैरिन्द्रियैर्विकृष्यमाणत्वात्। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि। शरीरप्रवर्त्तकत्वात्। बुद्ध्या विचार्य किञ्चित्करोति। मनः प्रग्रहमेव = रशनामेव विद्धि। चस्त्वर्थे मनसा प्रगृहीतानां श्रोत्रादीनां प्रवर्त्तनात् ॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुः। शरीराख्यरथकर्षकत्वात्। तेषु तेषामिन्द्रियाणां गोचरान् शब्दादीन् विषयान्। अश्वसञ्चारदेशानाहुः। तेष्विन्द्रियाणां सञ्चारात्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं = शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्ता कर्तृत्वभोक्तृत्वादिमानित्याहुर्मनीषिणः = विवेकिनः। न हि केवलस्यात्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वाऽस्तीति भावः ॥४॥

सान्वयानुवाद—आत्मानम् = आत्मा को, रथिनम् = रथी = रथ का स्वामी, विद्धि = समझो, तु = और, शरीरं एव रथम् = शरीर को ही रथ समझो, तु बुद्धिं सारथिम् = और बुद्धि को सारथि समझो, च मनः एव = और मन को ही, प्रग्रहं विद्धि = लगाम समझो ॥ मनीषिणः = विवेकी पुरुष, इन्द्रियाणि हयान् आहुः = इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं। विषयान् तेषु गोचरान् = विषयों को उन घोड़ों के विचरने का मार्ग कहते हैं। आत्मा-इन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्ता इति आहुः = शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त जीवात्मा ही भोक्ता कर्तृत्वादिमान् है—इस प्रकार कहते हैं ॥४॥

व्याख्या—देवर्षि नारदजी ने दोनों वैदिक मन्त्रों को पढ़कर कितने सुन्दर ढंग से व्याख्यान कर दिया है—

'आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणाञ्च सूतं सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्' ॥

(श्रीमद्भा.७।१५।४१)

हे राजन्! उपनिषदों में कहा गया है कि—यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, बुद्धि सारथि है, इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम है—मन ही घोड़ों की बागडोर को पकड़ता है। उनमें शब्दादि विषयों को उन घोड़ों का मार्ग कहते हैं। बुद्धि सारथि है, ईश्वर के द्वारा रचित चित्त पूर्ण बन्धन है। रथ में बैठकर रथसञ्चालक शरीर-इन्द्रियाधिष्ठाता रथ का स्वामी जीव है।

रथ और रथी

रथी जीव, सारथि बुद्धि, शरीर रथ तथा जीव ज्ञानस्वरूप है अतः वह रथ को चलाने वाला है। जब जीव कोई कार्य करता है तब वह बुद्धि से भली-भाँति विचार करके ही करता है ('सहसा विदधीत न क्रियाम्' इति कविवचनात्)। जैसे रथ जड़ होता है वैसे ही शरीर जड़ है। मन लगाम इसलिये है कि सारथि हाथ में घोड़ों की लगाम पकड़कर रथ को हाँकता है। जीव के शरीर रूपी रथ में जो इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हुए हैं वे डाकू, कुत्ता और कौआ हैं। क्योंकि इन्द्रियों का स्वभाव शब्दादि विषयों में भटकना है। ये इन्द्रियरूपी घोड़े जीव को संसार के कुएँ में ले जाकर गिरा देते हैं। इस प्रकार मनुष्य-शरीर में रूपक की कल्पना कर बताया गया है कि चित्स्वरूप जीव ही शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त होकर ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व एवं कर्त्तृत्वादि मानता है। ऐसा मनीषियों ने बतलाया है ॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—इदानीमश्वस्थानीयेन्द्रियनियमनं कार्यमिति भावेन मनोनियमनं विज्ञानञ्च तत्साधनमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयति—यस्त्वविज्ञानवानिति। शास्त्रादि-जनितविशेषबुद्ध्याख्यविवेकसारथिशून्योऽतएवायुक्तेनानिगृहीतेन मनसा सदा युक्तो भवति। तस्य पुरुषस्येन्द्रियाण्यवश्यानि भवन्ति। तत्र दृष्टान्तमाह—दुष्टाश्वा इति। अनिगृहीता अश्वा इत्यर्थः ॥५॥

प्राधान्याद् व्यतिरेकम् उक्त्वाऽन्वयमाह—यस्त्विति। यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान् प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानानीन्द्रियाणि प्रव-र्तयितुं निवर्तयितुं शक्यानि वश्यानि। दान्ताः सदश्वाः इवेतरसारथेः ॥६॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, सदा = हमेशा, अविज्ञानवान् = उपास्य परमात्मा, उपासक-ज्ञानस्वरूप जीव, भगवदुपासना से हीन बुद्धिवाला, अयुक्तेन मनसा = अयुक्त मन से, भवति = रहता है, तस्य = उसकी, इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ, सारथेः = सारथि के, दुष्टाश्वाः इव = दुष्ट घोड़ो की भाँति, अवश्यानि = वश में न रहने वाली ॥५॥

तु यः सदा = लेकिन जो हमेशा, विज्ञानवान् = उपास्य-उपासक-उपासनवान्, युक्तेन मनसा भवति = युक्त मन से रहता है। तस्य इन्द्रियाणि = उसकी इन्द्रियाँ, सारथेः सदश्वाः इव वश्यानि = सारथि के अच्छे घोड़ों की भाँति वश में रहती हैं ॥६॥

व्याख्या—जो विज्ञानवान् नहीं है, विज्ञान से शून्य होकर लगातार संसार रूपी जङ्गल में इधर-उधर सुख की खोज में भटक रहा है, अपने मन को भगवान् के साथ जुड़ा नहीं पाता, अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं करके अवशीभूत मन से युक्त रहता है—ऐसे अविज्ञानवान् मनुष्य को वे इन्द्रियरूपी डाकू संसार रूपी कूप में ले जाकर गिरा देते हैं। यह सर्वजनसम्मत है एवं सब जानते हैं कि इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण तभी कर सकती हैं जब मन उनके साथ होता है। इसलिये कहा गया है—

'इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च' ॥

जो स्वर्ग और नरक है उनके कारण इन्द्रियाँ ही हैं। निगृहीत इन्द्रियाँ स्वर्ग का साधन तथा अनिगृहीत इन्द्रियाँ नरक का कारण है। इसलिये हन तीनों बातों पर ध्यान दें—विषयों से विरक्त, प्रशान्तचित्त तथा जितेन्द्रिय होना जरूरी है। जो तितिक्षु हो, सहनशील हो, जिसके हृदय में करुणा की धारा बहती हो, जो समस्त देहधारियों के निरपेक्ष हितकारी हो, किसी से शत्रुता न हो, जो शान्त हो, साधु हो, सद्गुणों का आभूषण धारण करता हो, भगवन्निष्ठ हो, भगवान् के लिए सकाम कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियों एवं सब कुछ छोड़ने को राजी हो, भगवत्प्रपन्न हो, भगवत्कथा के श्रवण और कथन में जिसकी अभिरुचि हो, जिसका मन भगवद्गत हो और जिसके पास तक त्रिविध ताप न पहुँच सकें—ऐसे ही विषयविरक्त-प्रशान्तचित्त-जितेन्द्रिय तथा सर्वसंगरहित साधुओं का संग मनुष्यों को लगातार करना चाहिये। भवाटवी में इधर-उधर सुख की खोज में कदापि भटकना नहीं चाहिये ॥५-६॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारञ्चाधिगच्छति ॥७॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—अस्त्वेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामिन्द्रियनियमनेन मनोनियमनादि-साधनम्। तदेव किमर्थमिति चेन्न। तस्य परम्परया मोक्षोपयोगित्वादिति भावे-नेन्द्रियनियमनाद्यभावे मोक्षाभावं तावदाह—यस्त्वविज्ञानवान् भवति। अमनस्कः =

अप्रगृहीतमनस्कः, अत एव इन्द्रियाणां दुष्टविषयेषु यथेष्टं प्रवृत्त्या निरन्तरमशुचिः। मनोनिग्रहाभावेऽविवेकित्वादिन्द्रियपारवश्येन पापचये दूषितान्तःकरणोऽशुचिरित्यर्थः। न स रथी मोक्षमाप्नोति, प्रत्युत जन्ममरणलक्षणसंसारमधिगच्छति ॥७॥

इदानीमन्वयमाह—यस्त्विति। यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानसारथ्युपेतो रथी समनस्कः समाहितमनाः सततम् एव सदा शुचिः स तु तत्पदं = मोक्षमाप्नोति। यस्मात् तत्पदादप्रच्युतः सन् भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥८॥

सान्वयानुवाद—यः तु सदा = जो कोई हमेशा, अविज्ञानवान् = परस्पर विरोधी शास्त्रवचनों का समन्वय न करते हुए 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के अर्थ को जानने वाला पण्डित नहीं है, अज्ञ है। अमनस्कः = जिसका मन समाहित = समाधिस्थ नहीं है, अशुचिः भवति = अपवित्र रहता है। सः तत्पदं न आप्नोति = वह उस वैष्णवपद को प्राप्त नहीं कर सकता। 'परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्' इति श्रीशुकवचनात्। च = उल्टा, संसारम् अधिगच्छति = जन्म-मरणरूप संसार-चक्र में घूमता रहता है ॥७॥

तु यः सदा = परन्तु जो निरन्तर, विज्ञानवान् = 'वासुदेवः सर्वमिति', 'तत्त्व-मसि', 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्याकारज्ञानवान्, समनस्कः = सः कृष्णः तस्मिन् मनो यस्य असौ समनस्कः शुचिः भवति। स तु = वह तो, तत्पदम् आप्नोति = उस वैष्णवपद को प्राप्त करता है। यस्मात् भूयः न जायते = 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इति श्रीभगवद्वचनात्। जहाँ फिर संसार में नहीं जन्मता ॥८॥

व्याख्या—जिसको कुछ भी ज्ञान नहीं है; 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का जाप करने वाले वे जनता को ठग रहे हैं। भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा है—

'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन !
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्' ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण भूतों का बीज–मूल कारण मैं ही हूँ, जो कुछ भी चराचर–स्थावर–जङ्गमात्मक पदार्थ हैं तत्समस्त मुझसे भिन्न बिल्कुल नहीं है। जिसको इसका ज्ञान नहीं है वह अविज्ञानवान् है।

'नास्ति कृष्णे मनो यस्यासौऽमनस्क अतएवाशुचिर्भवति'। जिसका मन श्रीकृष्ण में प्रसक्त नहीं है इसलिये वह सदा अपवित्र रहता है और वह उस वैष्णव पद को प्राप्त नहीं कर सकता प्रत्युत जन्म-जरा-मरणादिरूप दुःखमय संसार को प्राप्त करता है।

हमारे पूर्वाचार्यों ने कहा है—

'सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्' ॥१॥

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः' ॥२॥

अर्थात् यही हानि, बड़ा भारी दोष, अन्धापन, जडता तथा मूर्खता है कि एक मुहूर्त्त या एक क्षण भी परमात्मा श्रीकृष्ण के चिन्तन के बिना व्यर्थ समय खोया जाय। अपार ज्ञान सुख-सागर परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण में जिसका मन लीन (आसक्त) हो गया है उस उपासक का कुल पवित्र हो गया। वह माता भगवदुपासक पुत्र को जन्म देकर कृतार्थ हो गयी। पृथिवी भगवन्मनस्क साधक को पाकर पुण्यवती हुई ॥१-२॥

इस प्रकार वासुदेव-परायण जन कुल और भूमण्डल को पवित्र करते हैं। ऐसा निरहंकारी शान्तचित्त विज्ञानवान् उपासक उस वैष्णव पद को प्राप्त करता है जहाँ से उसे फिर इस संसार में लौटना नहीं होता ॥७-८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—किं तत्पदमिति जिज्ञासायां तत्पदं दर्शयति—समीचीन-विज्ञानमनः सारथिः पूर्वोक्तमनः प्रग्रहवान् = प्रगृहीतमनाः = समाहितचित्तः सन्, शुचिः नरः = विद्वान्, संसाराध्वनः = संसारगतेः, पारं = पारमेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति। तद्विष्णोः = व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवस्य, परमं प्रकृष्टं परं स्थानं गोलकं परमात्मस्वरूपसहितमाप्नोतीत्यर्थः ॥९॥

सान्वयानुवाद—यः तु विज्ञानसारथिः = यह बिल्कुल सत्य है कि विज्ञान जिसका सारथि है, मनः प्रग्रहवान् = जैसे हाथ में लगाम होती है वैसे ही जिसका मन है, सः नरः अध्वनः पारम् आप्नोति = वह मनुष्य मार्ग के पार को प्राप्त हो जाता है, तद् विष्णोः परमं पदम् = वही भगवान् विष्णु का परम पद है ॥९॥

व्याख्या—देवताओं ने कहा है—

'वरं वृणीष्व भद्रन्ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः' ॥ (श्रीमद्भा. १०।५१।२०)

हे राजन्! आपका कल्याण हो, जो आपकी इच्छा हो वह वर आज हम (देवगण) से माँग लीजिए। हम कैवल्य-मोक्ष के अतिरिक्त आपको सब कुछ दे सकते हैं। क्योंकि मोक्ष-ब्रह्मभावापत्तिरूपा मुक्ति देने का सामर्थ्य तो केवल व्यापनशील परमात्मा श्रीकृष्ण में ही है। श्रीशुकदेवजी ने बतलाया है—

'दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यौ' ॥ (श्रीमद्भा. १०।४८।११

हे राजन्! जिनकी आराधना-उपासना अत्यन्त कठिन है, जो समस्त देवताओं के नियन्ता हैं, ऐसे सर्वनियन्ता परब्रह्म श्रीकृष्ण की सम्यक् आराधना करके जो उनसे तुच्छ विषय-भोग माँगता है वह कुमनीषी है। जो भगवान् के चरणारविन्द को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं चाहता है वह मनीषी है। इसलिये अपनी सब कामनाओं को छोड़कर श्रीकृष्ण का शरण ग्रहण करना चाहिये। शरीर सम्बन्धी भोग्य विषयभोगों में

कदापि नहीं फँसना चाहिये। उनमें हेयत्व बुद्धि कर उनसे सर्वथा उपरत हो जाना चाहिए। परन्तु शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि स्वस्थ रहने चाहिए; ये ही हमारे परम पद प्राप्ति के साधन हैं। अपना रहन-सहन उत्तम होना चाहिये। नीरोग शरीर, सदा प्रसन्न मन, विज्ञानवती बुद्धि और शिक्षित तथा स्वाधीन इन्द्रियाँ होनी चाहिये। भगवान् विष्णु के मन्दिरों का निर्माण कर उनमें उपास्यदेव सहित हयग्रीव आदि मूर्त्तियों की स्थापना एवं पुष्पफलादि की सुविधा के लिये सुन्दर बगीचा बनायें। अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भगवान् विष्णु की ही सेवा में लगा दें और समस्त कर्म से मुक्तसंग होकर भगवदर्पण करें। जो इन बातों को मान कर चलता है वह निश्चय ही भगवान् विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेता है ॥९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

तत्वप्रकाशिका—रथादिरूपितशरीरादिषु येभ्यो येषां वशीकार्यतायां प्राधान्यं तान्युच्यन्ते—आनुमानिकाधिकरणे वेदान्तकौस्तुभे अनयोर्मन्त्रयोरर्थः पूज्यपादैर्भाष्यकृद्भिरुक्तः। तथा हि। अत्र पुरस्ताद् रथित्वादिनोक्ताः पदार्थविवक्षितार्थवशात्। क्रममनपेक्ष्य निरूप्यन्ते। तत्र रथित्वादिना रूपिता आत्माद्याः स्वस्वशब्दैर्गृह्यन्ते। रथत्वेन रूपितं शरीरं तु परिशेषाद् अव्यक्तशब्देनोच्यते। तत्र हयत्वेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेन रूपिता विषया वशीकार्यत्वे परा उत्कृष्टा इत्यर्थः। वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाने हीन्द्रियाणां पुनस्तेषु प्रवृत्तिदर्शनात्। तेभ्योऽपि प्रग्रहरूपितं मनः परं मनसि विषयाप्रवणे विषयसन्निधानस्याकिञ्चित्करत्वात्। तस्मादपि सारथिरूपिता बुद्धिः परा, अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। तस्यापि रथिरूपित आत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परः। सर्वस्यात्मेच्छायत्तत्वात्स एव महानिति विशिष्यते। ततो रथरूपितं शरीरं परम्। जीवस्य सर्वसाधनप्रवृत्तीनां शरीरायत्तत्वात्। ततोऽपि सर्वात्मा संसाराध्वनः पारभूतः पुरुषः परः। पूर्वोक्तस्य सर्वस्य तदधीनत्वात्। यथोक्ताराधनेन तस्मिन् वशीभूते सति सर्वपुरुषार्थसिद्धिः स्यात्।

'या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरनारायणाश्रयः' ॥

तस्मान्नेह महच्छब्देन प्रधानकार्यभूतो महानव्यक्तशब्देन च तत्कारणप्रधानं पुरुषशब्देन च चतुर्विंशतिसंख्याकः प्राकृतगणापेक्षया पञ्चविंशकः सांख्याभिमतः पुरुषो गृह्यते।

अस्मिन्नेव पुरुषे जिज्ञास्येऽनन्तकल्याणगुणार्णवे सर्ववेदसमन्वयः अतः परं वस्त्वभावात् तदिदमुक्तम्।

'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' । यस्मान्नास्ति पुरुषात् परमात्म परं किञ्चिदपि वस्त्वन्तरं, तस्मात्सर्वेषां सा काष्ठा स एवाधिः । कुतः सा परा गतिः गन्तृणां परा प्रकृष्टा गतिः पुरुष एव प्राप्यः । नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दादिति वाक्यार्थ कारोक्तेः ॥१०॥

सान्वयानुवाद—हि इन्द्रियेभ्यः अर्थाः पराः = निस्सन्देह इन्द्रियों से शब्दा विषय उत्कृष्ट हैं, च अर्थेभ्यः मनः परम् = और विषयों से मन उत्कृष्ट है, तु मनस बुद्धिः परा = और मन से भी बुद्धि उत्कृष्ट है, बुद्धेः आत्मा महान् परः = बुद्धि आत्मा–जीवात्मा बड़ा उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) है । महतः परं अव्यक्तम् = महान् उत्कृष्ट जीवात्म से मनुष्यों का यह दुर्लभ शरीर उत्कृष्ट है, अव्यक्तात् परः पुरुषः = शरीर से परम पुरु उत्कृष्ट है, पुरुषात् परं किञ्चित् न (नास्ति) सा काष्ठा सा परा गतिः = परम पुरु भगवान् श्रीहरि से उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) कुछ नहीं है, वही सब की अवधि एवं वही परम गति है ॥१०-११॥

व्याख्या—पिछे तीसरा और चौथा इन दोनों मन्त्रों में आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़ा और विषयों को उन घोड़ों का चारा-दाना मनीषियों ने बताया है । इस मन्त्र में 'पर' पद का प्रयोग उत्कृष्ट के अर्थ में हुआ है । यहाँ १ इन्द्रिय, २ विषय, ३ मन, ४ बुद्धि, ५ जीवात्मा, ६ शरीर तथा ७ परमात्मा ये सात पदार्थ गिनाये हैं । यहाँ 'महत्' शब्द से प्रधान-कार्यभूत महान् को, 'अव्यक्त' शब्द से उसके कारणरूप प्रधान को और 'पुरुष' शब्द से चतुर्विंशतिसंख्यक तत्त्व अपेक्षया श्रेष्ठ कहा गया है । सांख्यमतावलम्बियों का पञ्चविंशक तत्त्व 'पुरुष' ग्रहण नहीं किया गया । क्योंकि भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा है—

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय' ! जीवात्मा से उसका शरीर श्रेष्ठ इस-लिये कहा गया है—

'जीवस्य सर्वसाधनप्रवृत्तीनां शरीरायत्तत्वात्' । जैसे भगवान् ऋषभदेवजी ने अ-पने पुत्रों को सम्बोधित करके कहा है—

'नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्' ॥

(श्रीमद्भा. ५।५।१)

हे पुत्रो ! मनुष्यों का यह दुर्लभ शरीर सूकर-कूकर-वानर के समान विषय भोगने के लिये नहीं है । इस शरीर से कठोर तपस्या करनी चाहिये, जिससे चित्त की शुद्धि हो तथा अनन्त ब्रह्मसुख प्राप्त हो सके। अनन्त कल्याणगुणार्णव सर्ववेदसमन्वय सच्चिदानन्दानुभव को ब्रह्मसौख्य कहते हैं ।

'तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः' ॥

(श्रीमद्भा. ७।४।२२)

जिस दिशा में सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरि निवास करते हैं और शान्त निर्मल विषय-वितृष्ण महात्मा लोग जिस दिशा को पाकर संसार में फिर नहीं लौटते हमलोग उस दिशा को नमन करते हैं। यही पराकाष्ठा है।

'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः'। इत्यमरः। परम पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वह परम पुरुष तो मात्र अमला भक्ति से ही लभ्य है (गीता ८।२२)। वही परम गति है—'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्' अर्थात् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के बिना जीवों की गति श्रुति-स्मृतियों में नहीं देखी जाती है।

महामति विदुरजी ने राजा धृतराष्ट्र से कहा है—

'यः स्वकात् परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः'॥

जो मनुष्य स्वतः अथवा दूसरे के उपदेश से वैराग्य प्राप्त कर हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करता हुआ घर से निकल जाय वह उत्तम नर एवं आत्मवान् कहलाता है।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'।

इसलिये सब धर्मों का परित्याग कर श्रीकृष्ण का ही शरण ग्रहण करना चाहिये॥११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एषः = पुरुषः, सर्वेषु = ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः वर्त्तमानोऽपि अनादिकर्मात्मिका मायाच्छन्नत्वेनानिगृहीतेन्द्रियाणां पुंसां न यथावत्प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या। एकाग्रयुक्तया विषयप्रवणरहितया सूक्ष्मवस्तुविवेचन-समर्थया बुद्ध्या सूक्ष्मदर्शिभिः परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैर्दृश्यते। अयं मन्त्रो भाष्यकृद्भिरित्थं व्याख्यातो वेदान्तकौस्तुभे। असंयतचित्तैर्दुर्ज्ञेयत्वं संयतचित्तैः सुज्ञेयत्वञ्च परमपुरुषस्य दर्शयन् इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारञ्च दर्शयन् रूपकविन्यस्त-ग्रहणं दर्शयति च वाक्यशेषः, एष सर्वेष्विति वाक्यं पठितः। एषः, 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः'। इत्यनेनोक्तः समानातिशयशून्यो मुक्तगम्यः सर्वज्ञो वासुदेवः सर्वेषु भूतेषु वर्त्तमानोऽपि न प्रकाशते। सर्वेषां दृश्यो न भवति। तेषां तद्दर्शनानधि-कारात्। अत एव गूढः सन्धिश्छन्दोऽनुरोधात्। 'नाहं प्रकाशः सर्वस्ये'ति श्रीमन्मुखो-क्तेश्च। सत्यधिकारे दृश्योऽपि भवतीत्याह—दृश्यते इत्यादिनेति॥१२॥

सान्वयानुवाद—एषः आत्मा सर्वेषु भूतेषु गूढः न प्रकाशते = यह आत्मा = परमात्मा सब प्राणियों में छिपा है, यह सबको बाहर नहीं दीखता, तु सूक्ष्मदर्शिभिः अग्र्यया सूक्ष्मया बुद्ध्या दृश्यते = किन्तु सूक्ष्मदर्शी लोग तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि से उसे देखते हैं॥१२॥

व्याख्या—यह परम पुरुष परमात्मा एक है और वह सब भूतों में छिपकर रह है। जैसे राख में आग छिपी रहती है, वह बाहर प्रकाशित नहीं होती अर्थात् बाहर न दीखती है वैसे ही स्थूल जड़ बुद्धि के लोगों को सर्वत्र परमात्मा का दर्शन नहीं होता सबको सर्वत्र भगवद्दर्शन के लिये प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान-योग का साधन-मा मन प्रसन्न और बुद्धि सूक्ष्म करने के लिए ही है। इसके साधनानुष्ठान से सब जगह त सब जीवों में परमात्मा का दर्शन होता है।

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'। यथा नारदभीष्मशुकादिभि दृश्यते—

'त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम्।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥१॥
एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्।
मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥२॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वा भाति मायया' ॥३॥

हे भगवन्! आप सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा हैं। 'अतत् व्याप्नोति इति आत्मा'। 'अत सातत्यगमने' धातु से आत्मा शब्द बनता है। इसलिये परम पुरुष परमात्मा एक है–'एति इति एकः'। 'इण् गतौ' धातु से एक शब्द बनता है। जैसे काष्ठ में अग्नि का निवास है वैसे ही आप समस्त भूतों के हृदयरूप गुफा में छिपे हुए हैं। आप सब प्राणियों के साक्षी हैं। आप महापुरुष हैं। आप सबके नियन्ता ईश्वर हैं। ये श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् नारायण हैं। ये सबके कारण हैं। वेदप्रतिपादित पुरुष हैं। अपनी कृपा से लोगों को मोहित करते हुए ये यदुवंशियों में छिप कर मोक्षदायिनी लीला कर रहे हैं। हे राजन्! तुम इन श्रीकृष्ण को निखिल आत्माओं की आत्मा समझो। ये तो यहाँ व्रज में जगत्-हित के लिये अपनी कृपा से देहधारी के समान प्रतीत हो रहे हैं। (श्रीमद्भागवत)

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारमाह—वागिन्द्रियोपलक्षितानि सर्वाणीन्द्रियाणि मनसि यच्छेत्। मनसीति दैर्घ्यं छान्दसम्। तन्मनो ज्ञान आत्मनि बुद्धौ, बुद्धेर्ज्ञानत्वमात्मत्वञ्च जीवसम्बन्धात्। ज्ञानञ्च आत्मनि महति जीवे, तच्च शान्ते सर्वकारणे ब्रह्मणि यच्छेत्। यदि पूर्वत्र महच्छब्देन महत्तत्त्वं गृहीत्वा तत्रत्यासत्त्या तत्कारणं प्रधान-मानुमानिकमव्यक्तशब्देन गृह्यते तर्हि महच्छब्देनात्रापि तद्ग्रहणसम्भवान्महान्तं शान्ते यच्छेदित्यनिष्टपातः स्यादतो वाक्यशेषोऽपि शरीररूपकविन्यस्तग्रहणं दर्शयतीत्यर्थः। इत्थं व्याख्यातो भाष्यकारैर्वेदान्तकौस्तुभेऽस्य मन्त्रस्यार्थः ॥३॥

सान्वयानुवाद—प्राज्ञः = ज्ञानवान्, वाक् मनसि यच्छेत् = अपनी वाणी को मन

में संयमित करे, तत् ज्ञाने आत्मनि यच्छेत् = उस मन को ज्ञानरूप आत्मा में अर्थात् बुद्धि में संयमित करे, ज्ञानं आत्मनि महति = ज्ञान को जीवात्मा में, तत् शान्ते आत्मनि = उस ज्ञान को शान्त ब्रह्म में संयमित करे ॥१३॥

व्याख्या—अब इन्द्रियों को वश में करने का उपाय बतलाते हैं—बुद्धिमान् मनुष्य वाक् इत्यादि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन में स्थिर करे। मन को ज्ञानस्वरूप बुद्धि में स्थिर करे। ज्ञानस्वरूप बुद्धि को चित्स्वभाव जीव में स्थिर करे और जीव को शान्त = सबके कारण ब्रह्म में स्थिर करे ॥१३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४ ॥

तत्त्वप्रकाशिका—इत्थं वशीकारप्रकारं निरूप्य वेदपुरुषो भगवदभिमुखीकरणेन पुंसां हितमुपदिशति—हे अधिकारिण: ! संसार एव निषण्णा यूयमुत्तिष्ठत = भगवज्ज्ञानाभिमुखा भवत। जाग्रत = अज्ञाननिद्राया घोररूपाया: सर्वानर्थबीजभूताया: क्षयं कुरुत। कथं जागरणम्, वरानुत्तमानाचार्यान्वेशशास्त्रसम्पन्नान् प्राप्य निबोध = अवगच्छत। भगवद्वासुदेवस्य स्वरूपमिति शेष:। नोदासितव्यमित्यर्थ:। किमर्थं भगवद्बोधसम्पादनीय:, संसारनिवृत्ते: कारणान्तरेणापि सम्भवादित्यत आह—क्षुरस्येति। इयं संसृति क्षुरस्य धारेव निशिता तीक्ष्णीकृता अत एव दुरत्यया ज्ञानं विनाऽत्येतुमशक्या। तत् तस्मात् पथ: पन्थानं मोक्षमार्गं दुर्गं भगवत्स्वरूपज्ञानं विना गन्तुमशक्यमिति कवयो मेधाविनो वदन्ति। भगवज्ज्ञानस्य अन्यत अपि सम्भवात् किमाचार्योपदेशेनेत्यत आह—दुर्गमिति। आचार्योपदेशमन्तरेण कदापि ज्ञातुमशक्यमिति कवयो वदन्ति ॥१४॥

सान्वयानुवाद—उत्तिष्ठत = उठो, जाग्रत = जागो, वरान् = भगवत्तत्त्वज्ञ पुरुषों को, प्राप्य = पाकर, निबोधत = भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप को पहचान लो, कवय: = तत्त्वदर्शी जन, वदन्ति = बतलाते हैं—तत् पथ: क्षुरस्य निशिता दुरत्यया धारा दुर्गम् = वह रास्ता जैसे चाकू, तलवार की शान पर तेज की हुई अत: उसमें चलना अत्यन्त कठिन है ॥१४॥

व्याख्या—इस मन्त्र का भाव इस प्रकार समझना चाहिये—श्रीभगवान् ने महाभारत में अर्जुन से कहा है—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते' ॥

हे अर्जुन ! जिनके चित्त अव्यक्त में प्रसक्त है उनको अधिकतर क्लेश होता है। क्योंकि देहधारियों के लिये अव्यक्तविषयिणी गति ही दु:ख है, अन्त में उन्हें दु:ख ही मिलता है। भगवान् के चरणारविन्द के ध्यान से अथवा उनके भक्तों की सुमधुर लीला-कथा के श्रवण से जो अनुपम सुख मिलता है वह अव्यक्तासक्त में कहाँ ?

'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद् भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किम्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्' ॥ (श्रीमद्भा. ४।९।१०)

इसलिये मेधावी जन उस अव्यक्त मार्ग को दुर्गम बतलाते हैं, क्योंकि उसमें काँटे बिछाये हुए हैं। जिस तरह तलवार की तीक्ष्ण धारा पर चलना कठिन है वैसा ही वह अव्यक्त मार्ग कठिन है। हे अधिकारियो! उठो, जागो, मनीषियों के पास जाकर भगवद्ध्यान तत्त्वोपदेश प्राप्त करो, कालरूपी अजगर ने इस संसार को पकड़ कर रखा है। इस दुर्लभ मानव-शरीर को पाकर यहाँ सोने से कार्य नहीं चलेगा ॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

तत्त्वप्रकाशिका—कुतः शब्दाद्यनात्मकत्वेन श्रोत्राद्यविषयत्वादित्याह—यद्वा दुर्गमत्वमुपपादयितुमितरवैलक्षण्यं वदन्नाचार्योपदेशेन परब्रह्मणः स्वरूपनिश्चयस्तदनुग्रह-लभ्य एव मोक्षस्य साधनमित्याह—शब्दो न भवतीत्यशब्दमित्यादिना पञ्चतन्मात्रावैल-क्षण्यमुच्यते। अगन्धमित्यत्रापि ग्राह्यम्। अगन्धमित्यनेनोपलक्षणेन पञ्चमहाभूतवैल-क्षण्यम्। तत्र हेतुरव्ययमिति। अपचयशून्यम्। यच्छब्दस्य तमित्युत्तरेणान्वयः। न विद्य-ते आदिरुत्पत्तिः पराधीनप्राप्त्यादिलक्षणा यस्य सोऽनादिः। न विद्यतेऽन्तः परिच्छेदो देशतः कालतो गुणतो वा यस्यासावनन्तः। अनादिश्चासावनन्तश्च अनाद्यनन्तं महतश्च-तुर्मुखात्परं तं परमात्मानं आचार्योपदिष्टं ध्रुवं स्थिरं निचाय्य दृष्ट्वा दर्शनसम-कालीनानवरतभगवद्गुणविषयकस्मृतिसन्तानरूपध्यानेन विषयीकृत्य मृत्युमुखात् भीषणात्संसारान्मुच्यते ॥१५॥

सान्वयानुवाद—यत् = जो, अशब्दम् = शब्दरहित, अस्पर्शम् = स्पर्शरहित, अरूपम् = रूपरहित, च = और, अगन्धवत् = बिना गन्धवाला है, तथा = और, अव्ययम् = व्ययरहित है, नित्यम् = नित्य, अनन्तम् = अनन्त, अनादि = स्वतन्त्र, महतः परम् = चतुरानन ब्रह्मा से श्रेष्ठ है, ध्रुवम् = स्थिर, तत् = उस परमात्मा को, निचाय्य = देखकर, मृत्युमुखात् = मृत्य के मुख से, प्रमुच्यते = छूट जाता है ॥१५॥

व्याख्या—इस मन्त्र में उस परब्रह्म परमात्मा का प्राकृत पञ्चतन्त्रमात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध एवं अशब्द इत्यादि वचन से वैलक्षण्य दिखलाया गया है और अगन्धवत् इस पद से पञ्चमहाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—से वैलक्षण्य कहकर 'महतः परं' और ब्रह्मा से श्रेष्ठ कहा गया है। वे नित्य हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, अव्यय और ध्रुव हैं। वे तीनों काल में सत्य हैं। ज्ञान-वैराग्य से युक्त भक्तिमान् मनुष्य उस परमात्मा को दर्शन समकालीन निरन्तर भगवत्स्वरूपगुणादि विषयक (ज्ञान) अथवा स्मरणपरम्परारूप ध्यान से विषय बनाकर भयानक संसार से छूट जाता है अर्थात् श्रीभगवद्भावापत्तिरूपा मुक्ति का लाभ करता है ॥१५॥

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः' ॥ (श्रीमद्भा.१०।२८।१४)

हे राजन्! अव्यय, अप्रमेय, निर्गुणात्मा, गुणात्मा भगवान् का प्राकट्य (प्रकटीकरण) मनुष्यों के कल्याण के लिए होता है।

'योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलमनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिर्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु' ॥
(श्रीमद्भा.६।४।३३।)

जो नाम और रूप से रहित होते हुए भी भजन करने वाले भक्तों के अनुग्रहार्थ अपने दिव्य जन्म-कर्मों के द्वारा नाम-रूप धारण कर दर्शन देते हैं, वे भगवान् परमात्मा अनन्त मुझ पर प्रसन्न हों॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

तत्त्वप्रकाशिका—श्रुतिः पूर्वोक्तां विद्यां स्तौति—नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतम्। मृत्युना यमेन प्रोक्तं मृत्योः प्रवक्तृत्वमेव न स्वातन्त्र्येण प्रवक्तृत्वम्। अत एव सनातनमपौरुषेयत्वात् प्रवाहरूपेण नित्यम्। ब्राह्मणेभ्य उक्त्वा आचार्यमुखादिद-मुपाख्यानं श्रुत्वा मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन् महीयते पूज्यते ॥१६॥

सान्वयानुवाद—मेधावी = अच्छी स्मरणशक्तिवाला पुरुष, मृत्युप्रोक्तम् = मृत्यु के द्वारा कहा हुआ, नाचिकेतम् = नचिकेता की, सनातनम् उपाख्यानम् = सनातनी कथा, उक्त्वा च श्रुत्वा = वर्णन करके या उसका श्रवण करके, ब्रह्मलोके = ब्रह्मलोक में, महीयते = पूजित होता है ॥१६॥

व्याख्या—जो बुद्धिमान् मनुष्य श्रद्धाभक्ति से इस अध्याय में यमराज और नचिकेता के संवाद को श्रवण करता है या उसका वर्णन करता है, वह ब्रह्मलोक में सदा पूजित होता है। यह कथा कैसी है ? जैसे गङ्गाजी की धारा अविच्छिन्न रूप से समुद्र में गिरती है, वैसे ही यह नाचिकेत सनातन उपाख्यान है ॥१६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

इति प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली ॥३॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—योऽधिकारी, इमं = वल्लीत्रयरूपमुपाख्यानं, परमं = प्रकृष्टं, गुह्यं = गोप्यं, श्रावयेत्। ब्राह्मणानां संसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा संश्रावयेत्। तत् श्रवणं श्राद्धं वा अनन्तफलाय कल्पते द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्थः ॥१७॥

इति काठकोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, प्रयतः = जितेन्द्रिय, इमं परमं = इस परम गुह्यं = गोपनीय उपाख्यान को, ब्रह्मसंसदि = ब्राह्मणों की सभा में, श्रावयेत् = सुनाता है, वा = अथवा, श्राद्धकाले = श्राद्ध के समय में सुनाता है, तत् आनन्त्याय कल्पते = वह श्रवण या श्राद्ध अनन्त फल देने में समर्थ होता है। तत् आनन्त्याय कल्पते ॥१७॥

व्याख्या—आजकल लोग श्रुति और शास्त्रों को पढ़ना तो दूर रहा, कोई प्रयोजन न होने के कारण ध्यान से उनको देखते भी नहीं हैं। ऐसे लोगों को इस परम गुप्त रहस्य को बतलाना भी नहीं चाहिये, उनको कहना व्यर्थ है। जो अधिकारी इस वल्लीत्रयरूप गोप्य उपाख्यान को स्वयं पवित्र होकर निर्मल मन से ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में भोजन करने वाले ब्राह्मणों को सुनाता है, वह वर्णन-श्रवण या श्राद्ध अनन्त फल देने वाला होता है। श्राद्ध में खीर, पूड़ी, सब्जी, हलुवा, मालपुआ, दधिमिष्टान्नादि से ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। शास्त्र-विधानानुसार श्राद्धकर्म करना चाहिये। जैसे कि शास्त्र में कहा है—

'न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया' ॥

'तदानन्त्याय कल्पत इति' ऐसा दुबारा कह कर अध्याय की समाप्ति करवाया है।

•

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—ब्रह्मविद्याधिकारवैराग्यनिरूपणपुरस्सरं ब्रह्मस्वरूपनिरूपणं द्वितीयाध्यायेनारभ्यते—खानि = श्रोत्रादीन्द्रियाणि, पराञ्चि = परानञ्चन्ति गच्छन्तीति शब्दादिविषयप्रकाशकानि न तु स्वात्मप्रकाशकानि। यस्मादेवं तानि स्वयम्भूः = स्वतन्त्रः परमेश्वरः, व्यतृणत् = हननं कृतवान्। 'तृह तुद हिंसायामि'ति धातुः। तस्मात् पराक् रूपान् = अनात्मभूतान् शब्दादीन्, पश्यन्ति = उपालभन्ते। अन्तरात्मानं नेत्यर्थः। लोकस्यैवं स्वभावे सत्यपि कश्चिद्धीरः = विवेकी, अमृतत्वं = मोक्षमिच्छन्, आवृत्तचक्षुः = विषय-व्यावृत्तेन्द्रियः सन्, प्रत्यगात्मानमैक्षत् = अपश्यत् ॥१॥

सान्वयानुवाद—स्वयम्भूः = भजन करने वाले भक्तों की इच्छा बहुविध नाम-रूप धारण करने वाले परमेश्वर ने, पराञ्चि खानि व्यतृणत् = शब्दादि विषयों की ओर जानेवाली इन्द्रियों को मार दी, तस्मात् = इसलिये, पराङ् पश्यति = बाहर की वस्तुओं को ही देखती हैं, अन्तरात्मन् न = अन्तरात्मा को नहीं, कश्चित् आवृत्तचक्षुः धीरः अमृतत्वम् इच्छन् प्रत्यगात्मानं ऐक्षत् = कोई विरला जितेन्द्रिय मनुष्य ही अमृतत्व को पाने की इच्छा करते हुए प्रत्यगात्मा वासुदेव को देखा है ॥१॥

व्याख्या—सर्वज्ञ परमात्मा ने शब्दादि विषयों की ओर जाने वाली अश्वरूपी श्रोत्रादि इन्द्रियों का हनन कर दिया, अर्थात् सारी इन्द्रियों को मार डाला; इसलिये मार दिया कि वे बाहर की चीजों को देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देखती। जो बाहर की ओर जाती हैं उन्हें 'पराञ्चि' कहते हैं। इन्द्रियग्राम को 'खानि' कहते हैं। 'ख' शब्द इन्द्रिय, पुर, क्षेत्र, शून्य, बिन्दु और आकाश का वाचक हैं। अत: खानि = इन्द्रियाँ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्। ये इन्द्रियाँ पराक्—अनात्म रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को ही देखती हैं—उपलब्ध करती हैं, नान्तरात्मन् = अन्तरात्मा को नहीं। इसलिये परमेश्वर ने इनको मार डाला। यथा अन्यत्र श्रुतियाँ परमात्मा का वर्णन करती हुई कहती हैं—

'जय जय जह्यजामजित' अर्थात् हे अजित ! आपकी जय हो; जय हो। आप इस अजा को मार डालो। (अजा अविद्यारूपिणी बकरी का नाश करो)

कश्चित् आवृत्तचक्षु: धीर: अमृतत्वम् इच्छन् प्रत्यगात्मानं ऐक्षत्। इसका अर्थ है—हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि-मुक्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वाले सिद्धों में भी कोई एक परमात्मा वासुदेव को तत्त्व से अवगत होता है। (गीता.७।३)

जैसे महाभागवत श्रीकर्दमजी सब भूतों में अवस्थित आत्मा में श्रीभगवान् को और सब भूतों की आत्मा को श्रीभगवान् में अवस्थित देखने लगे। उन्होंने इस प्रकार इच्छा-द्वेष से रहित, सर्वत्र समदृष्टि और भगवद्भक्ति से युक्त होकर भागवती गति को प्राप्त किया। (श्रीमद्भा.३।२४।४६-४७)

वैसे ही कोई जितेन्द्रिय पुरुष समस्त विषय-भोगों से हटकर और अपने मन को सब ओर से हटाकर मोक्ष को चाहता हुआ सर्वभूतात्मा परमात्मा वासुदेव को देखता है। प्रत्यगात्मानं ऐक्षत्—प्रत्येक जीवों के भीतर जो आत्मा रहती है उसको देखता है ॥१॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—न सर्वथा मुमुक्षुर्विषयप्रमादी स्यादिति भावेनोक्तमेव विवृणोति—बाला: = अविवेकिन:, पराच: = बहिष्ठान् कामान् अनुयन्ति, अत: ते विततस्य = सर्वदेशकालेषु विस्तृतव्यापारस्य, मृत्यो: = यमस्य, पाशं = मरणमिति यावत्, यन्ति = यान्ति। अथ = तस्मात्, धीरा अमृतत्वं = मोक्षं, ध्रुवं = नित्यं विदित्वा इहाध्रुवेषु विषयेषु न प्रार्थयन्ते। प्रत्यक् तत्त्वज्ञस्य सर्वं जिहासितव्यमिति भाव:। परात्मन: सर्वजीवगताहन्तास्पदत्वेन मुख्याहमर्थत्वात् प्रत्यक्त्वमस्तीति द्रष्टव्यम् ॥२॥

सान्वयानुवाद—बाला: = मूर्ख, पराच: कामान् = बाहर की कामनाओं-इच्छाओं का, अनुयन्ति = अनुसरण करते हैं, ते = वे मूर्ख, विततस्य = सब जगह फैले हुए, मृत्यो: = मृत्यु के, पाशं यन्ति = पाश-बन्धन में जाकर गिरते हैं,

अथ = इसलिये, धीराः = जितेन्द्रिय मनुष्य, ध्रुवं = नित्य, अमृतत्वं = भगवद्भाव को, विदित्वा = जानकर, इह = इस अनित्य असुख लोक में, अध्रुवेषु = अनित्य-असुख पदार्थों में से किसी को (भी), न प्रार्थयन्ते = नहीं चाहते हैं ॥२॥

व्याख्या—अविवेकी मनुष्य ही बहिष्ठ विषयों के पीछे पड़ते हैं, वे विषय अल्प समय रहने वाले और पश्चात् नष्ट होने वाले होते हैं। जैसे किसी गरीब को धन की प्राप्ति हो जाय, फिर उसका सब धन नष्ट हो जाय या चोरों द्वारा चुरा लिया जाय। इस प्रकार धन प्राप्त होकर खो जाता है। अतः ये बाह्य विषय-भोग, धन-सम्पत्ति चिरस्थायी एवं नित्य नहीं हैं। जो इस दुर्लभ मानव-जीवन को खो देते हैं वे मूर्ख हैं। निश्चय ही वे समस्त देश-कालव्यापी यम के पाश में बँध जाते हैं। 'अथ धीराः' इसलिये जो बुद्धिमान् होते हैं वे इनसे सर्वथा विरक्त होकर 'ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्' इन तत्त्व का निरन्तर ध्यान करते हैं। इन अनित्य विषयों में से किसी को भी नहीं चाहते हैं ॥२॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—येन साधनेन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनांश्च मैथुननिमित्तान् सुखविशेषान् जानाति सर्वो लोकः। 'तदेवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ.४।४।१६) इति रूपादिप्रकाशकानामिन्द्रियाणां तदनुगृहीतानामेव कार्यजनकत्वादिति भावः। आत्मनाऽविज्ञेयं किमत्रास्मिंल्लोके परिशिष्यते। न किञ्चित् परिशिष्यते। स आत्मा सर्वज्ञ एतत् वै तत्। तत्पूर्वं प्राप्यतया निर्दिष्टं विष्णोः परमं पदम्। एतत् वै एतदेवैतन्मन्त्र-प्रतिपाद्यात्मस्वरूपमेवेत्यर्थः ॥३॥

सान्वयानुवाद—येन रूपं रसं गन्धं स्पर्शान् शब्दान् च मैथुनान् = जिस साधन से रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द और मैथुन को, विजानाति = जानता है, एतेन एव आत्र परिशिष्यते किम् = इससे ही यहाँ परिशेष रह जाता है क्या, एतत् वै तत् = यही वह है ॥३॥

व्याख्या—जिससे रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श एवं स्त्रीसङ्ग से प्राप्त सुख का अनुभव करता है—इस बात को तो सब लोग जानते हैं। 'व्यवायो गाम्यधर्मो मैथुनं निधुवनं रतम्' इत्यमरः। मनुष्यों की आयु बहुत थोड़ी है। उसमें भी रात्रियाँ नींद और स्त्रीसङ्ग से व्यतीत होती हैं और दिन धन की चिन्ता एवं कुटुम्ब के भरण-पोषण इत्यादि विषयों से बीत जाते हैं (श्रीमद्भा.२।१।३)। आत्मा ज्योतियों के भी ज्योति स्वरूप है, सर्वज्ञ है; इसलिये कुछ परिशिष्ट नहीं रहता। एतद्वै तत् = यहाँ वेदान्तियों को जरा ध्यान देना चाहिये कि वह परमपद को ही ये वैष्णव परमपद कहते हैं ॥३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—स्वप्नान्तं निखिलं स्वप्नप्रपञ्चं जाग्रत्प्रपञ्चञ्च मन आदीन्द्रिय-भावमापन्नेन येन परमात्मना लोकः पश्यति। महान्तमिति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

सान्वयानुवाद—स्वप्नान्तं = स्वप्न के अन्त को, च = और, जागरितान्तं = जाग्रत् अवस्था के अन्त को, उभौ = इन दोनों को, येन = जिससे, अनुपश्यति = देखता है (तम् इति शेषः), उस महान्तं = महान्, आत्मानं = आत्मा, विभुं = विभु को, मत्वा = जानकर, धीरः न शोचति = बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥४॥

व्याख्या—जिस परमात्मा श्रीकृष्ण के साहचर्य से यह जीवात्मा स्वप्न अवस्था में अखिल स्वाप्न प्रपञ्च को एवं जाग्रत् प्रपञ्च मन आदि इन्द्रियों को देखता है अर्थात् इन सबका अनुभव करता है, उस महात्मा परमात्मा श्रीकृष्ण का आराधन करके विवेकी मनुष्य कदापि शोक नहीं करता ॥४॥

जैसे कि भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा है—

'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्'।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वै तत् ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—यः कश्चिदिदमिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवात्मानमन्तिकमात् जीवस्यान्तिके समीपे भूतस्य भव्यस्य वर्त्तमानस्य कालस्येशानमीश्वरं हरिं वेद जानाति। स ततो भगवज्ज्ञानसामर्थ्येनान्यविषयकभयाभावान्न विजुगुप्सते आत्मानं गोप्तुं नेच्छति। एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥५॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, मध्वदं = अपने कर्म का फल, जीवमन्तिकात् = जीव के नजदीक, भूतभव्यस्य = भूत, भविष्य और वर्त्तमान का, ईशानं = शासन करने वाले, इमं = इस भगवान् श्रीहरि को, वेद = जानता है, ततः (सः) आत्मानं न विजुगुप्सते = उसके बाद वह अपनी रक्षा करना नहीं चाहता ॥५॥

व्याख्या—यहाँ 'मध्वद' पद का अर्थ है—कर्मों का फल, क्योंकि जीव के लिये ही कहा गया—'पिप्पलं स्वादु अत्ति', 'स्वकृतम्भुजः', 'स्वकृतभुक् पुमान्'। परमात्मा सबके समीप में एवं सबके हृदयों में सदा विराजमान है। भूत-भावी-भवन् का नियन्ता है। जीवात्मा—मध्वदं = मधु + अदं = मीठा फल खाता है, अपने कर्मों को भोगता है। जो परमात्मा श्रीहरि को तीनों काल का शासक समझता है, संसार में किसी से उसको भय नहीं होता एवं अपनी रक्षा किसी से नहीं चाहता ॥५॥

अब श्रुतियाँ कहती हैं—ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त भूत उन महाभूत परब्रह्म श्रीकृष्ण से ही उत्पन्न हुए हैं। अतः जो कुछ भी पदार्थ है, सब उन्हीं का नाम-रूप विशेष है। इस सम्पूर्ण जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एवं विश्वजन्मादि हेतु सर्वोपास्य सर्वभिन्नाभिन्न परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं। वे एक ही बहुविध नामरूपों से दृष्टि-गोचर हो रहे हैं।

निकला। उसमें से चतुरानन ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचि के कश्यप हुये। कश्यप द्वारा अदिति से विवस्वान् का जन्म हुआ। विवस्वान् की पत्नी संज्ञा से श्राद्धदेव मनु के रूप में उत्पन्न हुए (एवं यम और यमुना युगलसन्तान भी उत्पन्न हुई)। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति के अनुसार परमात्मा से सारे प्राणियों की सृष्टि से जगत् भर गया।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—कर्मजन्यफलानामदनाद् भक्षणाद् अदितिः = जीवात्मा प्राणेन सम्भवति। प्राणेन सह वर्त्तमाना देवतामयी। इन्द्रियाधीनभोगा। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती। हृदयपुण्डरीककुहरवर्त्तिनी। तामेव विशिनष्टि। या भूतेभिर्भूतैः समन्विता व्यजायत विविधाकारेण देवादिरूपेण जायते। एतत् वै तत्। तत्तदात्मकमित्यर्थः ॥७॥

सान्वयानुवाद—या = जो, देवतामयी अदितिः = देवमाता अदिति, प्राणेन सह = प्राण के साथ, सम्भवति = सम्यक् उत्पन्न होती है, या भूतेभिः = जो भूतों के साथ, व्यजायत = विविध नाम-रूपों में उत्पन्न हुई, गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीम् = हृदय-कमलकुहर में घुसकर रहने वाली, एतत् वै तत् = वह ब्रह्मात्मिका है ॥७॥

व्याख्या—देवमाता अदिति देवतामयी हैं, कर्मजन्य फलों का अदन = भक्षण = उपभोग करने वाली होने से जिनका नाम अदिति जीवात्मा है। जो प्राण के साथ रहती हैं। समस्त देवताओं के हृदय-पुण्डरीककुहर में प्रवेश कर रहने वाली हैं। जो विविध आकार—देवादिरूप से उत्पन्न होती है ॥७॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वै तत् ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—योऽधियज्ञे उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदाग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ता गर्भिणीभिरन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना सुभृतः = सुष्ठु सम्यक् भृतो गर्भ इव निहित इति पूर्वेणान्वयः। उदित्यवधारणे। दिवे दिवे = अहनि अहनि, ईड्यः = स्तुत्यः वन्द्यश्च। जागृवद्भिः = जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैः। हविष्मद्भिः = आज्यादिमद्भिर्ऋत्विग्भिः। मनुष्येभिः = मनुष्यैश्च स्तुत्योऽग्निः। एतद्वै तत्। एतदग्नि-स्वरूपं तत्पूर्वोक्तब्रह्मात्मकमित्यर्थः ॥८॥

सान्वयानुवाद—अरण्योः जातवेदाः अग्निः निहितः = दो अरणियों के भीतर जातवेदा अग्नि छिपी रहती है, इव गर्भिणीभिः गर्भः सुभृतः = जैसे गर्भवती स्त्रियों के द्वारा गर्भ सुरक्षित रहता है, जागृवद्भिः = जागने वाले, हविष्मद्भिः = हवन करने वाले, मनुष्येभिः = मनुष्यों द्वारा, दिवे-दिवे ईड्यः = प्रतिदिन अग्नि स्तुति करने योग्य है ॥८॥

व्याख्या—जैसे याज्ञिक पुरुष काष्ठद्वय को मन्त्रों द्वारा मन्थन कर काष्ठ में

निहित अग्निदेव को प्रकट करते हैं, जैसे गर्भिणी स्त्रियों द्वारा सम्यक् धारण किये हुए अनिन्दित अन्न-पान-भोजनादि से परिपुष्ट बालक गर्भ में निहित रहता है; वैसे ही जागरणशील, हविष्मान् उपासकों द्वारा प्रतिदिन जातवेदा अग्निस्वरूप—ज्योतिस्वरूप श्रीकृष्ण स्तुत्य एवं वन्दनीय है ॥८॥

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' अर्थात् सम्पूर्ण वेदों से जानने योग्य जो वस्तु है वह मैं ही हूँ। (गीता.१५।१५)

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—सूर्यः सृष्टिकाले यतो ब्रह्मणः सकाशादुदेति। यत्र च प्रलयकालेऽस्तमदर्शनञ्च गच्छति। देवाः सर्वे यस्मिन्नात्मनि अर्पिताः प्रतिष्ठिताः। तदु नात्येति कश्चन। तत् सर्वात्मकं ब्रह्म कोऽपि नातिक्रामति। छायावदन्तर्यामिणो दुर्लङ्घ्यत्वादिति भावः। एतद्वै तत्। उक्तोऽर्थः ॥९॥

सान्वयानुवाद—यतः सूर्यः उदेति = जिससे सूर्य उदय होता है, च = और, यत्र अस्तं गच्छति = जहाँ अस्त को जाता है, तं सर्वे देवाः अर्पिताः = उसमें सब देवसमुदाय प्रतिष्ठित हैं, तत् उ कश्चन न अत्येति = उसको कोई (कभी भी) नहीं लाँघ सकता, एतत् वै तत् ॥९॥

व्याख्या—यदि परमात्मा कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सर्वसमर्थ न हो तो उनका पराक्रम किस काम का ? उनका शासन सर्वोपरि है। सब सूर्यादि देवगण उनमें स्थित रहते हुए लगातार अपने-अपने व्यापार में लगे हुए हैं। जब सृष्टि का समय होता है तब परमात्मा श्रीकृष्ण से सूर्य उदय होता है और प्रलय के समय सूर्य उनमें जाकर अदर्शन हो जाता है। कोई भी उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदेव ब्रह्म स्वात्मस्थत्वेनेह लोकेऽनुसन्धीयमानं तदेव लोकान्तरे तत्रस्थानां पुंसां स्वात्मस्थत्वेनानुभूयते। तस्मादात्मभेदो नास्तीत्यर्थः। इह = परमात्मनि। नानेव अत्र इवशब्द उपमायां, यथा परमात्मनि अत्यन्तभेदं तथैव अत्यन्ताभेदम्। यः पश्यति स मृत्योः = मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते। अतो न ब्रह्मणा चेतनानामत्यन्तभेदः, नाप्यत्यन्ताभेदः। किन्तु चेतनाचेतनयोर्ब्रह्मणा सह भेदाभेदः। सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वव्यापकत्वस्वतन्त्रसत्त्वसर्वाधारत्वयोगेन स्वरूपेण भेदः। ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्यत्वतद्व्याप्यत्वततन्त्रसत्त्वपराधेयत्वादियोगेन च स्वरूपेण चाभेदः। अतो न गुणसाङ्कर्यदोषावकाशः प्रसज्येत, न वयं स्वरूपतो जीवेशयोरैक्यमभ्युपगच्छामो येनोक्तदोषः प्रसज्येत। किन्तु इतरेतरात्यन्तविलक्षणत्वात् ब्रह्मणश्चेतनाचेतनयोश्च स्वरूपेण भिन्नत्वमभिन्नत्वञ्चाभ्युपगच्छामः ॥१०॥

सान्वयानुवाद—यत् इह तत् एव अमुत्र = जो यहाँ है वही वहाँ है, (और) यत् अमुत्र तत् अनु इह = जो वहाँ दूसरे लोक में है वही यहाँ इस लोक में है, इव = उपमा में, यः = जो, इह = परमात्मा में, नाना पश्यति = नाना देखता या मानता है, सः = वह, मृत्योः मृत्युं आप्नोति = एक मृत्यु के पीछे दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता है ॥१०॥

व्याख्या—जो परब्रह्म स्वात्मस्थ रूप से इस भूलोक में अनुसन्धीयमान है उसी परब्रह्म को ही दूसरे लोक में रहने वाले मनुष्य स्वात्मस्थ रूप से अनुभव करते हैं। समस्त देहधारी जीवों में एक ही अजन्मा परमात्मा श्रीकृष्ण अन्तर्यामी रूप से निवास करते हैं। जैसे सब आँखों में एक ही सूर्य होता है (श्रीमद्भा. १।९।४२), इसलिये उनमें भेद नहीं है। वे सर्वात्मा हैं, समदर्शी हैं। इस मन्त्र में 'इव' पद का प्रयोग उपमा अर्थ में हुआ है। जैसे परमात्मा में अत्यन्त भेद और वैसे ही परमात्मा में अत्यन्त अभेद को जो देखता या मानता है वह पुनः-पुनः जन्म-मरण भाव को प्राप्त होता है।

इसलिये परब्रह्म के साथ चेतनों का न अत्यन्त भेद है और न अत्यन्त अभेद ही है किन्तु चेतनाचेतनों का परब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है। गजेन्द्र ने भी श्रीभगवान् की इस प्रकार स्तुति की है—

'सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदनम्।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम्' ॥ (श्रीमद्भा. ८।३।२६)

विश्वं = भेदम्, अविश्वं = अभेदम्। सोऽहं परं प्राप्यं भेदाभेदं ब्रह्म प्रणतोऽस्मीत्यन्वयः।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदि सर्वप्राणिनामन्तर्यामी परमात्मा इत्युच्यते, तथात्वेनास्माकं कुतो नोपलभ्यत इत्यत्राह—इदमात्मस्वरूपं श्रवणादिसंस्कृतेन मनसाऽऽप्तव्यम् = ग्राह्यम्। इह = जगत्कारणे ब्रह्मणि नानात्वन्नास्ति। तस्य सर्वास्वपि उपनिषत्स्वेकत्वावधारणात्। कारणनानात्वदर्शनस्य फलमाह—मृत्योरिति। नित्यसंसारी भवति, परमेश्वरे नानात्वदर्शित्वात्। इवशब्दोऽल्पार्थः। 'इवोपमायामल्पे च' इति कोशात्। स च कैमुत्यन्यायपरः। कारणे ब्रह्मणि यद्यल्पनानात्वदर्शनस्यापीदृक् फलं, किम्बहुत्वेनेत्यर्थः। ननु कारणे ब्रह्मणि भेदाप्रसक्तिरप्रसक्तस्य निषेधायोगादिति चेन्न कारणेऽनेकत्वप्रसक्तेः शास्त्रसिद्धत्वात्।

'जीवाद् भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्यचञ्चलाः।
जीवे प्रलयमृच्छन्ति न जीवात् कारणं परम्' ॥ इति।
'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव'।
'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता'।

'न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये' ॥

इत्यादिश्रुतिभिः कारणनानात्वस्य सुप्रसक्तत्वात् । इहेति विशेषणान्नानात्वमात्र निषेधसम्भवः तदाधारब्रह्मणो निषेधनिषेध्ययोर्नानात्वतदभावयोश्च भेदावश्यकत्वादिति अथवा नानाशब्दोऽत्र विनाऽर्थकः । 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह' इति सूत्रे महाभाष्यकारै- र्नानाविनाशब्दयोरेकार्थत्वोक्तेस्तथा चैवं योजना ।

इह जगति नाना स्वोपादानं परमेश्वरं विना किञ्चनापि वस्तुजातं नास्ति। सर्वकार्यावच्छिन्नस्य स्वोपादानाविनाभूतत्वात् ।

'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' ॥

इति श्रीमुखोक्तेः । अन्यत्स्पष्टम् । इत्थं द्वितीयाध्याये अध्यासपरपक्षगिरिवज्रे श्रीमन्माधवमुकुन्ददेवाचार्यचरणैरस्य मन्त्रस्यार्थो विवृतः ॥११॥

सान्वयानुवाद—इदं मनसा एव आप्तव्यम् = यह मन से ही प्राप्त करना चाहिये—ग्रहण करना चाहिये, इह किञ्चन नाना न अस्ति = इस जगत्कारण ब्रह्म में स्व-पर कुछ भेद नहीं है, यः इह नाना इव पश्यति = जो ब्रह्म में स्वकीय-परकीय भेद देखता है, सः मृत्योः मृत्युं आप्नोति = वह एक मृत्यु के पीछे दूसरे मृत्यु को प्राप्त होता है ॥११॥

व्याख्या—यह आत्मस्वरूप श्रवण, मनन और निदिध्यासन से परिष्कृत मन से ही ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। परमात्मा में बिल्कुल स्वकीय एवं परकीय भाव नहीं है। अथवा इस जगत् में स्वोपादान परमात्मा के बिना कुछ भी नहीं है। सब जगह वही है। यह नाम-रूप विश्व उन्हीं का स्वरूप है। इस जगत् में परमात्मा से कुछ भी भिन्न पदार्थ नहीं है। बाकी अर्थ पूर्ववत् है ॥११॥

देवगुरु बृहस्पति जी के शिष्य सर्वशास्त्रविशारद उद्धवजी ने कहा है—

'दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाऽच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमात्मरूपः' ॥
(श्रीमद्भा. १०।४६।४३)

जिनको उपर्युक्त श्लोक का अर्थ मालूम हैं वे ही वास्तविक पण्डित एवं दार्शनिक हैं।

'सा विद्या सन्मतिर्यया, सा विद्या या विमुक्तये'। वह विद्या है जिससे परब्रह्म परमात्मा में मति-बुद्धि लगे, वह विद्या है जिससे मुक्ति मिले।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद् वै तत् ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—अङ्गुष्ठमात्रः = अङ्गुलपरिमाणः। हृद्यकाशापेक्षयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वोक्तिः। पुरुषः = पूर्णः षड्गुणो भगवान्। आत्मनि = शरीरे। मध्ये = गुहायां तिष्ठति। परमात्मानं विशिनष्टि—ईशानो भूतभव्यस्येति। कालत्रयवर्तिनिखिलचेतनस्येश्वरो नियन्ता। न तत इति पूर्ववत्। एतत् विशेषणेन जीवात्मनो व्यावृत्तिस्तस्य भूतभव्येशानत्वाभावात्। 'शब्दादेव प्रमितः'। (ब्र.सू.१।३।२४) इत्यधिकरणे भूतभव्येशितृत्वलिङ्गादयं मन्त्रः परमात्मपर एवेति सिद्धान्तिततत्वात्। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठश्च समाश्रितः' (१६।३) इति तैत्तिरीयके। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः'। इति श्वेताश्वतरे (३।१३) चाङ्गुष्ठमात्रत्वस्य परमात्मन्यपि श्रवणात्॥१२॥

सान्वयानुवाद—अङ्गुष्ठमात्रः = अंगूठे के बराबर, पुरुषः = षड्विध ऐश्वर्य-परिपूर्ण भगवान् श्रीहरि, ईशानः = सबका स्वामी, आत्मनि मध्ये तिष्ठति = शरीर के बीच में रहते हैं। भूतभव्यस्य = भूत और भविष्य का नियन्ता है। ततः न विजुगुप्सते = जो इस प्रकार जानता है उसको संसार में किसी से भय नहीं होता है॥१२॥

व्याख्या—अब परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण का वर्णन करते हैं—वे अँगूठे के बराबर आकार वाले, मुकुटमण्डित पीताम्बर धारण किये हुए श्याम वर्ण के बड़े ही सुन्दर हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट हैं।

'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति'। (श्रीमद्भा.३।२९।३४) 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'। (गीता १५।१५)

'अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्'॥ (श्रीमद्भा.१।१२।८)

वे तीनों काल में (भूत-भावी-भवन्) रहने वाले सभी चेतन प्राणियों के शासक हैं। समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य इन छः गुणों से वे सर्वतः परिपूर्ण हैं। पुरुष शब्द से वेदान्तशास्त्र में श्रीकृष्ण ही लिये जाते हैं। इस प्रकार जो परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण को अपने हृदय में अँगूठे के रूप में स्थित देखता या अनुभव करता है एवं कालत्रय का स्वामी जानता है वह किसी की निन्दा नहीं करता, किसी का तिरस्कार नहीं करता; इसलिये उसको संसार में किसी से भय नहीं होता॥१२॥

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत्॥१३॥
यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥१४॥**

तत्त्वप्रकाशिका—अङ्गुष्ठमात्र इति पूर्ववत्। धूमानावृताग्निरिव प्रकाशकः। उरप्यर्थे। स एवाद्य वर्त्तते स एव श्वोऽपि वर्त्तिष्यते। अनाद्यनन्तकालेऽपि वर्त्तते।

कालत्रयवर्त्तिनो यावन्तः पदार्था उपलभ्यन्ते ते सर्वेऽपि भगवदात्मका इति भावः। एतद्वै तत् पूर्ववत्। यथा पर्वतेषु दुर्गे = गिरिशिखरे, दृष्टं = सिक्तं, उदकं = जलं, निम्नप्रदेशेषु विधावति। एवं परमात्मगतदेवान्तर्यामित्वमनुष्यान्तर्यामित्वादिधर्मान् पृथगधिकरणनिष्ठान् पश्यन् पर्वतनिर्झरपातमनुकृत्य संसारकुहरे पततीत्यर्थः ॥१३-१४॥

सान्वयानुवाद—भूतभव्यस्य = भूत-भविष्य का, ईशानः = नियन्ता, अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः = अँगूठे के बराबर आकार वाले भगवान्, अधूमकः ज्योतिः इव = धूम रहित ज्योति की भाँति। स एवं अद्य = वही आज है, स उ श्वः = वही कल भी रहेगा॥ यथा = जैसे, उदकं = जल, दुर्गे = ऊँचे शिखर पर, दृष्टं = छिडका हुआ, पर्वतेषु = पहाड़ों में, विधावति = चला जाता है। एवं = इस तरह, धर्मान् = धर्मों को, पृथक् = अलग, पश्यन् = देखकर, तान् एव अनुधावति = उन्हीं के पीछे दौड़ता रहता है॥१३-१४॥

व्याख्या—अखिल चेतन प्राणियों के नियन्ता और उनकी हृदयगुहा में स्थित अँगूठे के बराबर कुण्डल और मुकुट पहने धूम से अनावृत अग्नि के समान प्रकाशक भगवान् श्रीकृष्ण भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल का नियन्त्रण करने वाले सर्वसमर्थ ईश्वर हैं। वे परम दयालु आज हैं, वे कल भी रहेंगे और अनादि-अनन्त काल में भी रहते हैं॥१३॥

जैसे पहाड़ों पर छिड़का हुआ पानी नीचे की ओर बहने लगता है वैसे ही परमात्मा के भीतर रहने वाले देवान्तर्यामित्व-मनुष्यान्तर्यामित्वादि धर्मों को पृथक् अधिकरण करके जो देखता है वह पहाड़ी झरना पात का अनुकरण कर संसार रूप गुफा में गिरता है॥१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एव मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥१५॥

इति द्वितीयाध्याये चतुर्थी वल्ली समाप्ता।

तत्त्वप्रकाशिका—सवत्र देवादिषु मनुष्यादिषु चैक एव परमात्मेति विजानतो मुनेरात्माऽपि तज्ज्ञानेन विशुद्धः सन्परमात्मना समानो भवतीत्याह—हे गौतम! यथा शुद्धे उदके शुद्धं जलमासिक्तं योजितं तादृगेव तत्समदृशमेव भवति, न कथञ्चिद् विसदृशं भवति किन्तु न तत्तदेव भवति, अन्यथा बुद्धिदर्शनासम्भवात्। एवं विजानते मुनेरात्माऽपि मुक्तः सन् तादृगेव परमात्मसदृश एव भवति॥१५॥

इति काठकोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां द्वितीयाध्याये
चतुर्थी वल्ली समाप्ता॥

सान्वयानुवाद—गौतम = हे गौतम! यथा = जैसे, शुद्धं उदकं = शुद्ध जल, शुद्धे आसिक्तं = शुद्ध जल में डालने पर, तादृग् एव भवति = वैसा ही हो जाता है, एवम् = इस तरह, विजानतः मुनेः आत्मा भवति = जानने वाले मुनि का आत्मा भगवत्साधर्म्य हो जाता है॥१५॥

व्याख्या—जैसे वर्षा का शुद्ध जल किसी जलाशय में गिरा तो उसके शुद्ध जल में वह मिल जाता है, शुद्ध जल में शुद्ध जल मिलकर तद्भाव—तत्समानता को प्राप्त होता है, ठीक उसी तरह मननशील आत्मज्ञानवान् पुरुष-जीव परमात्मा श्रीकृष्ण के समधर्मी हो जाता है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा भी है—

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'। (गीता १४।२)

॥ द्वितीय अध्याय की चतुर्थ वल्ली समाप्त ॥

•

अथ द्वितीयाध्याये पञ्चमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्चाविमुच्यते। एतद्वै तत् ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—पुरमेकादशद्वारम्। चक्षुषी श्रोत्रे नासिके मुखञ्चेति सप्त-शीर्षण्यानि नाभिरसनं गुह्यञ्चेति त्रीणि शिरस्येकमित्येकादशद्वारमिदं पुरम् = शरीरम्। अजस्य = जननादिरहितस्य। अवक्रचेतसः = ऋजुबुद्धेर्विवेकिन आत्मनः शरीराख्यं पुरं भवतीत्यर्थः।

यस्येदं पुरं तं पुरस्वामिनं शरीरात्पृथग्भूतमिति। हरेरधीनस्थितिप्रवृत्तिकमिति च विविच्य परमात्मानमनुष्ठाय ध्यात्वा न शोचति। शरीराभिमानकृतो हि शोकः। शरीरस्य भगवदधीनस्थितिप्रवृत्तिकत्वेन तदभिमानाभावान्न शोक इति भावः। एतद्वै तत्। एतन्मन्त्रेण यत्प्रत्यगात्मनः स्वरूपमभिहितं तद्भगवदायत्तत्वात् तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥१॥

सान्वयानुवाद—अवक्रचेतसः = सरल हृदय ('चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः), अजस्य = अजन्मा आत्मा का, एकादशद्वारम् = ग्यारह दरवाजे वाला, पुरम् = शरीर है, विमुक्तः = निवृत्तिमार्गनिरत मुनि, अनुष्ठाय न शोचति = भगवान् की अहैतुकी भक्ति करके कभी शोक नहीं करता, च = और, विमुच्यते = (विषयों से) छूट जाता है ॥१॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सरल है ऐसे षड्विध विकारों से रहित चित्स्वभाव जीवात्मा का शरीर को नगर के रूप में कल्पना करके वर्णन करते हैं—जिसमें ग्यारह द्वार हैं। दो आँख, दो कान, दो नाक के छेद, एक मुख, नाभि, गुद—विष्टानिर्गमद्वार, शिश्न-मूत्रनिर्गमद्वार और एक मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र—ये ग्यारह द्वार हैं। इन द्वारों का द्वारपाल जीवात्मा है, क्योंकि इन सब दरवाजों को खुलना-बन्द करना यह द्वारपाल का ही कार्य होता। जीवात्मा का यह पाञ्चभौतिक शरीर ग्यारह द्वारों वाला एक नगर है। इन ग्यारह द्वारों में से एक बड़ा द्वार है, जिसका नाम 'देहकुहर' है, उसमें जो आत्मा के रूप में बैठा हुआ है उसका नाम 'क' ब्रह्म है। 'कं ब्रह्म' (छा.उ. ४।१।५) तब 'द्वारक' शब्द हो गया। द्वारक शब्द से ही टाप् प्रत्यय करके द्वारका शब्द बना हुआ है।

विवेकी मनुष्य इस रहस्य को बुद्धि से ठीक तरह विचार करके निर्मल मन से द्वारकाधीश परमात्मा श्रीकृष्ण का ध्यान करके कभी शोक नहीं करता। वह जन्म-जरा-मरणादि रूप संसाराब्धितरङ्ग से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है ॥१॥

हꣳसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—हंसः = सूर्यः, शुचिषत्–शुचौ = ग्रीष्मर्तौ सीदतीति शुचिषत् = तेजस्वी, वसुर्वायुः सर्वान्वासयतीति। अन्तरिक्षे सीदतीति अन्तरिक्षषद् अन्तरिक्षगतः। वेद्यां पूज्यतया सीदतीति वेदिषत्। होताऽग्निः। 'अग्निर्वै होता' इति श्रुतेः। अतिथिः सोमः सन् दुरोणे कलशे सीदतीति दुरोणसत्, ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति वा। नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरेषु देवेषु सीदतीति वरसत्। देवेषु वर्त्तमानम्। ऋतं सत्यलोको यज्ञो वा तस्मिन् सीदतीति ऋतसत्। व्योम्नि आकाशे परमपदे वा वर्त्तमानं व्योमसत्। अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति। गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति। ऋतेन जायते ऋतजाः कर्मफलभूताश्च स्वर्गादय इति यावत्। अद्रिजाः पर्वतेभ्यो जायन्ते नद्याद्याः। एतत् सर्वं बृहद् ऋतमपरिच्छिन्नसत्यरूपब्रह्मात्मकमित्यर्थः ॥२॥

व्याख्या—यह मन्त्र अनन्त अर्थ का बोधक है। चिन्तन-मनन करने से अनेकानेक अर्थबोध हो सकता है। अब इसके एक-एक शब्द की व्याख्या देखिये—

हंसः—अज्ञानं हन्ति, सर्वं गच्छतीति सर्वगो हंसो भगवान् श्रीकृष्ण एव = जो अज्ञान का हनन करता है एवं जो सबको व्याप्त कर सदा सर्वत्र रहता है वह हंसनामा भगवान् श्रीकृष्ण ही है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा भी है—'तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा'। (श्रीमद्भा. ११।१३।३७) 'हन हिंसागत्योः' धातु से 'हंस' शब्द बनता है।

शुचिषद्—जो अनवरत अखिलदेहधारी जीवों के पवित्र हृदय में निवास करते हैं उनको मैं नित्य प्रणाम करता हूँ। 'नित्यं शुचिषदे नमः'। (श्रीमद्भा. ४।२४।३७)

वसुः—सर्वान् वासयति यद्वा वसति सर्वस्मिन्निति = जो सबको व्याप्त करते हैं अथवा जो सबमें निवास करते हैं–वसुः = श्रीकृष्णः। 'वस निवासे' धातु से 'वसु' शब्द बनता है।

अन्तरिक्षसद्—अन्तर्हृदि साक्षिरूपेण सीदतीति सदा तिष्ठतीत्यर्थः = जो समस्त जीवों के विशुद्ध अन्तःकरण में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में साक्षिरूप से ठहरते हैं।

'भवानखिलदेहिनामरात्मदृक्'। (श्रीमद्भा. १०।३१।४)

आप सम्पूर्ण शरीरधारी जीवों के अन्तरात्मा तथा उनके द्रष्टा साक्षी हैं।

होता—'अग्निर्वै होता' = अग्नि ही होता है। इस श्रुति के अनुसार 'होता अग्नि को कहते हैं। यह उपलक्षण है। यज्ञ में जितनी वस्तुएँ होती हैं वह सब ब्रह्म ही हैं। 'त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयम्' (श्रीमद्भा.४।७।४५) अर्थात् आप क्रतु हैं, आप हवि हैं (अग्नि में डालने की वस्तु को हवि पद से कहते हैं), आप हुताश = अग्नि हैं। 'हुतं अश्नातीति हुताशोऽग्निः'।

वेदिषद्—वे यज्ञवेदी, तुलसीवेदी एवं ज्ञानवेदी में रहते हैं। 'कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये'। (श्रीमद्भा.१०।३०।७)

अतिथिः—आने तथा ठहरने की तिथि (समय) का निश्चय नहीं रहने से वह अतिथि ('न विद्यते तिथिर्यस्यासौ' इस विग्रह से) कहा जाता है।

'अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
स्वकीयं दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति'॥

अर्थात् जिस गृहस्थ के घर में अतिथि निराश होकर लौटता है वह उसे अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है। अतिथिरूप से दुरोण = घरों में छिपकर रहता है, इसलिये अतिथि को 'दुरोणसत्' पद से कहा। आगे श्रुतियाँ परब्रह्म श्रीकृष्ण का वर्णन करती हुई कहती हैं—

नृषद्—भगवान् श्रीकृष्ण सब मनुष्यों में जीवरूप से स्थित हैं। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति'। (श्रीमद्भा.३।२९।३४)

वरसद्—भगवान् श्रीकृष्ण सब देवताओं में निवास करते हैं। इसलिये देवताओं की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। 'नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः'। (श्रीमद्भा.११।२३।२९) सब देवताओं में निवास करने वाले एवं पाप-हरण करने वाले वे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों ('हरिर्हरति पापानि' इति स्मृतेः)।

ऋतसद्—प्रिय-मधुर वाणी का नाम 'ऋत' है। उसमें भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं। 'ऋतञ्च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्तिता'। (श्रीमद्भा.११।१९।३८) अर्थात् कवियों ने प्रिय-मधुर वाणी को 'ऋत' शब्द से कहा है। परन्तु महान् तपस्वी श्रीशुक्राचार्यजी ने कहा है—

'स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्'॥

अर्थात् स्त्रियों को मनाने में, हास-परिहास में, विवाह में, जीविका के विषय में, प्राणसङ्कट में, गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए एवं किसी की हिंसा हो रही हो तो अनृत = मिथ्या भाषण (झूठ बोलना) भी जुगुप्सित = निन्दित नहीं माना जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने भी कहा है—जहाँ सत्य (सच) बोलने से ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के वध की सम्भावना हो वहाँ साक्षी असत्य (झूठ) बोल सकता है।

व्योमसद्—भगवान् श्रीकृष्ण परमपद में ठहरते हैं। यद्यपि 'व्योम' शब्द

आकाश का वाचक होता है तथापि लक्ष्य के अनुसार ही व्याख्यान करना चाहिये। यहाँ व्योम पद का अर्थ है परमपद अर्थात् वैकुण्ठ, जहाँ भगवान् जनार्दन लक्ष्मीजी की गोद में चरणारविन्द को रखकर शयन करते हैं—'अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः' (श्रीमद्भा. १०।८९।७)

अब्जा—अप्सु जायते अब्जा = नलिनी। पानी में उत्पन्न कमल को अब्जा कहते हैं। यह तो सामान्य अर्थ है। परन्तु परमात्मा अप् जल में शङ्ख, शुक्ति (सीपी) और मकरादि रूपों से उत्पन्न होते हैं।

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त 'नलिनीं' गज उज्जहार"॥

कमल की कली में बन्द भौंरा यह सोच रहा था कि रात बीतेगी, सूर्य उदय होगा और कमल खिलेगा तो मैं बाहर निकलूँगा। इतने में हाथी आया और वह नलिनी = कमल को उखाड़ कर खा गया। उसके साथ-साथ वह भौंरा भी हाथी के पेट में चला गया और उसकी मृत्यु हो गयी।

गोजा—गो—पृथिवी में धान, गेहूँ, जौ, मकई इत्यादि रूप से परमात्मा उत्पन्न होते हैं। अथवा गो अर्थात् गाय। मनुष्य गौ का दूध, दही, मक्खन, मलाई एवं घी का पर्याप्त प्रमाण में सेवन करें। बुद्धिमान् मनुष्य गौ की सेवा अवश्य करें।

'प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु'।

(शुक्लयजुर्वेद-वाजसनेयसंहिता अ.२०, मन्त्र १०)

ऋतजा—ऋतेन यज्ञेन जायते ऋतजाः कर्मफलभूताश्च स्वर्गादयः।

अद्रिजा—पर्वतेभ्यो जायन्ते नद्याद्याः। ऋतं = सत्यं, बृहत् = ब्रह्म। एतत्सर्वं ब्रह्मात्मकमित्यर्थः ॥२॥

अब उपर्युक्त परमात्म-स्वरूप बोध के लिये लिङ्ग को कहते हैं—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—सर्वेषां हृदि स्थितः परमात्मा ऊर्ध्वं हृदयात् प्राणवायुम् उन्नयति = ऊर्ध्वं गमयति, तथाऽपानं प्रत्यक् = अधः, अस्यति = क्षिपति। मध्ये = हृदयपुण्डरीके आसीनं, वामनं = वमनीयमुपासकैर्भजनीयम्। सर्वे विश्वेदेवाः = चक्षुरादयः प्राणा रूपादिज्ञानबलिमुद्वहन्तो विशो राजानमिव परमात्मानमुपासते ॥३॥

सान्वयानुवाद—प्राणम् = प्राण को, ऊर्ध्वं = उपर, उन्नयति = ले जाता है, अपानं = अपान को, प्रत्यक् = नीचे, अस्यति = फेंकता है, विश्वेदेवाः = सब देव, मध्ये = बीच में, आसीनं वामनम् उपासते = बैठने वाले उपासनीय अतिसुन्दर वामन देव की उपासना करते हैं ॥३॥

व्याख्या—शरीर के भीतर चलने वाले वायु को 'प्राण' कहते हैं। वह एक ही है तथापि उपाधि-भेद से पञ्चप्राण = प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन नामों को प्राप्त करता है। (तर्कसंग्रह)

सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयस्थित परमात्मा प्राणवायु को ऊपर ले जाता है और अपान वायु को नीचे की ओर फेंकता है। इन दोनों के बीच में जो हृदयकमल है उसमें भगवान् वामनदेव बैठे हैं। चक्षुरादि इन्द्रियाँ उनको रूपादि ज्ञानबलि का उपहार देती हैं। जैसे वैश्यादि राजा की उपासना करते हैं वैसे ही समस्त इन्द्रियाँ परमात्मा की उपासना करती हैं ॥३॥

आश्रमों सहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण परमात्मा के अङ्ग से ही उत्पन्न हुए हैं और उनकी सन्तान हैं। जो लोग परमपिता परमात्मा की उपासना नहीं करते हैं उनका अधः पतन हो जाता है। वे वर्ण और आश्रम से भ्रष्ट होकर नीच योनियों में चले जाते हैं और नरक-तुल्य कष्ट भोगते हैं। भगवत्प्रपन्न लोग भगवदाराधन-भजन-कीर्त्तन के विषय में कोई तर्क या युक्ति नहीं लगाते हैं; वे केवल श्रद्धा-भक्ति-विश्वास से ही भगवान् श्रीहरि का भजन करते हैं।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥ एतद्वै तत् ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—शरीरस्थस्य = स्थूलशरीरस्य, अस्य = उपासकस्य, विस्रंसमानस्य = स्थूलं शरीरं त्यजतो देहाद् विशेषेण मुच्यमानस्य मुक्तस्य किमत्र परिशिष्यते। कृतकृत्यत्वात् कर्त्तव्यं किमपि नावशिष्यते। परब्रह्मणो वासुदेवस्यानवरतध्यायतो मुमुक्षोः 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' (छा.उ.६।१४।२) इति श्रुत्यनुसारेण शरीरपात एवान्तरीयो न किञ्चित्कर्त्तव्यं परिशिष्यते इति भावः। एतद्वै तत्। पूर्ववत् ॥४॥

सान्वयानुवाद—शरीरस्थस्य = शरीर में रहने वाला, देही = (देहः अस्यास्तीति देही) जीवात्मा, विस्रंसमानस्य = जब इस शरीर को छोड़ने लगता है, देहात् = शरीर से, विमुच्यमानस्य = मुक्त, अस्य = जीवात्मा का, किं अत्र परिशिष्यते = क्या यहाँ कुछ अवशेष (बचा) रहता है ? ॥४॥

व्याख्या—चित्स्वभाव जीवात्मा का जन्म या मरण स्वरूप से नहीं होता। यह षड्विध विकारवाले शरीर का ही जन्म और मरण होता है। प्रश्न—इस स्थूल मनुष्य-शरीर में रहने वाला देही (जीवात्मा) स्थूल शरीर का परित्याग करके जब शरीर से निकल कर चला जाता है तब यहाँ क्या उसका कुछ पाप-पुण्य (प्रारब्धकर्म) अवशिष्ट रहता है ? उत्तर—वह परमात्मा के महान् अनुग्रह से अनुगृहीत और कृतकृत्य हो जाने के कारण उसका कर्त्तव्य कर्म यहाँ कुछ भी बचा नहीं रहता है।

सतत भगवच्चरणारविन्द का हृदय में ध्यान करने पर भगवान् श्रीहरि जिस पर

कृपा कर देते हैं वह लोकनिष्ठ और वेदनिष्ठ मति को बिल्कुल छोड़ देता है। (श्रीमद्भा.४।२९।४६) 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इस श्रुति के अनुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण का निरन्तर ध्यान करने वाले मुमुक्षु पुरुष के लिए तभी तक विलम्ब है जब तक पाप-पुण्यरूप प्रारब्ध कर्म भोग द्वारा क्षय होकर देहपात नहीं हो जाता। उसके बाद वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ॥४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—सकलजीवनहेतुप्राणापानप्रेरकत्वं परब्रह्मणः इति निरूपयन् तयोरपि जीवनहेतुत्वरूपमाहात्म्यं दर्शयति—न प्राणेन नापानेन, मर्त्यः = मनुष्यो देहवान्, कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति। तर्हि केन जीवतीत्यत आह—इतरेणेति। प्राणापानाभ्यामितरेण परब्रह्मणैव जीवन्ति सर्वे। यस्मिन् = परमात्मनि, एतौ = प्राणापानावुपाश्रितौ, प्राणापानयोरपि जीवनं यद्धेतुकं तद्धेतुकमेव सर्वेषां जीवनमित्याशयः ॥५॥

सान्वयानुवाद—कश्चन मर्त्यः = कोई मरणधर्मा इन्द्रियवान् जीव, न प्राणेन न अपानेन जीवति = न प्राण से और न ही अपान से जीवित रहता है, इतरेण तु जीवन्ति = अन्य दूसरी वस्तु से ही सकल प्राणी जीवित रहते हैं, यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ = जिसमें ये दोनों (प्राणवायु और अपान वायु) आश्रित होकर रहते हैं ॥५॥

व्याख्या—केवल प्राणवायु से अथवा केवल अपान वायु से कोई देहवान् प्राणी जीवित नहीं रह सकता। प्राण और अपान से भिन्न परमात्मा श्रीकृष्ण से ही सकल इन्द्रियवान् प्राणी पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि जीवित रहते हैं। जिस परमात्मा में उपाधि-भेद से ये प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रहकर कार्य करते हैं, उससे मरणधर्मा प्राणी जीवित रहता है ॥५॥

'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः' ॥

प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभिमण्डल में, उदान कण्ठदेश में और व्यान समस्त शरीर में रहता है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—ये यं प्रेत इति प्रष्टुर्मुक्तस्वरूपेऽपि सन्देह आसीत् विशेषतस्तन्निवृत्त्यर्थमिदमुच्यते—हन्तेदानीमपि पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं प्रवक्ष्यामि। हे गौतम! आत्मा = प्रत्यगात्मा, मरणं = मोक्षं प्राप्य, यथा = यादृक्रूपसम्पन्नो भवति तथा पुनरपि तुभ्यं वक्ष्यामीत्यर्थः ॥६॥

सान्वयानुवाद—गौतम = गोतमवंशोद्भव हे नचिकेता! हन्त = फिर भी, ते =

तुम्हें, इदं गुह्यं सनातनं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि = यह गोपनीय सनातन ब्रह्म का उपदेश करता हूँ। च = और, आत्मा = जीवात्मा, मरणं प्राप्य यथा भवति = मृत्यु को प्राप्त होकर जिस प्रकार योनि को प्राप्त होता है ॥६॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता! इस समय तुमको गोप्य सनातन ब्रह्म का उपदेश करता हूँ। जिनमें अस्ति-नास्ति दोनों का बहुत सुन्दर वर्णन है। तुम उनका समाहित-चित्त से ध्यानपूर्वक हमसे श्रवण करो। जीवात्मा इस स्थूल शरीर से मुक्त होकर जैसे रूप से सम्पन्न होता है वैसे ही फिर से तुम्हें बताता हूँ ॥६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—अधिकारिविशेषनिर्देशपरेण हन्त इत्यनेन विवक्षितमर्थं विवृण्वन्नाह—अन्ये = परब्रह्मश्रवणमननादिविमुखाः मूढाः, शरीरत्वाय = शरीर-ग्रहणार्थं, देहिनः = देहवन्तः मनुष्ययोनिं प्रपद्यन्ते। स्थाणुं = वृक्षादिस्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमाः। मरणं प्राप्य अनुसंयन्ति = अनुगच्छन्ति। केषाञ्चित् मनुष्ययोनिप्राप्तिः। अन्येषां स्थाणुयोनिप्राप्तिरित्यत्र किं विनिगमकमिति जिज्ञासायामाह–यथेति। यथाकर्म = यैर्यादृशं कर्म जन्मान्तरे कृतं तद्वशेन योनिप्राप्तिः। यथाश्रुतम् = यादृशं विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्ते। 'रमणीयचरणाः' (छा.उ.५।१०।७); 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ.उ.४।४।२) इत्यादि श्रुत्यनुरोधादिति भावः ॥७॥

सान्वयानुवाद—यथाकर्म = जैसा जिसका कर्म, (और) यथाश्रुतम् = जैसा जिसका शास्त्रज्ञान होता है, अन्ये = दूसरे, देहिनः = शरीरधारी प्राणी, शरीर-त्वाय = शरीर प्राप्त करने के लिए, योनिं प्रपद्यन्ते = योनि को प्राप्त होते हैं, अन्ये = दूसरे, स्थाणुं = स्थावर-अवस्था (वृक्ष-योनि) को, अनुसंयन्ति = प्राप्त होते हैं ॥७॥

व्याख्या—कितने लोग ऐसे हैं जो अतिपरिश्रम से गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं, अन्त में उनको सब कुछ छोड़कर मरना पड़ता है; मृत्यु हर समय उनकी चोटी पकड़े खड़ी है। इसपर वे बिल्कुल ध्यान नहीं देते हैं। जो सर्वभूतान्तरात्मा श्रीकृष्ण से विमुख हैं, न चाहने पर भी विवश होकर उन्हें घोर अन्धकार में जाना पड़ता है। यह श्रीमद्भागवत की कथा है।

यथाकर्म—जैसे धुन्धुकारी ने अपने भाई गोकर्ण से कहा—मैं तुम्हारा ही भाई धुन्धुकारी हूँ। मैंने अपने कुकर्मों से ब्राह्मणत्व का नाश कर डाला। बुरे-से-बुरे, बड़े-से-बड़े पापकर्म किये जिससे मैं प्रेत हो गया हूँ। इसलिये मैं प्रेत-योनि में भटक रहा हूँ। अब आप मुझे इस प्रेत-योनि से छुड़ाइये।

यथाश्रुतम्—जैसे महामति महाभागवत ध्रुवजी ने प्रतिदिन भगवान् श्रीहरि की मङ्गलमयी लोकपावनी कथा का श्रवण किया। उन्होंने भोगों से पुण्य का क्षय और

पुण्याचरण से पापों का क्षय करते हुए छत्तीस हजार वर्षों तक पृथिवी का शासन किया और उसके बाद उनको यह मालूम हुआ कि यह संसार तो भगवान् विष्णु की वैष्णवी माया से रचित है। 'मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्त्तते'। (श्रीमद्भागवत १०।८५।५४) 'विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्'। (१०।१।२५) वे सम्पूर्ण राज्य को तथा स्त्री-पुत्रादि को छोड़कर हरि-भजन करने के लिए बदरिकाश्रम चले गये।

कहाँ यह अनात्मा भौतिक शरीर और कहाँ प्रकृति से परे आत्मा? इस संसार में कौन किसका पति, कौन किसका पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धव है ? इनमें मोह ही कारण है। लोग इनमें मोह के कारण फँसे हुए हैं। (श्रीमद्भा.८।१६।१९)

अन्ये स्थाणुं अनुसंयन्ति—जैसे नलकूबर और मणिग्रीव ये दोनों अपने निन्दित कर्मों से स्थाणु (पेड़) हो गये अर्थात् वृक्ष-योनि को प्राप्त हो गये।

(श्रीमद्भा. १०।१०।२१)

अन्ये देहिनः शरीरत्वाय योनिं प्रपद्यन्ते—जिस मनुष्य के मन में कर्मवासना रहती है उसको जीवयोनि में आने का अवसर प्राप्त होता है। शरीर-वियोग के समय मानव जीवन की अन्तिम घड़ी में मनुष्य को नारायण का स्मरण करना चाहिये। इस बात को ठीक तरह सोच-विचार कर विवेकी मनुष्यों को चाहिये कि वे मन से समस्त कर्मवासनाओं को निकाल दें।।७।।

य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।।एतद्वै तत् ।।८।।

तत्त्वप्रकाशिका—यः प्रतिज्ञातः तमर्थमुपदिशति—यः पुरुषः पूर्णषड्गुणः परमात्मा। एषु जीवेषु सुप्तेषु सत्सु तदा कामं कामं सङ्कल्प्य सङ्कल्प्य स्वेच्छानुसारेण रथपथादीन् निर्मिमाणो जागर्त्ति तदेव शुक्रं प्रकाशकं तदेव ब्रह्म = पूर्णगुणं तदेवानन्याधीनममृतमुच्यते तेन मुक्तानां व्यावृत्तिस्तेषाममृतत्वं भगवदधीनमित्याशयः। तस्मिन् = परब्रह्मणि, सर्वे लोका आश्रिताः। तद् ब्रह्म कोऽपि नात्येति। अयञ्चार्थः सन्ध्यधिकरणे भाष्ये श्रीश्रीनिवासाचार्यचरणैर्निपुणं प्रकाशितः। एतद्वै तत् इति पूर्ववत् ।।८।।

सान्वयानुवाद—यः एषः = जो यह, कामं कामं = इच्छाविषयीभूत वस्तु-समुदाय को संकल्प करता हुआ, निर्म्मिमाणः पुरुषः = निर्माण करने वाला पुरुष—परमात्मा, सुप्तेषु जागर्त्ति = जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में भी जागते रहते हैं, तत् एव शुक्रम् = वही शुक्र है, तद् ब्रह्म = वही ब्रह्म है, तत् एव अमृतम् = वही अमृत है, उच्यते = यही सब वेद, उपनिषद् और पुराण आदि शास्त्रों में कहा जाता है। तस्मिन् = उसी में, सर्वे = सभी, लोकाः श्रिताः = लोक आश्रित हैं। तत् कश्चन उ = उसे कोई भी, न अत्येति = लाँघ नहीं सकता। एतत् वै तत् पूर्ववत् ।।८।।

व्याख्या—परब्रह्म श्रीकृष्ण जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में साक्षी रूप से रहते हैं। जीवों में ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। श्रीकृष्ण ही जीवों की तीनों अवस्थाओं के मूल में द्रष्टारूप से स्थित हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा को 'परब्रह्म' शब्द से वेदान्त-शास्त्र में कहा जाता है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं राजा सत्यव्रत से कहा भी है—'मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्'। (श्रीमद्भा. ८।२४।३८) जैसे वायु और अग्नि से तपाया हुआ सुवर्ण कान्ति वाला होता है वैसें ही भगवान् श्रीकृष्ण सुवर्ण के समान कान्तिवाले हैं। वे षडैश्वर्यों से सर्वतः परिपूर्ण आप्तकाम हैं। 'कामं कामं निर्मिमाणः' का अर्थ है—वे अपनी इच्छानुसार उपासकों के मनोवाञ्छित फल प्रदान करने वाले हैं। 'नमस्त आशिषामीश' (श्रीमद्भा. ४।२४।४२)—हे भगवन्! आप समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ।

'स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम्' (श्रीमद्भा.६।४।३४) अर्थात् वे षडैश्वर्यपूर्ण परमात्मा हमारा मनोरथ पूर्ण करें। वे सब लोकों के आधार हैं, इसलिये सम्पूर्ण लोक उन पर आश्रित हैं। उनको कोई भी नहीं लाँघ सकता। उनके बनाये हुए नियमों का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥८॥

सनातन पद से दो प्रकार के व्युत्पत्तिगत अर्थ व्युत्पन्न होते हैं—'सदा तनोतीति सनातनः। यद्वा सदा तिष्ठतीति सनातनः'। सनातन धर्म, सनातन ब्रह्म, सनातन जीव और सनातनी प्रकृति। 'वक्ष्ये सनातनं धर्मम्'। (श्रीमद्भा.७।११।५) 'प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्'। (क.उ.२।२।६) 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'। (श्रीमद्भग. १५।७) प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि'। (श्रीमद्भग.१३।१९)

पुरुषं = जीवम्। अनादी = सनातनौ। विद्धि = जानीहि। धर्म, ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये चारों वस्तु सनातन नित्य सत्य हैं—यह कथन वेद और शास्त्रों से सिद्ध हो गया। वैसे ही परब्रह्म श्रीकृष्ण के वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चारों व्यूह (अङ्ग) भी नित्य हैं।

'नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च' ॥ (श्रीमद्भा.१।५।३७)

इस मन्त्र में श्रीमन्निम्बार्काचार्यजी के गुरुदेव देवर्षि नारदजी ने कहा—हम भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं एवं नमन करते हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को केवल नमस्कार करते हैं। यह हमारे द्वैताद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—अहमर्थस्यात्मनो दुर्बोधत्वमाशङ्क्याह—यथा एक एवाग्निः प्रकाशकः, भुवनं = ब्रह्माण्डं, त्रिवृत्करणव्याप्त्या प्रविष्टः सन् रूपं रूपं भौतिकव्यक्ति

प्रति। प्रतिरूपः दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव, सर्वत्र भौतिकपदार्थेषु तेजोधातोर्मिलितत्वेन प्रतिसङ्क्रान्तरूपत्वात्। तथा एक एव सन् परमात्मा सर्वभूतान्तरात्मा = सर्वेषां भूतानां प्रत्यगात्मनाम् अभ्यन्तरात्माऽन्तर्यामितया प्रविष्टत्वात्। प्रतिरूपो बभूव। बहिश्च बहिरप्याकाशवत् स्वेनाविक्रियरूपेण व्याप्नोतीत्यर्थः ॥९॥

सान्वयानुवाद—यथा एकः अग्निः भुवनं प्रविष्टः = जिस प्रकार एक अग्नि ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर, रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव = ब्रह्माण्डस्थ उन वस्तुओं का जैसा आकार होता है वैसे ही आकार वाली—रूपवाली अग्नि हो जाती है। तथा एकः सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपः = वैसे ही सभी प्राणियों के भीतर आत्मा के रूप में बैठा हुआ परमात्मा एक ही है, बहिः च = बाहर भी वही है ॥९॥

व्याख्या—एकः सर्वभूतान्तरात्मा—इस मन्त्र को महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी ने बहुत ही सम्यक् प्रकार से व्याख्या की हैं—

'यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्' ॥ (श्रीमद्भा. १।२।३२)

अर्थात् जैसे लकड़ी बड़ी हो, छोटी हो या मोटी हो लेकिन एक ही आग उसमें हर तरह से मालूम पड़ती है और दिखाई देती है ठीक वैसे ही इस विश्वसृष्टि में अर्थात् सर्वभूतों में एक ही सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण नाना नामों से और नाना रूपों से प्रकाशित हो रहे हैं।

'अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्' ॥ (श्रीमद्भा. ३।२९।२१)

भूतात्मा मैं सदा सभी भूतों में अवस्थित हूँ। जो मनुष्य मुझ सर्वभूतावस्थित परमात्मा का अवज्ञा-तिरस्कार (अनादर) करके मेरा पूजन करता है वह पूजा नहीं ढोंग है। वह मूर्ख राख में हवन करता है। 'भूस्मन्ये जुहोति सः' ॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—अन्यदृष्टान्तेन परबुद्ध्यारूढं करोति—वायुर्यथा त्रिवृत्करणरीत्या भुवनं प्रविष्टः प्राणात्मना सर्वव्यक्तिष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादिपूर्ववत्समानम् ॥१०॥

व्याख्या—जिस प्रकार एक ही वायु त्रिवृत्करण रीति से ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर प्राणरूप से सम्पूर्ण व्यक्तियों में अनुप्रविष्ट होकर प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा—ईश्वर प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है। तत्त्व एक ही है, नाम-रूप से बहुविध मालूम हो रहा है। जैसे कि वायु नाना पुष्पों की गन्ध से नाना गन्धवान् प्रतीत होता है, परन्तु वायु एक ही है; वैसे ही एक सर्वभूतान्तरात्मा श्रीकृष्ण ही हैं।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—यद्येकस्य ब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वमेष्टव्यं तदा जीवात्मवद् दुःखित्वं तस्य प्रसज्येतेत्याशङ्क्यान्यथोपपत्तिमाह—'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्' इति श्रुत्या यथा सूर्यः सर्वलोकस्य चक्षुः चक्षुरधिष्ठातृतया तदन्तर्गतोऽपि चाक्षुषैः = बहिर्निर्गतैश्चक्षुर्मलादिभिः काणपित्तादिभिश्चाध्यात्मिकदोषैस्तथा बाह्यैश्चाशुच्यादिदर्शनसंसर्गदोषैश्च न लिप्यते न स्पृश्यते तथा परमात्मा एकः सर्वभूतेष्वात्मतया वर्त्तमानोऽपि तद्गतेनानेकप्रकारलोकदुःखेन न लिप्यते न स्पृश्यते। यतो बाह्यः लोकदुःखाद् बहिर्भूतः तस्य स्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिगुणवत्तया स्वेतरवस्तुभ्यो विजातीयत्वात् ॥११॥

व्याख्या—यदि कोई यह शङ्का करे कि एक सर्वभूतान्तरात्मा परमात्मा भूतों के साथ साहचर्य होने से जीवात्मा के समान दुःखों का भोग भी करता ही होगा ? ऐसी शङ्का करने वालों को उत्तर देते हैं—जैसे सूर्य सब लोगों की आँख है, फिर भी लोगों की आँखों के दोषों से सूर्य को किसी तरह दोष नहीं लगता है, ठीक इसी तरह सब भूतों का अन्तरात्मा एक है। वह लोगों के दुःखों से कदापि दुःखित नहीं होता, क्योंकि वह लोगों के दुःखों से बिल्कुल अलग है। 'सर्वभूतान्तरात्मा लोकदुःखेन बाह्यः अतः सः न लिप्यते'। 'लोको विश्वे जने' इति हैमः। सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर छिपा हुआ सबका अन्तर्यामी सर्वव्यापी परमात्मा एक ही है। वह सबमें रहता हुआ भी सबसे बिल्कुल अलग है। मूढ़ अज्ञ लोग उस असङ्ग परमात्मा को आसक्त मानते हैं। जिस परमात्मा के चरणारविन्द की सेवा-पूजा से कर्माख्य अविद्या का नाश हो जाता है और श्रीभगवद्भावापत्तिरूपा मुक्ति की प्राप्ति होती है, उसमें आसक्ति कहाँ से आ सकती है?,

'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः'।

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराद्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ॥
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि' ॥१॥

यह श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के प्रथम अध्याय का प्रथम पद्य है। इसमें 'सत्यं परं धीमहि' का प्रयोग करके तो श्रीमद्भागवत का वैदिकत्व सूचित कर दिया गया है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'; 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'; 'भर्गो देवस्य धीमहि'। अतः श्रीमद्भागवत साक्षात् वेदान्त है। 'वयं प्रकृतेः परं परब्रह्म श्रीकृष्णं धीमहि ध्यायेम'।

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' ॥ इति स्मृतेः।

कृष् शब्द का कर्षण अर्थ है और णकार का सुख अर्थ है। इन दोनों के मिलने पर कर्षण और सुखरूप के आश्रय परब्रह्म श्रीकृष्ण यह कहलाता है।

अब जरा ध्यान देकर सुनिये—श्रीमन्निम्बार्काचार्यजी जिस परतत्त्व का ध्यान करते थे—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ।।२।।

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशायी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्' ।।३।।

'ध्यायेत्' इस विधिवाक्य का प्रयोग करके यह निर्देश कर दिया गया है कि परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण का ही निरन्तर ध्यान करना चाहिये। निश्चित ही भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाने पर इन सबका ज्ञान हो जाता है। आत्मतत्त्व का ज्ञान केवल तर्क से नहीं हो सकता, उसके लिये तो श्रोत्रिय भगवन्निष्ठ आचार्य की सन्निधि में जाना चाहिये। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'। (छा.उ.६।१४।२)

'गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्' ।।

भगवान् श्रीऋषभदेवजी कहते हैं—गुरु, स्वजन, पिता, माता, दैव और पति वे नहीं कहलाते हैं जो समुपेत मृत्यु से न छुड़ा सकें।

अब हम आगे वल्ली की बात की ओर आते हैं—जो लोग कहते हैं कि सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य ब्रह्म में है—उनका यह मत—'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इस श्रुति से निरस्त हो गया।

"यतो बाह्यः लोकदुःखाद् बहिर्भूतः तस्य स्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिगुणवत्तया स्वेतरवस्तुभ्यो विजातीयत्वात्। मायागुणदोषलेशरहितत्वात्। मायानियन्तृत्वात्। अव्यक्तजीवेश्वरत्वात्। सर्ववेदैकवेद्यत्वात्। विश्वसृष्टिस्थितिप्रलयासाधारणधर्मत्वात्। जीवमोक्षप्रदातृत्वात्। 'मुक्तिं ददाति मुकुन्दः' इति श्रीशुकवचनात्"।

'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' ।। (गी.८।१६)

अर्थात् हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! ब्रह्मलोक से आरम्भ करके समस्त लोकों का पुनः-पुनः आवर्त्तनशील (उत्पत्तिविनाशधर्मयुक्त) होता है परन्तु मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।

'अपीच्यदर्शनं शश्वत् सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्' ।।

भगवान् की किशोरावस्था है। उनके दर्शन बहुत ही सुन्दर हैं। वे उपासकों पर

अनुग्रह करने के लिए व्यग्र हैं। समस्त देवजन-मनुष्यजन उनको नमस्कार करते हैं। उपासकों को निर्मल मन से इस रूप का ध्यान करना चाहिये।(श्रीमद्भा.३।२८।१७)

'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' ॥ (गी.१३।३१)

'प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्त्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्' ॥ (श्रीमद्भा.३।२७।१)

हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! यह अविनाशी परमात्मा (मैं) अनादि होने से और निर्गुण—मायागुणदोषलेशरहित होने से सब देहों में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता। वह असङ्ग परमात्मा सभी शरीर में रहता हुआ भी प्रकृति के सुख-दुःखादि गुणों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह अविकारी, अकर्त्ता और निर्गुण है। जैसे जलाशय या सरोवर में जल के हिलने पर भी अर्क—सूर्य नहीं हिलता।

इस परमात्मा को पुरुष, देव, सर्वात्मा, विश्वात्मा, विश्वरूप, सर्वनामा, सर्व-भूतान्तरात्मा और भूतभावन आदि कहते हैं।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एकः = मुख्यः समानातिशयशून्यः, वशी = सर्वेषां प्रकृतिकाल-कर्मब्रह्मादीनां वशयिता, यतः सर्वभूतान्तरात्मा एकं बीजं स्वेनैकीभूतम्। अविभागवस्थं प्रकृतिलक्षणं बीजं महदादिरूपेण बहुधा = बहुविधं विश्वरूपेण करोति; 'तमःपरे देवे एकी भवती'ति श्रुतेः। तमात्मस्थं = स्वान्तर्यामिणं, ये धीराः = निवृत्तबाह्यवृत्तयः विवेकिनोऽनुपश्यन्ति।

शास्त्राचार्योपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति, तेषां भागवतानां शाश्वतं नित्यं भगवद्भावा-पत्तिरूपं सुखम्भवति नेतरेषां = तद्विपरीतानामित्यर्थः ॥१२॥

सान्वयानुवाद—सर्वभूतान्तरात्मा एकः = सब भूतों की अन्तरात्मा एक है, वशी = सबको वश में करने वाला, यः एकं रूपं बहुधा करोति = जो एक रूप से हर तरह की चीजों को बना देता है, तमात्मस्थं = शरीर में रहने वाले उस परमात्मा को, ये धीराः अनुपश्यन्ति = जो भक्त लोग देखते हैं—साक्षात् अनुभव करते हैं, तेषां शाश्वतं सुखम् = उनको परमानन्द सुख प्राप्त होता है, इतरेषां न = दूसरों को नहीं ॥१२॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण स्वतन्त्र और सर्वगत है। उसके समान अथवा उनसे बड़ा और कोई नहीं है। 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः'। (गी.११।४३) समस्त जगत् उसके अधीन है। परमात्मा का एक नाम 'विश्वकृदीश्वर' है। वह विश्वसृष्टिकर्ता = रचयिता है इसलिये—'एकं रूपं बहुधा करोति'। 'एकोऽहं बहु स्याम्' = मैं एक हूँ लेकिन अब बहुत होऊँगा। एक ही विश्वात्मा भगवान् विश्व के

अनन्त नाम-रूपों में अनेक रूप से बना है। विश्वकर्त्ता परमात्मा ने अनेक नामरूपिणी सृष्टि बनायी है। अपने शरीर के भीतर स्थित जो निष्काम महाभागवत लोग उस परमात्मा श्रीकृष्ण को देखते हैं उन्हीं को अविनाशी परमानन्द सुख मिलता है, दूसरों को नहीं ॥१२॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—भयोऽपि तमेवार्थं प्रथयति—यः नित्यानां = शाश्वतानां, चेतनानां = जीवानाम् अनन्तानाञ्च, नित्यः चेतनः एकः तैरुपासितः सन् = कामान् तद्वाञ्छितान्, विदधाति = निष्पादयति, तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः = संसारोपरतिपूर्वकभगवद्भावापत्तिरूपा मुक्तिः, शाश्वती = नित्या स्यात्। नेतरेषाम् = अभक्तानाम् ॥१३॥

सान्वयानुवाद—नित्यानां नित्यः = नित्यों में नित्य, चेतनानां चेतनः = चेतनों में चेतन, यः बहूनां एकः (सः) कामान् विदधाति = जो असंख्य-अनन्त जीवों में एक है वह सबकी कामनाओं को पूरा करता है। तं = उसको, आत्मस्थं = अपने शरीर में—हृदयकमल में, ये धीराः अनुपश्यन्ति = जो भक्त देखते हैं, तेषां शाश्वती शान्तिः = उनको आत्यन्तिकी शान्ति मिलती है, न इतरेषाम् = दूसरो को नहीं ॥१३॥

व्याख्या—इस श्रुति में जीवों के बहुत्व-अनेकत्व-नानात्व का प्रतिपादन किया गया है, साथ ही उनको नित्य और चेतन भी कहा गया है और अन्तर्यामी परमात्मा को एक बताया गया है। 'आत्मा एक ही है' ऐसा कहने वालों के मत को सनातनी श्रुति निगल गयी। जैसे पतगेन्द्र महाहि को भक्षण कर जाता है।

आत्मा अनेक हैं, भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा भी है—

'अहमात्माऽऽत्मनां धातः'। (श्रीमद्भा. ३।९।४२)

एक सर्वात्मा भगवान् जीवों के सब अभीष्ट पदार्थ तथा नाना प्रकार के मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं। जो उनको अपने हृदयपुण्डरीक में अनुभव करते हैं उन्हें शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है। जो भगवान् का भजन नहीं करते हैं उनको सामान्य शान्ति भी नहीं मिलती तो उन अभक्तों को शाश्वती शान्ति कहाँ से मिलेगी? नेतरेषाम् ॥१३॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवमुक्तोऽन्तेवासी आत्मनां दुर्ज्ञेयत्वेन कथं विजानीयामिति पृच्छति—तदन्तरात्मस्थं ब्रह्मानिर्देश्यमिदमित्थमिति निर्देशानर्हं, परमं = सर्वोत्तमं, सुखं = सुखस्वरूपं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरम्। एतदिति भवादृशा विवेकिनः

मन्यन्ते = साक्षात् कुर्वन्ति, कथं नु = केन प्रकारेण प्राकृतरूपहीनं ब्रह्म अहं विजानीयाम्। स्ववेद्यत्वमापादयेयं किमु भो तत् किं दीप्तिमत्त्वेन भाति तत्रापि विशेषेण स्पष्टं प्रकाशते उत तेजोऽन्तरसंवृतत्वान्न विस्पष्टं प्रकाशत इति प्रश्नः ॥१४॥

सान्वयानुवाद—तत् परमं सुखम् अनिर्देश्यम् = उस परम सुख को अङ्गुलि से निर्देश नहीं किया जा सकता, एतत् इति मन्यन्ते = ऐसा मानते हैं, तत् कथं नु विजानीयां = उसको (मैं) किस तरह जानूँ ? किं उ भाति वा विभाति = क्या वह चमकता है अथवा स्पष्ट प्रकाशित होता है ॥१४॥

व्याख्या—वह जो अनन्त ब्रह्मसुख है वह अनिर्देश्य—निर्देश करने के अयोग्य है, साधारण पुरुषों के वाणी और मन का अविषय है। इस सुख को आपके समान विवेकी पुरुष ही साक्षात् करते हैं। किस प्रकार से प्राकृत रूपहीन ब्रह्म को मैं जान सकूँ ? क्या वह स्वयं दीप्तिमान् रूप से चमकता है अथवा सूर्य की भाँति दूसरों को प्रकाशित करता है ॥१४॥

'भाति विभाति वा' इस प्रश्न के उत्तर श्रुति और स्मृति इस तरह दिखलाती हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥२॥

'एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्' ॥
(श्रीमद्भागवते १०।१३।५५)

तत्त्वप्रकाशिका—'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'। (श्वे. उ.३।८) सदेकरूपायेति वचनेन परमात्मा दिव्यमङ्गलविग्रहवत्तया सर्वातिशयदीप्तिमानस्तीत्याह—न तत्रेति। 'तत्र' तस्मिन् प्रकृते परब्रह्मणि सूर्यः सर्वप्रकाशोऽपि न भाति, तद् ब्रह्म न प्रकाशयति तथा तत्र चन्द्रश्च तारकाणि च तेषां समाहारश्चन्द्रतारकमपि न प्रकाशयति तथा तत्र नेमा विद्युतो भान्ति अस्मत्करणगोचरोऽयमग्निर्न भातीति किमु वक्तव्यं ब्रह्मणः सर्वतेजसामाच्छादकत्वादित्यर्थः।

ननु भास्वररूपवति सूर्यादौ प्रत्यक्षेणानुभूयमानेन भातीति प्रत्यक्षविरुद्धं कथमभिधीयते इति चेत्तत्राह—तमेव परमात्मानं भान्तं प्रकाशन्तमनुभाति सर्वमादित्यादिकं भाति प्रकाशते। तस्य सर्वतेजसां कारणत्वात्। भगवदायत्तः सूर्यादीनां प्रकाशः। तथाहि स्मृतिः—

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' ॥ (गी. १५।१२)

तस्य = ब्रह्मणः, भासा = कान्त्या, सर्वमिदं = सूर्यादिकं, विभाति = प्रकाशते ॥१५॥

इति काठकोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां द्वितीयाध्याये
पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥

सान्वयानुवाद—तत्र सूर्यः न भाति = वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्रतारकं = न चन्द्रमा और तारागण, न इमाः विद्युतः भान्ति = न ये बिजलियाँ ही वहाँ चमकती हैं, अयं अग्निः कुतः = यह अग्नि कहाँ से ? तम् भान्तम् एव = उस दीप्तिमान् परमात्मा को ही, सर्वम् = सब (सूर्यादि), अनु = पीछे-पीछे, भाति = प्रकाशित करते हैं, अर्थात् ये सूर्यादि सर्वप्रकाशवान् परमात्मा का अनुकरण करते हैं। तस्य = उस परमात्मा की, भासा = कान्ति से, इदं सर्वं विभाति = यह समस्त चराचर जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥१५॥

व्याख्या—'अनुकृतेस्तस्य च'। (ब्र.सू.१।३।२२) उस नित्य आविर्भूतस्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण का अनुकरण करने वाले सूर्यादि उस पर प्रकाश नहीं कर सकते, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रकाश से यह सारी सृष्टि प्रकाशित होती है। हे अर्जुन ! सूर्य में स्थित जो तेज, चन्द्रमा में जो तेज और अग्नि में जो तेज है जिससे समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है, उस तेज—कान्ति को तू मेरी ही कान्ति जान। मेरे भय से वायु चलती है, सूर्य तपता है, इन्द्र वर्षा करता है, अग्नि जलती है और मृत्यु भी मेरे ही भय से प्राणियों का संहार करती हुई सब जगह विचरती है।

॥ द्वितीयाध्याय में पञ्चम वल्ली समाप्त ॥

•

अथ द्वितीयाध्याये षष्ठी वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्रकृतिकार्यसंसारवृक्षावधारणेन तन्मूलभूतस्य परब्रह्मणः स्वरूपादिकमवधारयितुं आदितः षष्ठी वल्लीयं प्रवर्त्तते—ऊर्ध्वमूल इति। ऊर्ध्वं = भगवद्धामगन्तृभगवद्भक्तस्य सर्वलोकातिक्रमणे सावर्णब्रह्माण्डोपरि वर्त्तमानं त्रिगुणात्मकप्रकृत्यावरणमेव मूलमादिर्यस्य संसारवृक्षस्येत्यूर्ध्वमूलः। अवाक्शाखः = ततोऽर्वाचीनाः सत्यलोकप्रभृतयः चतुर्दश लोकाः शाखा इव जीवकर्मफलभोगाश्रयाः शाखा यस्येत्यवाक्शाखः। एवम्भूतः एषः अश्वत्थः। अश्वत्थवत् सकामकर्मवातेरितत्वेन नित्यप्रचलितस्वभावः यथातिमन्दवातेनाश्वत्थश्चलति तद्वत्। यद्वा विनाशित्वेन श्वः प्रभातपर्यन्तमपि न तिष्ठति स्थास्यतीति विश्वासानर्हत्वादश्वत्थः परभक्तिपरज्ञानात् प्राक् प्रवाह-

रूपेण सनातनश्चिरन्तनः एवम्भूतस्य संसारवृक्षस्य प्रकृतिः मूलं तस्याश्च ब्रह्मशक्तित्वात् शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदत्वेन। ब्रह्ममूलत्वमाह—तदिति। तदेव मूलभूतं शुक्रं = शुभ्रं प्रकाशात्मकं तद् ब्रह्म स्वरूपादिना बृहत् तदेवामृतं नित्यमुक्तस्वभावं कथ्यते। तस्मिन् मूलभूते सर्वकारणे ब्रह्मणि सर्वे लोकाः भूरादयः श्रिताः स्थिताः, तदु तद् ब्रह्म कश्चन कश्चिदपि नात्येति = नातिक्रामति, सर्वकारणत्वात्। एतद् वै तत् पूर्ववदर्थः ॥१॥

सान्वयानुवाद—ऊर्ध्वमूलः = ऊपर जिसके मूल (जड़) है। अवाक्शाखः = (और) नीचे जिसकी शाखाएँ हैं। एषः सनातनः अश्वत्थः = यह सनातन (आदि) पीपल का पेड़ है। तदेव = वही, शुक्रं = प्रकाशस्वरूप, तद् ब्रह्म = वह ब्रह्म, तदेव = वही, अमृतमुच्यते = अमृत कहलाता है। सर्वे लोकाः = सब लोक, तस्मिन् श्रिताः = उस पर स्थित हैं, कश्चन तद् उ न अत्येति = कोई भी उसको लाँघ नहीं सकता ॥१॥

व्याख्या—ऊपर जिसके मूल है और नीचे की ओर जिसकी अवान्तर शाखाएँ हैं—ऐसा यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष अनादि काल से प्रवर्त्तित होकर चिरकाल-लगातार चल रहा है और आगे चलता ही रहेगा। क्योंकि यह सनातन वृक्ष है। दूसरी बात अश्वत्थ वृक्ष (पीपल का पेड़) स्वयं भगवत्स्वरूप है—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां' (गीता १०।२६)। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—प्रकृति से परे भगवान् श्रीकृष्ण का अपना दिव्य वैकुण्ठ लोक मूल है। उसके बाद नीचे के शेष चौदह लोक हैं। ये चौदह लोक उस दिव्य वैकुण्ठ लोक की अवान्तर शाखाएँ हैं। उस ऊर्ध्वमूल (वैकुण्ठलोक) में अनन्त ब्रह्माण्डनायक कोटिकन्दर्पलावण्य सर्वेश्वरेश्वर सर्वोपास्य परब्रह्म श्रीकृष्ण निवास करते हैं। 'शुक्र' पद का अर्थ है—वे श्रीकृष्ण स्वभावतः सर्वप्रकार दोषों से रहित हैं। वे परब्रह्म हैं। वे नित्यमुक्त, परिशुद्ध, विबुद्ध, वेदान्तवेद्य हैं; इसलिये उनको अमृत पद से पुकारते हैं।

ऊर्ध्वमूल का वर्णन एवं अण्डगोलक का मान—सूर्यमण्डल से ध्रुवलोक ३८ लाख योजन, ध्रुवलोक से महर्लोक १ करोड़ योजन, महर्लोक से जनलोक २ करोड़ योजन, जनलोक से तपोलोक ८ करोड़ योजन एवं तपोलोक से सत्यलोक १२ करोड़ योजन हैं। इस प्रकार सूर्यमण्डल से सत्यलोक २३ करोड़ ३८ लाख योजन होता है। सत्यलोक से वैकुण्ठलोक १ करोड़ ६२ लाख योजन है। उसके बाद अण्डगोलक है। इस प्रकार विष्णुपुराण के अनुसार सूर्य से ऊपर अण्डकटाह २५ करोड़ योजन है। सूर्यमण्डल से पृथ्वी १ लाख योजन नीचे है। पृथ्वी से नीचे १०-१० हजार योजन की दूरी पर सात पाताल हैं। पाताल से ३० हजार योजन नीचे भगवान् शेष हैं। शेषजी से २४ करोड़ ९८ लाख योजन गहरा गर्भोद है। इस प्रकार जोड़कर ऊपर से नीचे तक ब्रह्माण्डगोलक का परिमाण ५० करोड़ योजन होता है।

अब नीचे के लोकों का वर्णन सुनिये—जिन्हें बिलस्वर्ग कहते हैं। इनकी संख्या सात हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। ये प्रत्येक १०-१० हजार योजन की दूरी पर स्थित हैं। इनमें स्वर्ग से भी अधिक विषय-भोग-

ऐश्वर्य-आनन्द-सन्तानसुख तथा अतुल सम्पत्ति वर्त्तमान है। यहाँ के वैभवपूर्ण भवन तथा उपवन आदि दिव्य स्थानों में दैत्य और दानव सुन्दरी स्त्रियों के साथ विहार करते हैं। दिव्य औषधियों और रसायन के सेवन से उनकी युवावस्था सदा बनी रहती है। उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता। बड़े-बड़े सर्पों के शिर की मणियाँ पाताल में प्रकाश करती हैं। अतल में मय दानव का पुत्र बल रहता है, जिसने छियानबे मायाओं का विस्तार किया था। जम्हाई लेते समय जिसके मुख से स्वैरिणी, कामिनी और पुंश्चली ये तीन प्रकार की स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं, जो बिलस्वर्ग में प्रविष्ट पुरुषों को स्वर्णरस पिलाकर उनके साथ विहार करती हैं। वितल में भगवान् शिव पार्वती के साथ निवास करते हैं, जिनके वीर्य से वहाँ हाटकी नाम की नदी बहती है। उसमें हाटक (सुवर्ण) उत्पन्न होता है। सुतल में राजा बलि का निवास है। भगवान् उसके द्वार पर रहकर सदा उसकी रक्षा किया करते हैं। तलातल में मय दानव निवास करता है। महातल में भयङ्कर सर्पों का अनेक शिरों वाला क्रोधवश नाम का गण रहता है, जिसमें कुहक, तक्षक, कालिय आदि प्रधान हैं। वे अपने स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब सहित आनन्द से विहार करते हैं। रसातल में पणि नामक दैत्य-दानव रहते हैं, जो निवातकवच, कालेय और हिरण्यपुरवासी कहे जाते हैं। वे देवताओं के प्रबल शत्रु, जन्म से ही बड़े बलवान् तथा महासाहसी हैं। भगवान् के सुदर्शन चक्र से घबड़ाकर वे भी सर्पों के समान छिपकर रहा करते हैं। इन्द्र की दूती सरमा (देवशुनी) के कठोर शब्दों को सुनकर वे इन्द्र से भी डरते हैं। रसातल के नीचे पाताल है जहाँ शङ्ख, कलिक आदि बड़े-बड़े फणों वाले महाक्रोधी नाग रहते हैं, जिनमें वासुकि प्रधान है। उनमें कोई पाँच, कोई सात, कोई दस, कोई सौ और कोई हजार शिर वाले हैं जिनके फणों में लगी बड़ी-बड़ी मणियाँ सूर्य के समान चमकती हुई सम्पूर्ण पाताल को प्रकाशित करती हैं—

'येषामु ह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति' ॥ (मम गुरुचरणकृता श्रीमद्भागवत-कथा)

इस प्रकार श्रीभगवद्धाम से नीचे के सत्यलोक प्रभृति चर्तुदश लोक का वर्णन करके शास्त्र के द्वारा सम्यक् विचार कर निर्णय किया गया है।

इस सनातन वृक्ष का वर्णन श्रीमद्भागवत में भी है—

'एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः' ॥

यह आदि—सनातन वृक्ष है। जिसका एक माया आश्रय है। इसके दो फल हैं— सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय। सत्त्व, रजः और तमोगुण ये तीन जिसके मूल हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार जिसके रस हैं। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये पाँच जिसके ज्ञानप्रकार हैं (इन्हीं को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं)। जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश—अदर्शन ये छः जिसके स्वभाव

हैं। रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएँ जिसकी त्वचा—छाल हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये आठ जिसकी विटप—शाखाएँ हैं। जिसमें नौ छिद्र—दरवाजे हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये दस जिसमें पत्ते हैं। जीवात्मा और परमात्मा ये दो पक्षी इस आदि वृक्ष में रहते हैं। उसी परमात्मा के मुख-नासिका से निर्गत श्वास से वेदादि शास्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ है। उन्हीं में चौदह लोकों की कल्पना शास्त्र द्वारा की गयी है।

पैरों से लेकर कटिपर्यन्त सातों पाताल तथा भूलोक की कल्पना की गयी है। नाभि में भुवर्लोक की, हृदय में स्वर्लोक की और भगवान् श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में महर्लोक की कल्पना की गयी है। उसके गले में जनलोक, दोनों स्तनों में तपोलोक और मस्तक में सनातन ब्रह्मा का सत्यलोक है। भगवान् के कमर में अतल, दोनों जाँघों में वितल, दोनों घुटनों में शुद्ध सुतल लोक और दोनों जङ्घाओं में तलातल की कल्पना की गयी है। एड़ी के ऊपर की दोनों गाँठों में महातल, पञ्जे और एड़ियों में रसातल और तलुओं में पाताल समझना चाहिये। इस प्रकार विराट् पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण के अङ्गों में लोकों की कल्पना की गयी है। उनके दोनों चरणकमलों में भूलोक, नाभि में भुवर्लोक और शिर में स्वर्लोक है। भगवान् के शरीर की नाड़ियाँ नदियाँ हैं, रोम वृक्ष, श्वास वायु, गति काल तथा कर्म संसार कहा गया है। ब्राह्मण भगवान् के मुख, क्षत्रिय बाहु, वैश्य ऊरु, तथा शूद्र पैर कहे गये हैं। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, समुद्र, द्वीप, पर्वत, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग सब भगवान् के शरीर के अवयव कहे गये हैं। (श्रीमद्भागवतम्)

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टिकोण से ऊर्ध्वमूल पद का विवेचन किया गया है। दृश्यमान संसार को आदि सनातन वृक्ष बताया गया है। परमात्मा को शुक्र-तेजोमय-भास्वर बताया और वही ब्रह्म है, उस पर सब लोक टिके हैं इसलिये वह सर्वाधार-सर्वाश्रय है। उसकी आज्ञा सर्वोपरि है। कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं करता ॥१॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—ततो मूलकारणात् ब्रह्मणो जगन्निःसृतमित्याह—यदिति। यदिदं किञ्च इदं सर्वं जगत् प्राणे = प्राणशब्दवाच्ये परस्मिन् ब्रह्मणि स्थितं सत्। एजते एजृ कम्पने इति धातुः। प्राण इति सप्तम्यन्तपदसामर्थ्यात् स्थितमित्यध्याहारः। (अत एव प्राणः) इति सूत्रेण प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं निर्विवादम्। ततो निस्सृतं निर्गतं सत् एजति स्वस्वकार्येषु चेष्टते यज्जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम्। बिभेत्यस्मादिति भयं महच्च तद्भयं च महद्भयम्। उद्यतमिव वज्रम्। उद्यद्वज्रवन्महाभयप्रदम्। स्वधर्मातिलङ्घन इति शेषः। य एतद्विदुर्जगदुत्पत्त्यादिकारणं सकलजगन्नियामकं ब्रह्मेति जानन्ति ते अमृता मरणधर्मरहिता मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥२॥

सान्वयानुवाद—यत् किं च इदं सर्वं जगत् = जो कुछ भी यह सब जगत्, प्राणे = प्राण शब्दवाच्य परब्रह्म में स्थित है, निःसृतम् = उस परब्रह्म से यह जड़-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है, एजति = सब अपने-अपने काम में लगे हैं। उद्यतं वज्रं महद् भयम् = ऊपर उठाये हुए वज्र के समान महाभयप्रद है, एतद् ये विदुः = इसको जो जानते हैं, ते अमृता भवन्ति = वे अमर हो जाते हैं।

व्याख्या—प्राण भी परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण का ही रूप है—

'प्राणो हि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत्'॥ (ब्र.सू. १।१।२३)

छान्दोग्योपनिषद् (१।११।५) में भी कहा—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते'।

निश्चय ही ये समस्त चराचर भूत प्राण में ही विलीन होते हैं और प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ प्राण पद से परब्रह्म श्रीकृष्ण का ही वर्णन हुआ है, ऐसा मानना चाहिये।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—कथं तद्भयेन चेष्टते जगदित्यत्राह—भयादिति। अस्य ब्रह्मणो भयात् भयेनाग्निः तपति। तथा सूर्यो भयात् तपति। भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च तथा मृत्युः सर्वमारकोऽप्यस्य भयाज्जगत्सु धावति स्वव्यापारं करोति। धावतिशब्दः इन्द्रादीनां स्वस्वव्यापारप्रवृत्तिपरः। यदीदृशानां समर्थानां लोकपालानां सतां वज्रोद्यतकरवत् नियन्ता चेदीश्वरो न स्यात् तदा स्वामिभयाद् भृत्यानामिव नियन्ता प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः॥३॥

सान्वयानुवाद—अस्य भयात् अग्निः = इसी के भय से अग्नि, तपति = जलती है, भयात् सूर्यः तपति = भय से सूर्य तपता-उदय होता है, भयात् इन्द्रः च वायुः च = भय से इन्द्र वर्षा करते हैं, वायु चलता है, पञ्चमः मृत्युः धावति = पाँचवीं मृत्यु भी इसके भय से प्राणियों का संहार करती हुई सब जगह विचरती है॥३॥

व्याख्या—इसी के भय से वायु चलता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से इन्द्र वर्षा करते हैं और इसी के भय से तारे चमकते हैं। इसी से भयभीत होकर ओषधियों के सहित लताएँ और सारी वनस्पतियाँ अपने-अपने समय पर फल-फूल धारण करती हैं। इसी के भय से नदियाँ बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादा से बाहर नहीं जाता। इसी के भय से अग्नि प्रज्वलित होती है और पहाड़ों के साथ पृथिवी पानी में नहीं डूबती। इसी के अमोघ शासन से यह आकाश जीवित प्राणियों को साँस के लिये अवकाश (मौका) देता है और महत्तत्त्व अहंकाररूप शरीर का सात आवरणों से युक्त ब्रह्माण्ड के रूप में विस्तार करता है। परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के ही भय से

गुणाभिमानी देवगण सृष्टि-जगत् रचना आदि में तत्पर रहते हैं अर्थात् समस्त चराचर भूत उस परमात्मा श्रीकृष्ण के डर से अपना-अपना काम स्वयं करते रहते हैं। उनके अधीन यह दृश्यमान सम्पूर्ण चराचर लोक है। यह सब कालरूपी भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा है। (श्रीमद्भागवतम्) ('कालोऽस्मि' (गी.११।३२) मैं काल हूँ)

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—इह जीवन्नेव सकलभयकारणं ब्रह्मेति बोद्धुं ज्ञातुं चेत् यद्य-शकत् शक्नोति शरीरस्य विस्रसः विस्रंसनात् पातनात् प्राक् पूर्वं तदा संसृति बन्धनात् मुच्यते न चेत् ततस्तदज्ञानात् हेतोः सृज्यन्ते स्रष्टव्याः प्राणिनो येषु ते सर्गाः भूरादि-लोकाः तेषु लोकेषु शरीरत्वाय जन्मजरामरणादिलक्षणशीर्यमाणत्वाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः। तस्माच्छरीरपातनात्पूर्वमेवात्मज्ञानाय यतेतेति भावः ॥४॥

सान्वयानुवाद—चेत् = अगर, शरीरस्य विस्रसः = शरीर गिरने के, प्राक् = पहले, इह = इस अत्यन्त दुर्लभ मानव शरीर में ही, (उपासक) बोद्धुम् = परमात्मा को साक्षात्, अशकत् = कर सका (तब तो मनुष्य जन्म सफल हो गया), ततः = नहीं तो फिर, सर्गेषु लोकेषु = सृष्टि होने के समय उत्पन्न होने वाले लोकों–योनियों में, शरीरत्वाय कल्पते = शरीर धारण के लिए यह योग्य—समर्थ होता है ॥४॥

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण गरुड़ जी से कहते हैं—

'यावत् स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः'॥ (गरुडपुराण)

जब तक शरीर स्वस्थ हो, किसी रोग का आक्रमण न हुआ हो, वृद्धावस्था न आयी हो, इन्द्रियों की शक्तियाँ नष्ट न हुई हों, आयु क्षीणप्राय न हुई हो; तब तक विद्वान् पुरुष को अपनी आत्मा के उद्धारार्थ शीघ्र प्रयत्न कर लेना चाहिये। अन्यथा घर में आग लगने पर कुआँ खोदने से कोई लाभ नहीं होता। इसलिये शरीर गिरने से पहले ही आत्मज्ञान–आत्मोद्धार के लिए यत्न करना चाहिये ॥४॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—आत्मतत्त्वस्य दुर्बोधत्वं दर्शयति—यथा आदर्शे दर्पणे प्रती-यमानमात्मानं लोको विविक्तं पश्यति तथेहात्मनि अन्तरात्मानं ध्यानादौ विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः। यथा स्वप्ने जाग्रद् दर्शनवत् सम्यक्तया संशयादिविरोधित्वेन ज्ञानाभावः तथा पितृलोके संशयादियुक्तमात्मदर्शनं, यथा अप्सु जलेषु अविविक्तात्मरूपं परीव दृश्यते परिदृश्यत इव नेतरवत् स्पष्टं प्रकाशते तथा गन्धर्वलोकेऽप्यायातत;

प्रतीतिमात्रमित्यर्थः। एवमन्यलोकान्तरेऽपि श्रुतिप्रामाण्याद् ज्ञायते। छायातपयोरिव ब्रह्मलोके। यथा छायातपयोर्मिश्रणे शुद्धातपवर्त्तिपदार्थवन्नोपलम्भः, एवं ब्रह्मलोकेऽपि न सम्यगुपलम्भः सम्भवति। अतो दुरधिगममात्मतत्त्वमिति भावः ॥५॥

व्याख्या—जैसे मुँह देखने के दर्पण में मनुष्य—प्राणी प्रतीयमान स्वरूप को अलग करके देखता है वैसे ही इस मनुष्य शरीर में अन्तरात्मा को, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में योगिजन जन्म-जन्मान्तर की कठोर तपस्या से अपने हृदयकमल में स्पष्टरूप से परमात्मा का दर्शन करते हैं। इसको विविक्त = आत्मदर्शन कहते हैं। ज्ञान की सामान्य अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। उस समय जाग्रत् दर्शन की भाँति सम्यक् ज्ञान नहीं रहता है। उसी प्रकार पितृलोक में संशयादियुक्त आत्मदर्शन होता है। जैसे जल में अपने रूप का अस्पष्ट दर्शन होता है वैसे ही गन्धर्वलोक में। इस प्रकार अन्य लोकान्तर में भी शास्त्र-प्रमाण से जाना जाता है। ब्रह्मलोक में छाया और धूप की भाँति आत्मतत्त्व का अनुभव होता है। जैसे छाया और धूप—प्रकाश के एक साथ मिल जाने पर शुद्ध प्रकाश में रहने वाला पदार्थवत् अनुभव नहीं होता है, इस प्रकार ब्रह्मलोक में भी आत्मतत्त्व का सम्यक् ज्ञान–अनुभव नहीं होता है ॥५॥

'यदोपरामो मनसो नामरूपरूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात्।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः' ॥

(श्रीमद्भा.६।४।२६)

जिस समय मन में निश्चलता आ जाती है एवं दृष्ट पदार्थों की स्मृति भी नहीं रहती उस समय योगी पुरुषों को स्वस्वरूप-परस्वरूप ज्ञान के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण में जिनकी अनुभूति होती है, उस पवित्र स्थान में रहनेवाले हंस को मैं प्रणाम करता हूँ।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—तर्हि कथमसौ ज्ञेयः किञ्च तज्ज्ञाने कारणमित्यत्राह—इन्द्रियाणामिति। इन्द्रियाणां = चक्षुरादीनां स्वस्वविषयग्रहणार्थं स्वकारणात् राजसाऽहङ्कारात् पृथगुत्पद्यमानानां पृथग्भावं पृथक् भिन्नं विलक्षणं भावः स्वभावो येषां ते पृथग्भावम्। उदयास्तमयौ यौ = उत्पादविनाशौ च यदित्यव्ययं यावित्यर्थे। तान् सर्वान् इन्द्रियादिगतान् मत्वा धीरो धीमान्न शोचति। इन्द्रियाणां परस्परवैलक्षण्यं स्वभावः। उत्पादविनाशौ च ज्ञानस्वरूपे आत्मनि न सन्तीति ज्ञात्वा न शोचतीत्यर्थः ॥६॥

सान्वयानुवाद—पृथक् उत्पद्यमानानां इन्द्रियाणां = पृथक्-पृथक् = अलग-अलग रूपों में पैदा होने वाली इन्द्रियों के, पृथक् भावं = भिन्न-भिन्न स्वभाव अर्थात् इनकी अलग-अलग आदत, उदयास्तमयौ = उनके उदय और अस्त को, यत् मत्वा धीरः न शोचति = जानकर विवेकी पुरुष शोक नहीं करता ॥६॥

व्याख्या—इन्द्रियों की रचना चित्स्वभाव आत्मा से बिल्कुल अलग है। इन्द्रियों

का जन्म और विनाश होता है तथा इनका पृथक्-पृथक् स्वभाव है। आत्मा तो सदैकरस में रहता है। उत्पन्न और विनाश ज्ञानस्वरूप आत्मा में नहीं है—इस प्रकार समझकर साधक शोक नहीं करता ॥६॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्चाधिगच्छति ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नः प्रत्यगात्मेति ज्ञातेति क्षेत्रज्ञानां भगवच्छरणागतिमन्तराऽन्यः कोऽप्युपायो न दृश्यते। अतस्तामेव प्रतिपादयति–इन्द्रियेभ्य इति। अस्य व्याख्यानं प्रागुपदर्शितरीत्याऽवसेयम्। सत्त्वं = बुद्धिः, अधि = अधिकः। पुरुषं परमात्मानं विशिनष्टि—व्यापकेति। अलिङ्गः = लिङ्गागम्यः प्राकृतशरीररहितो वा। परत्वञ्च वशीकार्यतायां विवक्षितम्। परस्य भगवतः वशीकरणं शरणागतिरेव यं सर्वेश्वरं भगवन्तमाचार्यतः शास्त्रतश्च ज्ञात्वा जन्तुः = जीवात्मा संसारात् मुच्यते। अमृतत्वञ्च भगवद्भावापत्तिरूपां मुक्तिं लभत इत्यर्थः ॥७-८॥

सान्वयानुवाद—इन्द्रियेभ्यः मनः परम् = इन्द्रियों से मन परे है, मनसः सत्त्वं उत्तमम् = मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। सत्त्वात् महान् आत्मा अधि = बुद्धि से जीवात्मा कर्त्तारूप से महान् श्रेष्ठ है, महतः अव्यक्तम् उत्तमम् = जीवात्मा से शरीर श्रेष्ठ है (क्योंकि जीवात्मा के समस्त साधनों की प्रवृत्ति शरीराधीन है)॥ अव्यक्तात् पुरुषः परः = शरीर से परमात्मा परे है, व्यापकः अलिङ्गः = जो सर्वव्यापक और अजन्मा है, जन्तुः यं ज्ञात्वा मुच्यते = जन्मजरामरणवान् प्राणी जिसको जानकर मुक्त होता है, अमृतत्वं च अधिगच्छति = और अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥७-८॥

व्याख्या—सातवें मन्त्र का व्याख्यान इसी उपनिषद् के (१।३) दसवें मन्त्र में देखना चाहिये। मन्त्र में 'अलिङ्गः' पद का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये। जिस प्रकार गजेन्द्र ने श्रीभगवान् की स्तुति की है—'न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः' (श्रीमद्भा.८।३।२४) अर्थात् वे परमात्मा न स्त्री हैं, न नपुंसक हैं, न पुरुष हैं और न तो जन्मजरामरणवान् प्राणी हैं। वे इन चारों से एवं सत्त्व-रजः-तमःस्वरूपा प्रकृति से परे हैं। पुरुषु = जीवशरीरेषु, शेते = तिष्ठतीति पुरुषः = सर्वगुहाशयः श्रीकृष्णः। वे परम पुरुष परमात्मा श्रीकृष्ण सम्पूर्ण शरीरधारी जीवों के भीतर प्रादेश (= अँगूठे और तर्जनी के बीच का स्थान) परिमाणवाला घर बनाकर उन प्राणियों में स्थित हैं, इसलिये वे व्यापक हैं। उन सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को गुरूपदेश से एवं श्रुति-शास्त्र से जानकर ठीक-ठीक समझकर जीवात्मा संसार से छूट जाता है और श्रीभगवद्भावापत्तिरूपा मुक्ति का लाभ करता है ॥८॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—अस्य भगवतो रूपं दिव्यमङ्गलविग्रहं सन्दृशे दर्शनाय विषये अभिमुखतया न तिष्ठति यद्वा सन्दर्शनाय प्राकृतचक्षुषा सम्यक् दर्शनयोग्यं न भवति। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' इति श्रीमुखवचनात् अथवा अस्य रूपसादृश्यं नीलपीतादिकं नास्ति अत एव न चक्षुषा प्राकृतचक्षुषा एनं प्रकृतं परमात्मानं कश्चिदपि न पश्यति। चक्षुरित्यन्येन्द्रियोपलक्षणार्थम्। तर्हि किं सर्वथा ज्ञानाविषयः नेत्याह। हृदा प्रेमभक्त्या मनीषा धृत्या मनसा मननेन सम्यक् दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिग्रहणसमर्थो भवति। एतत् प्रकृतं ब्रह्म ये विदुः ते अमृताः मुक्ताः भगवद्भावं गता भवन्ति।

श्रीबादरायणेन श्रीमहाभारते हृच्छब्दस्य भक्त्यर्थकत्वं मनीषेत्यस्य धृतिरूपार्थत्वं भाषितं, तथाहि—

'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न च चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
भक्त्या च धृत्या समाहितात्मा ज्ञानरूपं परिपश्यतीह'॥ इति।

धृत्या समाहितात्मा भक्त्या श्रीपुरुषोत्तमं पश्यति साक्षात्करोति।

'भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिरेवैनं गमयति, भक्तिवशः पुरुषः भक्तिरेव भूयसी' इत्याद्याः श्रुतयः शतशः सन्ति। ताभिरिन्द्रचन्द्रब्रह्मरुद्रादिदुर्लभोऽपि भगवान् वासुदेवो रमाकान्तो भक्तिप्रपत्त्या व्याजमाहात्म्येन शरणागतवत्सलत्व-कारुण्यादिगुणविवशतया प्रपन्नभक्तानां सुलभ इति प्रतिपाद्यते।

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप'॥

इति श्रीमुखवचनेनापि निश्चीयते केवलं भक्तिग्राह्यत्वं भगवत इति भावः॥९॥

सान्वयानुवाद—अस्य रूपं सन्दृशे न तिष्ठति = इसका रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, कश्चन एनं चक्षुषा न पश्यति = कोई इसको आँख से देख नहीं सकता, हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः = प्रेमभक्ति, धृति एवं मनन से तथा सम्यक् दर्शन—ज्ञान से वह ग्रहण के लिए समर्थ होता है, ये एतत् विदुः = जो इसको जानते हैं, ते अमृताः भवन्ति = वे अमृत हो जाते हैं॥९॥

व्याख्या—इन परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का दिव्य मङ्गल विग्रह प्रत्यक्ष विषय के रूप में अपने सामने नहीं ठहरता, उनके दिव्य रूप को कोई भी मनुष्य प्राकृत चर्म-चक्षुओं से देख नहीं सकता। प्रेमभक्ति, धारणा, मनन एवं सम्यक् शास्त्रज्ञान इन साधनों से साधक पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करता है। जो इन परब्रह्म श्रीकृष्ण को जान लेते हैं वे भगवद्भाव को प्राप्त हो जाते हैं॥९॥

श्रुति कहती है—भक्ति भगवान् के समीप ले जाती है। भक्ति भगवान् का दर्शन करवाती है। भक्ति भगवान् का ज्ञान देती है। परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति के वश में रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—जो उपासक मेरे प्रति अनन्य योग द्वारा एकमात्र मन्निष्ठ होकर निर्जन स्थान में वासशीलत्व मानव-जनसमाज में अनुराग-विहीन मुझ उपास्यदेव को ऐकान्तिक भक्तियोग से भजता है अर्थात् मेरी सेवा-पूजा करता है; प्रकृति के ये तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) को लाँघकर वह उपासक ब्रह्मभाव के लिये योग्य होता है। (गीता १३।१०,१४।२६)

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदा = यस्मिन् काले, ज्ञायते = ज्ञेयमेभिरिति ज्ञानानीन्द्रियाणि पञ्च स्वविषयेभ्यो निवृत्त्य आत्मन्येवावतिष्ठन्ते मनसा सह बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा स्वव्यापारेषु न विचेष्टते = स्वव्यापारं न करोति तां परमां गतिमाहुः = विषयान्तरसञ्चरणं विहाय मोक्षार्थगमनं परमां गतिमाहुरित्यर्थः ॥१०॥

तां पूर्वमन्त्रोक्तामिन्द्रियाणां बाह्याभ्यन्तरकरणानां स्थिरामचलां धारणां योगिनः योगमिति मन्यन्ते। तदा = तस्मिन् काले, अप्रमत्तः = प्रमादरहितो भवति। इन्द्रियाणां निर्व्यापारत्वे एवाव्यवहितचित्तता भवतीत्यर्थः। किमर्थं चित्तावधानमित्यत आह—योग इति। हि यस्मात् योगः प्रभवाप्ययौ। इष्टप्रभवानिष्टनिवर्त्तकः योगस्य तत्साधनत्वात् तत्राप्रमत्ततया भवितव्यमित्यर्थः ॥११॥

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं = ज्ञातुं, शक्यः। यदि वागादिना प्राप्तुमशक्यो भगवान् तर्हि केन प्रमाणेन वेद्य इत्यत आह—अस्तीति। अस्तीति ब्रुवतः = शब्दात् अन्यत्र इत्यर्थः। तस्यौपनिषदैकसमधिगम्यत्वं वाच्यमिति भावः ॥१२॥

सान्वयानुवाद—यदा = जिस समय, पञ्च ज्ञानानि = पाँचों ज्ञान-इन्द्रियाँ, मनसा सह = मन के साथ, अवतिष्ठन्ते = स्थिर हो जाती हैं, बुद्धिः च न विचेष्टते = और बुद्धि भी विविध चेष्टा नहीं करती, (तब) तां परमां गतिम् आहुः = उसको परम गति कहते हैं ॥१०॥

तां स्थिरां इन्द्रियधारणां = उस स्थिर इन्द्रियों की धारणा को, योगम् इति मन्यन्ते = ध्यान-योग ऐसा कहते हैं, तदा अप्रमत्तः भवति = उस समय वह प्रमादरहित होता है, (यह) योगः हि प्रभवाप्ययौ = ध्यान-योग अपने इष्टदेव की ओर ले जाने वाला और अनिष्ट को निष्कासित करने वाला है ॥११॥

नैव वाचा = न तो वाणी से, न मनसा = न मन से, न चक्षुषा एव = न आँख से ही, प्राप्तुं शक्यः = प्राप्त करना शक्य है, तत् अस्ति = वह है, कथं

उपलभ्यते = (तब उसकी) कैसे-किस प्रकार उपलब्धि हो सकती है अर्थात् वह कैसे मिल सकता है ? तब उत्तर देते हैं—इति ब्रुवत: अन्यत्र = इस तरह कहने वाले के शब्दों से दूसरे स्थान में वह मिल सकता है ॥२॥

व्याख्या—भगवद्ध्यानयोग का अभ्यास करते-करते जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्व-स्व विषयों से लौटकर भली-भाँति परमात्मा में ही स्थिर = सुसमाहित हो जाती हैं और बुद्धि भी स्व-व्यापार नहीं करती है, उस समय जो अवस्था होती है उसको 'परम गति' पद से कहते हैं ॥१०॥

इन्द्रिय, मन, बुद्धि, बाहर और भीतर के करणों की स्थिर धारणा को उपासक लोग ध्यानयोग कहते हैं। उस समय उपासक विषय-दर्शनरूप सब तरह के प्रमाद से सर्वथा रहित हो जाता है। यह ध्यान-योग इष्टप्रापक और अनिष्टनिवर्त्तक है ॥११॥

दूसरी श्रुति कहती है—'यद् वाचो ह वाचम्, मनसो मन:, चक्षुषश्चक्षु: । असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' । जो वाक् इन्द्रिय का वाक् है। जो मन का मन है। जो चक्षु इन्द्रिय का चक्षु है। यदि कोई मनुष्य यह समझता है या ऐसा निश्चय करता है कि ब्रह्म असत् है अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है जो इस प्रकार जानता है वह स्वयं ही असत् हो जाता है। ऐसे असत् तुच्छ (क्षुद्र) मनुष्यों की वाक् इत्यादि इन्द्रियों से इस परब्रह्म श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अस्तीति—वह परब्रह्म श्रीकृष्ण है। कथं तदुपलभ्यते—कैसे उनकी उपलब्धि अर्थात् साक्षात्कार मिल सकता है, नेत्रों से दर्शन हो सकता है? तब श्रुति कहती है—'ब्रुवतोऽन्यत्र असत्' अर्थात् तुच्छ प्राणियों की शब्दावली से वह भिन्न है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मसूत्रकार महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनजी ने कहा है—

'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णश: स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जना: ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहो परमं पदाम्बुजम्' ॥

(श्रीमद्भा. १।८।३६)

तावकं त्वदीयं पदाम्बुजं कीदृशं भवप्रवाहस्य जन्मपरम्पराया उपरामो यस्मिन् तत्, परा मा शक्तिः मूलप्रकृतिरूपा देवी वृषभानुजा यस्मिन् तत्। एवम्भूतं पदाम्बुजम्।

जो भगवल्लीलाचरित्र का श्रवण करते हैं, रसास्वादनपूर्वक गान करते हैं, मन-ही-मन गुनगुनाते रहते हैं, पुन:-पुन: स्मरण करते हैं और उसी में आनन्द लेते हैं वे ही परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के संसार-निवर्त्तक एवं रमा-सेवित चरणारविन्द का शीघ्र ही दर्शन करते हैं। नेतरेषामभक्तानाम्—किन्तु दूसरे जो अभक्त जन हैं उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता। जन: = स्वकर्मानुसारेण नानायोनिषु जन्म यस्य भवति सो जन:। अपने कर्मानुसार नाना योनियों में जन्म जिसका होता है वह जन कहलाता है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयो: ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव: प्रसीदति ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—तत्त्वं भावयतीति तत्त्वभावो मनस्तेन परमात्माऽस्तीत्येवो-पलब्धव्य:, उपलभ्यते च वेदान्तवचनै: ब्रह्मणोऽस्तित्वं तस्य दार्ढ्याय मनसाऽपि तस्यास्तित्वं प्रत्येतव्यमित्येवं मनननिदिध्यासने कार्ये। उभयोर्हेत्वोरुभाभ्यां शब्दमनो-रूपाभ्यामस्तित्वेनोपलब्धस्य ज्ञानवतो भुक्ता ब्राह्मण इतिवदयं निर्देश:। तत्त्वभाव: मन: प्रसीदति = प्रसन्नं भवति शान्तरागादिदोषं भवति ॥१३॥

व्याख्या—'शब्दानामनेकार्थत्वात्' इस नियम के अनुसार एवं प्रकरण या लक्ष्य के अनुसार ही व्याख्या करनी चाहिये। यहाँ 'तत्त्वभाव' शब्द मन का वाचक है। निरन्तर वेदान्तवाक्यों का मनन एवं चिन्तन द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व का निश्चय = अवधारण करना चाहिये—'ब्रह्म अस्तीत्येव'। श्रुतियों के श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन-बारम्बार चिन्तन से ही बुद्धिमान् पुरुष अपने स्वरूप का एवं परस्वरूप ब्रह्म का अनुभव करते हैं। उनको उपलब्ध वस्तु का 'अस्तीत्येव' ऐसा भान होता है, उस समय उनका मन प्रसन्न हो जाता है; राग-द्वेष आदि दोष बिल्कुल शान्त हो जाते हैं ॥१३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता:।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय:।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥१५॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदा यस्मिन् काले अस्योपासकस्य हृदि श्रिता: कामा: सङ्कल्पा: ते सर्वे प्रमुच्यन्ते दुर्वासना उच्छिद्यन्ते। अथ = अनन्तरमेव, मर्त्य: = मरणधर्मकोऽपि, अमृतो भवति = पूर्वोत्तराघरहितो भवति। अत्र दुर्व्यसनमोक्ष-पूर्वकमोक्षोपासने स्थित उपासको ब्रह्म समश्नुते = ब्रह्मविषयकानवच्छिन्नानुभूत्या स्थितो भवतीत्यर्थ:। 'समानाचाऽऽसृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य' ॥ (ब्र.सू.४।२।७) इत्यस्य ब्रह्मसूत्रस्य भाष्ये पूज्यपादै: श्रीश्रीनिवासाचार्यचरणैर्भाषितं, तथाहि—अमृतत्वञ्चानु-पोष्येति। चशब्दोऽवधारणे। अनुपोष्यैव उष दाहे इत्यस्य धातो: रूपम्। देहेन्द्रियादि-सम्बन्धमदग्ध्वैवामृतत्वमुत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशरूपं यत्प्राप्यते तत्। यदा सर्वे प्रमुच्यन्त इति वाक्येनोच्यते। अत्र ब्रह्म समश्नुत इत्यस्य चानुभवेनोपासनाकाले ब्रह्म सम-श्नुते ॥१४॥

उक्तार्थमेव विशदयति-यदा यस्मिन् काले हृत्स्थानम् अयते इति हृदयो जीव: तस्य ग्रन्थय: सर्वे। यद्वा-हृदयस्य = अन्त:करणस्य, ग्रन्थय: = ग्रन्थिवद् दुर्मोचा देहे तत्सम्बन्धिषु अहन्ता-ममतात्मका: अनादिकर्मनिरूपितमायासम्बन्धाख्या:।

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद् योनिजन्मसु'। इति श्रीमुखोक्ते:। ममेदं धनं स्त्री-पुत्रादिकं सुखी दु:खी चाहं एवमादिरूपा इह जन्मनि प्रभिद्यन्ते = भेदं प्राप्नुवन्ति। अथ मर्त्य: मरणधर्मा अमृतो भवति।

एतावदेवानुशासनमनुशासनीयमुपासकायोपदेशो वेदान्तवाक्यस्येत्यर्थ: ॥१५॥

सान्वयानुवाद—यदा = जब, अस्य = इस उपासक के, हृदि = हृदय में, श्रिताः = स्थित, सर्वे = समस्त, कामाः = कामनाएँ, प्रमुच्यन्ते = स्वतः छूट जाती हैं, अथ = तब, मर्त्यः = वह मरणधर्मा मानव, अमृतः = अमर, भवति = होता है, अत्र = इस जीवन में, ब्रह्म समश्नुते = ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥१४॥

यदा = जब, इह = इस जन्म में, हृदयस्य = हृदय की, सर्वे ग्रन्थयः = सारी ग्रन्थियाँ, प्रभिद्यन्ते = छूट जाती हैं, अथ मर्त्यः अमृतो भवति = तब मरणधर्मा मनुष्य अमर होता है, एतावत् हि अनुशासनम् = इतना ही अनुशासन सदुपदेश है ॥१५॥

व्याख्या—मनुष्यों की मृत्यु तो हर समय काल रूप से बाहर खड़ी है, उनके शिर पर सवार है। अतः कुटुम्ब आदि में अत्यन्त आसक्त होकर अहङ्कार-ममकार नहीं करना चाहिये। 'ममाहम्' का चिन्तन करने वाले मौत के साथ जुआ ही खेल रहे हैं। भगवान् श्रीहरि जिस पर अनुग्रह करते हैं वह समझता है कि इस भौतिक अनात्म-शरीर को एक दिन कुत्ते खा जायेंगे, गीदड़ खा जायेंगे, चिता जला डालेगी इसलिये देह-गेह आदि अनात्म-वस्तुओं में आत्मबुद्धि और उनमें 'ममाहम्' इस प्रकार की मति वह नहीं करता।

श्रीमद्भागवत में एक भगवद्भक्त ने कहा है—

'भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया।
अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु' ॥ (श्रीमद्भा. १०।४०।२३)

हे भगवन्! यह जीवलोक आपकी माया से मोहित हो रहा है। 'यह मैं', 'यह मेरा' (ऐसा स्वीकार करके) तुच्छ सांसारिक नाना विषय-भोगवासनाओं में आसक्त होकर कर्मों के मार्गों में भटक रहा है। पुरञ्जनोपाख्यान में देवर्षि नारदजी ने भी यही बात कही है—

'अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही।
दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते' ॥ (श्रीमद्भा.४।२८।१७)

कुमति गृहासक्त पुरञ्जन घर में 'यह मैं', 'यह मेरा' इस तरह अभिमान करके और यौवनमदयुक्त स्त्री का सङ्ग करने के कारण दीन हो गया। जब उसका शरीर-वियोग का समय उपस्थित हुआ तब उसकी मृत्यु हो गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी से कहते हैं—'गृहेष्वतिथिवद् वसन्' (श्रीमद्भा.११। १७।५४) अर्थात् घर में अतिथि के समान निवास करना चाहिये। जैसे कोई अतिथि रात के समय किसी के घर में निवास करता है एवं अन्न-जलादि का भक्षण-पानादि करके रात में पलंग पर सोता है, बिस्तर का उपभोग करता है, मीठी-मीठी हर तरह की बात करता है लेकिन दूसरे दिन चला जाता है; ठीक वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्यों को घर में अनासक्त होकर विषयों का उपभोग करना चाहिये।

अहम्, मम, नाना काम, कुवासना और कर्माख्य अविद्या ये सब हृदय की

ग्रन्थियाँ हैं। जब मनन-निदिध्यासन से हृदय की सब कर्मवासनाएँ, विषय-भोगकामनाएँ हृदय से दूर हो जाती हैं तब मरणधर्मा मानव अमर होता है। जन्म-जरा-मरण से छुटकारा पाना ही 'अमर' कहलाता है। इसके बाद वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'। (गीता ४।१०)

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश करते समय श्रीभगवान् ने अन्तिम उपदेश में यही बात कही है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' ॥

सभी प्रकार के धर्म-कर्मों को छोड़कर केवल एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे हर तरह के पापों से छुड़ा दूँगा, तू शोक मत कर।

श्रीमद्भागवत में उद्धव को उपदेश करते समय श्रीभगवान् ने अन्तिम उपदेश में यही बात कही है—

'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै' ॥

मरणधर्मा मानव जब सर्वविध कर्मों को छोड़ देता है और अपने-आपको मेरे चरणों में सौंप देता है तब वह मेरा अत्यन्त प्रिय हो जाता है। तब वह अमृतत्व को प्राप्त करके मेरे ब्रह्मभाव के लिए योग्य होता है।

यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' तथा 'त्यक्तसमस्तकर्मा' इन श्रीभगवद्वचनों से धर्म-कर्मों में फलेच्छा–फलबुद्धि का परित्याग करके निष्काम भाव से यावज्जीवन भगवदर्थ कर्म करना चाहिये। इन वाक्यों का यही अर्थ है, यही तात्पर्य है। जैसे इससे पूर्व-पूर्व में श्रीभगवदुक्तियों का स्मरण करना चाहिये।

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव' ॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो और मुझको नमस्कार कर। "न 'मम अहं' इति नमः" अर्थात् सम्पूर्णरूप से आत्मसमर्पण करना ही नमन कहलाता है। इस प्रकार मत्प्रपत्र होकर मन को मुझमें नियुक्त = संयमित करके 'त्वं मां एव एष्यसि' = तू मुझको ही प्राप्त हो जायेगा।

हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! जो धर्म-कर्मों को केवल मेरे ही लिए करने वाला है, मैं ही जिसका परमेश्वर-परमात्मा हूँ, जो मेरा भक्त है, जिसकी धर्म-कर्मों में फलों की इच्छा नहीं है, जो सर्वभूतों में निर्वैर है तथा जो सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करता है वह मुझको ही प्राप्त होता है।

'दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः' ।।

सभी प्राणियो पर दया करनी चाहिये। सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखनी चाहिये। प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तोष करना चाहिये। अपनी समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटाकर शान्त करने से शीघ्र ही भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं। (श्रीमद्भागवत ४।३१।१९) उपर्युक्त तीनों मन्त्रों का यही आशय है। बस, इतना ही समस्त वेद, उपनिषद्, वेदान्त और पुराणों का सनातन उपदेश है।

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।।१६।।

तत्त्वप्रकाशिका—हृदयस्य प्रधाननाड्यः शतं शतसङ्ख्याकाः, एका च सुषुम्ना नाम्नी तासां मध्ये एका प्रधाना सुषुम्णाख्या ब्रह्मनाडी मूर्द्धानमभिनिःसृता तया नाड्या ऊर्ध्वं ब्रह्मलोकमायन् गच्छन् अमृतत्वं भगवद्भावापत्तिरूपां मुक्तिं प्राप्नोति। अन्यास्तु नाड्यो विष्वगुत्क्रमणे नानाविधसंसारमार्गोत्क्रमणायोपयुज्यन्ते। इदञ्च वाक्यं भगवता बादरायणेन उत्क्रान्तिपादे आलोचितम्। तथाहि—

'तदेकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकतया'। (ब्र.सू.४।२।१६)

विवृतञ्चैतत् वेदान्तकौस्तुभे। शताधिकतया मूर्द्धन्यया नाड्या विदुषोऽन्याभिरविदुषश्च निष्क्रमणमित्येवम्भूता उत्क्रान्तो विदुषोऽस्ति न वेति सन्देहे नास्ति विशेषनाडीविशेषज्ञानासम्भवात् इति प्राप्तेऽभिधीयते—हार्दानुगृहीत इति। 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' इत्येवम्भूतो हार्दः श्रीपुरुषोत्तमस्तेन स्वानन्यवशीभूतेन सर्वास्ववस्थासु तदनुरूपविद्धयोगादत्रानुगृहीतः। इयं सा नाडी यया उत्क्रम्य मम साधर्म्यं यास्यसीति प्रतिबोधित इत्यर्थः। 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इति श्रीमुखवचनात्। तदनुग्रहादेव। स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामतीति श्रुतिप्रोक्तं तस्य हार्दानुग्रहपात्रीभूतस्य विदुष ओकः स्थानमग्रज्वलनं भवति, अग्रे ज्वलनं प्रकाशनं यस्य इत्येवम् अनुकूलं भवति तत्प्रकाशितद्वारः, तेनैव हार्देन प्रकाशितं द्वारं नाडीमूलं यस्मै स विद्वान् शताधिकया हृदयाद् उद्गतया मूर्द्धानं गतया सूर्यरश्मिभिरेकीभूतया नाड्यैव निष्क्रामति।

भगवति वैषम्याभावं दर्शयन्ननुग्रहबीजमाह—विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च। विद्यापरिपाकजन्यवेद्यवशीकरणलक्षणवेत्तृसामर्थ्यात् मम कदा अनया वेदान्तगीतया वेदान्तवेद्यप्राप्तिर्भविष्यतीति विद्याशेषसृत्यनुस्मृतियोगाच्च तेनानुगृहीत इत्यर्थः। तस्माद् विदुषो नाडीविशेषेणोत्क्रमणमिति सिद्धम् ।।१६।।

सान्वयानुवाद—शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः = कुल मिलाकर एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं, तासां एका मूर्धानम् अभिनिःसृता = उनमें से एक बीच में मस्तक की ओर निकली हुई है (इसे ही सुषुम्णा नाम्नी ब्रह्मनाड़ी कहते हैं), तया ऊर्ध्वं

आयन् = उस सुषुम्णा ब्रह्मनाड़ी के द्वारा ऊपर के श्रीवैकुण्ठलोक में जाकर, (जीव) अमृतत्वम् एति = अमृतत्व अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, अन्याः = दूसरी एक सौ नाड़ियाँ, उत्क्रमणे = मौत में, (जीव को) विष्वङ् = हर तरह की योनियों में ले जाने की हेतु, भवन्ति = होती हैं।

व्याख्या—अब शरीर नष्ट होने के बाद आगे होने वाली विद्वान्-अविद्वान् की गति = प्राप्तिस्थान का श्रुति वर्णन करती है—हृदय में प्रधान नाड़ियाँ एक सौ संख्या वाली और एक प्रधान सुषुम्णा नाम्नी ब्रह्मनाड़ी है। यह नाड़ी उन एक सौ नाड़ियों के बीच में है, जिसको सुषुम्णा नाड़ी कहते हैं। यह सुषुम्णा नाड़ी शिर को फोड़कर निकली है। भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम में जाने का अधिकारी उस सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा स्थूल शरीर से बाहर निकलकर चौदह लोकों से ऊँचे श्रीभगवद्धाम में जाकर श्रीभगवद्भाव को प्राप्त हो जाता है।

परन्तु श्रीशुक-सनकादि जन्म से ही श्रीभगवद्भाव को प्राप्त, आप्त समस्त काम निजलाभसन्तुष्ट हैं और वे ऊर्ध्वरिता एवं असाधारण पुरुष हैं। उपर्युक्त 'अमृतत्वमेति' यह शृति जन्म-जरा-मरणवान् निष्काम श्रीभगवद्भक्त के लिए ही है, श्रीशुकादि के लिए नहीं है। इन दोनों से भिन्न जो सकामकर्मी पुरुष हैं, वे मरणकाल में दूसरी नाड़ियों के द्वारा स्थूल शरीर से बाहर निकलकर अपने-अपने कर्मवासना के अनुसार संसार में नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

तत्त्वप्रकाशिका—अङ्गुष्ठमात्रः = जीवाङ्गुष्ठपरिमितः, जनानां = प्रत्यगात्मनां, हृदये सदा सन्निविष्ट अन्तरात्मा, तं = परमात्मानं, स्वाच्छरीरात् = परमात्मशरीरभूताज्जलशब्दवाच्याच्चेतनात्, प्रवृहेत् = विविच्य जानीयात्। 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्'। (श्वे.।४।७) इति श्रुत्युक्तरीत्या। सर्वात्मत्व-सर्वनियन्तृत्व-सर्वव्यापकत्व-स्वतन्त्रसत्त्व-सर्वाधारत्वादिधर्मैः भिन्नं ब्रह्मात्मकत्व-तन्नियम्यत्व-तद्व्याप्यत्व-तत्तन्त्र-सत्त्व-पराधेयत्वादि-धर्मैश्चाभिन्नत्वञ्च जानीयात्। 'एष सर्वभूतान्तरात्मा। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।

'यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' ॥

आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः। तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानिति। तत्त्वमसि श्वेतकेतो। अहं भगवो देवते। एकमेवाद्वितीयम्। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। एको ह वै नारायण आसीद्"। इत्युभयविषश्रुतीनां भेदाभेदप्रतिपादिकानाम् उत्क्रमादिषड्लिङ्गोपेतानां तुल्ययोगक्षेमत्वात् स्वार्थ एव प्रामाण्याच्च

प्राबल्यमितरथैकतराणां श्रुतीनां बाधः प्रसज्येत तस्मादुक्तार्थो वरीयान् उक्तार्थं दृष्टान्तेन परबुद्ध्यारूढं करोति—मुञ्जात् = तृणविशेषात्। इषीकां तन्मध्यवर्तिस्थूलतृणविशेषमिव धैर्येण ज्ञानकौशलेनेति पूर्वेणान्वयः, तं विद्यादिति पूर्ववत्। द्विरुक्तिरुपदेश-समाप्त्यर्था ॥१७॥

सान्वयानुवाद—अन्तरात्मा = सभी प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से निवास करने वाला, अङ्गुष्ठमात्रः = अँगूठे के बराबर, पुरुषः = परमपुरुष श्रीकृष्ण, सदा = हमेशा, जनानां = मनुष्यों के, हृदये = हृदय में, सन्निविष्टः = सम्यक् प्रविष्ट है, तं = उसको, मुञ्जात् = मूँज से, इषीकाम् इव = सींक की भाँति, स्वाच्छरीरात् = स्वशरीर से, धैर्येण = धैर्य धारण करके एकाग्रचित्त से, प्रवृहेत् = देखो, तं = उसी को, शुक्रं = तेजोमय प्रकाशस्वरूप, अमृतं = अमृत को, विद्यात् = जानो। तं शुक्रम् अमृतं विद्यात् इति ॥१७॥

व्याख्या—अब एक ही मन्त्र में छहों वल्लिओं के अर्थ का उपसंहार करते हुये श्रुति कहती है—जनों के हृदय के अन्दर रहने वाले को अन्तरात्मा कहते हैं। वे अँगूठे के बराबर हैं। वे सब के नियन्ता हैं। वे अपने हृदय में सदैव विराजमान हैं। उनको ध्यानयोग से अपने शरीर से अलग करके जानना चाहिये = देखना चाहिये। जैसे मुञ्ज से तिल को अलग करते हैं। हे अर्जुन ! मैं सबके हृदय में संनिविष्ट हूँ। मैं योगमाया से ढका हुआ अतः सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। (गीता १५।१५;७।२५)

'त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से' ॥ (श्रीमद्भा.४।९।१५)

जब भगवान् अपनी योगमाया के पर्दे को दूर कर देते हैं तब जीव भगवान् को पहचानकर तत्त्व का अपनी रुचि के अनुसार वर्णन करते हैं। हे भगवन् ! आप नित्य मुक्त हैं। आप परिशुद्ध एवं विबुद्ध हैं। आप मेरी आत्मा हैं। आप कूटस्थ हैं। आप आदि-कारण पुरुष हैं। आप षड्विध ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। आप त्रिलोकीनाथ हैं। आप जीवों की बुद्धि में अखण्ड रूप से अवस्थान करते हैं। आप अपनी दृष्टि से एककाला-वच्छेदेन सारी सृष्टि को देखते हैं। आप स्थिति = पालन में अधिमख = श्रीविष्णु हैं। आप जीवों से भिन्न—बिल्कुल अलग हैं। इन उभयविध वाक्यों को ही स्वाभाविक भेदाभेद-भिन्नाभिन्न-द्वैताद्वैतसिद्धान्त कहते हैं।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं मृत्युप्रोक्तां विद्यां प्राप्तवता नचिकेतसा विद्याफलं लब्धमित्याह श्रुतिः—नचिकेत एव नाचिकेतो मृत्युप्रोक्तामेतां विद्यामात्मविद्यां 'यदा पश्य' चेत्याद्युक्तं योगविधिञ्च लब्ध्वा = प्राप्य, ब्रह्मप्राप्तः, आविर्भूतगुणाष्टकोऽभू-

दित्यर्थः। विद्याप्रतिपत्त्या विरजः = विगतमायातत्कार्यसम्बन्धाख्यरजः, विमृत्युः = विगतजन्ममरणश्चेत्यर्थः। य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति श्रुत्यनुसारेण सायुज्यप्राप्तिर्बोद्धव्या। न केवलं नचिकेता एव या अन्योऽप्यध्यात्मविद्यामात्मविद्यां वेत्ति सोऽप्येवमेव नचिकेता इवैव भवतीत्यर्थः ॥१८॥

सान्वयानुवाद—अथ = इस प्रकार तत्त्वोपदेश सुनने के बाद, नाचिकेतः = नचिकेता, मृत्युप्रोक्तां = यमराज द्वारा कही हुई, एतां विद्यां = इस विद्या को, च = और, कृत्स्नं योगविधिं = सम्पूर्ण योगविधि को, लब्ध्वा = पाकर, विमृत्युः = जन्म-मरण से रहित, विरजः = तीनों गुणों से शून्य होकर, ब्रह्मप्राप्तः अभूत् = ब्रह्म को प्राप्त हो गया, अन्यः अपि यः अध्यात्मविद् एव = दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्मविद्या को इस प्रकार जानता है वह भी नचिकेता के समान ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥१८॥

व्याख्या—सूर्यपुत्र भगवान् यम की कही हुई इस पूर्वोक्त आत्मविद्या और सम्पूर्ण ध्यान-योगविधि को मृत्यु से प्राप्त कर नचिकेता अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक को प्राप्त हो गया। 'जो यह भगवदुपासक इस शरीर से ऊपर उठकर परम ज्योतिस्वरूप को प्राप्त कर वह अपने वास्तविक रूप से अभिनिष्पत्ति हो जाता है' इस श्रुति के अनुसार सायुज्य प्राप्ति जाननी चाहिये। केवल नचिकेता ही नहीं, बल्कि नचिकेता के समान जो दूसरा भी इस आत्मविद्या को जानता है वह भी इस प्रकार नचिकेता के समान ही हो जाता है ॥१८॥

'सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इति यजुर्वेदीय कठोपनिषत् समाप्ता।

तत्त्वप्रकाशिका—शिष्याचार्ययोः शास्त्रीयनियमातिलङ्घनेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषस्य प्रशमनार्थेयं शन्तिरधुनोच्यते—स विद्याप्रकाशितो भगवान् हेति प्रसिद्ध्यर्थे नौ शिष्याचार्याववतु स्वस्वरूपप्रकाशेन रक्षतु। सह नौ भुनक्तु, विश्लेषमन्तरेण आवां सहितावेव यथा स्यात् तथा पालयतु। यद्वा विद्याफलप्रदानेन नौ पालयत्वित्यर्थः। सह वीर्यं करवावहै सहैवावां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै, सनियमविद्याप्रदानेन विद्यायाः सामर्थ्यं निष्पादयावहै, किञ्च तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वाधीनमस्तु। यद्वा— तदतीव वीर्यवदस्त्वित्यर्थः। मा विद्विषावहै। यश्चाधर्मेण शिष्याचार्यौ परस्परमनवधानकृताध्ययनाध्यापननिमित्तद्वेषं मा करवावहै। यश्चाधर्मेण विब्रूते यश्चाधर्मेण पृच्छति। तयोरेकतरः प्रति विशेषञ्चाधिगच्छति। इति स्मृत्युक्तदोषो मा भूदावयोरित्यर्थः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः, त्रिवचनं मनोवचनशरीरभेदेन त्रिदोषशान्त्यर्थम्।

अस्या उपनिषद अर्थः सङ्क्षेपेण समन्वयाध्याये व्यासाचार्यैस्त्रिभिरधिकरणैर्निरूपितः। अत्राधिकरणे यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चेति विषयः। वचनमुदाहृत्य अत्रोदनोपसेचनशब्दाभ्यां सूचितः कश्चिदत्ता अत्ता प्रतीयते किं क्षेत्रज्ञः परमात्मा वेत्तीति विमर्शः कृतः। तत्र भोक्तृत्वं कर्मनिमित्तम्। तथा च जीवस्यैवात्तृत्वं प्रतिपन्नं भवति न परमात्मन इति पूर्वपक्षं कृत्वा अत्ता चराचरग्रहणात्। प्रकरणाच्च। गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। विशेषणाच्च। (ब्र.सू.।१।२।९।१०।११।१२) इति चतुर्भिः सूत्रैः सिद्धान्तः कृतः। तथाहि अत्रात्ता परमात्मैव कुतः चराचरग्रहणात् यस्य ब्रह्म चेति मन्त्रे चराचरशब्देन कृत्स्नस्य स्थावरजङ्गमात्मकप्रपञ्चस्य प्रतिपादनात् सकलप्रपञ्चसंहर्तृत्वं विश्वोत्पत्तिलयकर्त्तुः परब्रह्मण एव सम्भवति न तु शारीरस्य।

'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यादिमन्त्रैः परमात्म-प्रकरणमध्यपठितैर्निश्चीयते परमात्मैवात्ता न शारीरः।

ननु ऋतं पिबन्तावित्युत्तरमन्त्रे कर्मफलभोक्तृत्वप्रतिपादनात् न परमात्मात्ता किन्तु शारीरः। एतन्मन्त्रप्रतिपाद्यानि ऋतपान-कर्तृत्व-सुकृत-साध्य-मध्यम-लोक-वर्त्तित्व-गुहावच्छिन्नत्वरूपाणि लिङ्गानि कर्मफलभोक्तरि विभौ परमात्मनि नोपपद्यन्ते। अतोऽत्र प्रकरणेन परमात्मा प्रत्येतव्य इत्याशङ्क्य समाहितम्। गुहां प्रविष्टौ हि दुर्दर्शनादिति। क्षेत्रज्ञपरमात्मानावेव हृदयगुहां प्रविष्टौ प्रत्येतव्यौ यत उभयोश्चेतनत्वेनैकस्वभावत्वात्। तयोरेकस्मिन् प्रकरणे गुहाप्रवेशदर्शनात्।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितमिति प्रकरणेऽस्मिन् प्रत्यगात्मपरमात्मनोरुपास्योपासकभावः प्राप्यप्रापकभावो गन्तव्यगन्तृत्वभावादिभिर्विशेषणत्वेन प्रतिपादनात्। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। यः सेतुरीजानानाम्। आत्मानं रथिनं विद्धि, विज्ञानसारथिर्यस्तु इत्यादिश्रुतिषु तयोरुपासना-सौकर्यायैकाधिकरणस्थत्वप्रतिपादनार्थत्वाद् ऋतं पिबन्ताविति मन्त्रस्य जीवपरप्रतिपादकत्त्वमेव भाति। अतो यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चेति मन्त्रः परमात्मपर एवेति निर्णीतम्।

'तथाऽङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते'॥ (क.उ.२।१।१२)

इति मन्त्रेऽङ्गुष्ठमात्रतया निर्दिश्यमानो जीव एव, अङ्गुष्ठमात्रस्य जीवधर्मत्वात्; 'प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः' (श्वे.उ.५।७); 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यः' (श्वे.उ.५।८); 'अङ्गुष्ठमात्रं निश्चकर्ष यमो बलात्'। इति पूर्वपक्षं कृत्वा, 'शब्दादेव प्रमितः। हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्। कम्पनात्। ज्योतिर्दर्शनात्'॥ (ब्र.सू.१।३।२४।२५।१।३।३९। ४०) इति चतुर्भिः सूत्रैः सिद्धान्तः कृतः। तेषामर्थाः भाष्ये द्रष्टव्याः।

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः'॥

इति वाक्ये साङ्ख्यप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानात् पञ्चविंशातिरिक्तपुरुषनिषेधाच्च साङ्ख्याभिमत-ब्रह्मात्मकप्रधानमव्यक्तशब्देनाभिधीयत इति। आनुमानिकमप्येकेषामिति चेदिति सूत्रखण्डेन पूर्वपक्षं कृत्वा शरीररूपकविन्यस्तगृहीतैर्दर्शयति च। सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्। तदधीनत्वादर्थवत्। ज्ञेयत्वावचनाच्च। वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्। त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च। महद्वच्च। (ब्र.सू.१।४।१।२।३।४।५।६।७) इति सप्तभिः सूत्रैः सिद्धान्तः कृतः। तेषामर्था वेदान्तकौस्तुभे द्रष्टव्याः। इयमुपनिषत्सर्वाऽपि परमात्मपरेति त्रिभिरधिकरणैर्निर्णीतम्।

अनादिनिवृत्तपथप्रवर्त्तकब्रह्मविद्योपदेशकलोकाचार्यश्रीसनन्दनादिप्रवर्तित-
श्री १०८ महामुनीन्द्रभगवन्निम्बार्काचार्यचरणोपबृंहितवैदिकस-
त्सम्प्रदायानुगतपूज्यपादनिखिलरसिकचूडामणि-
श्री १०८ स्वामीहरिदासपदाश्रिताश्रितपरम-
विरक्तमहानुभावस्वामिनीशरणपादपद्मच-
ञ्चरीकेण विदुषा श्रीअमोलकरामेण
पूर्वाचार्योक्तितः संगृहीतायां काठ-
कोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥

व्याख्या—आत्मविद्या को प्रकाशित करने वाले, आत्मतत्त्व को देने वाले तथा सर्वविध संकटों से मुक्ति देनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण हम गुरु-शिष्य दोनों का स्व-स्व स्वरूप प्रकाश द्वारा रक्षण करें एवं पालन-पोषण भी करें। ('भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातोः भुनक्ति इति रूपम् = भुज धातु का पालन एवं भोजन अर्थ में प्रयोग होता है।)

हम दोनों के मन, शरीर और इन्द्रियों में शक्ति देने वाले वे परमात्मा श्रीकृष्ण हम दोनों का सामर्थ्य निष्पादन करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्विनी हो। हम दोनों परस्पर ध्यान न देकर किये हुये अध्ययन-अध्यापन निमित्त द्वेष न करें। मन, वाणी और शरीर से किसी प्राणी को कष्ट न दें।

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजका-
चार्यत्यागमूर्त्तिस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबा-
पादपद्मान्तेवासी योगिराजस्वामिराधाविहारि-
दासजी काठियाबाबाचरणारविन्द-
चञ्चरीक डॉ. स्वामी
द्वारकादासजी काठियाबाबा
कृत अन्वयार्थ-तत्त्वप्रभा हिन्दी टीका में
कठोपनिषद् समाप्त—३।

●

प्रश्नोपनिषद्

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् में कुल सड़सठ मन्त्र हैं। इस उपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशादि छः ऋषियों के छः प्रश्नों का क्रम से उत्तर दिया। प्रश्नोत्तर रूप होने के कारण इसका नाम प्रश्नोपनिषद् हो गया।

शान्ति-पाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अर्थ—हे देवगण! हम अपने कानों से भद्र–कल्याणकारी शब्द श्रीभगवान् की कथा का ही सुनें, आँखों से हम सभी जगहों पर उन्हीं का ही दर्शन करें, हम स्थिर अङ्गों से प्रेमपूर्वक नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर शरीर-मन-वाणी से श्रीभगवान् की स्तुति (स्तवन) प्रतिदिन करते रहें। हमारी आयु का सदुपयोग प्रभु के लिए ही हो, भगवदनुकूल कर्म का संङ्कल्प और उनके प्रतिकूल कर्म का वर्जन करें। वे परममङ्गलमय यशोमूर्त्ति, परमैश्वर्यवान्, सबके गुरु, बुद्धि के प्रवर्त्तक, सभी को जानने वाले, विश्व का भरण-पोषण करने वाले, अरिष्टों को मिटाने के लिये चक्र के समान शक्तिशाली, गरुडासन रमापति भगवान् कृष्ण हमारी सदा रक्षा करें। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ये तीन प्रकार के तापों की शान्ति हो।

'यजत्राः' शब्द का अर्थ है जो सद्गृहस्थ यज्ञीय अग्नि को स्थिर रखता है अर्थात् अग्निहोत्री।

'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' धातुः—यजति, यजते। इतने अर्थों में यज धातु का प्रयोग होता है। 'यजत्राः' का अर्थ है 'देवपूजकाः'। परमात्मा श्रीकृष्ण का पूजन करने वालों को 'यजत्र' कहते हैं। हे देवगण! हमारे सुदृढ़ अवयव एवं आरोग्य-बल-सम्पन्न शरीर विशेष रूप से सुपुष्ट हो। वह भी इसलये कि हम उनके द्वारा परब्रह्म श्रीकृष्ण का निरन्तर स्तवन, वन्दन, पूजन और ध्यान करते रहें। हमारी आयु भगवान् श्रीहरि के काम में अर्थात् भोग में आ सके। हमारी आयु को इन्द्रियाँ न भोगें, प्रभु ही उपभोग करें। हम मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को कष्ट न दें।

श्रीराधावदनाम्भोजगतसौन्दर्यसौरभम् ।
लिहद्भ्यां लोचनालिभ्यां श्रीकृष्णः पातु नो हरिः ॥१॥

अवलोकयन्निति शेषः ।

श्रीनिम्बभानुमहं वन्दे स्वान्तध्वान्तनिरासकम् ।
सन्मार्गस्योपदेष्टारं हंसवंशविभूषणम् ॥२॥
श्रीनिवासं गुरुं वन्दे करुणावरुणालयम् ।
बादरायणसूत्राणां भाष्यकारम्मुनीश्वरम् ॥३॥
नत्वाऽन्यान् देशिकान् मान्यान् पूर्वाचार्योक्तितः खलु ।
प्रश्नोपनिषदो व्याख्यां व्याकरिष्ये यथामति ॥४॥

अत्रादौ सुकेशा इत्याद्याख्यायिका विद्याप्रशंसया श्रोतॄणां श्रद्धातिशयजननार्था। यथा पूर्वे आचार्या वेदशास्त्रसम्पन्ना भारद्वाजप्रभृतयः संवत्सरपर्यन्तसमीचीनब्रह्मचर्यानुष्ठानेन वक्ष्यमाणां ब्रह्मविद्यां लब्धवन्तः, तदनन्तरमतिप्रशस्तराजानस्तथाऽस्माभिरप्येवंविधैर्भाव्यमिति स्मर्यते हि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिं प्रति श्रद्धादीनां कारणत्वं श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानमिति ।

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—सुकेशानामतो भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः। शिबेरपत्यं शैब्यः सत्यकामो नामतः। सूर्यस्यापत्यं सौर्यः, तदपत्यं सौर्यायणिः। दीर्घः सुलोपश्च छान्दस इति स एव सौर्यायणी। गर्गस्य गोत्रो गार्ग्यः। कौशल्यो नामतः कोशलायां भवो वा। अश्वलायनस्यापत्यमाश्वलायनः। भृगोरपत्यं भार्गवः। विदर्भेषु भवो वैदर्भिः कबन्धी नामतः। कत्यस्यापत्यं कात्यायनः। इतरेतरयोगे च शब्दाः। त एते ह किल ब्रह्मपरा वेदाभ्यासे तात्पर्यवन्तो ब्रह्मनिष्ठाः। तदुक्तानुष्ठाननिष्ठामुनयः कदाचित्समवेताः परब्रह्म वासुदेवमन्वेषमाणा जिज्ञासवो बभूवुरिति शेषः। ब्रह्मपरा इत्यादि ब्रह्मजिज्ञासाधिकारिसम्पत्तिकथनम्। ततस्ते किलैष पिप्पलादो यद् वयं प्रक्ष्यामः तत्सर्वं वक्ष्यति तस्मादेनं प्रति गच्छाम इति निश्चित्य समित्पाणयो भूत्वा भगवन्तं = पूज्यं पिप्पलादमुपसन्नास्तत्समीपं प्राप्ताः। ह वै शब्दः पिप्पलादस्य प्रश्नप्रतिवचनसामर्थ्यप्रसिद्धिद्योतकः ॥१॥

व्याख्या—

शङ्खचक्रमहामुद्रापुस्तकाढ्यश्चतुर्भुजम् ।
सम्पूर्णचन्द्रसङ्काशं हयग्रीवमुपास्महे ॥१॥

भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिबि के पुत्र सत्यकाम, गर्ग-गोत्र में उत्पन्न सौर्यपुत्र सौर्यायणि-सौर्यायणी, कोशल-देशोद्भव कौशल्य, अश्वलायन के पुत्र आश्वलायन, भृगु

के पुत्र भार्गव, विदर्भ देशोत्पन्न कबन्धी, कत्य के पुत्र कात्यायन—ये सब-के-सब शब्दब्रह्म में निष्णात एवं वेदों के तात्पर्य को ठीक-ठीक जानने वाले और परब्रह्म श्रीकृष्ण के प्रति निष्ठावान् (अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने हयग्रीव रूप से प्रकट होकर वेद-शास्त्रों में भगवत्प्राप्ति के जो भी उपाय, उपासना या साधन बताये हैं अर्थात् उनके श्वास से निकले हैं, उनके अनुष्ठान में निष्ठा एवं श्रद्धावान्) किसी समय ये छहों महामुनि इकट्ठे होकर परब्रह्म श्रीकृष्ण की जिज्ञासा से एक साथ नाना पुण्य तीर्थ और क्षेत्रों में भ्रमण किये।

'भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयः' (श्रीमद्भा. वेदस्तुतौ)।

परं ब्रह्म अन्वेषमाणाः ते ऋषयः = परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं उनकी प्राप्ति में उत्कट इच्छा रखने वाले वे मुमुक्षु लोग तत्त्वजिज्ञासु के वेश में हाथ में समिधा-पूजन सामग्री लिए हुये पूजनीय पिप्पलादजी के समीप में गये। हम जो कुछ प्रश्न करेंगे वे सब प्रश्नों का उत्तर हमें देंगे।

छः महामुनि का ऋषि-आश्रम पर पुनः ब्रह्मचर्यादिपूर्वक निवास एवं प्रश्नोत्तर उपक्रम

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—तान् आगतान् ह सः = ऋषिः पिप्पलाद उवाच—किमिति। यद्यपि यूयं प्रागेव तप आदि सम्पन्नाः तथापि भूयः = पुनरेव, तपसा = सर्वेन्द्रियनिग्रहलक्षणेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया = आस्तिक्यनिष्ठया युक्ताः संवत्सरमेकमस्मान् परिचरन्तः संवत्स्यथ सम्यग्वसत। ततो यथाकामं = यथेष्टं प्रश्नान् प्रष्टव्यार्थान् पृच्छत। युष्माभिः पृष्टञ्च प्रतिवक्तुं यदि वयं विज्ञास्यामः, तर्हि सर्वं वः = युष्मभ्यं, वक्ष्याम इति न ह्येवं सति अवचने कारणमस्तीति हशब्दः ॥२॥

सान्वयानुवाद—तान् = उन सुकेशा आदि महामुनियों से, सः ऋषिः उवाच ह = वे ऋषि स्पष्ट प्रिय मधुर वाणी से बोले, भूयः एव = तुमलोग पुनः, तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया = तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा अर्थात् मुझमें एवं शास्त्रों में आस्तिक्य मतिपूर्वक, संवत्सरम् = एक साल तक, संवत्स्यथ = मेरे आश्रम पर यथाविधि निवास करो, यथाकामम् = यथेष्ट, प्रश्नान् पृच्छत = प्रश्न पूछना, यदि = अगर, विज्ञास्यामः = मैं जानता होऊँगा, सर्वं ह = सारी बातें, वः = तुम लोगों को, वक्ष्यामः इति = बताऊँगा ॥२॥

व्याख्या—उपर्युक्त छहों महामुनियों को परब्रह्म श्रीकृष्ण की जिज्ञासा से अपने पास आया देखकर भगवत्तत्त्वज्ञ पिप्पलादजी उनसे बोले—यद्यपि तुमलोग पहले से ही तप आदि से सम्पन्न हो तथापि पुनरेव तप, समस्त इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक

आस्तिक्य निष्ठा से युक्त हो तथा एक वर्ष पर्यन्त हमारी सेवा-शुश्रूषा करते हुये आश्रम में निवास करो। उसके बाद तुमलोग अपनी-अपनी विचिकित्सा के अनुसार यथेष्ट प्रश्न हमसे पूछना। अगर तुम्हारे पूछे हुये विषयों का मुझे ज्ञान होगा तो तुम लोगों को सब बतला दूँगा ॥२॥

इससे यह ध्वनित हुआ कि जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं है। 'सर्वज्ञो भगवान् हरिः' (श्रीमद्भा.६।८।३१)। 'यः सर्वः सर्ववित्' (मु.उ.प्र.खण्ड १।१०)। एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं सर्वगत है।

प्रथम प्रश्न

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ-भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति। तस्मै स होवाच-प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथ तदुक्तनियमानुष्ठानसमनन्तरं तेषां मध्ये कबन्धी कात्यायनमुपेत्य = पुरस्कृत्य पिप्पलादं पप्रच्छ। 'शब्दक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति' पश्चादुक्तस्यापि कात्यायनस्य प्रश्नः प्रतिवचनञ्च प्रथममुक्तम्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। तच्च क्रमं तत्रैव दर्शयिष्यामः। किमिति भगवन्! कस्मात् कारणात्। पुरुषाद् इमा देवाद्याः सर्वाः प्रजा उत्पद्यन्त इति। ह वा इति प्रजानां प्रजननस्य सुप्रसिद्धताद्योतकौ निपातौ। सुप्रसिद्धं तावत् प्रजानां प्रजननम्। कार्यं सहेतुकं कादाचित्कत्वादिति प्रयोगेण कार्यस्य सहेतुकत्वं निश्चीयतेऽन्यथा सर्वत्र सर्वदा सर्वकार्योत्पादापत्तेः। नन्वस्तु तावत् प्रत्यगात्मनो विश्वं प्रति हेतुत्वम्।

'जीवाद् भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्यचञ्चलाः।
जीवे प्रलयमिच्छन्ति न जीवात् कारणं परम्' ॥

इति श्रुत्या विशेषत्वेन विधानादिति चेन्न; 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि'त्यादिना कारणस्यैकत्वप्रतिपादनात्। 'चेतनश्चेतनानामि'त्यादिना अंशो नानाव्यपदेशादित्यादिना च प्रत्यगात्मनामनन्तत्वोक्तेर्जीवकारणवादे बहुत्वप्रसङ्गान्न जीवस्य कारणत्वं किन्तु हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे आदि कर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तत ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य गोप्तेति प्रसिद्ध्या च एकत्वपूर्वकारणत्वप्रतिपादनाच्चतुर्मुख एव जगत्कारणत्वमित्यपि न तस्य पूर्ववर्त्तित्वासिद्ध्या कारणत्वस्याप्यसिद्धत्वात्।

तथाहि—'न सन्न चासच्छिव एव केवलः' इत्यन्यनिषेधपुरस्कारेण शिवस्य पूर्ववर्त्तित्वं केवलत्वञ्चोच्यते। तथैव हिरण्यगर्भस्यावरत्वमपि हिरण्यगर्भं पश्यति—जायमानमिति। अतः शिवस्यैव जगत्कारणत्वं निश्चीयते—इति चेन्न। तस्यापि कालादिपारतन्त्र्यात् तथा च—'ममापि कालो ग्रसते कुतः पुत्र!! रसायनमि'त्यादिना स्कन्दं पुत्रं प्रति स्वयमेव त्रिलोचनोक्तत्वात्।

कालं तथान्य इति श्रुतेः । तथा च षष्ठेंऽशे बादरायणः ।

'कालो भवाय भूतानामभवाय च पाण्डव ।
कालमिदं ज्ञात्वा भवस्थैर्यधरोऽर्जुन सृष्टा ॥
कालेन कालेन पुनर्यास्यन्ति संयमम् ।
कालात्मकमिदं सर्वं ज्ञात्वा शममवाप्नुहि' ॥

इति स्मृतेश्च काल एव जगद्धेतुर्भवतु—इति चेन्न; श्रुत्या कालवादिनां भ्रान्तत्व-प्रतिपादनात् 'कालं तथान्ये परिमुह्यमाना' इति तत्रैव स्वभाववादिनां विवेकित्वप्रति-पादनात् । स्वभावमेके कवयो वदन्तीति स्वभाव एव जगत्कारणमिति चेन्न; यतः तन्मते च न कारणसापेक्षं कार्यम् । अपितु स्वत एव तत्र पृच्छ्यते स्वाभाविकं जगदिति प्रतिज्ञायां तत्साधको हेतुरस्ति न वेति । भावपक्षे स्वभाववाद हानिर्यत्तत्र साधनं हेत्वन्तरं तदेव तत्र मुख्यकारणं तस्य चौपचारिकत्वापत्तेः । द्वितीये हेत्वन्तराभावपक्षे मूकतापत्त्या प्रतिज्ञाभङ्गः तस्मान्न स्वभावसिद्धिः । स्वतोऽभावरूपस्य गगनकुसुमायमानस्य भावात्मक-कार्योत्पादनेन कथमपि सामञ्जस्यं स्यात् । नहि शशविषाणादीनां कार्योत्पादनं कुत्रापि दृष्टं श्रुतं वा, तस्मान्नाभावस्यापि जगत्कारणत्वं नापीश्वरस्तदनुपलम्भादिति प्रष्टुराशयः ।

प्रकृतमनुसरामः—तस्मै पृष्टवते कात्यायनाय स पिप्पलादः किलोत्तरमुवाच—किमिति । प्रजानां = ब्रह्मादीनां, पतिः = पालकः प्रजापतिः । परमेश्वरः कल्पादौ किलात्मनः प्रजाकामो देवादिप्रजावत्त्वमात्मन इच्छन्नवर्त्तत । अथ सर्वज्ञोऽपि लोकविडम्बनाय तप अतप्यत कर्त्तव्यमन्वालोचयत् ॥३॥

सान्वयानुवाद—अथ = अनन्तर, एक साल के बाद, कबन्धी कात्यायन उपेत्य = कबन्धी कात्यायन के समीप जाकर, पप्रच्छ = पूछा, भगवन् = हे प्रभो! कुतः ह वै इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति = किस कारण (पुरुष) से यह सकल प्रजा नाना नामरूपों से उत्पन्न होती है? यह मेरा प्रश्न है। सः = वह, तस्मै = उससे, उवाच = कहा, ह वै सः प्रजाकामः प्रजापतिः तपः अतप्यत = निश्चय ही प्रजावृद्धि की कामना वाला वह प्रजापति तप किया ॥३॥

व्याख्या—(१) अथ शब्द प्रारम्भ का वाचक है। (२) अथ शब्द मङ्गल का वाचक है। किसी कार्य के आरम्भ में 'अथ' शब्द का उच्चारण करने से कार्य मङ्गलप्रद होता है।

'ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ' ॥

विश्वसृष्टि के पहले ब्रह्माजी के कण्ठ को भेदकर 'अथ' तथा 'ओंकार' (प्रणव) ये दो शब्द निकले, इसलिये ये दोनों शब्द मङ्गलवाची हैं।

मन्त्र में 'प्रजापति' शब्द उपलक्षण है। 'विद्यमानं स यत् व्यावर्त्तकं तद् विशेषणम्—यथा काकवत् गृहम् अन्येद्युः यदा काकः गृहोपरि अविद्यमानः सन्

देवदत्तस्य गृहं परिचायति तदा अविद्यमान: काक: उपलक्षणं कथ्यते। तथैवात्रापि श्रीशुकोक्तिर्ज्ञेया—

'श्रिय: पतिर्यज्ञपति: प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापति: ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पति:' ।।

जो लक्ष्मी के स्वामी हैं, यज्ञों के फलदाता, ब्रह्मादि के रक्षक, बुद्धि के प्रवर्त्तक, लोकों के अधिष्ठाता तथा पृथिवी के उद्धर्त्ता वे शरणागत (प्रपन्न) भक्तों के पालक यदुपति भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों। 'गति: कृष्ण: सर्वेषां स एव प्राप्ति:'। 'नान्या गति: कृष्णपदारविन्दात्' इति श्रीमन्निम्बार्काचार्योक्ति:। परब्रह्म श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होकर भी लोकों का विस्तार करने के लिये और अपने प्रपन्न भक्तों को आनन्दित करने के लिये तप किये। 'यस्य ज्ञानमयं तप:' (मु.उ.१।१।१०) अर्थात् परब्रह्म श्रीकृष्ण का ज्ञान ही तप है।

'भगवन् कुतो ह वा इमा: प्रजा: प्रजायन्ते'। इसका अर्थ स्मृति के अनुसार इस प्रकार समझिये—

'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा: प्रजा: ।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ।।१।।
विष्णो: सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ।
स्थितिसंयमकर्त्तासौ जगतोऽस्य जगच्च स: ।।२।।
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्त्तते ।
अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा' ।।३।।

परब्रह्म श्रीकृष्ण ने अपने शरीर से हर तरह की प्रजा (जीव) उत्पन्न करने की इच्छा से संकल्प करके पहले निर्मल जल की सृष्टि की, फिर उस निर्मल जल में अपने शक्तिरूप वीर्य का आधान किया। (मनुस्मृति १।८)

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् (भूत) भगवान् श्रीकृष्ण से उत्पन्न हुआ है और उन्हीं में स्थित हैं। वे इस जगत् के परिपालक हैं, संहारकर्त्ता हैं और जड़-चेतनात्मक जगत् उन्हीं का स्वरूप है। (विष्णुपुराण १।१।३१)

हे अर्जुन ! मैं जड़-चेतनात्मक सकल जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ। मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और हमारी वजह से ही सबकी वाणी बोलती है, जीभ हिलती है और साँस चलती है। (श्रीमद्भगवद्गीता)

स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा: करिष्यत इति ।।४।।

तत्त्वप्रकाशिका—आलोचितकार्यश्च स प्रजापतिर्मिथुनं = स्त्रीपुरुषरूपं द्वन्द्व-मुत्पादयते = उत्पादयत् किं तत्। रयिं = प्रकृतिं, प्राणं = पुरुषम्। सर्वा: प्रजा: सिसृक्षु:। परमात्मा कथं तावुत्पादयदिति। एवं मन्यते स्म प्रजापति: एतौ रयिप्राणौ मम बहुविधा: प्रजा: करिष्यत इति ।।४।।

सान्वयानुवाद—सः = उसने, रयिं च = रयि, प्राणं च = और प्राण, इति मिथुनम् = यह जोड़ा, तपः तप्त्वा उत्पादयते = अपने धर्मभूत ज्ञान से उत्पन्न किया, एतौ मे = ये दोनों (रयि और प्राण) मेरी, बहुधा = बहुविध, प्रजाः = सृष्टि, करिष्यत इति = करेंगे ॥४॥

व्याख्या—इस मन्त्र की श्रीमद्भागवत के अनुसार व्याख्या करते हैं—परब्रह्म श्रीकृष्ण की इच्छा से ब्रह्मा का शरीर दो भागों में विभक्त होकर मिथुन रूप से परिणत हो गया। इस श्रुति में जो प्राण शब्द आया है उसका अर्थ है पुरुष और रयि का अर्थ है प्रकृति (स्त्री); एक पुरुष, दूसरी स्त्री। इसमें जो पुरुष था, वह स्वायम्भुव मनु हुए और दूसरा भाग उनकी पत्नी शतरूपा। स्वायम्भुव मनु से मैथुन-सृष्टि द्वारा प्रजा की वृद्धि होने लगी।

'स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः'। (श्रीमद्भागवत ११।१६।२५)

इसके अनुसार मनु और शतरूपा ये दोनों परब्रह्म श्रीकृष्णकी विभूतियाँ है (श्रीमद्भा. ३।५१।५२।५३।५४) वहाँ मैथुन-सृष्टि का वर्णन है। स्वायम्भुव मनु द्वारा शतरूपा से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुये और आकूति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। आकूति का विवाह रुचि के साथ, कर्दम का देवहूति के साथ और दक्ष का प्रसूति के साथ हुआ; जिनकी सृष्टि से यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण हो गया—

'आकूतिं रुचये प्रादात् कर्दमाय तु मध्यमाम्।
दक्षायादात् प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत्' ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तञ्चामूर्तञ्च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—रयिप्राणयोरर्थं व्याचष्टे—आदत्ते इत्यादित्यः, तस्य भोक्तृत्वेन 'प्राण'शब्दवाच्यत्वम्। रयिरेव चन्द्रमाः = भोग्यवर्गः। सोमत्वाभिधाने वक्तुः किन्तात्पर्यमित्यतः दर्शयति—रयिर्वेति। मूर्तं = पृथिव्यप्तेजोलक्षणम्। अमूर्तं = वाय्वन्तरीक्षम्। मूर्त्तामूर्ते = भोक्तुरन्नरूपे, भोग्य इत्यर्थः। सर्वस्यापि पाञ्चभौतिकशरीरस्य मूर्तशब्दाभिधेयस्य भोग्यत्वेन रयित्वमित्याह—तस्मादिति ॥५॥

सान्वयानुवाद—आदित्यः ह वै = सूर्य ही, प्राणः = प्राण है, रयिः एव = रयि ही, चन्द्रमाः = चन्द्रमा है, यत् च मूर्तं = जो मूर्त पदार्थ है, च = और, अमूर्तं = अमूर्त पदार्थ है, एतत् सर्वं = यह सब, रयिः वै = रयि ही है, तस्मात् = इसलिये, मूर्तिः एव = मूर्त्ति ही, रयिः = रयि है ॥५॥

व्याख्या—पूर्वोक्त रयि तथा प्राण पद का अर्थ बतलाते हैं। 'ग्रहण करता है' इसलिये आदित्य (जीव) की भोक्ता रूप से प्राण शब्दवाच्यता है।

('नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः') सर्वव्यापक सर्वगत परब्रह्म

श्रीकृष्ण न किसी के पापकर्म को और न किसी के पुण्यकर्म को ही ग्रहण करते हैं। चन्द्रमा ही भोग्यवर्ग है। पृथिवी, जल और तेज को मूर्त कहते हैं। आकाश और वायु को अमूर्त कहते हैं। मूर्त और अमूर्त ये दोनों भोक्ता जीव का अन्न रूप में भोग्य हैं। क्योंकि सबका यह शरीर पञ्च महाभूतों से बना हुआ प्राञ्चभौतिक शरीर भोग्य रूप से रयि ही है (परन्तु भोक्ता जीव रयि नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप ज्ञानवान् है) ॥५॥

अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथ = रयिनिरूपणानन्तरम्, आदित्यो निरूप्यत इति शेषः। आदित्यशब्देन विवक्षितस्य भोक्तुः प्राणशब्दवाच्यत्वं कथमिति जिज्ञासायामाह—उदयन्निति। अयं प्रत्यगात्मा सुषुप्तिस्थानात् उदयन् = प्रबुद्ध्यमानः सर्वाः दिशः प्रकाशयन् तत्तद्दिग्वर्त्तीन्द्रियाणि धर्मभूतज्ञानाख्यरश्मिद्वारा बिभर्त्ति तत एव प्राणशब्दवाच्येन्द्रियाधिष्ठातृत्वात् प्रत्यगात्मा प्राणशब्देनात्र व्यवहृतः, प्राचीं दिशं प्रविशति = प्रकाशयति। प्राग्दिग्वर्त्तिपदार्थानुपलभत इति यावत्। तेन = तस्माद्धेतोः। प्राच्यान् प्राणान्। रश्मिषु सन्निधत्ते प्राग्दिग्वर्त्यर्थप्रकाशकचक्षुरादीन् प्राणान् धर्मभूतज्ञानाख्यरश्मिमुखेनाधितिष्ठति प्रेरयति। न हि कुठारादयः छिदा साधनभूताः कर्त्तारमन्तरेण फलोपसाधका एव भुवन्निरूपाद्युपलब्धौ करणभूताश्चक्षुरादयः तदधिष्ठातृत्वलक्षणकर्त्तारमन्तरेण कार्यं जयितुं न क्षमन्ते। अचेतनस्य चेतनाधिष्ठितस्यैव कार्यजनकत्वनियमादिति भावः। एवं दक्षिणां दिशं प्रविशतीति यत्तेन दाक्षिणात्यान् प्राणान् स्वरश्मिषु सन्निधत्त इत्यादि योज्यम्, दिशोऽन्तरा दशदिशां मध्ये, यत्सर्वमिति निगमम्।

अत्र प्रजाः सिसृक्षुः भगवान् प्रथमं प्रकृतिं पुरुषं च ससर्जेति वक्तव्ये प्रागुपदर्शितरीत्या परोक्षरूपेणाभिधानं तस्य रहस्यत्वं सूचनाय 'परोक्षप्रिया' हि देवाः (ऐत.उ.१।३) इति श्रुत्या गोप्यार्थस्य स्फुटतरोपदेशानर्हत्वादित्याशयः ॥६॥

सान्वयानुवाद—अथ = रयि निरूपण के अनन्तर, आदित्यः = सूर्य (जीवात्मा), उदयन् = उदित होता हुआ, प्राचीं दिशं = पूर्व दिशा में, प्रविशति = प्रवेश करता है, तेन प्राच्यान् = उस हेतु से पूर्वस्थ, प्राणान् = इन्द्रियों को, रश्मिषु सन्निधत्ते = किरणों में धारण करता है, यत् दक्षिणं = जो दक्षिण दिशा को, यत् प्रतीचीं = जो पश्चिम दिशा को, यत् उदीचीं = जो उत्तर दिशा को, यत् अधः = जो नीचे के लोकों को, यत् ऊर्ध्वं = जो ऊपर के लोकों को, यत् अन्तरा = जो बीच के, दिशः = दिशाओं को, यत् सर्वं = जो सबको, प्रकाशयति = प्रकाशित करता है, तेन सर्वान् प्राणान् = इसलिये सारी इन्द्रियों को, रश्मिषु सन्निधत्ते = किरणों में धारण करता है ॥६॥

व्याख्या—रयि निरूपण के अनन्तर आदित्य का निरूपण किया जा रहा है—आदित्य शब्द से विवक्षित भोक्ता में प्राण शब्द वाच्यत्व कैसे हो सकता है ? ऐसी

जिज्ञासा होने पर उत्तर देते हैं—यह जीवात्मा सुषुप्ति स्थान से उदय होता हुआ अर्थात् जागता हुआ सारी दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ उस उस दिशाओं में रहने वाली इन्द्रियों को अपने धर्मभूत ज्ञानाख्य रश्मि द्वारा धारण करता है, इसलिये प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा है। इस श्रुति में प्राण शब्द रूप से जीवात्मा का ही व्यपदेश हुआ है, ऐसा समझना चाहिये।

इस कारण पूर्व दिशा में रहने वाली वस्तुओं को प्रकाशित करने वाला जीवात्मा चक्षुरादि इन्द्रियों को आत्मा के धर्मभूत ज्ञानाख्य किरणों के प्राधान्य से प्रेरित करता है। जैसे फलोपधायक साधनभूत कुल्हाड़ी कर्त्ता के बिना लकड़ी नहीं काट सकती, ठीक वैसे ही निरूपादि उपलब्धि में करणभूत चक्षुरादि इन्द्रियाँ कर्त्ता (जीवात्मा) के बिना कार्य को जीतने में कदापि सक्षम नहीं हो सकती हैं। अत: अचेतन इन्द्रियों के अधिष्ठाता चेतन जीवात्मा है।

इस प्रकार दक्षिण दिशा में प्रवेश करता है, जिसके कारण दाक्षिणात्य इन्द्रियों को अपनी किरणों में धारण करता है। इत्यादिवत् योजनीय दश दिशाओं के मध्य में जो सब विद्यमान है ॥६॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्राणादित्यशब्देन निर्दिष्टस्य भोक्तृवर्गस्य ब्रह्मात्मकतामुपदिशति—स एषो भोक्ता प्राण: वैश्वानर:। विश्वेषां सर्वेषां नराणां नेतृत्वेन वैश्वानरशब्दवाच्यपरमात्मभिन्न: ब्रह्मात्मकत्वेन तन्नियम्यत्वेन च सर्वात्मत्वेन सर्वनियन्तृत्वादिना च भिन्नश्च, वैश्वानररूपं परमात्मानं विशिनष्टि–विश्वरूप इति। सर्वशरीरतया विश्वरूपपदवाच्य:। स एवाग्रनेतृत्वादिगुणयोगेनाग्नि:, स परमात्मा भोक्तृत्वेन रूपेणोदयते। तत् एतत् ब्रह्म विश्वरूपमिति मन्त्रेणाभ्युक्तं स्पष्टमुक्तमतो दृढतरं प्रतिपत्तव्यमित्यर्थ: ॥७॥

सान्वयानुवाद—स एष: = वह यह, प्राण: = जीवात्मा, वैश्वानर: विश्वरूप: अग्नि: उदयते = वैश्वानर विश्वरूप अग्नि (परमात्मा) का उदय होता है, तत् एतत् ऋचा अभि + उक्तम् = वही यह बात ऋचा द्वारा आगे स्पष्ट रूप से कही गयी है ॥७॥

व्याख्या—श्रुत्युक्त प्राण और आदित्य पद से निर्दिष्ट भोक्तृवर्ग में ब्रह्मात्मकत्व का (श्रुति) उपदेश देती है। यहाँ 'प्राण' पद का अर्थ भोक्ता है। समस्त मनुष्यों के नेता (आगे चलने वाला–ले जाने वाला) रूप से वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा से अभिन्न ब्रह्मात्मकत्व तन्नियम्यत्व रूप से एवं सर्वात्मरूप से और सर्वनियन्तृत्वरूप से भिन्न वैश्वानर वही अग्नि है और विश्व ही उनका रूप है। अग्र-नेतृत्वादि धर्म के सम्बन्ध से वही अग्नि ही वह परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण भोक्ता रूप से उदय होते हैं। वही यह 'परब्रह्म श्रीकृष्ण विश्वरूप है' इस मन्त्र से स्पष्ट कहा गया है। इसलिये यथार्थ ज्ञान करना चाहिये ॥७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मि: शतधा वर्त्तमान: प्राण: प्रजानामुदयत्येष सूर्य: ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—विश्वरूपं = सर्वशरीरम्। हरिणं = हरिम्। हरिशब्दस्य नान्तत्वं च्छान्दसम्। जातवेदसं = जातस्य सर्वस्य वेदितारम्। परायणं = सर्वप्राणिनां परमाश्रयम्। ज्योतिः = प्रकाशकम्। एकम् = अद्वितीयम्। तपन्तं = जाठराग्न्यादि-रूपेण तपन्तम्।

'सन्तापयति स्वं देहमापादतलमस्तकम्'।
'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'॥

इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्।

सहस्ररश्मिः = अनन्तरश्मिः। प्रजानां = भूतानाम्। प्राणः = धारकः। स एषः पुरुषः सूर्य इव प्रकाशकः। शतधा = अनेकधा प्राणिभेदेन वर्त्तमानः = सर्गकाल उदयत इत्यर्थः॥८॥

व्याख्या—जगत् में जितने शरीर हैं वे सब-के-सब उन्हीं के रूप हैं।

'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः'॥

दुष्टचित्त मनुष्य के द्वारा स्मरण किये जाने पर भी भगवान् श्रीहरि पापों को हर लेते हैं। जैसे अनजान में या अनिच्छा से स्पर्श करने पर भी अग्नि जलाती ही है। वे भगवान् श्रीहरि प्राणी मात्र की मनोवृत्ति को जानने वाले हैं। वे समस्त प्राणियों के परम आश्रय हैं, ज्योतिः स्वरूप हैं तथा अद्वितीय हैं। जाठराग्नि आदि रूप से तपाते हैं। अपने पैर से लेकर शिर तक तपाते हैं। मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित रहने वाला प्राण और अपान से संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। सहस्ररश्मिः = हजारों किरणों वाले हैं। अर्थात् वे सर्वज्ञ सर्वशक्त्यादि कारुण्य-वात्सल्यादि अनन्त कल्याणकारक धर्मों के आधार हैं। जड़-चेतनात्मक समस्त भूतों को धारण करने वाले सर्वाधारक हैं, सूर्य की भाँति प्रकाशक हैं। वे ही परम पुरुष श्रीकृष्ण अनेक प्रकार से प्राणिभेद से वर्त्तमान सृजन काल में उदय होते हैं।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चान्द्रमसं लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्त्तन्ते। तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—रयिशब्दप्रतिपाद्या प्रकृतिर्भोग्यरूपा, प्राणशब्दोदितपुरुषः भोक्तेति विभागं निरूप्य सम्प्रति सर्वोत्पत्तिनिमित्तकारणं संवत्सरादिलक्षणं कालं तदवान्तरभेदोत्तरायणादिकं रयिप्राणरूपं विभागं दर्शयति—संवत्सराख्यकालरूपस्य प्रजापतेरयने मार्गौ द्वौ दक्षिणश्चोत्तरश्च द्वे प्रसिद्धे ह्यायने षण्मासलक्षणे याभ्यां दक्षिणे-नोत्तरेण च याति सविता केवलकर्मिणां लोकान् विदधत् तथा च कर्मिणां लोकं विधातुं तयोर्दक्षिणोत्तराभ्यां गमनात् तन्निमित्तत्वाच्चायनद्वयप्रसिद्धिरिति भावः। तत् तत्र साधकेषु

मध्ये ये ऋषयः प्रजाकामाः इष्टं यागादिकं पूर्त्तमन्नदानादिकं कृतमन्यच्च कर्मेत्युपासते ऽनुतिष्ठन्ति ते एते दक्षिणपितृयाणं प्रतिपद्यन्ते प्रतिपन्नाश्च ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते प्राप्नुवन्ति। ते एव पुनः स्वकर्मावसाने चान्द्रमसाल्लोकादावर्त्तन्ते ह वै। ह वा इति प्रसिद्धौ। एष एव पितृयाणः। रयिरन्नप्रधानः, वैषयिकभोगात्मक इति यावत्।

इष्टम्— अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानाञ्चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥१॥

पूर्तम्— वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥२॥

इति इष्टापूर्तयोर्भेदः ॥९॥

सान्वयानुवाद—संवत्सरः वै = संवत्सर–बारह महीनों वाला काल ही, प्रजापतिः = प्रजापति है, तस्य = उसके, अयने = दो मार्ग हैं, दक्षिणं च = एक दक्षिण, उत्तरं च = दूसरा उत्तर, तत् = उन दोनों के बीच में, ये ह वै = जो लोग, इष्टापूर्ते = इष्ट और पूर्त्त कर्म, कृतम् = और अन्य कर्म का, उपासते = उपासन—अनुष्ठान करते हैं, ते = वे लोग, चान्द्रमसम् एव लोकम् अभिजयन्ते = केवल चन्द्र-सम्बन्धी लोक ही जीतते हैं अर्थात् चन्द्र-सम्बन्धी लोक ही प्राप्त होते हैं। ते एव = वे ही, पुनः आवर्त्तन्ते = पुनरावृत्ति करते हैं, तस्मात् = इसलिये, एते = ये, प्रजाकामाः = प्रजा को चाहने वाले, ऋषयः = भक्तगण, दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते = दक्षिण मार्ग को प्राप्त होते हैं। ह एषः वै रयि = निस्सन्देह यही वही रयि है, यः पितृयाणः = जो पितृयान नामक मार्ग है ॥९॥

व्याख्या—रयि शब्द प्रतिपाद्या प्रकृति भोग्यरूपा और प्राण शब्द से पुरुष भोक्ता —संक्षेप में यह बताया गया। इस समय सर्वोत्पत्ति निमित्तकारण संवत्सरादि का लक्षण काल, उसके अवान्तरभेद उत्तरायणादिक रयिप्राणरूप विभाग को दिखलाते हैं—संवत्सराख्य कालरूप प्रजापति के दो अयन (मार्ग) है—दक्षिण और उत्तर। ये प्रसिद्ध दो अयन दक्षिणायन के जो छः महीने हैं जिनमें भगवान् भास्कर दक्षिण की ओर घूमते हैं और उत्तरायण के छः महीने ही उत्तर अङ्ग हैं। केवल कार्य करने वाले जनों को विधान करने के लिये सूर्यदेव इन दोनों मार्गों से घूमते हैं। दक्षिण एवं उत्तर गमन निमित्त पथद्वय प्रसिद्ध हैं। साधकों के बीच में जो इष्टयागादि पूर्त—अन्नदानादि सत्कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे यह दक्षिण पितृयान नामक मार्ग को प्राप्त होते हैं। वे चान्द्रमस लोक ही जीतते हैं—प्राप्त होते हैं। वे ही पुनः निज कर्मावसान होने पर चान्द्रमस लोक से इस मृत्युलोक में लौट आते हैं।

अग्निहोत्र, तप-तपस्या, सत्य-आत्म-परमात्म का विचार, वेदों का अनुपालन, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव इनको इष्ट कहते हैं। वापी, कुआँ, तालाब आदि देवतायतन, अन्नदान और बगीचा आदि लगाना कर्म को पूर्त कहते हैं। इष्ट और पूर्त में इतना ही अन्तर है ॥९॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—मार्गान्तरारम्भार्थोऽथशब्दः। ये संसारात् विरक्ताः पुमांसः तपसेन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण = स्त्रीसङ्गराहित्यलक्षणेन, श्रद्धया = आस्तिक्य-बुद्धिलक्षण्या, विद्यया = प्रत्यगात्मविद्यया परमात्मानमुपास्यादित्यमभिजयन्ते। अर्चि-रादिनोत्तरेणायनेनादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसं विद्युतम्। तत्पुरुषोऽमानवः, स एतान् ब्रह्म गमयति। इत्युक्तप्रकारेण ब्रह्माप्तिद्वारभूतमादित्यमभिजयन्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यस्मात् एतत् देवयानं प्राप्यं परं ब्रह्म प्राणानां प्राणभूतानामायतनमाधारभूतम्। एतत् परायणं परमं प्राप्यम्। एतदमृतमविनाशि। अभयमत एव भयवर्जितम्। एतस्मान्न पुनरावर्त्तन्ते उपासका इति शेषः।

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' इत्युक्तरीत्या परं ब्रह्म श्रीकृष्णं प्राप्य न निवर्त्तन्ते। एष निरोधः। एष प्रजापतिशब्दनिर्दिष्टः परमात्मा स्वप्राप्तस्य पुनरावृत्तिनिरोधकारी। अतः प्रजापतिशब्दितं परमात्मानं प्राप्तस्य तदुपासकस्य न पुनरावृत्तिरुपपद्यत इति भावः। तत्र तस्मिन्नर्थे एष श्लोकः वक्ष्यमाणमन्त्रः सम्मतित्वेन भवति ॥१०॥

सान्वयानुवाद—अथ = अनन्तर, तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया = (जो) तपस्या, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा से युक्त; विद्यया = विद्या के द्वारा, आत्मानम् = अन्तर्यामी श्रीकृष्ण का, अन्विष्य = अन्वेषण (खोज) करते हैं, (वे) उत्तरेण = उत्तरायण मार्ग से, आदित्यम् = आदित्य को, अभिजयन्ते = सब ओर से जीत लेते हैं। एतत् वै = यह ही, प्राणानाम् = इन्द्रियों का, आयतनम् = आश्रय है, एतत् अमृतम् = यह अमृत है, अभयम् = भयवर्जित, एतत् परायणम् = यह उपासकों का आधार है, एतस्मात् = इससे, न पुनः आवर्त्तन्ते = पुनः लौटकर नहीं आते हैं, इति एष निरोधः = यह निरोध है, तत् एषः श्लोकः = यह श्लोक है ॥१०॥

व्याख्या—जो सांसारिक विषय-भोगों से विरक्त-वितृष्ण हैं, तपस्या के द्वारा जिन्होंनें इन्द्रियों को जीत लिया है और विशेष करके ब्रह्मचर्य तथा गुरूपदिष्ट शास्त्र वाक्यों में आस्तिक्य-बुद्धि एवं प्रत्यगात्मविद्या द्वारा परमात्मा श्रीकृष्ण की उपासना करके वे आदित्य-लोक को जीत लेते हैं। अर्थात् उस परम-वैष्णव पद को प्राप्त करते हैं।

'परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्'-यही अमृत, नित्य, अविनाशी और निर्भय परम-पद है। इसे प्राप्त हुये उपासक फिर लौटकर जन्म-जरा-मरण आदि प्रवाहरूप संसार में नहीं आते हैं। इसलिये 'देवयान' नामक मार्ग यह निष्काम ज्ञानी भक्तों का ही एकमात्र आधार है। इस देवयान नामक मार्ग के सम्बन्ध में श्रीभगवान् ने कहा है—हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त करके तो पुनर्जन्म नहीं होता। (गी.८।१६)

यही प्रजापति शब्द से निर्देश किया गया परमात्मा और परमात्म-प्राप्ति की

पुनरावृत्ति का निरोध (निवारक) है। अर्थात् जिनको भगवद्भावापत्तिलक्षणमोक्षकाम है वे पुनः पुनरावृत्ति–पुनरावर्त्तन नहीं करते हैं, यही निरोध पद का अर्थ है। उस अर्थ में आगे कहे जाने वाले ये मन्त्र सम्मतिरूप से हैं ॥१०॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—हेमन्तशिशिरयोरैक्येन पञ्चर्तवः पादा अंशा यस्य तं पञ्चपादं, पितरं जनानां पोषकं, द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा यस्य तं दिवः = द्युलोकात्, परे = परस्मिन्नर्धे स्थाने, पुरीषमुदकं तदस्यास्तीति पुरीषिणं वर्षणहेतुम्, अथशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहार्थकः। तेभ्योऽन्ये परे उत्कृष्टाः कालतत्त्वविदो सप्तचक्रे = सप्तहयरूपेण चक्रे सततं गतिमति कालात्मनि षडरे = षडनुमति जगत्सर्वं विचक्षणं निपुणं निश्चलं यथा भवति तथाऽर्पितमित्याहुः ॥११॥

सान्वयानुवाद—पञ्चपादम् = पाँच पैर वाला, पितरम् = जनताओं का पालक, द्वादशाकृतिम् = बारह आकृतियों वाला, पुरीषिणम् = जल का जनक, दिवः = द्युलोक से, परे अर्धे = परस्थान में, आहुः = ऐसा कहते हैं। अथ = 'अथ' पद वादियों के दूसरे पक्ष का निर्देशक है। इमे अन्ये उ = दूसरे कुछ लोग ऐसा बतलाते हैं। परे सप्तचक्रे = उत्कृष्ट सात पहियों वाले, षडरे = अरोंवाले रथ में, अर्पितम् = अर्पित है, विचक्षणम् = निपुण है ॥११॥

व्याख्या—हेमन्त और शिशिर ये दोनों को एक मिलाकर या मानकर पाँच ऋतु परमात्मा श्रीकृष्ण के अंश हैं। वे ही सबका पालन-पोषण करते हैं इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण सबके परम पिता हैं; जैसे माँ-बाप लड़का-लड़की को पालते-पोसते हैं। बारह महीने परब्रह्म श्रीकृष्ण के आकृति अर्थात् अवयव हैं।

द्युलोक से ऊर्ध्व देश में जलोत्पादक स्थान है, कालतत्त्व को जानने वाले विद्वान् लोग उसका उदकवर्षी रूप में वर्णन करते हैं। दूसरे कुछ लोग कहते हैं—यह सबसे विचक्षण है। विचष्टे इति विचक्षणम्। 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि'। विपश्चित् इत्यर्थः।

'न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं तमोगुहायाञ्च विशुद्धमाविशत्।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम्' ॥
(श्रीमद्भा. ४।२४।५९)

जिसका चित्त बाहर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयों में भटकता नहीं है, निद्रारूप गुफा में प्रवेश नहीं करता; श्रीभगवदुक्त भक्तियोग से अनुगृहीत विशुद्ध चित्तवाला वह मुनि अनायास ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण को देखता है।

'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्' इत्युक्तेः।

जिसे सात चक्र और छः अरों वाला रथ कहा गया है वह इस पाँचभौतिक शरीर का आत्मारूप है। सर्वभिन्नाभिन्न सर्वज्ञ परमात्मा श्रीकृष्ण ही सबके उपास्य हैं।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—संवत्सराख्यकालरूपस्य प्रजापते रयिप्राणात्मना विभागं प्रदर्श्य प्रजापतिरूपमासस्य विभागं विवृणोति—मास इति। मासो ह वै प्रजापति-र्यथोक्तलक्षणस्तस्य मासात्मनः प्रजापतेरेको भागः कृष्णपक्षो रयिरन्नं चन्द्रमा अपरो भागः, शुक्लः = शुक्लपक्षः प्राणः। यस्माच्छुक्लः प्राणत्वेनोत्कृष्टः, तस्माद् ऋषयः = मन्त्र-द्रष्टारः सर्वेऽपि, इष्टं = योगं कुर्वन्ति, इतरे इतरस्मिन् कृष्णपक्षे एव कुर्वन्ति ॥१२॥

सान्वयानुवाद—मासः वै = महीना ही, प्रजापतिः = प्रजापति है। तस्य = उसका, कृष्णपक्षः एव = कृष्णपक्ष ही, रयिः = अन्न है। शुक्लः प्राणः = शुक्लपक्ष प्राण है। तस्मात् = इसलिये, एते ऋषयः = ये मन्त्रों का दर्शन करने वाले ऋषिगण, शुक्ले = शुक्लपक्ष में, इष्टं कुर्वन्ति = अग्निहोत्रादि स्वभावज कर्म करते हैं। इतरे इतरस्मिन् = कृष्णपक्ष में भी करते हैं।

व्याख्या—संवत्सराख्य कालरूप प्रजापति का रयि तथा प्राणस्वरूप से विभाग प्रदर्शन करके प्रजापतिरूप मास का विभाग करते हैं—मासस्वरूप प्रजापति का एक भाग कृष्णपक्ष (पन्द्रह दिन) रयि = अन्न चन्द्रमा हैं, दूसरा भाग शुक्लपक्ष (पन्द्रह दिन) प्राण हैं, क्योंकि शुक्लपक्ष प्राणरूप से उत्कृष्ट है। इसलिये भक्तलोग दोनों ही पक्षों में अग्निहोत्र कर्म, तपस्या, ब्रह्मविचार, प्राणियों पर दया, अतिथि-सेवा तथा वैश्वदेव—ये सब इष्ट कर्म करते हैं ॥१२॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहोरात्रात्मकस्य प्रजापतेरह एव प्राणः रात्रिरेव रयिः। ये दिवा = अहनि, रत्या = रतिकरणभूतया सह स्त्रिया, संयु-ज्यन्ते = मैथुनमाचरन्ति, ते एते प्राणमहरात्मानं प्रस्कन्दन्ति = निर्गमयन्ति शोषयन्ति वा। यद्रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तमेतत् ऋतौ स्वभार्यागमन-मित्यर्थः ॥१३॥

सान्वयानुवाद—वै = निश्चय ही, अहोरात्रः = दिन-रात, प्रजापतिः = प्रजापति है, तस्य = उसका, अहः एव प्राणः = दिन ही प्राण है, रात्रिः एव रयिः = रात ही रयि है, ये दिवा = जो दिन में, रत्या संयुज्यन्ते = रमण-स्वरूपा स्त्री से संयुक्त होते हैं, एते वै प्राणं प्रस्कन्दन्ति = वे निश्चय ही अपने प्राण को सुखाते हैं, यद् रात्रौ = जो रात में, रत्या संयुज्यन्ते = रतिरूपा स्त्री से संयुक्त होते हैं, तद् ब्रह्मचर्यम् एव = वह ब्रह्मचारी ही है ॥१३॥

व्याख्या—इस मन्त्र में दिन और रात को मिलाकर चौबीस घंटे के कालरूप में परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप की कल्पना करते हैं—दिन और रात ये प्रजाओं के पालक हैं। उस अहोरात्रस्वरूप प्रजापति श्रीकृष्ण का दिन ही प्राण है और रात्रि रयि (भोग्य) है। अतः जो मनुष्य दिन में रमण-साधनरूप स्त्री के साथ मैथुन–स्त्रीसङ्ग करते हैं वे निश्चय ही अपने को अधोगति में डाल देते हैं। जो मनुष्य शास्त्रविधानानुसार ऋतुकाल में रात्रि के समय नियमानुकूल मैथुन—निज-भार्या के साथ प्रसङ्ग करते हैं वह उनका ब्रह्मचर्य ही है ॥१३॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका—ननु प्रकृतिपुरुषकालात्मकस्य परब्रह्मणः कथं जगदुत्पादन-कारणत्वमन्नपरिणामभूतस्य रेतस एव प्रजोत्पादकत्वदर्शनादित्याशङ्कायामाह—अन्नावस्थं तदुत्पन्नरेतोऽवस्थञ्च प्रजापतिशब्दवाच्यं ब्रह्मैवातः प्रकृतिपुरुषसंवत्सरमासकालान्नात्मकाद् ब्रह्मणः सर्वाः प्रजायन्ते इति मीमांसितम् ॥१४॥

व्याख्या—सकल प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है (गी.३ ।१४)। अग्नि में विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्य में स्थित होती है। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है (मनुः ३।७६)। यही इस मन्त्र का भावार्थ है।

संसारासक्तजननिन्दापूर्वकं विरक्तं मुमुक्षं स्तौति—

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

॥ इति प्रश्नोपनिषदि प्रथमः प्रश्नः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—तत् तस्माद् येऽन्नं वै प्रजापतिरिति प्रजापतिशब्दप्रतिपाद्य-स्यान्नस्य व्रतं = भक्षणमनुतिष्ठन्ति ते ब्रह्मचर्यहीना एव मिथुनमुत्पादयन्ते तेषामेष लोकः पुत्रपश्वन्नादिलक्षणः लोकः। येषां कायशोषणाख्यं तपो न भक्षणशीलता मैथुनवर्जनं येषु सत्यवचनं प्रतिष्ठितं येषु जिह्मं कौटिल्यमनृतमसत्यवचनं माया विप्रलिप्सा इत्यादयो दोषा न सन्ति तेषामिति सम्बन्धः। विरजो निर्दोषो ब्रह्मैव लोकः। तथैव भगवता बादरायणेन सर्वाख्यानाधिकरणे विवृतत्वादिति द्रष्टव्यम्। इतिशब्दः प्रतिवचनसमाप्ति-द्योतकः ॥१५-१६॥

इति प्रश्नोपनिषत्तत्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

सान्वयानुवाद—तत् = इसलिये, ये ह वै = जो कोई भी गृहस्थ मनुष्य, तत् प्रजापतिव्रतम् = उस प्रजापति व्रत का, चरन्ति = अनुष्ठान करते हैं, ते = वे,

मैथुनम् = जोड़े को, उत्पादयन्ते = उत्पन्न करते हैं, येषां तपः = जिनमें तप, ब्रह्मचर्यम् = और ब्रह्मचर्य है, येषां सत्यम् = जिनमें आत्म-परमात्म सम्बन्धी विचार हैं, तेषाम् एव = उन्हीं को, एषः ब्रह्मलोकः = यह ब्रह्मलोक मिलता है, येषु न = जिनमें न तो, जिह्मम् = कपटता, अनृतम् = और झूठ है, च = और, न माया = न दम्भ ही है, तेषाम् = उन्हीं को, असौ विरजः ब्रह्मलोकः इति = निर्दोष दिव्य ब्रह्मलोक मिलता है ॥१५-१६॥

व्याख्या—अब पहले बतलाये हुये दो तरह के उपासकों को मिलने वाले भिन्न-भिन्न फल का वर्णन करते हैं—जो लोग प्रजापति शब्दप्रतिपाद्य अन्न का व्रतानुष्ठान करते हैं वे ब्रह्मचर्य से हीन जोड़े को उत्पन्न करते हैं अर्थात् पुत्र-पुत्रीरूप जोड़े को पैदा करते हैं और उन्हीं को यह पुत्र, पशु आदि लक्षण युक्त लोक मिलता है। जिनमें ब्रह्मचर्य, तपस्या और आत्म परमात्म-विचार है उन्हीं को वह परम वैष्णव पद मिलता है॥ जिनमें दम्भ नहीं है और जो किसी से कपटता नहीं करते तथा 'एक ही परमात्मा अव्यय ईश्वर भगवान् श्रीहरि प्रत्यगात्मरूप से और दृश्य-रूप से कृत्स्न भूत में हैं' इस प्रकार की जिनकी भावना है उन्हीं को वह परम वैष्णव पद मिलता है।

॥ प्रथम प्रश्न समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते ? कतर एतत् प्रकाशयन्ते ? कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—देहेन्द्रियमनःप्राणादिभ्यो व्यतिरिक्तः प्रत्यगात्मा इति प्रतिपादनाय प्रश्नानवतारयति—कबन्धिप्रश्नानन्तरम् एनं ह पिप्पलादं महर्षिं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ = पृष्टवान्। हे भगवन् ! कतरे = कियत्संख्याका देवाः स्थावरजङ्गमात्मिकां प्रजां विधारयन्ते = विशेषेण धारयन्ते। एतेषु कतरे देवा एतच्छरीरं तत्कार्यं प्रकाशयन्ते. कोऽसौ पुनरेषां वरिष्ठः = प्रधानः ॥१॥

सान्वयानुवाद—अथ हैनम् = कबन्धि प्रश्ना के बाद इन प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलाद से, वैदर्भिः भार्गवः = विदर्भदेशीय भार्गव ने, पप्रच्छ = पूछा, भगवन् ! = हे भगवन्, कति देवाः एव = कितने ही देव, प्रजां विधारयन्ते = प्रजा को विशेष रूप से धारण करते हैं, कतरे एतत् = उनमें से कौन-कौन इसे, प्रकाशयन्ते = प्रकाशित करते हैं, पुनः = फिर, एषाम् = इन सबमें, कः = कौन, वरिष्ठः = सर्वश्रेष्ठ है, इति = यही मेरा प्रश्न है।

व्याख्या—कबन्धि के प्रश्नानन्तर इस मन्त्र में भार्गव जी ने महर्षि पिप्पलाद से तीन बातें पूछी हैं—स्थावर एवं जङ्गमात्मिका प्रजा को धारण करने वाले कितने

संख्याक देवता हैं ? इनमें कौन-कौन देवता इस शरीर को-उसके कार्य को प्रकाशित करने वाले हैं ? वह कौन इन सबमें वरिष्ठ-प्रधान है ?॥१॥

तस्मै स होवाचाऽऽकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निराप: पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच। ह वा इति प्रसिद्ध्यतिशये। एष प्रसिद्ध आकाश:। देवो गमनशील: प्रसिद्धो वायुरग्निराप: पृथिवी पञ्चमहाभूतानि शरीरारम्भकाणि। वाक्पदोपलक्षितानि कर्मेन्द्रियाणि चक्षु:श्रोत्रपदेन ज्ञानेन्द्रियाणि। ते आकाशादयो देवा: सर्वे मिलिता आत्मनो माहात्म्यं प्रकाश्याभिवदन्ति स्म। किमिति। वयं बाणवत् सञ्चारशीलमेतत्पुरोवर्ति शरीरमवष्टभ्यावलम्ब्य विस्पष्टं धारयाम इत्यर्थ: ॥२॥

सान्वयानुवाद—स: ह = उन प्रसिद्ध महर्षि ने, तस्मै उवाच = उनसे कहा, आकाश: ह वा एष: देव: = निश्चय ही यह प्रसिद्ध आकाश देवता है, वायु: = वायु, अग्नि: = अग्नि, आप: = जल, पृथिवी, वाक् = वाणी, चक्षु: च श्रोत्रम् मन: = नेत्र, श्रोत्र तथा मन, ते प्रकाश्य = वे प्रकाश कर, अभिवदन्ति = अभिवादन करते हैं, वयम् एतत् बाणम् = हमने इस शरीर को, अवष्टभ्य = अवलम्बन कर, विधारयाम: = धारण किया है।

व्याख्या—इस प्रकार पूछनेवाले भार्गव जी को महर्षि पिप्पलाद ने कहा—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन्हीं पञ्चमहाभूतों से प्राणियों के ये स्थूल शरीर बनते हैं। यह पाञ्चभौतिक शरीर काल, कर्म और गुणों के आधीन है। साँप के मुँह में पड़े हुए पुरुष के समान यह पराधीन शरीर दूसरों की रक्षा ही क्या कर सकता है ? (श्रीमद्भा.१।१३।४५) इसलिये गमनशील आकाशरूप सर्वव्यापक परमात्मा ही सबके धारक हैं। वाक् शब्द से उपलक्षित पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र और श्रोत्र (कान) पद से पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—ये सब अपने माहात्म्य प्रकाशित करके अभिवादन किये रहते हैं। ये इस शरीर को प्रकाशित करके आपस में कहने लगे कि हमने शरीर का अवलम्बन कर लिया है ॥२॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—तानेवमभिमानवतो वरिष्ठो मुख्य: प्राण उवाच = उक्तवान् मामैवं मोहमापद्यथाविवेकितयाभिमानं मा कुरुत यस्मादहमेवैतद्बाणं पुरोवर्ति शरीरमवष्टभ्याहमेव स्वात्मानं पञ्चधा विभज्य धारयामि इत्युक्तवति च तस्मिंस्तेऽश्रद्दधाना अप्रत्ययवन्तो बभूवु: कथमेतदिति ॥३॥

सान्वयानुवाद—तान् = उनसे, वरिष्ठ: प्राण: = मुख्य प्राण, उवाच = बोला, मोहम् = मोह में, मा आपद्यथ = न पड़ो, अहम् एव = मैं ही, एतत् आत्मानम् =

अपने इस आत्मा को, पञ्चधा विभज्य = पाँच भागों में विभक्त करके, एतद् बाणम् = इस पुरोवर्त्ति शरीर को, अवष्टभ्य = अवलम्बन कर, विधारयामि = धारण करता हूँ, इति ते = यह सुनकर वे, अश्रद्दधाना: बभूवुः = अविश्वासी बने रहे ।।३।।

व्याख्या—इस प्रकार जब सम्पूर्ण पञ्च महाभूत, समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरणरूप देवता परस्पर विवाद करने लगें, तब इन अभिमान वालों से मुख्य प्राण ने कहा—तुमलोग इस प्रकार विवेकहीन–अज्ञानवश आपस में अभिमान मत करो, तुममें से किसी में भी इस शरीर को धारण करने या सुरक्षित रखने की शक्ति (ताकत) नहीं है। इसे मैंने ही अपने को पञ्चधा (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदानरूप पाँच भागों में) बाँटकर शरीर का अवलम्बन कर धारण कर रखा है। मुख्य प्राण के इस प्रकार कहने पर उन देवताओं ने उस पर विश्वास नहीं किया ।।३।।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ।।४।।

तत्त्वप्रकाशिका—स मुख्यप्राणस्तेषां प्रत्यायनायाभिमन्यत इत्यभिमानो देहस्त-स्मादूर्ध्वमुत्क्रमत इव किञ्चिदूर्ध्वमुदक्रामत्। अथ तस्मिन् प्राण उत्क्रामति सतीतरे सर्वे देवाः शरीरधारणादौ स्वस्थितौ चासमर्था उत्क्रामन्ते उदक्रामन्। अस्य यादृच्छकत्व-परिहाराय पुनस्तस्मिन् प्राणे प्रतिष्ठमाने शरीर एव विप्रतिष्ठति सर्व एव देवाः शरीरे विप्रतिष्ठन्ते प्रतिष्ठिताः। तत्र निदर्शनम्। तत् तत्र लोके यथा मधुमक्षिका मधुकराः मधुकरराजानं प्रधानमधुमक्षिकां मधुस्थानादुत्क्रमन्तीम् उत्क्रामन्ते तस्याञ्च प्रतिष्ठितायां स्वयं सर्वा एव विप्रतिष्ठन्ति एवं वागादयो देवा इति। इत्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणस्य वरिष्ठत्वेऽवधारिते प्रीतास्ते देवास्त्वमेव सर्वदेवादिषु स्थित्वा तन्नामा तद्गुणक्रियादि-प्रवर्तक इति प्राणं स्तुन्वन्ति = अस्तुवन्। तदुच्यते ।।४।।

सान्वयानुवाद—सः = वह मुख्य प्राण, अभिमानात् = अभिमान से, ऊर्ध्वम् उत्क्रमते = मानो उस देह से ऊपर की ओर बाहर निकलने लगा, तस्मिन् उत्क्रामति = उस प्राण के बाहर निकलने पर, अथ इतरे सर्वे एव = उस प्राण के साथ-ही-साथ अन्य सब, उत्क्रामन्ते = शरीर से बाहर निकलने लगे, च = और, तस्मिन् प्रतिष्ठमाने = उस प्राण के ठहर जाने पर, सर्वे एव विप्रतिष्ठन्ते = सब देवता ही ठहर गये। तद्यथा = जैसे, मधुकरराजानम् = मधुमक्खियों के राजा के, उत्क्रामन्तम् = निकलने पर, सर्वाः एव = सारी ही, मक्षिकाः उत्क्रामन्ते = मधुमक्खियाँ बाहर निकल जाती हैं, च = और, तस्मिन् = उसके, प्रतिष्ठमाने = बैठ जाने पर, सर्वाः एव = सब-की-सब, विप्रतिष्ठन्ति = बैठ जाती हैं, एवम् = इस प्रकार, वाक् चक्षुः श्रोत्रम् मनः च = वाणी, नेत्र, श्रोत्र (कान) और मन, ते = वे, प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति = प्रसन्न होकर प्राण का स्तवन करने लगे ।।४।।

व्याख्या—वह मुख्य प्राण इस शरीर से थोड़ा ऊपर की ओर उठने लगा। फिर तो उसके ऊपर उठने पर सब-के-सब देवता लाचार होकर उसी के साथ बाहर निकलने लगें। कोई भी शरीरधारणादि में स्थिर नहीं रह सकें। उस प्राण के स्थिर हो जाने पर समस्त देवता ही शरीर में स्थित हो गये। जैसे लोक में मधुमक्खियों के राजा जब अपने स्थान से उड़ता है, तब उसके साथ ही वहाँ बैठी हुई अन्य सब मधुमक्खियाँ भी उड़ जाती हैं और जब वह बैठ जाता है तब अन्य सब भी बैठ जाती हैं, इस प्रकार की दशा इन सब वागादि देवताओं की भी हुई। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक द्वारा प्राण का ही श्रेष्ठत्व अवधारित किये जाने पर वे सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। आप ही समस्त देवताओं में स्थिर रहकर उस नाम से उस गुण-क्रिया आदि के प्रवर्तक हैं। वाणी, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि और मन आदि अन्तःकरण वे सब प्राण की स्तुति करने लगें ॥४॥

सम्बन्ध—प्राण को ही परब्रह्मस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम का स्वरूप मानकर उपासना करने के लिए उसका सर्वात्मरूप से महत्त्व कहा जाता है—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतञ्च यत् ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—एष मुख्यप्राणोऽग्निरूपेण तपति। एष प्राण एव सूर्यः। सर्वेषां प्राणसत्तास्थितिकत्वात्। यदधीना यस्य सत्ता तत्तदेवेति भण्यत इति रीतिमनुसृत्य सामानाधिकरण्यव्यपदेशो द्रष्टव्यः। रयिर्देवश्चन्द्रमा इति यावत्। सदसच्छब्दौ चेतनाचेतनपरौ स्थूलसूक्ष्मपरौ वा। अमृतपदेन भगवद्भावापत्तिरूपा मुक्तिरुच्यते तस्या अपि तदधीनत्वात् ॥५॥

सान्वयानुवाद—एषः अग्निः तपति = यह मुख्य प्राण अग्निरूप से तपता है, एषः सूर्यः = यह प्राण ही सूर्य है, एषः पर्जन्यः = यही मेघ है, (एषः) मघवान् = यही इन्द्र है, एषः वायुः = यही वायु है, एषः देवः = यह प्राण ही देव है, पृथिवी = पृथिवी, रयिः = रयि, यत् = जो, सत् = सत्, च = और, असत् = असत् है, अमृतं च = और अमृत यह प्राण ही है ॥५॥

व्याख्या—वे वाणी आदि समस्त देवता प्राण का स्तवन करते हुए बोले—यह प्राण ही अग्निरूप से तपता है। यही सूर्य है, जो सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशता है। यही मेघ है, यही इन्द्र है जो वर्षा करते हैं। यही वायु है और यही देव, पृथिवी और रयि है तथा सत् और असत् अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृतस्वरूप श्रीभगवद्भावापत्तिरूपा मुक्ति है वह भी प्राण है।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—अरा चक्रस्य मध्यदेशो नेमिस्तस्य निमेरन्तरालवर्तीनि काष्ठानि। यथा अरा रथनाभौ अर्पिता एवं प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। सर्वशब्दार्थं विश-

दयति—ऋच इति। तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रिविधा मन्त्रास्तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्रं सर्वस्य पालयितृ ब्रह्म च यज्ञादिकर्तृत्वाधिकृतम्। इदमुपलक्षणम्, तेन सर्वस्य स्थावर-जङ्गमात्मकप्राणिमात्रस्य ग्रहणम् ॥६॥

सान्वयानुवाद—रथनाभौ = रथ के पहिये की नाभि में लगे हुए, अरा इव = अरों की भाँति, ऋचः = ऋग्वेद की ऋचाएँ, यजूंषि = यजुर्वेद के मन्त्र, सामानि = सामवेद के गानविशेष मन्त्र, यज्ञः = यज्ञ, ब्रह्म = ब्राह्मण, क्षत्रं च = और क्षत्रिय, सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् = सब प्राण में प्रतिष्ठित है ॥६॥

व्याख्या—जिस प्रकार रथ के मध्य देश की नाभि में लगे हुए अरे रथ के नाभि में समाश्रित रहते हैं उसी प्रकार ऋग्वेद की सकल ऋचाएँ, यजुर्वेद के समस्त मन्त्र, गान-विशेष सामवेद इन वेदत्रय द्वारा त्रिविध मन्त्र और उसके साध्य यज्ञादि शुभकर्म, यज्ञादि शुभकर्म करने वाले ब्राह्मण, सबका पालन करने वाले क्षत्रिय आदि अधिकारिगण तथा सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम स्वरूप प्राणिमात्र प्राण के आधार पर ही टिके हुए हैं। सब का आश्रय एकमात्र प्राण ही है ॥६॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—परोक्षतया स्तुतः प्राणोऽपरोक्षतया स्तूयते—यः प्रजापतिः प्रजानां रक्षकः स त्वमेव। गर्भे प्राणादिरूपेण चरसि पश्चात्पितुः मातुश्च सदृशः सन् प्रतिजायसे। हे प्राणेमा देवाद्याः प्रजास्तुभ्यं त्वदीयाः यद्यस्मात् त्वं प्राणैः = चक्षुरादिभिः सह धारणादिकं कुर्वञ्छरीरे प्रतितिष्ठसि तस्माद् बलिमन्नादिकमुपहरन्ति ॥७॥

सान्वयानुवाद—प्राण = हे प्राण! त्वम् एव = तुम ही, प्रजापतिः = प्रजापति, (असि = हो), (त्वम् एव = तुम ही), गर्भे चरसि = गर्भ में विचरते हो, तु = निश्चय ही, इमाः प्रजाः = ये सब प्रजा, तुभ्यम् = तुम्हारे लिए, बलिं हरन्ति = अन्नादि उपहार (भेंट) करते हैं, यः = जो, प्राणैः = चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ, प्रतितिष्ठसि = सब के शरीर में स्थित हो रहा है ॥७॥

व्याख्या—हे प्राण! जो प्रजाओं का रक्षक है वह तुम ही हो, गर्भ में प्राणादिरूप से विचरते हो, बाद में पिता-माता के सदृश होकर शरीर धारण करते हो। ये सारी प्रजा तुम्हारे लिये ही चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ धारणादिक करते हुए शरीर में स्थित अन्नादि का उपहार करती हैं ॥७॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामपि ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—देवानाम् = इन्द्रियादीनाम्, वह्नितमः = यज्ञभागवाहकतमोऽसि, पितॄणां प्रथमा स्वधा = पितृभ्यो देयमन्नं तस्या अपि वाहकस्त्वमेवासि। त्वमेवाथर्वाङ्गिरसामृषीणां चरितमाचारः सत्यवचनञ्चासि ॥८॥

व्याख्या—इन्द्रियादि देवताओं के लिए यज्ञ के हिस्सों को पहुँचाने वाले अनुत्तम अग्नि तुम्हीं हो और तुम पितरों के लिये पहली स्वधा हो अर्थात् पितरों के लिये देय अन्न का भी वाहक तुम ही हो। अथर्वा एवं अङ्गिरा आदि ऋषियों के द्वारा आचरित सत्य वचन भी तुम ही हो ॥८॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण! तेजसा सर्वसंहारलक्षणेन त्वं रुद्रः। स्थितौ च परिसमन्ताद्रक्षिता परिपालयिता त्वमेव जगतः। त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः ॥९॥

व्याख्या—हे प्राण! तुम इन्द्र अर्थात् परमेश्वर हो, सब के संहारलक्षण (स्वरूप) तुम रुद्र हो, जगत् का परिपालन करने वाले तुम ही हो। तुम ही अन्तरिक्ष में निरन्तर विचरते हो, तुम ही उदय एवं अस्त स्वरूप सूर्य हो और समस्त ज्योतिर्गणों के पति (स्वामी) हो ॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—हे प्राण! यदा त्वं पर्जन्यरूपोऽभिवर्षसि, अथ = तदा ते त्वदीया इमा मानुषादिप्रजाः, कामाय यथेष्टमन्नं भविष्यतीति निश्चित्यानन्दरूपा आनन्दवत्यस्तिष्ठन्ति ॥१०॥

व्याख्या—हे प्राण! जब तुम मेघरूप होकर पृथिवीलोक में सब ओर वर्षा करते हो तब तुम्हारी ये मनुष्यादि प्रजा 'हम लोगों की जीविका के लिये यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा' ऐसा निश्चय करके आनन्दरूप हो जाती है ॥१०॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—हे प्राण! त्वं व्रात्यः = संस्काररहितः, ब्रह्मणेऽपि एकः = मुख्यः, मन्त्रद्रष्टर्षिरसि विश्वस्यात्ता = संहर्त्ता च, त्वमेव सतां = साधूनां, पतिः = रक्षकोऽसि त्वमेव। वयं तवाद्यस्य = भोग्यस्य दातारस्त्वत्पूजकाः। कुतः ? हे मातरिश्व = मातरिश्वन्! त्वं नोऽस्माकं पिताऽसि मातरिश्वन इत्यत्र नकारद्विश्रवणं छान्दसत्वाद् द्रष्टव्यम् ॥११॥

व्याख्या—हे प्राण! तुम संस्काररहित हो, ब्रह्मा के भी एक मुख्य मन्त्रद्रष्टा ऋषि हो और विश्व का भक्षक = संहार करने वाले तुम ही हो। हम लोग तुम्हारे लिए भोजन-सामग्री देने वाले तुम्हारे पुजारी है। क्योंकि तुम ही साधुओं की रक्षा करने वाले एवं हमारे पिता हो।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे य च चक्षुषि।

या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं स्तुत्वा प्रकृतमुच्यते—या त इति। या ते त्वदीया तनूः मूर्त्तिर्वाचि प्रतिष्ठिता। या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि सन्तता सम्यग्व्याप्य वर्त्तमाना एवमन्येष्वपि तत्त्वेषु या प्रतिष्ठिता तां शिवां = शान्तां कुरु। मोत्क्रमीः = वागादिभ्यः तथोत्क्रमणं मा कार्षीः ॥१२॥

सान्वयानुवाद—या ते तनूः = जो तेरी मूर्त्ति, वाचि = वाणी में, प्रतिष्ठिता = स्थित है, या श्रोत्रे = जो श्रोत्र (कानों) में, या चक्षुषि = जो चक्षु (आँखों) में, या मनसि = जो मन में, सन्तता = व्याप्त है, ताम् = उसको, शिवाम् = कल्याणमय, कुरु = बना ले, मा उत्क्रमीः = उत्क्रमण न कर ॥१२॥

व्याख्या—हे प्राण ! जो तेरी मूर्त्ति वाणी, श्रोत्र, चक्षुरादि समस्त इन्द्रियों में और मन में सम्यक् व्याप्त होकर वर्तमान एवं अन्य तत्त्वों में स्थित है उसको शान्तमय कर ले। वागादि से उठकर बाहर न जा ॥१२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—वागादिषु प्राणस्य प्रतिष्ठितत्वं कुतः ? यत एतत्सर्वं वागादिकं प्राणस्य तव वशे वर्त्तते। न त्वां विना प्रवर्तितुं क्षमम्। न केवलमध्यात्मं त्वदधीनं किन्तु त्रिदिवे = स्वर्गे यत्प्रतिष्ठितम्। दैवादिकञ्चेति यावत्, तदपि प्राणाधीनम्। वागादिषु स्थित्वा च त्वमस्मान् पुत्रानिव रक्षस्व = पालय, श्रीः = श्रियं, प्रज्ञां = प्रज्ञानं प्रकाशकत्वं शक्तिश्च, नोऽस्माकं विधेहि = कुर्विति स्तुवन्तीति सम्बन्धः ॥१३॥

इति प्रश्नोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

सान्वयानुवाद—इदं = यह दृश्यमान नामरूपात्मक जगत्, यत् त्रिदिवे = जो स्वर्गलोक में, प्रतिष्ठितम् = स्थित है, सर्वम् = वह सब, प्राणस्य = प्राण के, वशे = अधीन (वर्त्तते) है। माता पुत्रान् इव = जैसे माँ अपने पुत्रों की रक्षा करती है, रक्षस्व = वैसे तू हमारी रक्षा कर, च = और, नः श्रीः = हमें कान्ति, प्रज्ञाम् = प्रज्ञान और शक्ति, विधेहि इति = प्रदान कर ॥१३॥

व्याख्या—वागादि देवता प्राण के ही अधीन हैं, प्राण के बिना वे सक्रिय-सचेष्ट नहीं हो सकते, केवल यह प्राणाधीनत्व वागादि देवताओं के ही नहीं स्वर्ग में स्थित देवगण भी प्राण के अधीन हैं। अन्त में प्रार्थना करते हैं—हे प्राण ! जिस प्रकार माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर एवं हम लोगों को प्रज्ञा और शक्ति प्रदान कर ॥१३॥

द्वितीय प्रश्न समाप्त ॥२॥

•

अथ तृतीय: प्रश्न: ।।३।।

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायन: पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ।।१।।

तत्त्वप्रकाशिका—अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायन: पप्रच्छ। भगवन्! कुत: कस्मात्पुरुषादेष उक्तलक्षण: प्राणो जायते? कथं कस्मात्कारणादस्मिन् शरीरे प्राण आयाति प्रवर्त्तते? आत्मानं प्रविभज्य च कथं प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति? के ते विभागास्तैश्च किङ्कुर्वन् कुत्र स्थानविशेषे तिष्ठतीति यावत्। तस्मिन्नुत्क्रान्ते सर्वेऽप्युत्क्रान्ता इत्युक्तम्। तत्र केन प्रविभागेन जीवादीनादायोत्क्रामति प्राणस्य वशे सर्वं यत्त्रिदिवे प्रतिष्ठितमित्युक्तं तत्र केन प्रकारेण बाह्यमधिभूतादिकम् अभिधत्ते धारयति। कथञ्चाध्यात्ममभिधत्ते ।।१।।

सान्वयानुवाद—अथ ह एनम् = इसके बाद इन महर्षि से, कौसल्य: आश्वलायन: च पप्रच्छ = कोसलदेशीय आश्वलायन ने पूछा, भगवन्! एष: प्राण: = हे भगवन्! यह प्राण, कुत: जायते = किससे उत्पन्न होता है? अस्मिन् शरीरे = इस शरीर में, कथम् आयाति = कैसे आता है? वा आत्मानम् = तथा अपने को, प्रविभज्य = विभाजित करके, कथं प्रतितिष्ठते = किस प्रकार स्थित होता है? केन उत्क्रमते = किस ढंग से उत्क्रमण करता है? कथं बाह्यम् अभिधत्ते = किस प्रकार बाह्य अधिभूतादिक को भलीभाँति धारण करता है? कथम् अध्यात्मम् इति = किस प्रकार अध्यात्म को भलीभाँति धारण करता है? ।।१।।

व्याख्या—इस मन्त्र में आश्वलायन मुनि ने महर्षि पिप्पलाद से कुल छ: बातें पूछी हैं—(१) किस पुरुष से यह बताया गया लक्षण प्राण उत्पन्न होता है? (२) किस कारण से इस शरीर में प्राण आता है? (३) अपने को विभाजित करके किस प्रकार शरीर में स्थित रहता है? (४) किस विभाग से जीवादि को लेकर निकलता है? (५) किस प्रकार बाह्य अधिभूतादिक को धारण करता है? (६) तथा मन-इन्द्रियादि अध्यात्म = आध्यात्मिक जगत् को किस प्रकार धारण करता है? ।।१।।

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ।।२।।

तत्त्वप्रकाशिका—इत्येवं पृष्टवते तस्मै स होवाच। यस्मादेव त्वमतिप्रश्नान् प्रश्नयोग्यान् अर्हसि अर्थान् पृच्छसि तस्मात्त्वं ब्रह्मिष्ठो = वेदविचारवानसि, नह्यन्यथैवंविधा: प्रश्ना: सम्भवन्ति। यस्मात्त्वं ब्रह्मिष्ठोऽसि तस्मात्तेऽहं = तत्तुभ्यमुत्तरं ब्रवीमि ।।२।।

सान्वयानुवाद—तस्मै स ह उवाच = उन महर्षि ने उनसे स्पष्ट कहा- अतिप्रश्नान् पृच्छसि = तुम प्रश्नों के योग्य अर्थों को पूछ रहे हो, ब्रह्मिष्ठ: असि

इति = वेदों के विचारवान् हो, तस्मात् = इसलिये, अहम् = मैं, ते = तुमसे, ब्रवीमि = कहता हूँ ॥२॥

व्याख्या—इस प्रकार पूछनेवाले आश्वलायन मुनि से महर्षि पिप्पलाद ने कहा—तुम प्रश्नों के योग्य अर्थों को पूछ रहे हो, इसलिए तुम वेदों के विचारवान् हो। अन्यथा इस प्रकार प्रश्न सम्भव नहीं हो सकते, क्योंकि तुम ब्रह्मिष्ठ हो। अत: मैं तेरे उन प्रश्नों का उत्तर देता हूँ ॥२॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—इत्येवं प्रशस्याद्यप्रश्नोत्तरमुच्यते—एष एवं माहात्म्योऽपि प्राण: आत्मन: = परमात्मन: सकाशाज्जायते। 'एतस्माज्जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च' इति श्रुतेरपि द्रष्टव्यम्। कस्मात् कारणादस्मिञ्छरीरे प्राण आयाति इति प्रश्नस्योत्तरमाह—यथैषेति। यथैषा छाया पुरुषे आतता अत्यन्तं शरीराधीना वर्त्तते एवमेवैतस्मिन् पुरुषे = जीवे एतन्मनोऽधिकृतेनायत्नमन्तरेणाततमविनाभावेन संश्रितमेवं प्राणेऽप्यकृतेनायत्नेनास्मिञ्छरीर आयाति। मन:प्राणयो: पुरुषच्छायावत्पुरुषाविनाभूतत्वात् पुरुषेण सहैव सम्बन्धो न प्राणगमने पृथक्कारणमपेक्षितमिति भाव: ॥३॥

सान्वयानुवाद—एष: प्राण: = यह प्राण, आत्मन: = परमात्मा से, जायते = उत्पन्न होता है, यथा = जिस प्रकार, एषा छाया = यह छाया, पुरुषे = पुरुष पर शरीर के अधीन है, (तथा = उसी प्रकार) एतत् = यह (मन), एतस्मिन् = इस (पुरुष) में, आततम् = संश्रित है, अस्मिन् शरीरे = इस शरीर में, मनोकृतेन = मन के किये हुए निश्चय से, आयाति = आता है ॥३॥

व्याख्या—इस प्रकार महर्षि पिप्पलाद प्रशंसा करके पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं—यह प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। 'किस कारण से प्राण इस शरीर में आता है' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—जैसे किसी मनुष्य की छाया उसके अधीन रहती है उसी प्रकार इस मन के द्वारा किये हुए सङ्कल्प-विकल्प बिना यत्न से इस शरीर में आते हैं। मन और प्राण का पुरुष के साथ ही सम्बन्ध है, पुरुष की छाया की भाँति पुरुष के बिना अरूपत्व है। प्राण चले जाने पर अलग कारण अपेक्षित नहीं करता ॥३॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते। एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण: इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—आत्मानं प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठित इति तृतीयप्रश्नस्योत्तरं निर्वक्ति—यथा लोके सम्राट् सार्वभौमोऽधिकृतानुयोगिनो विनियुङ्क्ते। कथं त्वमेतान् पाटलिपुत्रादीन् ग्रामानधितिष्ठस्व तदाधिपत्येनातिष्ठस्वेत्येकम्। अन्यच्च त्वमेतान् कौशाम्बीप्रभृतीन् ग्रामानधितिष्ठस्वेति। एवमेव मुख्यप्राण इतरान् भिन्नानात्मनो जातत्वा-

दात्मप्रविभागान् प्राणान् वायून् पृथक् पृथगेव स्थानेषु सन्निधत्ते स्थापयति। स्वयञ्च तत्तत्क्रियाप्रवर्तकतया तत्र प्राणादिपञ्चरूपोऽवतिष्ठते। तथा च प्राणादिपञ्चकस्य मुख्य-प्राणनियोज्यत्वेन भिन्नत्वं तदधीनस्थितिप्रवृत्तिकत्वेनाभिन्नत्वमिति सिद्धान्तितमिति भावः ॥४॥

सान्वयानुवाद—यथा = जिस प्रकार, सम्राट् एव = सार्वभौम महाराज स्वयं ही, एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व = इन गाँवों में तुम रहो, इन गाँवों में तुम रहो, इति = इस प्रकार, अधिकृतान् = अधिकारियों को, विनियुङ्क्ते = अलग-अलग नियुक्त करता है, एवम् एव = उसी प्रकार, एषः प्राणः = यह मुख्य प्राण, इतरान् प्राणान् = दूसरे प्राणों को, पृथक् पृथक् एव = अलग-अलग ही, सन्निधत्ते = स्थापित करता है ॥४॥

व्याख्या—जैसे लोक में सार्वभौम महाराज अपने अनुयायी कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति करता है। 'तुम इन पाटलिपुत्रादि ग्रामों में रहो' और दूसरे को 'तुम इन कौशाम्बी प्रभृति ग्रामों में रहो', उसी प्रकार मुख्य प्राण अपने वायुओं को पृथक्-पृथक् स्थानों में ही स्थापित करता है। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन पाँचों का मुख्य प्राण नियोज्यरूप से भिन्न है और मुख्य प्राण के अधीन स्थिति-प्रवृत्तिरूप से अभिन्न समझना चाहिये ॥४॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद् भुक्तमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—पृथक् पृथगित्युक्तं विव्रियते। पायूपस्थ इत्यादिना पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थम्। तत्र मलादेरपनयनादपानं वायुमात्मनो रूपेणापानेनाधिष्ठितं सन्निधत्त इति सम्बन्धः। चक्षुश्च श्रोत्रञ्च चक्षुःश्रोत्रं, तस्मिन् मुखनासिकाभ्यां सह मुखे नासिकायाञ्चेति यावत्। प्राणः स्वयं मुख्य एव श्वासादिप्रणयनात् प्राणनाम्ना रूपेण प्राणवायुमधिष्ठाय विप्रतिष्ठति। समानस्तु समाननामानं वायुमधिष्ठाय मध्ये प्राणापान-योर्नाभिदेश इति यावत्। प्रतितिष्ठति तदधिष्ठाता। स चैष यस्मादेतद् भुक्तमन्नं समं यथा तथा शरीरावयवं नयति तेन समाननामेति शेषः। किन्तेन तस्मादन्नस्य समीकरणादेताः सप्तार्चिषः सप्तज्ञानेन्द्रियवृत्तयो भवन्ति ॥५॥

सान्वयानुवाद—प्राणः = वह मुख्य प्राण, पायूपस्थे = गुदा और उपस्थ में, अपानम् = अपान को, स्वयम् = स्वयं, मुखनासिकाभ्याम् = मुख और नासिका द्वारा, चक्षुःश्रोत्रे = नेत्र और श्रोत्र में, प्रातिष्ठते = स्थित रहता है, मध्ये तु = बीच में, प्राण और अपान में अर्थात् नाभिदेश में, समानः = समान रहता है, एषः हि = यह वायु ही, एतत् भुक्तम् अन्नम् = इस खाये हुए अन्न को, समं नयति = समस्त शरीर के अवयवों में पहुँचाता है, तस्मात् = उससे, एताः सप्त = ये सात, अर्चिषः = ज्वालाएँ, भवन्ति = उत्पन्न होती हैं ॥५॥

व्याख्या—अब मुख्य प्राण, अपान और समान इन तीनों का पृथक्-पृथक् वासस्थान और कार्य-विवरण बतलाया जाता है—स्वयं प्राण ही मुख और नासिका द्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है तथा गुदा और उपस्थ में अपान को स्थापित करता है। मलादि को शरीर से (अपनयन) बाहर निकाल देना–यह अपान का कर्म है। मुख्य प्राण ही शरीर के मध्यभाग–नाभिदेश में समान को रखता है। यह समान पेट में डाले हुए अन्न को शरीर के अवयवों में जैसा ले जाना चाहिये वैसे ही (समभाव से) पहुँचाता है। इसलिये इसे समान कहते हैं। उस अन्न के सारभूत रस से ही इस शरीर में समीकरण होने से ये सात ज्वालाएँ = सात ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। दो कान, दो आँख, दो नाक और एक मुँह (रसना)—ये सात उत्पन्न होते हैं ॥५॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—एषः = प्रत्यगात्मा, हृदि = हृदये, यत्र समानरूपेण प्राणस्तिष्ठति तत्र स्वयमपि वर्त्तते। अत्र = अस्मिन् हृदये, यदेतदेकशतमेकोत्तरशतं नाडीनां प्रधाननाडीनां भवति। तासां नाडीनां मध्ये एकैकस्यां नाड्यां शतं शतं प्रतिशाखानाड्यो भवन्ति पुनस्तासाञ्च प्रतिशाखानाड्यो भवन्तीति वक्तव्यम्। एवञ्च सम्भूय प्रतिशरीरं तासां प्रतिशाखानाडीनां द्वासप्ततिसहस्राणि जानीयात्। प्रतिशाखानाडीसहस्राणां द्वासप्ततिमिति द्वितीया षष्ठ्यर्थे योजनीया, किञ्चातः। आसु नाडीषु व्यानो व्यानवायुमधिष्ठाय चरति ॥६॥

सान्वयानुवाद—एषः हि आत्मा = यह जीवात्मा, हृदि = हृदय में, यहाँ समानरूप से प्राण रहता है, अत्र = इस हृदय में, एतत् = यह, नाडीनाम् एकशतम् = नाडियों का एक शतक है, तासाम् = उनमें से, एकैकस्याम् = एक-एक नाडी में, शतं शतम् = एक-एक सौ प्रतिशाखा नाडियाँ हैं, द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः = बहत्तर-बहत्तर, प्रतिशाखानाडीसहस्राणि = प्रतिशाखानाडियाँ, भवन्ति = होती हैं, आसु = इनमें, व्यानः चरति = व्यानवायु विचरण करता है ॥६॥

व्याख्या—यहाँ समानरूप से प्राण रहता है, वही हृदय में स्वयं जीवात्मा भी है। उसमें एक सौ नाडियाँ हैं, उन नाडियों के बीच में एक-एक नाडी में एक-एक सौ प्रतिशाखानाडियाँ हैं, फिर उनमें से प्रतिशाखानाडियाँ होती हैं अर्थात् प्रत्येक शाखानाडी की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखानाडियाँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रतिशरीर में प्रतिशाखानाडियाँ बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। इन सब में व्यानवायु विचरण करता है ॥६॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—व्यानस्य प्रवृत्तिं वक्तुमुच्यते—अथोदानस्तूदानवायुमधि-

ष्ठायैकया नाड्या सुषुम्नयोर्ध्वगतिश्चरति। स तत्र चरन् पुण्येन जीवकृतं पुण्यं निमित्तीकृत्य पुण्यं = स्वर्गादिलोकम्। अत एवोर्ध्वनयनादुदानः। पापेन पापं नरकादिकं दुःखबहुलं लोकं नयति। उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यां समदुःखसुखं मनुष्यलोकं नयति। एतेन केनोत्क्रामत इति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमुक्तम्भवति ॥७॥

सान्वयानुवाद—अथ एकया = इसके बाद एक नाडी से, उदानः ऊर्ध्वः = उदानवायु ऊपर की ओर विचरता है, पुण्येन = पुण्यकर्मों के द्वारा, पुण्यम् लोकम् = पुण्यलोकों में, नयति = ले जाता है, पापेन = पापकर्मों से, पापम् = पापयोनियों में ले जाता है, उभाभ्याम् एव = पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा, मनुष्यलोकम् = मनुष्यलोक में ले जाता है ॥७॥

व्याख्या—'सुषुम्णा' नामक एक नाडी से उदानवायु शरीर में ऊपर की ओर विचरण करता है। यह नाड़ी हृदय से निकलकर ऊपर मस्तक में गयी है। वह वहाँ पर विचरता हुआ जीव द्वारा किये गये पुण्य कर्मों को निमित्त करके स्वर्गादि उच्च लोकों में ले जाता है। इसलिये ऊपर की ओर ले जाने से इसे 'उदान' कहते हैं। पापकर्मों से नरकादि दुःखबहुल लोकों में ले जाता है और जो पाप और पुण्य दोनों समान प्रधान समान दुःख और सुख फल भोगने के लिए उनको मनुष्यलोक में ले जाता है ॥७॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—कथं बाह्यमित्यादिप्रश्नद्वयं परिह्रियते—चक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानः रूपोपलब्धौ चक्षुष आलोकं कुर्वन् बहिरादित्यरूपेणोदेति प्राणादित्ययोः प्राणत्वेनादित्यत्वेन रूपेण भेदः। प्राणाधीनत्वेन प्राणात्मकत्वादभेदः पृथिव्यां प्राणकलादेवता सैषा पुरुषस्यापानवृष्टिमवष्टभ्याकृष्य वशीकृत्याध एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्त्तते। यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्यः आकाशस्तद्रथो वायुराकाशः स समानः समानमनुगृह्णानो वर्त्तते। समानस्वान्तराकाशरथत्वसाम्यात्। सामान्येन यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्याद् व्यानः व्यानमनुगृह्णानो वर्त्तत इति भावः ॥८॥

सान्वयानुवाद—आदित्यः ह वै = यह सूर्य ही, बाह्यः प्राणः = बाह्य प्राण है, एषः हि = यही, एनं चाक्षुषम् = इस नेत्रसम्बन्धी, प्राणम् = प्राण पर, अनुगृह्णानः = अनुग्रह करता हुआ, उदयति = उदित होता है, पृथिव्याम् = पृथिवी में, या देवता = जो देवता है, सा एषा = वही यह, पुरुषस्य = पुरुष के, अपानम् = अपान वायु को, अवष्टभ्य = वश में करके रहता है, अन्तरा = पृथिवी और स्वर्ग के बीच, यत् आकाशः = जो आकाश है, सः समानः = वह समान है, वायुः व्यानः = वायु ही व्यान है ॥८॥

व्याख्या—'कथं बाह्यम्' इत्यादि प्रश्नद्वय का परिहार करते हैं—नेत्रसम्बन्धी (चाक्षुष) प्राण पर प्रकाश द्वारा अनुग्रहण करता हुआ रूपों की उपलब्धि-देखने की

शक्ति, बाहर सूर्य रूप से उदय होता है। प्राण और सूर्य का प्राण रूप से तथा सूर्य रूप से भेद है। प्राण के अधीन होने से अभेद है। पृथिवी कला देवता है, वही पुरुष के अपानवायु को खींचकर वश में करके नीचे अपकर्षण द्वारा अनुग्रह करता है। पृथिवी और स्वर्ग के बीच जो आकाश है वह रथ वायु आकाश है। वह समानवायु समानवायु पर अनुग्रह करता है। जो बाह्य वायु है वह व्याप्ति सामान्य होने से व्यान वायु है तथा व्यान पर अनुग्रह करता हुआ रहता है ॥८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥९॥
यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः ।
सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—तेजो ह वेति। बाह्यं तेज उदान उन्नयनहेतुत्वात् यस्माद्धेतोस्तेजस एवोदानशब्दितोन्नयनहेतुत्वं तस्मादेवोपशान्ततेजाः, अपगतदेहौष्ण्यः सम्मुमूर्षुर्जीवो यच्चित्तो यस्मिंश्चित्तं यस्य स यच्चित्तः यत्काम इति यावत्। देवतिर्यगादिशरीरकामो भवति तत्कामनावशेन पुनर्भवं जन्मान्तरं लब्धुं वाङ्मनसि सम्पद्यते। 'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च' (ब्र.सू.४।२।१) इति श्रुतिसूत्राभ्यां मनसा सह संयोगमापन्ने वागादिभिरिन्द्रियैः सहितं प्राणं सम्मुमूर्षुर्जीव आयाति। प्राणस्तेजसोदानेन युक्तः परमात्मना सह जीवं यथासङ्कल्पितं तेन जीवेन मरणकाले यादृशः सङ्कल्पितः स्मृतस्तथाविधं लोकं नयति प्रापयति। ततश्च तेजसा सहितस्य प्राणस्योन्नयनहेतुत्वात् तेजसोऽप्युन्नयनहेतुत्वेनोदानत्वं युक्तमिति भावः ॥९-१०॥

सान्वयानुवाद—तेजो ह वै = तेज ही, उदानः = उदान है, तस्मात् = इसलिये, उपशान्ततेजाः = जिसके शरीर का तेज शान्त हो जाता है, वह (मुमूर्षु जीव) मनसि = मन में, सम्पद्यमानैः इन्द्रियैः = विलीन हुई इन्द्रियों के साथ, पुनर्भवम् = पुनर्जन्म को प्राप्त होता है। एषः = यह मुमूर्षु जीवात्मा, यच्चित्तः = जिस कामनावाला होता है, तेन = उस कामना-वासना के साथ, प्राणम् आयाति = वागादि इन्द्रियों के सहित प्राण में स्थित हो जाता है, प्राणः = मुख्य प्राण, तेजसा युक्तः = तेज से युक्त, आत्मना सह = अपने सहित, यथासङ्किल्पतम् = उसके सङ्कल्पानुसार, लोकं नयति = लोक में जाता है ॥१०॥

व्याख्या—बाह्य तेज ही उदान है, क्योंकि ऊपर की ओर ले जाने से इसे उदान कहते हैं। बाहरी तेज को ही उदान शब्द से कहा जाता है। उसका उष्णत्व धर्म है। जिसके शरीर से वह उदानवायु = उष्ण (गर्मी) निकल जाता है, उसका शरीर गरम नहीं रहता है, अतः तेज = गरम उपशान्त होते ही जीव मन में विलीन हुई इन्द्रियों के साथ पुर्नजन्म को प्राप्त होता है ॥९॥

प्राण तेज से युक्त परमात्मा के साथ जीवात्मा का जैसा संकल्प होता है, वैसा ही लोक योनि को प्राप्त करता है। ब्रह्मज्ञानी मरणकाल में जैसा स्मरण करता है वैसा ही लोक योनि को प्राप्त करता है।

जड़भरत ने कहा है—मैं पूर्वजन्म में भरत नाम का राजा था। ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों का त्याग कर श्रीभगवान् की उपासना में लगा रहता था। एक मृग में आसक्ति के कारण मरणकाल में उसके स्मरणवश मृगयोनि में जाना पड़ा, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना से मेरी मृगयोनि की स्मृति आज तक नष्ट नहीं हुई। इसलिये यह अनित्य नाशवान् शरीर न जाने कब अचानक एक दिन नष्ट हो जायेगा। यदि मरण काल में श्रीभगवान् का चिन्तन न होकर मन-चित्त स्त्री, पुत्र एवं कुटुम्बादि पर आसक्त हो गया तो पुनः इस जन्म-जरा-मरणरूप संसार में नाना योनियों में भटकना पड़ेगा ॥१०॥

य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवम्भूतप्राणोपासकस्य फलमुच्यते—यो विद्वानेवमुक्तलक्षणं प्राणं वेद विजानाति उपासते इति यावत्। नास्योपासकस्य प्रजा हीयते। अविच्छिन्नसन्तानो भवति। परिशुद्धप्रत्यगात्मस्वरूपज्ञानपूर्वकब्रह्मोपासनप्रीतिद्वाराऽमृतः मोक्षहेतुश्च भवति ॥११॥

व्याख्या—पहले बताये गये प्राण के स्वरूप को जो विद्वान् जानता है, उसकी उपासना करता है उस विद्वान् उपासक की अविच्छिन्न सन्तान परम्परा होती है एवं परिशुद्ध प्रत्यगात्म-स्वरूप का ज्ञानपूर्वक ब्रह्म की उपासना में अनुराग-प्रेम-प्रीति द्वारा मोक्ष का कारण बन जाता है ॥११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वञ्चैव पञ्चधा। अध्यात्मञ्चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—उत्पत्तिं प्राणस्य परमात्मनः सकाशात्। आयतिं मनसा सहागमनमस्मिञ्छरीरे। स्थानम् = पायूपस्थस्थानेषु स्थितिं, विभुत्वं यथा सम्राडेवाधिकृतानित्युक्तं साम्यलक्षणम्। अध्यात्मं प्राणादिरूपेण पञ्चधा स्थितिम्। चशब्देनादित्यादिरूपेण पञ्चधा बाह्यावस्थानयोः परिग्रहः। एतत्सर्वं विशेषेण ज्ञात्वाऽमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति। द्विरुक्तिः प्रतिवचनसमाप्तिबोधनाय ॥१२॥

इति प्रश्नोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

सान्वयानुवाद—प्राणस्य = प्राण की, उत्पत्तिम् = उत्पत्ति, आयतिम् = आगमन, स्थानम् = स्थितिः, विभुत्वम् एव = विभुत्व ही है, च = और, पञ्चधा अध्यात्मम् एव च = पाँच तरह के अध्यात्म को, विज्ञाय = विशेषरूप से जानकर ही, अमृतम् अश्नुते = अमृत को प्राप्त कर लेता है, अमृतम् अश्नुते इति = अमृत को प्राप्त कर लेता है ॥१२॥

व्याख्या—प्राण की उत्पत्ति परमात्मा से होती है, मन के साथ आगमन इस शरीर में उसका स्थान है एवं पायु और उपस्थ स्थानों में स्थिति; जैसे सम्राट् अपने अधिकारियों को। अध्यात्म प्राणादिरूप से पाँच प्रकार की स्थिति है। 'च' शब्द से सूर्यरूप से पाँच प्रकार बाह्य अवस्थानों का परिग्रहण है। यह सब विशेषरूप से जानकर जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। द्विरुक्ति प्रतिवचनसमाप्ति बोधन के लिये है ॥१२॥

तीसरा प्रश्न समाप्त ॥३॥

•

अथ चतुर्थः प्रश्नः

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे शरीरिणि स्वपति सति कानि स्वपन्ति स्वव्यापारादुपरमन्ते। कानि अस्मिन् पुरुषे स्वपिति सति जाग्रति स्वव्यापारं कुर्वन्ति। सर्वेषामुपरमे शरीरातस्थानासम्भवात्। सर्वेन्द्रियाणामुपरतत्वादेष देवः जीवः कतरः कीदृशः सन् स्वप्नान् पदार्थान् पश्यति। कस्यैतत्सुखं कस्य हेतोरेतद्वैषयिकं सुखम्। एते सर्वे कस्मिन् प्रतिष्ठिताः ॥१॥

सान्वयानुवाद—अथ = इसके बाद, गार्ग्यः सौर्यायणी = गर्गगोत्र में उत्पन्न सौर्यायणी ऋषि ने, ह एनम् = महर्षि (पिप्पलाद) से, पप्रच्छ = पूछा, भगवन् = हे भगवन्, एतस्मिन् पुरुषे = इस शरीर में, कानि स्वपन्ति = कौन-कौन सोते हैं, अस्मिन् कानि जाग्रति = इसमें कौन-कौन जागते हैं, एषः कतरः देवः = यह कौन देवता, स्वप्नान् पश्यति = स्वप्नों को देखता है, एतत् सुखम् = यह सुख, कस्य भवति = किसको होता है, सर्वे कस्मिन् = सब किसमें, नु = निश्चितरूप से, सम्प्रतिष्ठिताः भवन्ति इति = सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित रहते हैं ॥१॥

व्याख्या—हे भगवन्! (१) इस मनुष्य-शरीर में कौन-कौन सोते हैं अर्थात् अपने व्यापार से उपरम होते हैं? (२) कौन-कौन जागते हैं अर्थात् अपना-अपना व्यापार करते हैं? (३) सारी इन्द्रियाँ उपरत हो जाने से यह जीव कैसा होकर स्वप्न-पदार्थों को देखता है? (४) निद्रा अवस्था में वैषयिक सुख का अनुभव किसको होता है? (५) ये सब किसमें सम्यक् स्थित हैं? इस प्रकार गार्ग्य मुनि ने महर्षि पिप्पलाद से पाँच बातें पूछी हैं ॥१॥

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनःपुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै

तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच। हे गार्ग्य ! यथार्कस्यास्तमदर्शनं गच्छतः सतः सर्वा एव मरीचयः सर्वेऽपि रश्मयः एतस्मिन् दृश्यमाने तेजोरूपमण्डले एकीभवन्ति। तत्रैकीभूता इव दृश्यन्ते। प्रकाशनादिव्यापारादुपरमन्त इति यावत्। ताः पुनस्ते तु रश्मयोऽर्कस्य पुनरुदयतः सतः प्रचरन्ति। तस्मान्मण्डलान्निर्गत्य लोके प्रचरन्त्य इव दृश्यन्ते स्वस्वव्यापारं कुर्वन्तीति यावत्। एवं खल्वेतत् सर्वमिन्द्रियदेवताजातं परे इतरेभ्य उत्कृष्टे देवे द्योतनादिगुणयुक्ते मनस्येकीभवति। तेन श्रोत्रादीन्द्रियदेवतानामुपरतत्वेन पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नाऽऽदत्ते, नेयायते = न गच्छति। स्वपितीत्याचक्षते। एतेन कानि स्वपन्तीति प्रश्नस्य समाधानमुक्तं भवति। बाह्यज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि स्वपन्तीत्युक्तत्वात् ॥२॥

सान्वयानुवाद—सः तस्मै ह उवाच = महर्षि पिप्पलाद ने गार्ग्य मुनि से स्पष्ट कहा, गार्ग्य = हे गार्ग्य ! यथा = जिस प्रकार, अस्तं गच्छतः अर्कस्य = अदर्शन होते हुए सूर्य की, सर्वाः मरीचयः = सारी किरणें, एतस्मिन् तेजोमण्डले = इस तेजोमण्डल में, एकीभवन्ति = एक हो जाती हैं, उदयतः ताः = उदय होने पर वे, पुनः पुनः = बार-बार, प्रचरन्ति = सब ओर फैलती हैं, एवं ह वै = ठीक ऐसे ही, तत्सर्वम् = वे सब इन्द्रियाँ, परे देवे मनसि = परम देव मन में, एकीभवति = एक हो जाती हैं, तेन तर्हि एषः पुरुषः = इस कारण उस समय यह जीवात्मा, न शृणोति = सुनता नहीं है, न पश्यति = देखता नहीं है, न जिघ्रति = सूँघता नहीं है, न रसयते = स्वाद नहीं लेता है, न स्पृशते = स्पर्श नहीं करता है, न अभिवदते = बोलता नहीं है, न आदत्ते = ग्रहण नहीं करता है, न आनन्दयते = मैथुनसुख को भोगता नहीं है, न विसृजते = मल-मूत्र का त्याग नहीं करता है, न इयायते = चलता नहीं है, स्वपिति इति आचक्षते = उस समय वह सो रहा है—इस प्रकार लोग कहते हैं ॥२॥

व्याख्या—इस प्रकार पूछने वाले गार्ग्यजी से महर्षि पिप्पलाद ने कहा—हे गार्ग्य ! जिस प्रकार सूर्य के अस्त (अदर्शन) होते ही समस्त किरणें इस दृश्यमान तेजमण्डल में एक ही हो जाती हैं; अर्थात् वहाँ एक ही रूप जैसे दिखलायी देता है। पुनः वे किरणें सूर्य के पुनः उदय होने पर सब ओर फैल जाती हैं अर्थात् उस मण्डल से निकलकर इस लोक में जैसे फैलती हुई दिखलाई देती हैं। इस प्रकार यह सब इन्द्रियदेवता उत्कृष्ट द्योतनादि गुणयुक्त मन में एक हो जाते हैं। इसलिये उस समय यह जीवात्मा न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न चलता है, न मल-मूत्र का त्याग करता है और न मैथुनसुख को ही भोगता है। लोग कहते हैं कि इस समय यह सो रहा है। 'कानि

स्वपन्ति' इस प्रश्न का समाधान इसके द्वारा हो गया; बाहर की ज्ञान-इन्द्रियाँ और कर्म-इन्द्रियाँ सोती हैं—इस प्रकार की उक्ति होने से ॥२॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—कानि जाग्रतीत्यस्योत्तरमाह—स्वप्नवत्सु बाह्यकरणेष्वेतस्मिन् नवद्वारे पुरे देहे प्राणाग्नयो जाग्रति शरीरधारणरूपस्वव्यापारं कुर्वन्ति। कथं तेषामग्न्यादित्वमिति उच्यते—गार्हपत्य इत्यादि। तेषां प्राणानां मध्ये एषोऽपानो गार्हपत्यः = गार्हपत्यसदृशः। सादृश्यञ्च पश्चिमत्वेन। व्यानोऽन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः। होमाङ्गत्वसाम्यात्। यस्माद्गार्हपत्यादाः हवनीयः प्रणीयते। प्राणोऽप्यपानात् तस्मात्प्रणयनात् प्रणयनसाम्यात् प्राण आहवनीयः ॥३॥

सान्वयानुवाद—एतस्मिन् पुरे = इस नौ द्वारस्वरूप देह में, प्राणाग्नयः एव = पाँच प्राणरूप अग्नियाँ ही, जाग्रति = जागती रहती हैं, एषः ह वै अपानः = यह अपान ही, गार्हपत्यः = गार्हपत्य अग्नि है, व्यानः = व्यान, अन्वाहार्यपचनः = अन्वाहार्य-पचन नामक दक्षिणाग्नि है, गार्हपत्यात् यत् प्रणीयते = गार्हपत्य अग्नि से जो उठाकर ले जायी जाती है, (सः = वह) आहवनीयः = आहवनीय अग्नि, प्रणयनात् = प्रणयन प्रकर्षरूप से ले जाये जाने के कारण ही, प्राणः = प्राण कहलाता है ॥३॥

व्याख्या—कौन-कौन जागते हैं—इसका देते हैं—स्वप्नावस्था में बाह्य सारी इन्द्रियों के लय हो जाने पर इस नौ द्वारवाले शरीर में प्राणरूप अग्नियाँ ही जागती हैं अर्थात् शरीरधारणरूप अपना व्यापार करती हैं। उन प्राणों के बीच में यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। व्यान अन्वाहार्यपचन नामक दक्षिणाग्नि है। जिस गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि प्रणयन करती है और उससे प्रकर्ष रूप से उठाकर ले जाये जाने के कारण प्राण ही आहवनीय अग्नि है ॥३॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—यद्यस्मात् द्वावेतौ उच्छ्वासनिःश्वासौ त एवाहुतीसमं यथाकालं नयति। तस्मादाहुत्योः समं नयनसाम्यात्समानः सोऽध्वर्युरिति यावत्। तत्र मननान्मनो जीवो यजमानः। पराधीनफलप्राप्तिसाम्यादित्युत्तरार्थं वचनम्। उदान इष्टफलम्। यज्ञफलप्रतिपादक उद्गातेति यावत्। फलप्रतिपादकत्वसाम्यात्। कथमुदानस्य फल-प्रतिपादकत्वं स उदानो ह्येनं यजमानं जीवमहरहः प्रतिदिनं सुषुप्तावििति यावत्। ब्रह्म सुषुम्नागतं गमयति प्रापयति ॥४॥

सान्वयानुवाद—यत् उच्छ्वासनिःश्वासौ = जो ऊर्ध्वश्वास और अधोश्वास हैं, एतौ = ये दोनों, आहुती = आहुतियाँ हैं, समं नयति = यथासमय पहुँचाती हैं, सः समानः = वह समान कहलाता है, मनः ह वाव यजमानः = मन ही यजमान है,

इष्टफलम् एव = अभीष्ट फल ही, उदानः = उदान है, सः एनं यजमानम् = वह इस यजमान को, अहः अहः = प्रतिदिन, ब्रह्म गमयति = ब्रह्म तक पहुँचाता है ।।४।।

व्याख्या—ये दोनों-ऊर्ध्वश्वास और अधोश्वास ही दो आहुतियाँ समरूप से यथासमय पहुँचाते हैं इसलिये आहुतियाँ नयन के समानता से वह अध्वर्यु कहलाता है। उसमें मनन से जीव ही यजमान है, यज्ञ के फलों का प्रतिपादन करने वाला उदान ही उद्‌गाता है। वही उदान ही इस मनरूपी यजमान जीव को प्रतिदिन सुषुप्ति में सुषुम्ना तक ले जाता है ।।४।।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टञ्चादृष्टञ्च श्रुतञ्चाश्रुतञ्चानुभूतञ्चाननुभूतञ्च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ।।५।।

तत्त्वप्रकाशिका—कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यतीत्यस्योत्तरमाह—अत्रैतस्यामवस्थायां मन इन्द्रियोपरम इति यावत्। एष देवो जीवः स्वप्ने महिमानमात्मनो महत्त्वमन्यच्चानुभवति तत्र च यमर्थं पश्यति तं प्राग्दृष्टमेवानुपश्यति, यः प्राक्श्रुतस्तं श्रुतमेवार्थं शब्दं स्वप्ने शृणोति एवमन्यदप्यनुभूतमेवानुभवति नाननुभूतम्। किमस्मिन्नैव देशेऽनुभूतमेवानुभवति ? नेति किन्तु देशान्तरे दिगन्तरे च यत्प्रत्यनुभूतं पुनः पुनरनुभूतं तदेव स्वप्ने पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। नाप्यस्मिन्नेव जन्मन्यनुभूतमनुभवतीति नियमः किन्त्वन्यस्मिन् जन्मन्येव दृष्टमदृष्टञ्च जन्मान्तरे दृष्टम्। एवमुत्तरत्रापि। अनुभूतमननुभूतमिन्द्रियान्तरेण। सत् विद्यमानञ्चानुभवति। असत् विद्यमानञ्चानुभवति, सर्वः पश्यति स्वयञ्च सर्वोऽनेकप्रकारः सन् सर्वं पश्यति। बाह्यकरणानामुपरतव्यापारत्वात् स्वाप्निकैरीश्वरसृष्टैः शरीरेन्द्रियैर्द्रष्टृत्वादिमान् सन्ननुभवतीति भावः ।।५।।

सान्वयानुवाद—अत्र स्वप्ने = इस स्वप्न अवस्था में, एषः देवः = यह देव (जीवात्मा), महिमानम् = महिमा का, अनुभवति = अनुभव करता है। यद् दृष्टम् दृष्टम् = जो बार-बार देखा हुआ है, अनुपश्यति = उसी को पीछे देखता है, श्रुतं श्रुतम् अर्थम् एव अनुशृणोति = बार-बार सुनी हुई बातों को ही पीछे सुनता है, देशदिगन्तरैः च = नाना देश और दिशाओं में, प्रत्यनुभूतम् = अनुभव किये हुये विषयों को, पुनः पुनः = बार-बार अनुभव करता है, दृष्टं च अदृष्टं च = देखे हुए और न देखे हुए को भी, श्रुतं च अश्रुतं = सुने हुए और न सुने हुए को भी, अनुभूतं च = अनुभव किये हुये और, अननुभूतं च = अनुभव न किये हुये को भी, सत् च असत् च = विद्यमान और अविद्यमान को भी, सर्वम् = सब को, पश्यति = देखता है, सर्वः = स्वयं अनेक प्रकार होकर देखता है ।।५।।

व्याख्या—यह कौन देवता स्वप्नों को देखता है-इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—इस स्वप्न अवस्था में मन और इन्द्रियाँ उपरति को प्राप्त हो जाती हैं। यह जीव स्वप्न अवस्था में अपने महत्त्व का अनुभव करता है और जिस अर्थ को देखता है उस

पहले देखे हुए को अनुभव करता है। सुने हुए अर्थ = शब्द को स्वप्न में सुनता है। इस प्रकार अन्य अनुभव किये हुये विषयों को अनुभव करता है। अनुभव न किये हुए को भी क्या इस देश में ही अनुभव किये हुए को ही अनुभव करता है ? ऐसा नहीं है, अन्य देश में और अन्य दिशा में जो पुनः-पुनः अनुभव किये हुए शब्दादि विषय को ही स्वप्न अवस्था में बार-बार अनुभव करता है। इस जन्म में भी नहीं अनुभव किये हुए को अनुभव करता है-ऐसा नियम नहीं है। किन्तु अन्य जन्म में ही देखा हुआ और न देखा हुआ जन्मान्तर में देखा है। अनुभव किये हुए तथा अनुभव न किये हुए इन्द्रियों के बिना सत् और असत्, विद्यमान और अविद्यमान को स्वयं अनेक प्रकार का होकर सबको देखता है ॥५॥

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—चतुर्थं परिहर्त्तुमुच्यते—स्वप्ने वर्त्तमानः स जीवो यदा तेजसा परमात्मनाऽभिभूतो भवति सम्पन्नो भवति सम्यरिष्वक्तो भवतीति यावत्। तदा स्वप्नान् पदार्थान् न पश्यति मनसोऽप्युपरतत्वान्न जीवः स्वप्नान् पश्यतीति यावत्। एतेन कतरो देवः स्वप्नान् पश्यतीति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति। मनोमात्रपरिशेषसमये स्वाप्निकानर्थान् पश्यति प्रत्यगात्मा न ब्रह्म सम्पत्तिसमये। कस्यैतत्सुखं भवतीत्यस्य प्रश्नस्य समाधानमाह-अथेति। प्रत्यगात्मनो यत्सुखं भवति तदेतस्मिन् शरीरे सत्येव भवति। शरीरमेव वैषयिकसुखहेतुरित्युक्तं भवति ॥६॥

सान्वयानुवाद—सः यदा = वह जब, तेजसा अभिभूतः = तेज से अभिभूत, भवति = होता है, अत्र एषः देवः = इस स्थिति में यह जीवात्मा, स्वप्नान् = स्वप्नों को, न पश्यति = नहीं देखता, अथ = तथा, तदा = उस समय, एतस्मिन् शरीरे = इस शरीर में, एतत् सुखं भवति = इस सुख का अनुभव होता है ॥६॥

व्याख्या—स्वप्न में वर्त्तमान वह जीव जब परमात्मा से सम्पन्न = समालिङ्गन होता है तब स्वाप्निक पदार्थों को नहीं देखता। इसके द्वारा कौन देवता स्वप्नों को देखता है-इस प्रश्न का उत्तर हो गया। मन मात्र परिशेष समय में स्वाप्निक अर्थों को देखता है, जीवात्मा ब्रह्म सम्पत्ति समय में नहीं। यह सुख किसको होता है-इस प्रश्न का समाधान करते हैं—जीवात्मा का जो सुख होता है वह इस शरीर में ही होता है; शरीर ही वैषयिक सुख का कारण है ॥६॥

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—कस्मिन्नर्थे सर्वे प्रतिष्ठिता भवन्तीत्यस्योत्तरमाह—सोम्य = सोमार्ह तत्र दृष्टान्तः। यथा वयांसि = पक्षिणो वासो यत्रात्मनो निवासः तं वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते। अभिगच्छन्ति तमाश्रित्य तिष्ठन्ति। एवं खल्वेतत्सर्वं पृथिव्यादितत्त्वजातं परे ब्रह्मणि वासुदेवे सम्प्रतिष्ठते तदाधारमेव वर्त्तते ॥७॥

सान्वयानुवाद—सः = वह, यथा = जिस प्रकार, वयांसि = पक्षी, वासो वृक्षम् = अपने निवासस्थान वृक्ष पर, सम्प्रतिष्ठन्ते = उसके सहारे ठहरते हैं, एवं ह वै तत्सर्वम् = ठीक वैसे ही वह सब, परे आत्मनि = परमात्मा में, सम्प्रतिष्ठते = भली भाँति अच्छी प्रकार से ठहरता है ।।७।।

व्याख्या—किसमें सब प्रतिष्ठित रहते हैं—इसका उत्तर देते हैं—हे सोम्य! जिस प्रकार पक्षिगण सायंकाल में लौटकर यहाँ अपने निवासरूप वृक्ष पर पहुँचते हैं और उसके आश्रित होकर ठहरते हैं, ठीक उसी प्रकार यह सब पृथिवी आदि तत्त्वसमूह परब्रह्मस्वरूप वासुदेव में सम्प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि भगवान् श्रीवासुदेव ही सबके परम आश्रय (एकमात्र सहारे) हैं ।।७।।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च श्रोत्रञ्च श्रोतव्यञ्च घ्राणञ्च घ्रातव्यञ्च रसश्च रसयितव्यञ्च त्वक् च स्पर्शयितव्यञ्च वाक् च वक्तव्यञ्च हस्तौ चादातव्यञ्चोपस्थश्चानन्दयितव्यञ्च पायुश्च विसर्जयितव्यञ्च पादौ च गन्तव्यञ्च मनश्च मन्तव्यञ्च बुद्धिश्च बोद्धव्यञ्चाहङ्कारश्चाहङ्कर्त्तव्यञ्च चित्तञ्च चेतयितव्यञ्च तेजश्च विद्योतयितव्यञ्च प्राणश्च विधारयितव्यञ्च ।।८।।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता योद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ।।९।।

तत्त्वप्रकाशिका—सर्वशब्दार्थं प्रपञ्चयति—पृथिवीत्यादिना पञ्चमहाभूतान्युच्यन्ते, पृथिवीमात्रा चेत्यादिना गन्धादिपञ्चतन्मात्राः चक्षुश्चेत्यादिना दशेन्द्रियाणि, द्रष्टव्यमित्यादिना नामरूपादितद्विषयाः, मन इत्यादिनान्तःकरणपञ्चकं, मन्तव्यञ्चेत्यादिना तद्विषयाः, तेजश्शब्देन चेतना गृह्यते। प्राणो मुख्यो धारकस्तेन विधारयितव्यं पृथिव्यादिकं सर्वम् अतश्चोपपन्नं तस्य सर्वाश्रयत्वमिति। कथं सर्वस्वं तदधीनत्वमित्युच्यते-एष हीति। चक्षुरादीनामेतेषामेष हि दर्शनादिशक्तिप्रदः, अत्र बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मेति निर्देशादात्मनो ज्ञातृत्वमेव न ज्ञानस्वरूपमिति वदन्तस्तार्किकाश्च ज्ञानत्वमेव न ज्ञातृत्वमिति वदन्तो मायावादिनश्च निरस्ता भवन्ति ।।९।।

व्याख्या—इस मन्त्र में सर्व शब्द के अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं—पृथिवी आदि पञ्च महाभूत और उनकी गन्ध आदि पञ्च तन्मात्रा। जैसे कि स्थूल पृथिवी और उसका कारण गन्धतन्मात्रा, स्थूल जल और उसका कारण रसतन्मात्रा, स्थूल तेज और उसका कारण रूपतन्मात्रा, स्थूल वायु और उसका कारण स्पर्शतन्मात्रा, स्थूल आकाश और उसका शब्दतन्मात्रा और चक्षु आदि दस इन्द्रियाँ; जैसे कि चक्षु-इन्द्रिय और उसके द्वारा श्रीभगवान् की प्रतिमाओं का और उनके भक्तों का दर्शन, श्रोत्र-इन्द्रिय और उसके द्वारा उनकी पुण्यकथा का श्रवण, घ्राण-इन्द्रिय और उसके द्वारा श्रीभगवान् के चरणकमलों पर चढ़ी श्रीमती तुलसी की दिव्य सुगन्ध लेना, रसना-इन्द्रिय और

उसके द्वारा श्रीभगवच्चरित्र का गान करना, त्वक्-त्वचा इन्द्रिय से यह क्षणभङ्गुर एवं दुर्लभ मनुष्यदेह, जिससे सर्वात्मा श्रीभगवान् की सेवा करने का अपूर्व सुअवसर मिलता है। वाक्-इन्द्रिय अर्थात् वाणी जिससे श्रीभगवान् का गुणानुवाद किया जाता है। दोनों हाथों से उनकी सेवा, दोनों पैरों से उनके क्षेत्र तथा तीर्थों की यात्रा, उपस्थ से इन्द्रिय मैथुन सन्तान के निमित्त ही कहा गया है, न कि इन्द्रियसुख के लिये। गुदा-इन्द्रिय द्वारा मल का त्याग किया जाता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और अन्तःकरण; जैसे कि मन के द्वारा मनन , बुद्धि के द्वारा विचार-विमर्श, चित्त के द्वारा चिन्तन अहङ्कार ही उसका स्वरूप है और जीवों के अन्तःकरण में सारी कामना-वासना छिपी रहती हैं। पृथिवी आदि सबके उस परब्रह्मस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम ही एकमात्र आश्रय हैं। यह विज्ञानात्मा-विशेष ज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, रसास्वादन लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला कर्त्ता पुरुष है तथा अक्षर = अविनाशी परमात्मा में सम्यक् प्रतिष्ठित है।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—स विज्ञानात्मा पुरुषो यादृशलक्षणमेतमेवंविधमच्छायं ज्ञानसङ्कोचकं कर्मछायाशब्देनोच्यते अच्छायमपापम् अत एवाशरीरम्। प्राकृतशरीर-रहितम्। तस्मादेवालोहितम् = लोहितादिरूपरहितम्। शुभ्रं = शुद्धम्। प्राकृतरूपाद्य-भावेऽपि अप्राकृतशुभ्रादिरूपयुक्तं वा अत एवाक्षरं न क्षरतीति क्षरणशून्यम्। हे सोम्य ! यो वेदयते = विजानाति स सर्वज्ञः सर्वप्रधानस्य सर्वकारणस्य च परिज्ञानात्सर्वज्ञो भवति। सर्वस्यापि कर्मादिर्ज्ञानस्य फलं परमात्मज्ञानं प्राप्तमनेनेति वा। उपासकः स्तूयते तत्सर्वं भवति तदेष श्लोक इति तद्ब्रह्माभिमुखीकृत्यैवैष श्लोकः ॥१०॥

सान्वयानुवाद—सः यः ह वै = वह यह जो (पुरुष), तत् अच्छायम् = वह छायारहित, अशरीरम् = शरीररहित, अलोहितम् = लालरङ्ग से रहित, शुभ्रम् अक्षरम् = शुद्ध अक्षर को, वेदयते = जानता है, सः = वह, परम् अक्षरम् एव प्रति-पद्यते = परम अक्षर को ही प्राप्त हो जाता है, सः = वह, सर्वज्ञः = सब जानता है, सर्वः भवति = सब होता है।

व्याख्या—वह ज्ञानस्वरूप पुरुष पापरहित, प्राकृत शरीररहित, लाल-पीला आदि रूपरहित शुद्ध है इसलिये अक्षर = क्षरणशून्य है। हे सोम्य ! जो इस प्रकार जानता है वह सर्वप्रधान और सर्वकारण के परिज्ञान से सर्वज्ञ हो जाता है। उपासक की स्तुति करते हैं—वह सब हो जाता है, उस ब्रह्म को सम्मुख कर यह श्लोक है ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—विज्ञानात्मा = विज्ञानरूपो जीवः प्राणश्चक्षुरादयः तद्विषया रूपादयश्च भूतानि पृथव्यादीनि तन्मात्राश्च सर्वैः देवैरभिमानिसूर्याद्यैः सह यत्र यस्मिन्नक्षरे ब्रह्मणि सम्प्रतिष्ठन्ति तदेतदक्षरं वेदयते विजानाति यः पुरुषः, सोम्येति कस्यचित्सम्बुद्धिः, स उक्तप्रकारेण सर्वज्ञः, सर्वं परं ब्रह्माविवेशाविष्ट एव ध्रुवमाविशत्येवेति ॥११॥

इति प्रश्नोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

सान्वयानुवाद—यत्र = जिसमें, प्राणाः = चक्षुरादि इन्द्रियाँ, भूतानि = पृथिवी आदि पाँचों महाभूत, सर्वैः देवैः सह = अभिमानी सभी सूर्य आदि देवों के सहित, विज्ञानात्मा = विशेष ज्ञानस्वरूप आत्मा, सम्प्रतिष्ठन्ति = भलीभाँति अच्छी प्रकार से ठहरते हैं, सोम्य = हे सोम्य ! तत् अक्षरम् = उस अक्षर (परमात्मा) को, यः तु = जो कोई, वेदयते = जानता है, सः सर्वज्ञः = वह सर्वज्ञ है, सर्वम् एव = सर्वरूप परब्रह्म में, आविवेश = प्रविष्ट हो जाता है ॥११॥

व्याख्या—चक्षुरादि इन्द्रियाँ और उसके विषय रूपादि, पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत और उनकी तन्मात्राएँ तथा अभिमानी समस्त सूर्यादि देवों के साथ ज्ञानस्वरूप जीवात्मा जिस अक्षर ब्रह्म में सम्यक् प्रतिष्ठित (स्थित) है वही इस अक्षर परमात्मा को जो कोई जान लेता है वह सर्वज्ञ है और वह निश्चय ही ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है ॥११॥

॥ चतुर्थ प्रश्न समाप्त ॥४॥

•

अथ पञ्चमः प्रश्नः

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रयाणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति। तस्मै स होवाच ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—भगवन्नेतेषु मनुष्येषु स यः कश्चित् प्रयाणान्तं = प्रयाणपर्यन्तं यावच्छरीरादुत्क्रमणं तावदिति यावत्। ओङ्कारमोमित्यादिक्रियमाणं परमात्मानमभिध्यायीत सर्वदा चिन्तयेदोमिति मन्त्रेणेत्यभिप्रायः। स पुरुषस्तेन ध्यानेन कतमं लोकं जयति प्राप्नोतीत्येवं पृष्टवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः ॥१॥

सान्वयानुवाद—शैब्यः सत्यकामः = शिबिपुत्र सत्यकाम ने, अथ ह एनम् = उसके बाद इन महर्षि पिप्पलाद से, पप्रच्छ = पूछा, भगवन् = हे भगवन् ! मनुष्येषु = मनुष्यों में से, सः यः ह वै = वह जो कोई, प्रयाणान्तम् = प्रयाणपर्यन्त, तत् ओङ्कारम् = उस ओंकार का, अभिध्यायीत = सदा-सर्वदा ध्यान करता है, सः = वह, तेन = उस ध्यान से, कतमम् लोकम् = किस लोक को, वाव जयति = भलीभाँति जीतता (प्राप्त करता) है। तस्मै सः ह उवाच = उससे उन महर्षि ने कहा ॥१॥

व्याख्या—हे भगवन्! इन मनुष्यों में से वह जो कोई मृत्युपर्यन्त अर्थात् जब तक शरीर से प्राण निकलता तब तक ओङ्कार किये जाने वाले परमात्मा का सर्वदा चिन्तन करे। ओम् इस मन्त्र से वह पुरुष उस ध्यान से किस लोक को प्राप्त करता है, इस प्रकार पूछने वाले सत्यकाम से महर्षि पिप्पलाद ने स्पष्ट कहा ॥१॥

एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदोङ्कारः तदेतत् परञ्चापरञ्च ब्रह्म यस्मात् प्रणवो मुख्यतः परमात्मनः प्रतिपादकः, यस्माच्च तत्प्रतिमानत्वेन मुख्यविरञ्च प्रतिपादकश्च तस्माद् विद्वान् प्रणवेनोपासकः, एतेनैवोपासनाख्येनायतनेन गमनसाधनेन। परापरब्रह्मणोरेकतर-मन्वेति प्राप्नोति ॥२॥

सान्वयानुवाद—सत्यकाम = हे सत्यकाम! एतत् वै = यह निश्चय ही, यत् ओङ्कारः = जो ओङ्कार है, परम् च अपरम् च ब्रह्म = पर और अपर ब्रह्म है, तस्मात् = इसलिये, विद्वान् एतेन एव = विद्वान् पुरुष इसके द्वारा ही, आयतनेन = गमनसाधन द्वारा, एकतरम् अन्वेति = परापरब्रह्म में से किसी एक को प्राप्त करता है ॥२॥

व्याख्या—मुख्य रूप से प्रणव परमात्मा का ही प्रतिपादन करने वाला 'णूयते प्रकर्षेण स्तूयते अनेनेति परमात्मा' = अच्छे प्रकार से जिसके द्वारा परमात्मा की स्तुति = स्तवन किया जाता है वह प्रणव ओङ्कार है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभि-सम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—अकारोकारमकारख्यांशत्रययुक्तो हि प्रणवः। तत्र स उपासको यद्येकमात्रमेका मात्रा वाचिका यस्य तं परमात्मानं प्रणवेनाभिध्यायीत कामप्येकामेव मात्रां सम्यग्विदित्वा इतरे अविज्ञायेति यावत्। तर्हि स उपासकस्तेनैव ध्यातेन परमात्मना संवेदित एहीति सम्बोधित इव देहपातानन्तरं क्षिप्रमेव जगत्यां पृथिव्यामभिसम्पद्यते जन्मनेति शेषः। कथं कीदृशं जन्मेति। तमुपासकमृचः ऋग्वेदाभिमानिदेवताः पृथिव्यां मनुष्यलोकं मनुष्यशरीरं द्विजाग्र्यलक्षणमुपनयन्ते प्रापयन्ति। स च तत्र जन्मनि तपसा = अनशनादिना, ब्रह्मचर्येण = मैथुनवर्जनेन, श्रद्धया = आस्तिक्यबुद्ध्या सम्पन्नस्तत्फल-रूपं महिमानमनुभवति ॥३॥

सान्वयानुवाद—सः यदि = वह अगर, एकमात्रम् = एकमात्रावाचिका इस प्रणव विद्या का, अभिध्यायीत = भलीभाँति ध्यान-चिन्तन करता है, सः तेन एव = वह उस ध्यान से ही, संवेदितः = अपने ध्येय परमात्मा की अच्छी तरह जानकारी हो जाती है, तूर्णम् एव = जल्दी ही, जगत्याम् = पृथिवी में, अभिसम्पद्यते = उत्पन्न होता है,

तम् ऋचः = उसको ऋग्वेद की ऋचाएँ, मनुष्यलोकम् उन्नयन्ते = मनुष्यशरीर प्राप्त करा देती है, तत्र सः = वहाँ वह, तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः = तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर, महिमानम् = महिमा का, अनुभवति = अनुभव करता है ॥३॥

व्याख्या—अकार, उकार और मकार इन तीनों से युक्त ही प्रणव है। अगर उपासक एक मात्रावाचिका इस प्रणव विद्या से उस परमात्मा की भलीभाँति उपासना करता है तो वह उपासक उसके द्वारा ही सम्यक् ज्ञात होकर मरने पर शीघ्र ही पृथिवी पर जन्म लेता है। उस उपासक को ऋग्वेद के अभिमानी देवता मनुष्यशरीर प्राप्त करा देते हैं। उस जन्म में वह व्रतोपवास, सन्तानोत्पत्ति, मैथुन इन्द्रियसुखवर्जन और अस्तिक्य-बुद्धि से सम्पन्न होकर उसके फलरूप महिमा का अनुभव करता है। इन तीनों मात्राओं में से कोई भी एकमात्रा को भी भलीभाँति जानकर दूसरों को न जानकर करने पर भी वही फल मिलता है ॥३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथ यदि द्विमात्रेणापरब्रह्मवाचकेन प्रणवेन यस्य मनसि अपरब्रह्मध्यानं सम्पद्यते सङ्गतो भवति। तर्हि स उपासको यजुर्भिर्यजुर्वेदाभिमानिदेवताभिरन्तरिक्षस्थं सोमलोकमुन्नीयते नीतश्च। स तत्र सोमलोके विभूतिमैश्वर्यमनुभूय पुनरावर्त्तते = ततश्च्यवते ॥४॥

सान्वयानुवाद—अथ यदि = इसके बाद अगर, द्विमात्रेण = दो मात्राओं से, मनसि सम्पद्यते = मन में सम्पन्न होता है, सः यजुर्भिः = वह यजुर्वेद के अभिमानी देवताओं द्वारा, अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष में स्थित, सोमलोकम् = चन्द्रलोक को, उन्नीयते = ऊपर की ओर पहुँचाया जाता है, सः सोमलोके = वह उस चन्द्रलोक में, विभूतिम् अनुभूय = ऐश्वर्य का अनुभव करके, पुनः आवर्त्तते = पुनः इस लोक में (आवर्त्तन) लौट आता है ॥४॥

व्याख्या—श्रीमद्भागवत (३।३२।३) में कहा है कि 'गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति'। गर्भाधान से लेकर मरणपर्यन्त वे नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा सकाम क्रियाएँ किया करते हैं, पर उन्हें न कभी आत्म-अनात्म और परमात्मस्वरूप का ज्ञान होता है, जन्म-जरा-मरणरूप संसार प्रवाह में ही भटकते रहते हैं, देह का त्याग कर धूममार्ग से चन्द्रलोक को जाते हैं। वहाँ कुछ दिनों तक नाना प्रकार के ऐश्वर्य का उपभोग कर और सोम का पानकर पुण्य क्षीण होने पर वे फिर यहीं नीचे ढकेल दिये जाते हैं ॥४॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणैवोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना

विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—यत एव तस्माद्यस्तु पुरुष एतं पुरुषं त्रिमात्रेण तिस्रो मात्रा अपि सम्यग्विदित्वेति यावत्। ओमित्यक्षरेण परमात्मानमभिध्यायीत स ध्याता ध्येयं परमेश्वरमपरोक्षीकृत्य तेजोरूपे सूर्ये सम्पन्नस्तं प्राप्तो भवति। सूर्यं प्राप्य चासौ यथा पादोदरः सर्वस्त्वचा जीर्णया विनिर्मुच्यते। एवं खलु स ध्यानी पाप्मना प्रारब्धेन विनिर्मुक्तो भवति। विधूतपापश्च सामभिः = सामाभिमानिदेवताभिः ब्रह्मलोकं सत्याख्य-मुन्नीयते। स उपासकः एतस्मात्सत्यलोकपतेर्जीवघनाज्जीवसारात्सकलजीवोत्तमादिरञ्चात् परात्परमुत्तमोत्तमं पुरिशयं सकलजीवशरीरेषु शयितं पुरुषं पूर्णं वासुदेवमीक्षते। भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि निरुपाधित्वं च वर्त्तते वासुदेवे सनातन इति स्मृतिवचनमनुसन्धेयम् ॥५॥

सान्वयानुवाद—पुनः यः = पुनः जो, त्रिमात्रेण = तीन मात्राओं से, ओम् इति = प्रणवरूप (एकाक्षररूप), एतेन अक्षरेण एव = इस अक्षर के द्वारा ही, एतं परम् पुरुषम् = इस परम पुरुष का, अभिध्यायीत = सदा ध्यान करता है, सः तेजसि = वह तेजोरूप, सूर्ये सम्पन्नः = सूर्य में सम्पन्न होता है, यथा पादोदरः = जिस तरह साँप, त्वचा विनिर्मुच्यते = केंचुली से बिल्कुल अलग हो जाता है, एवम् ह वै = ठीक उसी तरह, सः पाप्मना = वह पाप से, विनिर्मुक्तः = सदा के लिए छूट जाता है, सः सामभिः = वह सामवेद के अभिमानी देवताओं द्वारा, ब्रह्मलोकम् = ब्रह्मलोक में, उन्नीयते = ऊपर ले जाया जाता है, स एतस्मात् जीवघनात् = वह इस जीवसमुदाय से उत्तम ब्रह्मा से, परात्परम् = उत्तमोत्तम, पुरिशयम् = शरीर रूप नगर में शयन करने वाले, पुरुषम् = परमपुरुष को, ईक्षते = देखता है, तत् एतौ = वह ये, श्लोकौ भवतः = दो श्लोक (मन्त्र) हैं ॥५॥

व्याख्या—जो उपासक इस परमपुरुष परमात्मा को तीन मात्राओं से भलीभाँति जानकर 'ओम्' इस एकाक्षर मन्त्र द्वारा उनका निरन्तर ध्यान करता है वह ध्यान करने वाला ध्येय परमेश्वर का साक्षात् करके तेजोरूप सूर्य में सम्पन्न होकर उसे प्राप्त हो जाता है। वह जैसे सूर्य को पाकर सर्प जीर्ण त्वचा से अलग हो जाता है। इसी प्रकार श्रीभगवत्स्वरूप का ध्यान करने वाला साधक प्रारब्ध कर्म से विनिर्मुक्त होता है। सामवेद के अभिमानी देवताओं द्वारा सत्य नामक सर्वोपरि ब्रह्मलोक में पहुँचाये जाते हैं। वह उपासक इस सत्यलोक के स्वामी जीवसार समस्त जीवों से उत्तम ब्रह्मा उससे उत्तम सभी जीवों के शरीरों में अन्तर्यामी रूप से स्थित परिपूर्णानन्द श्रीपुरुषोत्तम का दर्शन करता है, फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। वह अज्ञान-अन्धकाररूपी मायाजाल से छूटकर श्रीभगवद्भाव को प्राप्त हो जाता है। इस विषय में मन्त्र पढ़ते हैं ॥५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—तिस्रोऽकाराद्याः प्रणवमात्राः। अनविप्रयुक्ताः = विप्रयुक्ताः न भवन्तीत्यविप्रयुक्ताः, न अविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ता विप्रयुक्ता इत्यर्थः। अन्योन्यसक्ताः = परस्परं युग्मतया सम्बद्धाः। बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु = तारमन्द्रमध्यमरूपासूच्चारण-क्रियासु प्रयुक्ता उच्चारिता मृत्युमत्यो भवन्ति, नापुनरावृत्तिफलं प्रापयन्तीत्यर्थः। तासु सम्यक् प्रयुक्तासु तिस्रोऽपि सम्यक् ज्ञात्वोच्चारितासु सतीषु योगाभिज्ञः पुमान् न कम्पते अपुनरावृत्तिफलं प्राप्नोति ॥६॥

सान्वयानुवाद—तिस्रः मात्राः = अकार, उकार और मकार ये तीनों मात्राएँ, अन्योन्यसक्ताः = परस्पर युग्मरूप से सम्बद्ध, प्रयुक्ताः = प्रयोग की गयी है, अनवि-प्रयुक्ताः = इनका अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया गया है, मृत्युमत्यः = मृत्यु से युक्त हैं, बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु = बाहर, भीतर और बीच की, क्रियासु = क्रियाओं में, सम्यक् प्रयुक्तासु = सम्यक् प्रयोग किये जाने पर, ज्ञः न कम्पते = जानने वाला काँपता नहीं है ॥६॥

व्याख्या—श्रीभगवान् ने गीताजी (८।१३) में कहा है—ओम् इस प्रणवस्वरूप एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ, मेरा अनुस्मरण (चिन्तन) करता हुआ जो शरीर का परित्याग करता है वह (देवयान-मार्ग से) परम गति को प्राप्त होता है। जहाँ से फिर दुबारा इस लोक में लौटकर आना नहीं पड़ता है। योगसूत्र में कहा है—प्रणव उसका वाचक है (योगसूत्र १।२८)। इसलिये इस मन्त्र में 'तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः' ऐसा कहकर मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने उल्लेख किया है ॥६॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तत्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति ॥७॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—एतदर्थं विवरणार्थो द्वितीयो मन्त्रः—एकमात्रज्ञानपूर्वकोपास-नादृग्भिरेतं पृथिव्याख्यं मानुषं लोकमुपासको नीयते। द्विमात्राज्ञानपूर्वकोपासनाद्यजुर्भि-रन्तरिक्षं तत्रत्यं सोमलोकं नीयते। यत्तत्कवयः = सूरयः, वेदयन्ते = जानन्ति ज्ञापयन्ति वा परात्परं ब्रह्म यत्तच्छान्तं = सुखोत्कर्षसीमाभूमिरूपम्। अजरम् = जरादिवर्जितं परा-त्परं सर्वोत्तमं तं तद् ब्रह्मोङ्कारेणैवायनेन अयनं = साधनमोङ्कारं मात्रात्रयात्मकं सम्यक् ज्ञात्वेति यावत्। सामभिरन्वेतीति। इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थ; ॥७॥

इति प्रश्नोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥

सान्वयानुवाद—ऋग्भिः = एक मात्रा की ज्ञानपूर्वक उपासना से उपासक ऋचाओं द्वारा, एतम् = इस पृथिवी नामक मनुष्यलोक में पहुँचाया जाता है, यजुर्भिः = दूसरी दो मात्राओं की ज्ञानपूर्वक उपासना से उपासक यजुर्वेद की श्रुतियों द्वारा, अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष में अर्थात् सोमलोक में पहुँचाया जाता है, सामभिः = सामवेद की श्रुतियों द्वारा, तत् = उस ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है, यत् = जिसको,

कवयः = सूरीजन, वेदयन्ते = जानते हैं, विद्वान् = ज्ञानवान् उपासक, ओङ्कारेण = ओङ्काररूप, आयतनेन एव = साधन द्वारा ही, तम् अन्वेति = उन परब्रह्मस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम को प्राप्त कर लेता है, यत् = जो, तत् = वह, अजरम् = जरारहित, अमृतम् = मृत्युरहित, अभयम् = भयरहित, (अतः) परम् शान्तम् = परम शान्त है।

पञ्चम प्रश्न समाप्त ॥५॥

•

अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन् हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ। तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्रष्टव्यार्थेऽतिशयितबुभुत्सां स्वस्य ज्ञापयितुं पूर्ववृत्तान्त-कथनम्। भगवन् हिरण्यनाभो नामतः कोसलायां भवः कौसल्यः कस्यचिद्राज्ञः पुत्रो मामुपेत्य प्राप्य एनं वक्ष्यमाणं प्रश्नं प्रष्टव्यमर्थमपृच्छतापृच्छत्। हे भारद्वाज! षोडश-कलो नाम कश्चित् पुरुषोऽस्ति इति सामान्यतो मया श्रुतं तं षोडशकलं पुरुषं त्वं वेत्थ विशेषतो जानासि किम्? कोऽसौ पुरुषः? क्व चास्ते? का नाम षोडशकलाः? कथञ्च तस्य षोडशकलात्वमित्यादि। यदि च जानासि तं तर्हि मह्यं ब्रूहीति एवं पृष्टवन्तं कुमारं पूर्ववयसि वर्त्तमानं, हिरण्यनाभमहमब्रुवम्। अहमिमं त्वया पृष्टं षोडशकलं पुरुषं न वेद = न जानामि। कुतः यद्यहमिमं पुरुषमवेदिषं = विदितवान् अहमभविष्यं तर्हि कथं कस्माद्योग्याय ते तुभ्यं नावक्ष्यमिति। अतो नाहमिमं वेद। किञ्च यः पुरुषोऽ-नृतमभिवदति। स एष समूलः परिशुष्यति वै। सर्वात्मनागतसारो भवति। तेनार्जितं समस्तमपि सुकृतं नश्यतीति यावत्। यत एवं तस्माज्ज्ञात्वाऽपि न जानामीत्यनृतं वक्तुं दोषज्ञोऽहं नार्हामि नार्हो भवामीत्येवमनेकप्रकारतः प्रत्यायितः सलज्जया तूष्णीं किमप्य-वदन् रथमारुह्य प्रवव्राज। यथागतं तथा गतवान्। एवं तदाप्रभृति ज्ञातव्यतया मम हृदि वर्तमानं पुरुषं त्वां पृच्छामि किमिति असौ षोडशकलः पुरुषः क्वास्ते कश्चासौ षोडशकलः काश्च ताः कलाः कथं च षोडशकलः पुरुष इत्यादि ॥१॥

सान्वयानुवाद—अथ ह एनम् = इसके बाद इन महर्षि (पिप्पलाद) से, भारद्वाजः = भरद्वाज के पुत्र, सुकेशा = सुकेशा ने, पप्रच्छ-भगवन् = हे भगवन्!, कौसल्यः = कोसल देश में उत्पन्न, हिरण्यनाभः = हिरण्यनाभ नाम के किसी राजन्य बालक ने, माम् उपेत्य = मेरे पास आकर, एनं प्रश्नम् = यह प्रश्न, अपृच्छत = पूछा, भारद्वाज = हे भारद्वाज! षोडशकलम् = सोलह कलाओं वाले, पुरुषम् = पुरुष को, वेत्थ = जानते हो, तम् कुमारम् = उस कुमार से, अहम् = मैंने, अब्रुवम् = कहा,

अहम् = मैं, इमम् = इसे, न वेद = नहीं जानता, यदि = अगर, अहम् अवेदिषम् = मैं इसे जानता होता, ते = तुझे, कथम् न अवक्ष्यम् इति = क्यों नहीं कहता, एषः वै = यह (वह) निश्चय ही, समूलः = मूल के साथ, परिशुष्यति = सब ओर से सूख जाता है, यः = जो, अनृतम् = झूठ, अभिवदति = कहता है, तस्मात् = इसलिये, अनृतम् = झूठ, वक्तुम् = कहने में, न अर्हामि = समर्थ नहीं हूँ, सः = वह, तूष्णीम् = चुपचाप, रथम् = रथ पर, आरुह्य = सवार होकर, प्रवव्राज = चला गया, तम् = उसी बात को, त्वा = तुमसे, पृच्छामि = मैं पूछता हूँ, असौ पुरुषः = वह पुरुष, क्व इति = कहाँ है ? ॥१॥

व्याख्या—हे भारद्वाज ! सोलह कलाओं वाला कोई पुरुष है—यह सामान्यतः मैंने सुना है, उसे तुम विशेषरूप से जानते हो क्या ? वह पुरुष कौन है, कहाँ रहता है, क्या नाम है ? अगर उसे तुम जानते हो तब मुझे बताओ। सोलह कलाओं वाले पुरुष को मैं नहीं जानता, अगर मैं इस पुरुष को जानता तब तुम्हें क्यों नहीं बताता ? इसलिये मैं नहीं जानता हूँ। जो पुरुष झूठ कहता है उसके उपार्जित समस्त सुकृत भी नाश हो जाते हैं। धर्मशास्त्र का वचन है कि—

'स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्' ॥

स्त्रियों के मनाने में, हास-परिहास में, विवाह में, जीविका के विषय में, प्राण-सङ्कट में, गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिये एवं किसी की हिंसा हो रही हो तो झूठ बोलना भी निन्दित नहीं माना जाता है। वह कुछ भी न कहकर जैसे रथ पर सवार होकर आया था, वैसे ही लौट गया। अब मैं तुमसे उसी सोलह कलाओं वाले पुरुष के विषय में पूछ रहा हूँ ॥१॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—इति पृष्टवते तस्मै स होवाच—प्राणाद्याः षोडशसंख्याकाः कला इहैवेति। हे सोम्य ! यस्मिन् पुरुषे, एता वक्ष्यमाणाः प्राणाद्याः षोडशसंख्याकाः कलाः स जीवस्य शरीरस्य भोगाः प्रभवन्ति यस्मादुत्पद्यन्ते यस्मिंश्च प्रविष्टा भवन्ति मुक्ताः सत्यो यमाश्रित्य वर्त्तन्ते। अनेन षोडशकलत्वं तस्य कथमिति परिहृतं भवति। स पुरुषः परमात्मा इहैवान्तःशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाशमध्ये आस्ते नावश्यं तद्दर्शनाय दूरं गन्तव्यमित्यभिप्रायः ॥२॥

सान्वयानुवाद—सः ह = महर्षि पिप्पलाद ने, तस्मै = सुकेशा से, उवाच = कहा, सोम्य = हे सोम्य ! इह = यहाँ, अन्तःशरीरे = इस शरीर के अन्दर, एव = ही, सः पुरुषः = वह पुरुष (परमात्मा) है, यस्मिन् = जिसमें, एताः षोडश = ये सोलह, कलाः = कलाएँ, प्रभवन्ति इति = उत्पन्न होती हैं ॥२॥

व्याख्या—हे सोम्य ! जिस पुरुष में ये प्राण आदि सोलह संख्या वाली कलाएँ हैं वह जीव के शरीर का भोग जिससे उत्पन्न होती हैं और जिसमें प्रविष्ट होती हैं, मुक्त होकर जिसके सहारे रहती हैं इसके द्वारा उसका षोडशकलत्व इसका क्यों है परिहार हो जाता है। वह पुरुष परमात्मा इस शरीर के हृदयकमल आकाश के मध्य में ही विराजमान है। उसके दर्शन के लिए दूर नहीं जाना चाहिये—यही इस मन्त्र का अभिप्राय है ॥२॥

स ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीत्युक्तं प्रपञ्चयते—स पुरुषः कल्पादौ कलाः सृजानीतीक्षाञ्चक्रे चिन्तितवान् पुनश्च कस्मिन् पुरुषे शरीरादुत्क्रान्तेऽहमुत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन् वा तत्र प्रतिष्ठितेऽहमपि प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठो भविष्यामि। कोऽनुमद्वशीकरणक्षमभक्तिज्ञानादिसम्पन्नो यं निमित्तीकृत्याहं कलाः सृजानीत्येवमीक्षित्वा तादृशः प्राणेति निश्चित्य सः पुरुषः प्राणमसृजत। प्राणात्प्राणं निमित्तीकृत्य श्रद्धां जीवस्यास्तिक्यनिष्ठामसृजत्। ततः खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीत्येतानि शरीरोपादानभूतानि इन्द्रियं चक्षुरादिप्रवृत्तावुपकरणं मनः प्रधानकारणम्। अन्नं तत्स्थितिकारणं तस्माच्चान्नादन्नं निमित्तीकृत्य वीर्यं शरीरहेतुभूतं तपो जीवस्य ज्ञानादिहेतुतया सुखसाधनं मन्त्राः ऋगादिवेदाः ज्ञानादिहेतवः कर्म पुण्यापुण्यलक्षणं सुखादिनिमित्तं लोकाः गोलका इन्द्रियाश्रयीभूताः। नाम च देवदत्तादय इत्येताः कलापुरुषेण सृष्टा इत्यर्थः ॥३-४॥

सान्वयानुवाद—सः = उसने, ईक्षांचक्रे = ईक्षण किया, कस्मिन् उत्क्रान्ते = किसके निकल जाने पर, अहम् उत्क्रान्तः = मैं निकल जाऊँगा, वा = तथा, कस्मिन् प्रतिष्ठिते = किसके स्थित रहने पर, प्रतिष्ठास्यामि इति = मैं प्रतिष्ठित रहूँगा सः = उसने, प्राणम् असृजत = प्राण की रचना की, प्राणात् श्रद्धाम् = प्राण को निमित्त करके श्रद्धा अर्थात् जीव की आस्तिक्य निष्ठा को उत्पन्न किया, खम्, वायुः, ज्योतिः, आपः, पृथिवी = आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी, मनः इन्द्रियम् = मन और चक्षु आदि इन्द्रियाँ, अन्नम् = अन्न, अन्नात् वीर्यम् = अन्न को निमित्त करके वीर्य शरीर के हेतुभूत, तपः = जीव के ज्ञानादि हेतुरूप से सुखसाधन, मन्त्राः = ऋग् आदि वेद सम्यक् ज्ञानादि के कारण, कर्म = पुण्यापुण्य शुभाशुभ, च लोकाः = और चौदह भुवन, लोकेषु नाम च = उन-उन लोकों में देवदत्त आदि नाम की रचना कलापुरुष ने किया है ॥३-४॥

व्याख्या—उस परमपुरुष परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम ने कल्प के आदि में कलाओं को बनाया है। उसने विचार किया कि शरीर से पुरुष के निकल जाने पर मैं भी निकल जाऊँगा और उसके स्थिर रहने पर मैं भी स्थिर रहूँगा। कौन मुझे वशीकरण करने में समर्थ भक्ति व ज्ञानादि से सम्पन्न है जिसको निमित्त करके मैं कलाओं का निर्माण करूँ ? इस प्रकार निश्चय करके उसने प्राण की रचना की। उसके बाद अज्ञानी पुरुषों

को शुभ कर्मों में प्रवृत्त कराने वाली श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य निष्ठा का सृजन किया। उसके बाद आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पाँच महाभूत शरीर के उपादान रूप हैं। उपाधि भेद से प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और अन्तःकरण ये पाँच मन की वृत्तियाँ हैं जो एक मन के ही अवान्तर भेद हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्दियाँ हैं। मन की एक वृत्ति अभिमान भी है। अभिमान का आधार शरीर है (श्रीमद्भा. ५।११।९)। उसके बाद अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, चौदह लोक और लोकों में सबके नाम तथा रूपों का कलापुरुष भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ने सृजन किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने पञ्चमहाभूतों से मनुष्य, पशु-पक्षी, ऋषि और देवता आदि के शरीररूप पुरों की रचना की है तथा वे ही इन पुरों में जीवरूप से शयन करते हैं, इससे उनका एक नाम 'पुरुष' है। (श्रीमद्भा. ७।१४।३०)

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—स दृष्टान्तः यथा लोके इमा नद्यः स्यन्दमाना = स्रवन्त्यः, समुद्रायणाः समुद्रायनं गतिरात्मभावो यासां ताः समुद्रात्मिकाः समुद्रात् पृथक् स्थितिप्रतिपत्तिका भूत्वा समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति अदर्शनं यान्ति तासां नदीनां नामरूपे गङ्गायमुना इत्यादिलक्षणे भिद्येते = विनश्यतः। तदेव दर्शयति—समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। तथाऽस्य परिद्रष्टुरनुभवितुर्जीवस्य भोगोपकरणभूता इमाः षोडशापि कला निरुपाधिक-पुरुषशब्दप्रतिपाद्यं पुरुषं वासुदेवं प्राप्यास्तं गच्छन्ति। भोगाय समर्था न भवन्तीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—पुरुषायणा इति। परमात्मसङ्कल्पाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिका इत्यर्थः। आसां कलानां नामरूपे नस्तः। तदेव स्पष्टयति—पुरुष इत्येवं प्रोच्यते एष जीवोऽकल इति प्रोच्यते। तत एवामृतो भवति। कलानिमित्तं हि मरणमस्येत्यर्थः। तत्परमात्म-स्वरूपमधिकृत्य वक्ष्यमाणः श्लोक इत्यर्थः ॥५॥

सान्वयानुवाद—सः = वह, यथा = जिस प्रकार, इमाः = ये, नद्यः = नदियाँ, स्यन्दमानाः = बहती हुई, समुद्रायणाः = समुद्र की ओर जाती हुई, समुद्रम् = समुद्र को, प्राप्य = पाकर, अस्तं गच्छन्ति = अदर्शन हो जाती हैं, च = और, आसाम् = इनके, नामरूपे = नाम-रूप, भिद्येते = विनष्ट हो जाते हैं, समुद्रः इति एवम् = यह समुद्र है इस प्रकार, प्रोच्यते = कहा जाता है, अस्य परिद्रष्टुः = सब ओर से देखने वाला इस (जीव का), इमाः = ये, षोडशकलाः = सोलह कलाएँ, पुरुषायणाः = जिनका परमात्मा के अधीन स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति है, पुरुषम् = परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम को, प्राप्य = पाकर, अस्तं गच्छन्ति = भोग के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं, च = और, आसाम् = इनके, नामरूपे = नाम-रूप, भिद्येते = नहीं होते हैं, पुरुषः इति एवम् = यह पुरुष है इस प्रकार, प्रोच्यते = कहा जाता है, सः एषः = वही यह,

अकलः = कलारहित, अमृतः = मृत्युरहित, भवति = होता है, तत् एषः श्लोकः = उस परमात्मस्वरूप का अधिकार करके कहा जानेवाला यह श्लोक है ॥५॥

व्याख्या—जिस प्रकार लोक में नदियाँ बहती हुई समुद्र अयन गमनात्मभाव जिनके वे (नदियाँ) समुद्रात्मिका समुद्र से अलग स्थिति प्रतिपत्तिका होकर समुद्र को पाकर अदर्शन (लोप) हो जाती हैं। उन नदियों के गङ्गा तथा यमुना इत्यादि लक्षण विनष्ट हो जाते हैं। वैसे ही अनुभव करनेवाले जीव का भोगों के उपकरणरूप पहले मन्त्र में बतायी हुई सोलह कलाएँ भी निरुपाधिक पुरुषशब्दप्रतिपाद्य पुरुष वासुदेव को पाकर भोग के लिए समर्थ नहीं हो सकता है। उसमें हेतु देते हैं—पुरुषायणाः अर्थात् परमात्मा के ही सङ्कल्पाधीन स्वरूप-स्थिति-प्रवृत्तिवाले हैं। उस समय इन सोलह कलाओं के नाम-रूप नहीं होते। यह जीव अलग (कलारहित) है—ऐसा कहा जाता है, उसके बाद अमृत होता है। कलानिमित्त ही इसका मरण है। उस परमात्मस्वरूप का अधिकार करके बताया जाने वाला यह मन्त्र है—॥५॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति ॥७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥८॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—अरा रथनाभाविव कलाः = प्राणाद्या यस्मिन् प्रतिष्ठितास्तं वेद्यं पुरुषार्थकामैर्ज्ञातव्यं पुरुषं = वासुदेवं वेद यथा जानीध्वं हे शिष्या इति कस्यचिद्वाक्यम्। ततश्च मृत्युः संसारो वो युष्मान् मा परिव्यथाः = मा परिव्यथयतु परमपुरुषाज्ञाने संसारव्यथा भवेत् सा भवतां मा भवत्विति। एतत् प्रश्नवचनार्थं प्रसङ्गादुपसंहरति—अत इति। एवं पिप्पलादस्तेभ्यस्तत्त्वमुपदिश्य तान् भारद्वाजादीन् प्रत्युवाच। किल एतत्। उक्तलक्षणं परं ब्रह्म अहमेतावदुक्तमात्रमेव वेद नातः परं मया विदितमस्तीति। एवमुपदिष्टास्ते मुनयस्तमाचार्यमर्चयन्तः प्रणामादिना पूजयन्तः इदमूचुः। भगवंस्त्वं हि नः पिता = निरुपाधिकोपकारकः कथं यस्त्वमस्माकम्। अविद्यायाः परं पारं तारयसि = अतारयः। को हि नामैवमुपकुर्यादिति। एतमाख्यायिकां समाप्य वेदपुरुषः शिष्यशिक्षार्थमाह-नमः परमऋषिभ्यः। द्विर्वचनमादरार्थम्।

अनादिनिवृत्तपथप्रवर्त्तकब्रह्मविद्योपदेशकलोकाचार्यश्रीसनन्दनादिप्रवर्तितश्री १०८
महामुनीन्द्रभगवन्निम्बार्काचार्यचरणोपबृंहितवैदिकसत्सम्प्रदायानुगतपूज्यपाद-
निखिलरसिकचूडामणिश्री १०८ स्वामिहरिदासपदाश्रिताश्रितपरम-
विरक्तमहानुभावश्री १०८ स्वामिनीशरणपादपद्मचञ्चरीकेण विदुषा
श्रीअमोलकरामेण पूर्वाचार्योक्तितः संगृहीता तत्त्वप्रकाशिका-
टीकासंवलिता इति प्रश्नोपनिषद्।

सान्वयानुवाद—इव (यथा) = जिस प्रकार, रथनाभौ = रथ की नाभि पर, अराः = अरे लगे रहते हैं, (तथा) यस्मिन् = जिसमें, कलाः = कलाएँ, प्रतिष्ठिताः = प्रतिष्ठित हैं, तम् वेद्यम् पुरुषम् = उस जानने योग्य पुरुष को, वेद = जानो, यथा = जिससे, (हे शिष्यो !) वः = तुम लोगों को, मृत्युः = मृत्यु, मा परिव्यथाः = व्यथा (कष्ट) न दे सके ॥ तान् ह उवाच = उन शिष्यों से महर्षि ने स्पष्ट कहा— एतत् परम् ब्रह्म = इस परम ब्रह्म को, अहम् = मैं, एतावत् एव = इतना ही, वेद = जानता हूँ, अतः परम् = इससे आगे, न अस्ति इति = नहीं है ॥ ते = उन छः मुनियों ने, तम् अर्चयन्तः = आचार्य पिप्पलाद का पूजन किया, त्वम् हि = आप ही, नः = हमारे, पिता (हैं), यः = जिन्होंने, अस्माकम् = हम लोगों को, अविद्यायाः = अविद्या के, परम् पारम् = दूसरे पार, तारयसि इति = पहुँचा दिया है, नमः परमऋषिभ्यः = श्रेष्ठ ऋषि के लिये नमस्कार है, नमः परमऋषिभ्यः = श्रेष्ठ ऋषि के लिये नमस्कार है ॥६-८॥

व्याख्या—जिस प्रकार रथ के पहिये में लगे रहने वाले सारे अरे उस पहिये के बीच नाभि में घूसे रहते हैं उसी प्रकार ऊपर बतायी हुई प्राण आदि सोलह कलाएँ जिसमें सर्वथा स्थित हैं—पुरुषार्थ को चाहने वाले व्यक्ति को उन परमपुरुष वासुदेव को जानना चाहिये। उन्हें जान लेने के बाद यहाँ तक कि मृत्यु तुम सबों को देखकर ही भागने लगेगी। अज्ञान में ही संसार की व्यथा होती है-वह तुम लोगों को न हो। हे शिष्यो ! ऐसी परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम की अद्भुत महिमा है। इस प्रकार महर्षि पिप्पलाद ने उन छहों मुनियों को तत्त्व का उपदेश करके उन भारद्वाज आदि से कहा—बताये गये लक्षण युक्त परब्रह्म को मैं इतना मात्र ही जानता हूँ, इससे परे मैं नहीं जानता। इस प्रकार उपदिष्ट उन छः मुनियों ने आचार्य पिप्पलाद का प्रणाम आदि के द्वारा पूजन किया और इस प्रकार बोले—हे भगवन् ! आप ही हमारे निरपेक्ष हितकारी पिता है, क्योंकि आपने हमें इस दुस्तर संसारसागर के पार पहुँचा दिया है। इस प्रकार आख्यायिका का समापन करके वेदपुरुष शिष्यों के शिक्षार्थ परम ऋषियों को नमस्कार करते हैं—नमः परमऋषिभ्यः। द्विवचन आदरार्थ है।

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्याग-
मूर्त्तिस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबा तर्क-तर्कव्याकरणतीर्थपाद-
पद्मान्तेवासी योगिराजस्वामि राधाविहारिदासजी काठियाबाबा-
चरणारविन्दचञ्चरीक डॉ. स्वामी द्वारकादासजी
काठियाबाबा कृत अन्वयार्थ-तत्त्वप्रभा
नाम्नी हिन्दी टीका में अथर्ववेदीय
प्रश्नोपनिषद् समाप्त।

●

मुण्डकोपनिषद्

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अर्थ—हे देवगण ! हम अपने कानों से भद्र–कल्याणकारी शब्द श्रीभगवान् की कथा का ही सुनें, आँखों से हम सभी जगहों पर उन्हीं का ही दर्शन करें, हम स्थिर अङ्गों से प्रेमपूर्वक नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर शरीर-मन-वाणी से श्रीभगवान् की स्तुति (स्तवन) प्रतिदिन करते रहें। हमारी आयु का सदुपयोग प्रभु के लिए ही हों, भगवदनुकूल कर्म का सङ्कल्प और उनके प्रतिकूल कर्म का वर्जन करें। वे परममङ्गलमय यशोमूर्त्ति, परमैश्वर्यवान्, सबके गुरु, बुद्धि के प्रवर्त्तक, सभी को जानने वाले, विश्व का भरण-पोषण करने वाले, अरिष्टों को मिटाने के लिये चक्र के समान शक्तिशाली, गरुडासन रमापति भगवान् कृष्ण हमारी सदा रक्षा करें। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ये तीन प्रकार के तापों की शान्ति हो।

वन्दे कृष्णं परं ब्रह्म परविद्यामपीश्वरम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण सर्वं विज्ञायते ध्रुवम् ॥१॥
श्रीनिम्बार्कमताम्भोधिकौस्तुभोद्धारकृद्गुरुः ।
श्रीनिवासाचार्यवर्यः श्रेयसे मेऽस्तु भूयसे ॥२॥
श्रीमुकुन्दं प्रणम्याथ सम्प्रदायानुसारतः ।
मिता सङ्गृह्यते व्याख्या मुण्डकानां स्वबुद्धये ॥३॥

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथ विद्याप्राप्तावत्यायासं द्योतयन्ती श्रुतिस्तत्प्ररोचनार्थामाख्यायिकां स्वयमेव स्तुत्यर्थमाह—ब्रह्मेति। ब्रह्मा परिवृढः। 'ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पते। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च स्वतः सिद्धं चतुष्टयम्' ॥ इत्यादिस्मृतेरैश्वर्यादिभिः सर्वानतिक्रम्य वर्तमानो देवानां = द्योतमानानामिन्द्रादीनां प्रथमोऽग्रे शुक्रशोणितसंयोगमन्तरेण सम्बभूव = सम्यक् प्रादुर्भूतः। विश्वस्य = सर्वस्य भुवनस्य कर्तोत्पादकः। उत्पन्नस्य तस्य गोप्ता = रक्षकश्च, स एवम्भूतो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां = परमात्मविद्यां

सर्वविद्यानां प्रतिष्ठामाश्रयभूतां ब्रह्मणि ज्ञाते सर्वज्ञातव्यान्तर्भावात् ब्रह्मज्ञाने सर्वज्ञानानामन्तर्भूतत्वात्तस्याः सर्वविद्याश्रयत्वमथर्वनाम्ने ज्येष्ठपुत्राय प्राह = उक्तवानित्यर्थः ॥१॥

सान्वयानुवाद—ब्रह्मा = चार मुख वाले ब्रह्माजी, विश्वस्य कर्ता = सबके कर्ता अर्थात् सबको उत्पन्न करने वाले, भुवनस्य गोप्ता = उनकी रक्षा करने वाले ('लोकानु भुवने जने'), देवानाम् = (ब्रह्माजी) देवताओं में, प्रथमः = पहले, सम्बभूव = हुए, सः = उन्होंने, ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय = बड़े पुत्र अथर्वा को, सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् = समस्त विद्याओं की आश्रयरूपा, ब्रह्मविद्याम् प्राह = ब्रह्मविद्या का उपदेश किया ॥१॥

व्याख्या—परिपूर्णानन्द पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के ही नाभिकमल से ब्रह्माजी का आविर्भाव हुआ है (श्रीमद्भा. १०।४०।१)। जिस समय तीनों लोक प्रलयकालीन जल में डूबे थे उस समय इन्द्र आदि देवताओं में सर्वप्रथम शुक्र-शोणित के संयोग बिना ही ब्रह्मा का जन्म हुआ। जिन्होंने इन चराचर लोकों की सृष्टि की है। उन सब लोकों के संरक्षक भी स्वयं वे ही हैं। इस प्रकार ब्रह्माजी ने परमात्मविद्या जो समस्त विद्याओं का आश्रय रूप है, ब्रह्म को जान लेने पर समस्त ज्ञातव्य अन्तर्भाव हो जाता है। अथर्वा नामा ब्रह्माजी के सबसे बड़े पुत्र थे, उन्हीं को ब्रह्मा जी ने इस ब्रह्मविद्या का सम्यक् उपदेश किया था ॥१॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥
शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथर्वणे यामेतां ब्रह्मा प्रवदेत = प्रावदत्। तामेव ब्रह्मविद्यां अथर्वानामा पुरा पूर्वमङ्गिर्नाम्ने ऋषये प्रोवाच। स चाङ्गिर्नामा भारद्वाजगोत्रीयसत्यवहनाम्ने उक्तवान्। भारद्वाजोऽङ्गिरसे स्वशिष्याय परस्मादवरेणावरेण प्राप्तां परावरसर्वविद्याव्याप्तां वा परावरां प्राहेत्यनुषङ्गः ॥२॥ शुनकपुत्रः ह वै प्रसिद्धो महाशालः = महागृहस्थोऽङ्गिरसं विधिवत् = समित्पाणित्वादिशास्त्रीयनियमानतिक्रमेणोपसन्नः = उपगतः सन्पप्रच्छ। किमित्याह-कस्मिन्निति। हे भगवः ! भगवन्नित्यस्य 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' इत्यनेन तस्य रुः। 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति'। इत्युक्तसर्वभूतोत्पत्त्यादिविदित्यर्थः। कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं = कार्यजातं विशेषेण ज्ञातं भवतीति। यथा स्वर्णपिण्डे विज्ञाते सर्वं तन्मयं विज्ञातं भवति। एवं कस्मिंश्चिद् वस्तुनि विज्ञाते सर्वं तत्कार्यजातं विज्ञातं भवतीति। शिष्टप्रवादो मया श्रुतस्तादृशं सर्वनिमित्तोपादानभूतं वस्तु किमिति प्रश्नेऽभिप्रायः ॥३॥

सान्वयानुवाद—ब्रह्मा = ब्रह्माजी ने, अथर्वणे = अथर्वा को, याम् = जिस विद्या का, प्रवदेत = उपदेश दिया था, ताम् ब्रह्मविद्याम् = उसी ब्रह्मविद्या को, अथर्वा = अथर्वा ने, अङ्गिरे = अङ्गी मुनि से, प्रोवाच = कहा था, सः = वह अङ्गी मुनि

, भारद्वाजाय = भारद्वाजगोत्रीय, सत्यवहाय = सत्यवह नामक मुनि को, प्राह = पदेश दिया था, भारद्वाज: = भारद्वाज ने, परावराम् = पहले वालों से बादवालों को ाप्त हुई उस परम्परागत विद्या को, अङ्गिरसे = अङ्गिरा नामक ऋषि से (प्राहेत्यनुषङ्ग:) हा। शौनक: ह वै = शौनक मुनि प्रसिद्ध, महाशाल: = महान् सद्गृहस्थ थे, वधिवत् = शास्त्रीय नियमानुसार, अङ्गिरसम् उपसन्न: = अङ्गिरा ऋषि के पास जाकर, प्रच्छ = पूछा, भगव: = हे भगवन् ! कस्मिन् नु विज्ञाते = किसके जाने पर, इदम् र्वम् = यह सब, विज्ञातम् भवति = विज्ञात (मालूम) हो जाता है ।।२-३।।

व्याख्या—अथर्वा ऋषि को जो परमात्मविद्या ब्रह्माजी से प्राप्त हुई थी वही विद्या उन्होंने अङ्गी ऋषि को बतलाई और अङ्गी ने भारद्वाजगोत्रीय सत्यवह नामक ऋषि को कही। भारद्वाज ऋषि ने परम्परा से चली परा व अपरा दोनों विद्याओं का उपदेश अपने शिष्य अङ्गिरा को दिया। शौनक नाम से प्रसिद्ध एक महर्षि थे, जो बड़े सद्गृहस्थ विश्वविद्यालय के कुलपति थे। पुराणों के अनुसार उनके गुरुकुल में अट्ठासी हजार ऋषि-मुनि रहते थे। वे उपर्युक्त ब्रह्मविद्या को जानने के लिये शास्त्रीय नियम के अनुसार हाथ में समिधा लेकर महर्षि अङ्गिरा के समीप गये। उनसे पूछा—हे भगवन्! किसकी विशेष जानकारी से यह सब जान लिया जाता है ? जिस प्रकार सोने के एक टुकड़े को जान लेने पर सब स्वर्णमय जाना हुआ हो जाता है, इस प्रकार किसी वस्तु के जान लिये जाने पर सब उसका कार्यसमूह जाना हुआ हो जाता है। जैसा शिष्टप्रविवाद मैंने सुना है वैसे ही सबके निमित्तोपादानरूप वस्तु कौन है ? क्या है ? इस प्रश्न में मेरा यही अभिप्राय है ।।४।।

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।।४।।

तत्त्वप्रकाशिका—तस्मै शौनकाय स: अङ्गिरा ह किलोवाच। किमिति तत्राह–द्वे इति। यद्वस्तुप्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदितव्ये परोक्षापरोक्षरूपे द्वे ज्ञाने उपादातुं योग्ये। इत्येवं ह स्म किल ब्रह्मविद: = वेदार्थाभिज्ञा: पराशरादयो वदन्ति।

'तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने।
आगमोत्थविवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते' ।।

शब्दागमोत्थमपरं परं ब्रह्म विवेकजम्। इत्यादिना। तस्मिन् वस्तुनि विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीत्यर्थ:। विद्ये वेदितव्ये इति ओदनपाकं पचतीतिवन्निर्देश:, के ते इत्याह–परेति। परोक्षमपरोक्षं चेति द्विविधं ज्ञानमित्यर्थ: ।।४।।

सान्वयानुवाद—तस्मै = उन शौनक मुनि से, स: ह उवाच = वे स्पष्ट बोले, ब्रह्मविद: = वेदों के अर्थों को भलीभाँति जानने वाले, इति = इस प्रकार, यद् = जो वस्तु, वदन्ति = कहते हैं, द्वे विद्ये = दो विद्याएँ, एव = ही, वेदितव्ये = जानने योग्य हैं, परा च = एक परा, अपरा च = और दूसरी अपरा ।।४।।

व्याख्या—शौनक से अङ्गिरा बोले—जो वस्तु जानने की आवश्यकता है परोक्ष और अपरोक्ष रूप दो ज्ञान उपादान के लिए योग्य हैं। वेदों के अर्थों को जानने वाले पराशर आदि महर्षि कहते हैं—हे महामुने! श्रीभगवान् की प्राप्ति हेतु ज्ञान और कर्म बताया गया है। आगम से उत्पन्न विवेक से दो प्रकार का ज्ञान वैसे ही कहा जाता है। शब्दागम से उत्पन्न तथा विवेक से उत्पन्न पर-अपर ब्रह्म को जाना जाता है। अतः परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार का ज्ञान (विद्या) जानने योग्य तत्त्वजिज्ञासु व्यक्ति के लिए बताया गया है ॥४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—तत्रापरविद्यास्वरूपमाह—तत्रापरेति। साङ्गसशिरस्कवेदश्च वर्णादिजन्यपरोक्षज्ञानमपरविद्येत्यर्थः। तत्र शिक्षा = वर्णनिर्णयपरा, कल्पः = सूत्रग्रन्थः, अनुष्ठेयश्रौतस्मार्तक्रमप्रतिपादनपरः। व्याकरणं = स्वरवर्णपदादिसमर्थनपरम्। निरुक्तं = पूर्वार्थप्रतिपादकम्। छन्दः = चानुष्टुप् त्रिष्टुबादिकम्। ज्योतिः = शास्त्रं चाध्ययनानुष्ठानादिकालनिर्णयपरम्। परविद्यामाह-अथेति। सूचीकटाहन्यायेनापरविद्याकथनानन्तरं परविद्योच्यते। यया = येन ज्ञानेन तत्पूर्ववाक्येन यच्छब्दनिर्दिष्टमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते साक्षात्क्रियते सा 'परा' विद्या परब्रह्मश्रीपुरुषोत्तमवेदनासाधारणवेदान्तविचारजन्यमपरोक्षज्ञानं परविद्येत्यर्थः। निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते, तस्मिन् दृष्टे परावरे इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ॥५॥

सान्वयानुवाद—तत्र = उन दोनों में से, ऋग्वेदः = ऋग्वेद, यजुर्वेदः = यजुर्वेद, सामवेदः = सामवेद, अथर्ववेदः = अथर्ववेद, शिक्षा = शिक्षा, कल्पः = कल्प, व्याकरणम् = व्याकरण, निरुक्तम् = निरुक्त, छन्दः = छन्द, ज्योतिषम् = ज्योतिष, इति अपरा = ये सब अपरा विद्या हैं। अथ = तथा, यया = जिससे, तत् अक्षरम् = वह अक्षर (ब्रह्म), अधिगम्यते = साक्षात्कार किया जाता है, (सा = वह) परा = परा विद्या है ॥५॥

व्याख्या—उन दोनों में से अपराविद्या का स्वरूप बतलाते हैं—शिक्षा आदि छः अङ्गों के साथ ऋग्वेद आदि ये चारों वेद और वर्ण आदि से जन्य परोक्ष ज्ञान अपरा विद्या है। वर्णों का निर्णय अर्थात् सही उच्चारण करके पाठ करना शिक्षा है। अनुष्ठान करने योग्य श्रौत तथा स्मार्त याग-यज्ञादि कार्यक्रम का प्रतिपादन करनेवाला सूत्रग्रन्थ कल्प है। लौकिक और वैदिक शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय विभागपूर्वक साधनिका-प्रक्रिया, शब्दार्थ का निर्णय, शब्दप्रयोग तथा स्वर-वर्ण-पदादि का समर्थन करने वाला व्याकरण है। लौकिक तथा वैदिक शब्दों का प्रतिपादन करने वाले को 'निरुक्त' कहते हैं (अमर, विश्वकोष आदि)। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् आदि छन्द हैं। शास्त्र अध्ययन, अनुष्ठान आदि का समय विचार करने वाले को 'ज्योतिष' विद्या कहते हैं। सूचीकटाह न्याय से अपरा विद्या कहने के बाद पराविद्या का स्वरूप बतलाते हैं—जिस ज्ञान के द्वारा अर्थात् वह

हले वाक्य में जो शब्द निर्देश किया गया है—अक्षर की प्राप्ति अर्थात् साक्षात्कार ोता है वह 'परा' विद्या परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम का ज्ञान असाधारण वेदान्त विचार जन्य अपरोक्ष ज्ञान ही 'परा' विद्या है। जैसे—जीव भगवान् श्रीपुरुषोत्तम का दर्शन करके मृत्यु से हमेशा के लिए छूट जाता है ॥५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—परविद्यागम्यमक्षरं सिद्धवद् बुद्धौ संहृत्य परामृशति—यत्तदिति। यत्तत्सर्वशास्त्रप्रसिद्धमक्षरमद्रेश्यमदृश्यं ज्ञानेन्द्रियैरियत्तया द्रष्टुमशक्यम्। अग्राह्यम् = कर्मेन्द्रियैरियत्तया गृहीतुमशक्यम्। यद्वाचाऽनभ्युदितमित्यादिश्रुत्यन्तरात्। अगोत्रम् = मूलरहितं सर्वमूलरूपत्वात् कुलहीनं वा। अवर्णम् = ब्राह्मणादिरहितम्। अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं = जीवानामिव ज्ञानकर्मेन्द्रियानधीनविषयज्ञानम्। अनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति, सर्वतः शृणोति, सर्वतः आदत्ते इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। नित्यम् = आद्यन्तशून्यम्। विभुम् = व्यापकम्। सर्वगतम् = सर्वस्यान्तः प्रविश्य स्थितम्। तत्र हेतुमाह—सुसूक्ष्ममिति। अथ परा ययेत्यक्षरशब्दनिर्दिष्टं यत् तदव्ययम् = अविनाशि, यत् भूतानां सर्वेषां योनिमुपादानकारणम्, धीराः = विवेकिनः, परिपश्यन्ति = जानन्तीत्यर्थः ॥६॥

सान्वयानुवाद—तत् = वह, यत् = जो, अद्रेश्यम् = देखने में न आनेवाला, अग्राह्यम् = पकड़ने में न आने वाला, अगोत्रम् = गोत्ररहित, अवर्णम् = ब्राह्मणादिरहित, अचक्षुः श्रोत्रम् = आँख व कानों से रहित, अपाणिपादम् = हाथ और पैर से रहित, तत् = वह, यत् = जो, नित्यम् = नित्य, विभुम् = विभु, सर्वगतम् = सभी जगहों में रहने वाला, सुसूक्ष्मम् = सुसूक्ष्म, अव्ययं = व्ययरहित, तत् = उस, भूतयोनिम् = प्राणियों के कारण को, धीराः = धीर पुरुष, परिपश्यन्ति = सभी जगह देखते हैं ॥६॥

व्याख्या—परविद्या से प्राप्य अक्षर का सिद्धवत् बुद्धि में संहरण करके परामर्श करते हैं—वह जो समस्त शास्त्रप्रसिद्ध अक्षर (ब्रह्म) है, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा इयत्ता से उसको कोई देख नहीं सकता और कर्मेन्द्रियों के द्वारा इयत्ता से पकड़ नहीं सकता। वह सबका मूल रूप है, ब्राह्मण आदि वर्ण से रहित है। वह जीवों की भाँति ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों के अधीन है, इन्द्रियरहित होते हुए भी सबको देखता है, सब सुनता है, भक्ति से समर्पित पत्र, पुष्प, फलादि को ग्रहण करता है। आदि एवं अन्त से शून्य, सर्वव्यापक, सब के भीतर में स्थित, अविनाशि, समस्त प्राणियों के उपादानकारण को विवेकी जन जानते हैं ॥६॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्षो इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—तस्य सर्वान्तर्यामितया सर्वव्यापकत्वाद् भूतयोनिशब्दितसर्वोपादानत्वमुपपादयन्नाह—यस्मादिति। यस्मात्परम् = उत्कृष्टम्, नापरम् = अन्यत्किञ्चिन्नास्ति। यस्मादणीयो ज्यायश्च कश्चित् = किञ्चिदपि नास्ति, लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। तस्यैव सर्वव्यापितया सर्वेशितृतया च सूक्ष्मत्वज्यायस्त्वयोः सम्भवात्। वृक्ष इव स्तब्धः = अप्रणतस्वभावः स्वान्यरम्यवस्त्वभावात्। एकश्चिन्मुख्यः सन् दिवि = व्योम्नि तिष्ठति तेन पुरुषेण सर्वान्तः प्रविश्य नियन्त्रा इदम् = चिदचिदात्मकं विश्वं पूर्णम् = व्याप्तमित्यर्थः ॥७॥

सान्वयानुवाद—यस्मात् परम् = जिससे उत्कृष्ट, अपरम् = दूसरा, किञ्चित् = कुछ भी, न = नहीं, अस्ति = है, यस्मात् = जिससे, कश्चित् = कोई भी, न अणीयः = न तो अणु है, न ज्यायः = और न महान्, अस्ति = है, एकः = अद्वितीय, दिवि = आकाश में, तिष्ठति = खड़ा है, वृक्षः इव = पेड़ की भाँति, तेन पुरुषेण = उस पुरुष (श्रीपुरुषोत्तम) से, इदम् = यह, सर्वम् = सारा चराचर जगत्, पूर्णम् = व्याप्त है ॥७॥

व्याख्या—श्रुति उस परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम का सर्वान्तर्यामीरूप से सर्वव्यापकत्व होने से भूतों का योनि शब्द से कहे गये सबों का उपादानत्व उपपादन करती हुई कहती है—उन परमेश्वर श्रीपुरुषोत्तम से परम–उत्कृष्ट दूसरा कुछ है ही नहीं, क्योंकि वे अणीय हैं; सभी प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से निवास करते हैं। अतः उनसे अधिक कुछ भी नहीं है। ब्रह्म में ही सर्वव्यापित्व और सर्वनियन्तृत्व ये दोनों धर्म हैं, दूसरे किसी में नहीं है। वे सर्वव्यापक रूप से अणीय (सूक्ष्म) हैं और सर्वनियन्ता रूप से ज्याय (श्रेष्ठ) हैं। वृक्ष के समान स्तब्ध नीचे की ओर बिना झुके रहते हैं, अपने समान दूसरी रमणीय वस्तु न होने से। एक मुख्य होकर आकाश में स्थित रहते हैं, सबों के अन्दर प्रवेश कर उन नियन्ता पुरुष से यह समस्त जड़-चेतन विश्व व्याप्त है ॥७॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदुक्तं योनिशब्दस्योपादानपरत्वं तद्दृष्टान्तैरुपपादयन्नाह—यथेति। ऊर्णनाभिर्लूताकीटविशेषः सहायान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेवाप्रच्युतस्वरूपतया ऊर्णां स्वान्तः स्थितस्तन्तून् सृजते स्थूलतया बहिः प्रसारयति, पुनस्तान् गृह्णते गृह्णाति च। यथा चाप्रच्युतस्वरूपायां पृथिव्यां विलक्षणा अनन्ता व्रीह्यादिस्थावरान्ता औषधयः सम्भवन्ति। यथा च सतः जीवतः पुरुषादन्नमयात् केशलोमानि विलक्षणानि सम्भवन्ति। तथाऽक्षराद् ब्रह्मणः पूर्वोक्तलक्षणादप्रच्युतस्वरूपादेव निमित्तान्तरानपेक्षादुपादेयविलक्षणान्निर्विकारात् विश्वं समस्तं जगत् परस्परविलक्षणं सम्भवति इह संसारमण्डले ॥८॥

सान्वयानुवाद—यथा = जिस प्रकार, ऊर्णनाभिः = मकड़ी, सृजते = जाले को बनाती है, च = और, गृह्णते = निगल जाती है, यथा = जिस प्रकार, पृथिव्याम् =

पृथिवी पर, ओषधयः = ओषधियाँ, सम्भवन्ति = सम्यक् उत्पन्न होती हैं, यथा = जिस प्रकार, सतः पुरुषात् = जीवित पुरुष से, केशलोमानि = केश व लोम उत्पन्न होते हैं, तथा = उसी प्रकार, अक्षरात् = अक्षर अविनाशी ब्रह्म से, इह = इस संसारमण्डल में, विश्वम् सम्भवति = जगत् सम्यक् रूप से उत्पन्न होता है ॥८॥

व्याख्या—पीछे बताये गये योनिशब्द के उपादान कारण का दृष्टान्तों के द्वारा श्रुति उपपादन करती हुई कहती है—लूता कीट-विशेष मकड़ी दूसरे की सहायता की अपेक्षा न करके स्वयं ही अप्रच्युत स्वरूप से अपने पेट के अन्दर रहने वाले जाले को बनाती है, स्थूलरूप से बाहर फैलाती है फिर उसे निगल जाती है। जिस प्रकार अप्रच्युत स्वरूप पृथवी पर विलक्षण असंख्य व्रीहि (अन्न) आदि औषधियाँ उत्पन्न होती हैं; जिस प्रकार जीवित अन्नमय पुरुष से केश, रोएँ व नख विलक्षण उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार पहले कहे गये लक्षणों के अनुसार अप्रच्युत स्वरूप से ही दूसरे की सहायता की अपेक्षा न करने वाले निर्विकार निर्दोष अविनाशी अक्षर ब्रह्म से ही यह अचिन्त्य विचित्र संस्थानविशिष्ट असंख्य नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न होता है ॥८॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—ततो जगदुत्पत्तिप्रकारमाह—तपसेति। 'तपसा यस्य ज्ञानमयं तप' इति वक्ष्यमाणेन 'बहु स्याम्' इति सङ्कल्परूपज्ञानेन ब्रह्म चीयते = उपचीयते सृष्ट्युन्मुखं भवति। ततो ब्रह्मणः सकाशात् अद्यतेऽत्ति च भूतानीत्युक्तस्वरूपं भोग्यभोक्तृलक्षणचिदचित्सङ्घातरूपमव्याकृतमभिजायते। अन्नादन्नशब्दितादव्याकृतात्प्राणो देहधारणः मनःशब्दोपलक्षितमन्तःकरणं सत्यशब्दितो जीववर्गः, लोकाः = भूरादयः, कर्मसु मध्ये अमृतत्वं च मोक्षसाधनं कर्म चाभिजायते ॥९॥

व्याख्या—सृष्टि की वृद्धि चाहनेवाले स्वयं श्रीभगवान् दक्ष से कहते हैं—'तपो मे हृदयं ब्रह्मन्'। (श्रीमद्भा. ६।४।४६) अर्थात् हे ब्रह्मन्! तप मेरा हृदय है। ब्रह्म सङ्कल्परूप ज्ञान के द्वारा सृष्टि की ओर उन्मुख होते हैं। समस्त भूत-प्राणी जो खाते हैं वह अन्न है (अद्यते = अत्ति च भूतानि)। उस ब्रह्म से भोग्य-भोक्तृ लक्षण अचित् = जड़, चित् = चेतन सङ्घातरूप अव्याकृत उत्पन्न होता है। अन्न शब्द से प्राण, मन शब्द से उपलक्षित अन्तःकरण, सत्य शब्द से जीववर्ग, लोक शब्द से भू आदि कर्मों के मध्य में मोक्ष का साधन कर्म उत्पन्न होता है ॥९॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते। तदेतत्सत्यम् ॥१०॥

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—तस्य जगत्सृष्ट्युपयोगिसार्वज्ञ्यं दर्शयन् पूर्वोक्ततपःशब्दं विवृणोति—य उक्तलक्षणो भूतयोनिः सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः = विशेषेण सर्वं

वेत्तीति। सर्वदेशकालवस्तुविषयकप्रत्यक्षानुभूतिमत्त्वं तस्यात्र विधीयते। यस्य ज्ञानमयं ज्ञानमेव तपः। तस्मात् सर्वज्ञाद् ब्रह्मणः तद् ब्रह्म अव्याकृतापरपर्यायं 'मम योनिर्महद्ब्रह्मे'ति भगवदुक्तेः त्रिगुणात्मकमव्यक्तं नामरूपयुक्तम्, अन्नं ततोऽन्नमभिजायते इत्यन्नशब्दनिर्दिष्टं भोग्यभोक्तृरूपचिदचित्सङ्घातलक्षणं जायते इति पूर्वोक्तस्यैवानुवादः। तदेतत्सत्यम्। यद्विषयके विद्ये वेदितव्ये तत् उत्पत्त्यादिषड्भावविकाररहिततत्त्वे सति कालत्रयाबाध्यम् ॥१०॥

इति प्रथमः खण्डः ॥१॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, सर्वज्ञः = सर्वज्ञ, सर्ववित् = सर्ववेत्ता (है), यस्य = जिसका, ज्ञानमयम् तपः = ज्ञानमय तप (है), तस्मात् = उस भगवान् श्रीपुरुषोत्तम से, एतत् ब्रह्म = यह जगद्ब्रह्म, च = और, नामरूपम् अन्नम् = नामरूप अन्न, जायते = उत्पन्न होता है, तद् = वह, एतत् = यह, सत्यम् = सत्य है ॥१०॥

व्याख्या—जो ब्रह्म का स्वरूप बताया गया भूतों की योनि सामान्यरूप से सबको जानते हैं तथा विशेष रूप से सबको जानते हैं। अर्थात् वे सभी देश में सदा-सर्वदा रहते हैं, तीनों काल में रहते हैं, सभी विषय वस्तुओं को अपने नेत्रों से देखते हैं। वे प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले एककालावच्छेदेन सर्वदेशकालवस्तु विषयक ज्ञानवान् हैं। वस्तुत यह दृश्यमान जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है। जैसे कि देवर्षि नारद ने श्रीमद्भागवत (१।५।२०) में कहा है—'इदं हि विश्वं भगवान्'। उन्हीं भगवान् श्रीपुरुषोत्तम से त्रिगुणात्मक अव्यक्त नाम-रूप से युक्त अन्न उत्पन्न होता है। जिनके बारे में दो विद्याएं जानने योग्य है; वे जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिवर्त्तन, अपक्षय और विनाश—इन छः भावविकारों से शून्य होते हुए भी तीनों कालों में सत्य हैं ॥१०॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयः खण्डः

मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—मन्त्रेषु = ऋग्वेदादिषु, कर्माणि = अग्निहोत्रादीनि, कवयः = मनीषिणो यानि अपश्यन् तानि त्रेतायां = त्रेतायुगे, बहुधा = बहुप्रकारं, सन्ततानि = प्रवृत्तानि। यूयं सत्यकामाः = सत्यं ब्रह्मैव कामयमानाः फलानुसन्धानरहिता मुमुक्षवः सन्तो नियतमाचरथ = नित्यमनुतिष्ठत। निष्कामकर्माणि ह्यन्तःकरणशुद्धिपूर्वकज्ञानोत्पादनेन तद्द्वारा ब्रह्मप्राप्तिहेतवो भवन्ति। कर्मफलप्रेप्सून् प्रत्याह—एष इति। वः = युष्माकं, सुकृतस्य = सुष्ठु स्वयं निवर्त्तितस्य कर्मणो लोक्यते दृश्यते भुज्यते इति लोकः, कर्मफलं तत्प्राप्तये तु एष वक्ष्यमाणो मार्ग इत्यर्थः ॥१॥

सान्वयानुवाद—कवयः = कवियों ने, यानि = जिन, कर्माणि = कर्मों को, न्त्रेषु = मन्त्रों में, अपश्यन् = देखा था, तानि = वे, त्रेतायाम् = त्रेतायुग में, बहुधा = नेक प्रकार से, सन्ततानि = प्रवृत्त हुए, सत्यकामाः = सत्य को चाहने वाले, तानि = नका, नित्यम् = प्रतिदिन, आचरथ = आचरण करो, लोके = लोक में, वः = तुम्हारे लये, एषः = यही, सुकृतस्य = सुकर्म का, पन्थाः = मार्ग है ॥१॥

व्याख्या—मनीषियों ने जिन अग्निहोत्र आदि कर्मों को ऋग्वेद आदि में देखा है । त्रेतायुग में अनेक तरह से प्रवृत्त हुए। तुमलोग सत्यस्वरूप ब्रह्म को ही चाहने वाले फलानुसन्धानशून्य मुमुक्षु होकर उनका नित्य अनुष्ठान करो। निष्कामकर्म अन्तःकरण शुद्धिपूर्वक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं तथा उसके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का कारण होते हैं। तुम्हारे लिए इस मनुष्यशरीर में कर्मों का फल उसकी प्राप्ति के लिए तो यही कहा जाने वाला मार्ग है ॥१॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदा = यस्मिन्नेव काले इन्धनैरभ्याहितैः सम्यक् इद्धे = दीप्तेऽग्नौ, अर्चिर्ज्वाला, लेलायते = चलति, तस्मिन्नेव काले आज्यभागावन्तरेणाज्यभागयोर्मध्ये आवापस्थाने आहुतीः प्रक्षिपेदित्यर्थः। सूर्याय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहेति प्रातः। अग्नये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहेति सायं च। अग्निहोत्राहुत्योर्द्वित्वप्रसिद्धेर्बहुवचनमनेकाहुतिप्रयोगापेक्षया।

सान्वयानुवाद—यदा = जिस समय, हव्यवाहने = हविष्य को पहुँचाने वाली, समिद्धे = भलीभाँति प्रदीप्त अग्नि में, अर्चिः = ज्वालाएँ, लेलायते = लपलपाती हुई निकलती हैं, तदा = उसी समय, आज्यभागौ अन्तरेण = आज्यभाग में बीच से, आहुतीः प्रतिपादयेत् = आहुतियों को प्रक्षेप करे ॥२॥

व्याख्या—इस मन्त्र में यही बताया जा रहा है कि प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रातःकाल व सायंकाल अधिकारी व्यक्ति सद्गृहस्थ द्विजाति जब हव्य को पहुँचानेवाली अग्नि अग्निहोत्र के कुण्ड पर सम्यक् प्रज्वलित होकर उसमें से लपटें निकलने लगें तब आज्यभाग में अर्थात् आज्यभाग को छोड़कर दोनों के मध्य आवाप स्थान में आहुतियों को डाले ॥२॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमश्रद्धयाऽविधिना हुतमा-
सप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—यस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रं कर्म दर्शाख्येष्टिवर्जितं पौर्णमासाख्येष्टिवर्जितं चातुर्मास्येष्टिवर्जितं शरत्कालीननूतनान्नेन कर्तव्याग्रयणाख्येष्टिविशेषवर्जित-

मतिथिसत्कारवर्जितं च काले च न हुतमावश्यकवैश्वदेवकर्मवर्जितं हूयमानमप्यश्रद्धया ऽविधिना हुतमनुष्ठितं तस्य सप्तपुरुषपर्यन्तं सुकृतफलं लोकांश्च सर्वं नाशयतीत्यर्थः दर्शादीनां पृथक्फलवत्तयाऽग्निहोत्रानङ्गत्वेऽपि नित्यनैमित्तिकं सर्वं कर्मानुष्ठेयमित्यभिप्रायेणैवमुक्तम् ॥३॥

सान्वयानुवाद—यस्य = जिसका, अग्निहोत्रम् = अग्निहोत्र, अदर्शम् = दर्श नामक इष्टि से रहित है, अपौर्णमासम् = पौर्णमास नामक इष्टि से रहित है, अचातुर्मास्यम् = चातुर्मास्य नामक इष्टि से रहित है, अनाग्रयणम् = शरत्कालीन नूतन अन्न से कर्तव्य आग्रयण नामक इष्टि विशेष से रहित है, अतिथिवर्जितम् = अतिथि-सत्कार से वर्जित है, अहुतम् = समय पर हवन नहीं करता, अवैश्वदेवम् = जो आवश्यक वैश्वदेव कर्म से रहित है, अश्रद्धया = अश्रद्धा से, अविधिना = अविधिपूर्वक, हुतम् = अनुष्ठान किया गया, तस्य = उस अग्निहोत्री का, आसप्तमान् = सात पुरुष तक, लोकान् = पुण्यफल और सारे लोकों को, हिनस्ति = नाश कर देता है ॥३॥

व्याख्या—अग्निहोत्र करनेवाला सद्गृहस्थ व्यक्ति अग्निहोत्र कर्म; जैसे दर्श, पौर्णमास तथा चातुर्मास्य यज्ञ नहीं करता; शरत्कालीन नवीन अन्न द्वारा करने योग्य आग्रयण नामक विशेष यज्ञ नहीं करता, आये हुए अतिथियों का सत्कार नहीं करता, प्रतिदिन नियमपूर्वक ठीक समय पर श्रद्धा से शून्य होकर शास्त्र के विधि-नियमों के अनुसार अनुष्ठान नहीं करता तथा आवश्यक वैश्वदेव कर्म नहीं करता उसके सात पुरुष पर्यन्त पुण्यफल एवं सब लोकों का नाश हो जाता है। दर्श-पौर्णमास आदि का पृथक् फलरूप से अग्निहोत्र कर्म अङ्ग न होने पर भी नित्य-नैमित्तिक सभी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये-इस अभिप्राय से ही कहा गया है। हे अर्जुन! विवेकी पुरुष मुझ परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम का भलीभाँति सहारा लेकर सदा समस्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्रसन्नता से शाश्वत अव्यय वैष्णव पद को प्राप्त करता है (गीता १८।५६)। जो कर्म धर्मोपार्जन के लिये न हो, जिससे विषयों से वैराग्य उत्पन्न न हो तथा श्रीभगवान् की सेवा न हो सके, ऐसा कर्म करने वाला जीवन्मृतक कहा गया है (श्रीमद्भा. ३।२३।५६) ॥३॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४॥
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—कालीत्याद्या लेलायमाना रुचिराहुतिग्रसनार्था अग्नेः सप्त जिह्वाः 'देवीति' विश्वरुच्या विशेषणम्। एतेषु भ्राजमानेषु = देदीप्यमानेषु जिह्वाभेदेषु, यथाकालम् = कालमनतिक्रम्याहुतिर्होमद्रव्यम्। आहुतय इति पाठे द्वितीयार्थे प्रथमा। आददायन् = आददानः, योऽग्निहोत्रादिकं कर्माचरति, तं यजमानम् एता आहुतयः

सूर्यस्य रश्मयो भूत्वा नयन्ति = प्रापयन्ति। क्व ? यत्र = सत्यलोके देवानां पतिरेकोऽसमानः अधि = सर्वानुपरि वसति इत्यधिवासः, चतुर्मुख आस्ते तत्रेत्यर्थः ॥४-५॥

सान्वयानुवाद—या = जो, काली = काली, कराली = कराली, च = और, मनोजवा = मनोजवा, सुलोहिता = सुलोहिता, च = और, सुधूम्रवर्णा = सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी = स्फुलिङ्गिनी, च = और, देवी विश्वरुची = देवी विश्वरुची, इति सप्त = ये सात अग्नि की, जिह्वाः = जिह्वाएँ हैं, लेलायमानाः = काली आदि ये सात अग्नि की जीभ अच्छे हवन द्रव्यों को ग्रसने के लिये हैं ॥४॥

यः = जो, एतेषु भ्राजमानेषु = इन देदीप्यमान जिह्वाओं में, यथाकालम् = समय का अतिक्रमण न करके, चरते = अग्निहोत्रादि कर्म का आचरण करता है, तम् = उस यजमान को, हि आददायन् = निश्चित ही अपने साथ लेकर, एताः आहुतयः = ये आहुतियाँ, सूर्यस्य रश्मयः = सूर्य की किरणें बनकर, नयन्ति = प्राप्त करा देती हैं। (क्व = कहा ?) यत्र = जिस सत्यलोक में, देवानाम् = देवताओं का, एकः पतिः अधिवासः = एक स्वामी जिसके समान कोई नहीं है, जो सबों के ऊपर निवास करता है; जहाँ चार मुख वाले ब्रह्माजी रहते हैं वहाँ ॥५॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यःसुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—एह्येहीति यजमानमाह्वयन्त्यः आहुतयः सुवर्चसः = दीप्तिमत्यः यतः सूर्यस्य रश्मिभिर्मिश्राः, अर्चयन्त्यः = पूजयन्त्यः, एषः पुण्यः = पवित्रः, सुकृतसाध्यश्चतुर्मुखलोकः, वः = युष्माकं युष्मत्स्वामिकम्। एवं प्रियां = स्तुतिरूपां वाचम्, अभिवदन्त्यो यजमानं वहन्ति ब्रह्मलोकं प्रापयन्तीत्यर्थः ॥६॥

सान्वयानुवाद—सुवर्चसः = प्रदीप्तिमती, आहुतयः = आहुतियाँ, एहि एहि = आओ आओ, एषः = यह, वः = तुम्हारे, पुण्यः = पवित्र, सुकृतः = कर्मों से साध्य, ब्रह्मलोकः = ब्रह्मलोक है, इति = इस प्रकार की, प्रियाम् = प्रिय, वाचम् = वचन, अभिवदन्त्यः = अभिवादन करती हुई, अर्चयन्त्यः = पूजन करती हुई, तम् यजमानम् = उस यजमान को, सूर्यस्य रश्मिभिः = सूर्य की रश्मियों के द्वारा, वहन्ति = ब्रह्मलोक को प्राप्त करा देती है ॥६॥

व्याख्या—'आओ, आओ' इस प्रकार यजमान को बुलाती हुई आहुतियाँ प्रदीप्त ज्वालाओं से युक्त (क्योंकि सूर्य की किरणों से मिली हुई हैं) पूजन करती हुई यह पवित्र सुकृतों से साध्य ब्रह्मलोक तुम्हारे स्वामी का है। इस प्रकार स्तुतिरूप वचन बार-बार कहती हुई यजमान को ब्रह्मलोक की प्राप्ति करा देती है ॥६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं ब्रह्मलोकसाधकान्यपि कर्माणि क्षयिफलानीति तानि

निर्दिशति—प्लवा इति। प्लवन्ते सफलत्वेन गच्छन्ति विनश्यन्तीति प्लवाः, एते हि यतोऽदृढाः = अस्थिराः, यज्ञो रूप्यते निरूप्यते स्वाश्रयतया निर्वर्त्यते यैस्ते यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्त्तकाः। एते के? तानाह-षोडशर्त्विजः अध्वर्युः प्रतिष्ठाता नेष्टा उन्नेता ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छन्दसी आग्नीध्रः होता उद्‌गाता प्रस्तोता प्रतिहर्त्ता सुब्रह्मण्यः होता मैत्रावरुणः अच्छावाकः ग्रावस्तुदिति नायकाः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश कर्त्राश्रितत्वेनोक्तं शास्त्रेण कथितम्। अवरम् = फलाभिसन्धिमत्तयाऽश्रेष्ठं कर्म येषु यजमानेषु वर्त्तते ते इत्यर्थः। स्वर्गादिफलेच्छया कर्म कुर्वाणाः पुरुषा जीर्णनौका इव स्वात्मनः संसारसमुद्रसन्तारणे न समर्था इत्यभिप्रायः। यद्वा प्लवन्ते एभिरिति प्लवास्तरणसाधनानि, एते यज्ञस्वरूपाः प्लवा अदृढा विनाशित्वात् एते के? अष्टादशकर्माश्रितत्वेनोक्तमवरं निकृष्टं परहिंसनादिरूपं कर्म येषु वर्तते इत्यर्थः। एतत्कर्म श्रेयसाधनमिति मत्वा ये मूढा अभिनन्दन्ति = हृष्यन्ति ते जरामृत्युं = जरां च मृत्युं च, पुनरेव = भूयोऽपि, यन्ति = प्राप्नुवन्ति ॥७॥

सान्वयानुवाद—हि = निश्चय ही, एते = ये, यज्ञरूपाः = यज्ञरूप, अष्टादश प्लवाः = अठारह नौकाएँ, अदृढाः = अदृढ़ (अस्थिर) हैं, येषु = जिनमें, अवरम् कर्म = अश्रेष्ठ कर्म, उक्तम् = कहा गया है, ये मूढाः = जो मूर्ख, एतत् श्रेयः = यही कल्याण का मार्ग है, अभिनन्दन्ति = इसका अभिनन्दन करते हैं, ते = वे, पुनः एव अपि = फिर से ही, जरामृत्युम् = वृद्धावस्था और मृत्यु को, यन्ति = प्राप्त होते हैं ॥७॥

व्याख्या—जो बहती सफल रूप से जाती विनश होती है वे नोकाएं हैं; ये निश्चय ही अस्थिर हैं। यज्ञ का निरूपण अपने आश्रय रूप से जिसके द्वारा निर्वर्त्तन किया जाता है वे यज्ञनिर्वर्त्तक हैं। ये कौन हैं? उनके नामों को भाष्यकार कहते हैं—ऋत्विक् आदि सोलह जन होते हैं। यज्ञपत्नी और यजमान अठारह कर्त्ता से आश्रित शास्त्र में बताया गया है। फलों का अभिसन्धान अश्रेष्ठ कर्म जिन यजमानों में है वे स्वर्गादि फलों की इच्छा से कर्म करने वाले पुरुष जीर्ण नाव की भाँति अपने को संसारसमुद्र से पार होने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। यह कर्म कल्याण का साधन है—ऐसा मानकर जो मूर्ख आनन्दित होते हैं वे जरा और मृत्यु को प्राप्त होते ही रहते हैं ॥७॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—किञ्च अविद्यायामन्तरे मध्ये वर्त्तमाना अज्ञानबहुलाः स्वयं स्वयमेव धीराः = धीमन्तः, पण्डितमूहापोहक्षमबुद्धिशालिमात्मानं सम्भावयमानास्ते मूढा जङ्घन्यमानाः = जरारोगाद्यनेकानर्थसमूहैरतिशयेन पीड्यमानाः परिभ्रमन्ति। यथा लोके अन्धेनैवाचक्षुष्मता नीयमाना प्रदर्श्यमानमार्गा अन्धा गर्तकण्टकादौ पतन्ति तद्वत् ॥८॥

सान्वयानुवाद—अविद्यायाम् अन्तरे = अविद्या के बीच में, वर्तमानाः = रहकर,

स्वयं धीराः = स्वयं ही बुद्धिमान्, पण्डितम् मन्यमानाः = पण्डित माननेवाले, मूढाः = मूर्खलोग, जङ्घन्यमानाः = जरा-रोगादि से पीड़ित होते हुए, परियन्ति = भटकते रहते हैं, यथा = जैसे, अन्धेन एव = अन्धे के द्वारा ही, नीयमानाः अन्धाः = चलाये जानेवाले अन्धे गड्ढे आदि में गिर जाते हैं ॥८॥

व्याख्या—अविद्या के मध्य में अज्ञानबहुल स्वयं ही धीमान् ऊहापोह में समर्थ एवं अपने को बुद्धिशाली समझने वाले वे मूर्ख जरा(वृद्धावस्था)-रोगादि अनेक अनर्थ-समूहों से अतिशय पीड़ित होते हुए संसार में भटकते रहते हैं। जैसे लोक में किसी अन्धे को मार्ग दिखाने वाला बिना आँख वाला व्यक्ति मिल जाय तो अन्धे गड्ढे, काँटे आदि में गिर पड़ते हैं वैसे ही ॥८॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—किञ्च अविद्यायां बहुधा देवादिबहुविधाभिमानितया वर्त्तमाना वयमेव कृतार्थाः = कृतप्रयोजनाः, इत्यभिमानं कुर्वन्ति बालाः = मूर्खाः, यद्यतः कर्मिणः = कर्मठाः, रागात् = कर्मफलस्वर्गादिप्रीत्यतिशयात्, न प्रवेदयन्ति = तत्त्वं न जानन्ति, तेन = तत्त्वज्ञानाभावेन हेतुना, आतुराः = दुःखार्ताः सन्तः, क्षीणलोकाः = क्षीणकर्मफलाः, च्यवन्ते = मर्त्यलोकं विशन्तीत्यर्थः ॥९॥

सान्वयानुवाद—बालाः = वे मूर्ख लोग, अविद्यायाम् = अविद्या में, बहुधा = बहुत प्रकार, वर्त्तमानाः = भोग-विलास में रहते हुए, वयम् = हम, कृतार्थाः = कृतार्थ हो गये, इति अभिमन्यन्ति = ऐसा अभिमान करते हैं, यत् = क्योंकि, कर्मिणः = वे कर्मठ हैं, रागात् = विषय-तृष्णा के अनुराग से, न प्रवेदयन्ति = तत्त्व को नहीं जानते, तेन = इस कारण, आतुराः = व्याकुल हो, क्षीणलोकाः च्यवन्ते = पुण्य क्षीण होने पर वे नीचे गिर जाते हैं—गिर क्या जाते हैं, नीचे ढकेल दिये जाते हैं ॥९॥

व्याख्या—और भी अविद्या में देवतादि बहुत प्रकार के अभिमानी रूप से रहते हुए 'हम ही प्रयोजन कार्यों को कर चुके हैं' वे मूर्ख इस प्रकार अभिमान करते हैं, क्योंकि वे कर्मठ हैं, उनकी कर्मों के फल स्वर्गादि में अतिशय प्रीति है। वे मूर्ख कर्म का वास्तविक स्वरूप न जानकर कर्म करने वाले बनते हैं तथा तत्त्व को नहीं जानते हैं। तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण ही दुःखों से आर्त होकर पुण्य कर्मों का क्षीण होने पर इस मृत्युलोक में लौट आते हैं। इस प्रकार सकाम कर्मों का आश्रय लेने वाले, गृहस्थाश्रम में स्त्रियों की उपासना कर उनके दास बने हर तरह की झूठी कामनाओं से बँधे कामुक मूढ़ लोग बार-बार आवागमन को प्राप्त होते रहते हैं। वे जन्म-जरा-मृत्यु प्रवाह से मुक्त नहीं होते हैं ॥९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—इष्टम् = यागादिश्रौतं कर्म, पूर्तम् = वापीकूपतडागादिस्मार्तमेतदेव, वरिष्ठम् = श्रेष्ठं, पुरुषार्थसाधनमन्यमानाः अन्यत् = ज्ञानादिकं श्रेयःसाधनं न जानन्ति, प्रमूढाः = पुत्रादिषु प्रकर्षेण मोहयुक्ताः। ते च सुकृतसाध्ये नाकस्य पृष्ठे = स्वर्गलोकोपरिलोके कर्मफलमनुभूय पुनरिमं मनुष्यलोकमतो हीनतरं वा नरकादिकं विशन्ति ॥१०॥

सान्वयानुवाद—इष्टापूर्तम् = इष्ट और पूर्त कर्मों को ही, वरिष्ठम् = श्रेष्ठ, मन्यमानाः = मानने वाले, प्रमूढाः = महामूर्ख, अन्यत् = तत्त्वचिन्तन, श्रेयः = साधन को, न वेदयन्ते = नहीं जानते हैं, ते = वे, सुकृते = सत्कर्मों के द्वारा प्राप्य, नाकस्य पृष्ठे = स्वर्ग के विशाल लोक में, अनुभूत्वा = भोगों का अनुभव करके, इमम् लोकम् = इस मनुष्यलोक में, वा = अथवा, हीनतरम् = इससे हीन नरकादि लोक में, विशन्ति = प्रवेश करते हैं ॥१०॥

व्याख्या—इष्ट—यज्ञ-याग आदि श्रौत कर्मों को और पूर्त—बावली, कुआँ, तालाब आदि स्मार्त कर्मों को ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ साधन माननेवाले व्यक्ति वेदान्त के श्रवण, मनन और निदिध्यासन को सर्वश्रष्ठ कल्याण-साधन न मानते हैं और न तो जानते हैं। वे स्त्री-पुत्र आदि में अत्यन्त मोहरूपी जाल में युक्त हैं तथा पुण्य-कर्मों के द्वारा प्राप्य स्वर्गलोक के ऊपर लोक में कर्मफल का अनुभव करके फिर इस मनुष्यलोक में अथवा इससे हीनतर नरकादि में वे प्रवेश करते हैं ॥१०॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—ये तु विद्वांसः = ज्ञानिनः कृतश्रवणमननाः, अरण्ये वर्तमानाः = सन्तः, शान्ताः = उपरतकरणाग्रामा वानप्रस्थाः भैक्ष्यचर्यां चरन्तः संन्यासिनश्च, तपःशब्दितं ब्रह्म 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते' इति श्रुत्यन्तरे तपःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वात् तद्विषयिणीं श्रद्धां चोपवसन्ति = सेवन्ते। ते विरजाः = निर्मलाः सन्तः सूर्यमण्डलं भित्वा, यत्रामृतः = निर्विकारः, अव्ययात्मा = नित्यविग्रहयुक्तः, पुरुषः परमात्माऽस्ते तत्र प्रयान्तीत्यर्थः ॥११॥

सान्वयानुवाद—ये = जो, विद्वांसः = विद्वान्, अरण्ये = वन में, शान्ताः = अपनी इन्द्रियों को वश में करके, भैक्ष्यचर्याम् चरन्तः = निवृत्तिमार्ग पर विचरने वाले, तपःश्रद्धे = तप तथा श्रद्धा का, उपवसन्ति = सेवन करते हैं, ते = वे, विरजाः = निर्मल होकर, सूर्यद्वारेण = सूर्य के द्वार से, प्रयान्ति = प्रयाण करते हैं, यत्र = यहाँ पर, अमृतः हि अव्ययः आत्मा पुरुषः आस्ते = निर्विकार नित्यविग्रहयुक्त परमपुरुष परमात्मा रहते हैं वहाँ पर पहुँचते हैं ॥११॥

व्याख्या—जो आत्मा का श्रवण-मनन कर चुके हैं, अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर महाबलवान् मन को अपनी सात्त्विक बुद्धि से स्थिर कर निवृत्तिमार्ग पर विचरने वाले श्रद्धा-भक्ति से ब्रह्म की सेवा करने वाले हैं, वे निर्मल होकर सूर्यमण्डल

का भेदन करके जहाँ पर निर्विकार नित्यविग्रहयुक्त परमपुरुष परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम विराजते हैं वहाँ पर जाते हैं, जहाँ से फिर लौटकर इस मृत्युलोक में आना नहीं पड़ता है ॥११॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथ विरक्तस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मप्राप्तिहेतुज्ञानप्रेप्सोर्गुरूपसत्तिर्विधीयते—परीक्ष्येति। लोकान् कर्मचितान् = कर्मसम्पाद्यान् ऐहिकामुष्मिकानि सर्वाणि सकामकर्मफलानीत्यर्थः। 'परीक्ष्य तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' इत्याद्यागमादिना क्षयिष्णुत्वेन निश्चित्य ब्राह्मणोऽधीतसाङ्गवेदो यो निर्वेदम् = वैराग्यमायात्। निर्वेदप्रकारमाह-नास्तीति। अकृतः = नित्यो मोक्षः, कृतेन = कर्मणा न सिध्यतीति, तस्य = वेदान्तवेद्यस्य परब्रह्मणः, स्वरूपगुणशक्त्यादिविषयकविज्ञानार्थं साक्षादनुभवार्थं सः = मुमुक्षुः, गुरुमेवाभिगच्छेत्। एवकारेण शास्त्रज्ञोऽपि न स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानमन्विष्यादिति नियम्यते। समित्पाणिः; 'रिक्तहस्तस्तु नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम्' इति स्मृतेः। समिदुपलक्षितपूजोपकरणहस्त इत्यर्थः। गुरुलक्षणमाह-श्रोत्रियम् = वेदान्तार्थावगाहिनं ब्रह्मस्वरूपगुणाद्यनुभवपरिपूर्णमनस्कम्, शिष्यसंशयछेतृत्वब्रह्मणि रुच्युत्पादकत्वयोरन्यथाऽनुपपत्तेर्विशेषणद्वयम् ॥१२॥

सान्वयानुवाद—कर्मचितान् = कर्म से उपार्जित किये जाने वाले, लोकान् परीक्ष्य = लोकों की परीक्षा करके, ब्राह्मणः = ब्राह्मण, निर्वेदम् = वैराग्य को, आयात् = प्राप्त हो जाय, कृतेन = किये जाने वाले कर्मों से, अकृतः = नित्य मोक्ष, न अस्ति = नहीं मिल सकता है, सः = वह मुमुक्षु, तद्विज्ञानार्थम् = उस परब्रह्म को जानने के लिए, समित्पाणिः = हाथ में समिधा (पूजा की सामग्री) लेकर, श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम् गुरुम् = श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास, एव अभिगच्छेत् = ही जाय ॥१२॥

व्याख्या—इसके बाद विरक्त मुमुक्षु की ब्रह्म-प्राप्ति के लिये ज्ञान की लालसा तथा गुरु के समीप गमन और गुरु का लक्षण बतलाते हैं—कर्मों के द्वारा उपार्जन या सम्पादन किये जाने वाले इस लोक और परलोक के सभी पदार्थ नाशवान् हैं। क्योंकि सकाम कर्मों का फल हमेशा नाशवान् ही होता है। इस प्रकार क्षयिष्णुत्व का निश्चय करके जो अङ्गों के साथ वेदों का अध्ययन कर लिया है वह वैराग्य को प्राप्त होता है। कर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वेदान्तवेद्य परब्रह्म के स्वरूप, गुण तथा शक्ति आदि विषयक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए साक्षात् अनुभव करने के लिए वह मुमुक्षु हाथ में पूजन-सामग्री लेकर सद्गुरु के पास जाय। शास्त्रविधि यह है कि खाली हाथ राजा, देवता और गुरु के पास न जाय। हस्त में कुछ भेंट देने योग्य वस्तु लेकर जाना चाहिये। गुरु का लाक्षण श्रुति बताती है—श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ, वेदान्तार्थ में निष्णात अर्थात् वेदान्त के पूर्ण ज्ञाता, ब्रह्म के स्वरूप और गुणादि के अनुभव में परिपूर्ण मन है जिसका तथा

शिष्य के संशय को दूर कर ब्रह्म में शिष्य की रुचि पैदा कर देना-यही गुरु का लक्षण है। अन्यथा दोनों विशेषण अनुपपन्न हो जायेंगे ॥१२॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

॥ इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥

इति प्रथममुण्डकम्।

तत्त्वप्रकाशिका—शिष्यलक्षणमाह-तस्मै सम्यगुपसन्नाय = मायादम्भादित्यागपूर्वकस्वशरणापन्नाय, तत्र हेतुः प्रशान्तचित्तं लोकाद्येषणादिशून्यं चित्तं यस्य तस्मै, अत एव शमान्विताय शमशब्दो बाह्येन्द्रियनियमनपरः प्रशान्तचित्तायेत्यन्तःकरणनियमनस्योक्तत्वात् विक्षेपादिशून्यायेत्यर्थः, बाह्येन्द्रियविक्षेपहेतुकामादीनां नष्टत्वात्। 'कारणाभावे कार्याभाव' इति न्यायात्। एतादृशाय शिष्याय स विद्वानुक्तलक्षणो गुरुः तां ब्रह्मविद्यां प्रोवाच = प्रब्रूयात् प्रकर्षेणोपदिशेत्। उपदेशप्रकर्षं व्यञ्जयन्नाह—येन तत्त्वतोऽक्षरं = निर्विकारं पुरुषं, वेद = साक्षादनुभवति। तल्लक्षणं द्योतयन् विशिनष्टि-सत्यम्। उपलक्षणमेतत् ज्ञानादीनां 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति लक्षणलक्षितमित्यर्थः। येनेति यच्छब्दो ब्रह्मविद्यापरामर्शपरः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। यद्वा येनोपदेशेनेत्यर्थः। तदेतत् सत्यमिति पूर्ववत् ॥१३॥

॥ इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥

सान्वयानुवाद—सः विद्वान् = वह विद्वान्, सम्यक् = पूर्णरूप से, शान्तचित्ताय = शान्त चित्तवाले, शमान्विताय = शमयुक्त, उपसन्नाय = शरण में आये हुए, तस्मै = ऐसे शिष्य को, ताम् ब्रह्मविद्याम् = उस ब्रह्मविद्या का, तत्त्वतः = तत्त्व से, प्रोवाच = उपदेश करे, येन = जिससे वह, अक्षरम् = निर्विकार, सत्यम् = सत्यस्वरूप, पुरुषम् = आदिपुरुष को, वेद = जान सके ॥१३॥

व्याख्या—जो छल-कपट-दम्भादि त्यागपूर्वक अपनी शरण में आये हुए लोकैषणादि से शून्य चित्त, बाहरी इन्द्रियों को नियमन कर लिया हो ऐसे शिष्य को वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे जिससे वह शिष्य निर्विकार परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम का साक्षात् अनुभव कर सके। जो सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है। यहाँ 'यद्' शब्द ब्रह्मविद्या का परामर्श के लिये है। यत् और तत् नित्य सम्बन्ध है ॥१३॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

प्रथम मुण्डक समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयो मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥१॥
दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—यथा सुष्ठु दीप्तादाध्मायमानादग्नेरग्निकणा अनेकशः सरूपाः पूर्वरूपसलक्षणाः प्रभवन्ते = प्रादुर्भवन्ति । एवमेव सृष्ट्युन्मुखादक्षराद् ब्रह्मणो नानाप्रकाराः हे सौम्य प्रियदर्शन ! भावाः = कार्यवर्गाः प्रादुर्भवन्ति प्रलये तत्रैव लीयन्ते च । दिव्यः = द्योतमानः सर्वस्तुत्यो वा दिवि तिष्ठत्येक इत्युक्तसम्बन्धी वा, अमूर्त्तः = विभुः, पुरुषः = पूर्णः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्त्तत इति बाह्याभ्यन्तरसर्ववस्त्वात्मा, अजः = जन्मादिविकारशून्यः, अप्राणः = प्राणानधीनस्थितिः, अमनाः = मनोऽनधीनज्ञानः, यद्वा प्राणमनःशब्दितकर्मज्ञानेन्द्रियाणि कर्मज्ञानेन्द्रियानधीनविषयज्ञान इत्यर्थः । शुभ्रः = शुद्धश्च, यः स अक्षरोद्भूतसूक्ष्मरूपादव्याकृतात्प्रधानात्परो यः समष्टिजीवस्तस्मादपि कारणत्वेन पर इत्यर्थः । तयोस्तज्जन्यत्वादिति भावः । अर्थविस्तरस्तु 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेरि'त्यधिकरणे कौस्तुभप्रभायां द्रष्टव्यः । विश्वसृष्टिं प्रपञ्चयति—एतस्मादिति । प्राणो मुख्यः चकारात्सर्वेन्द्रियविषयाः, विश्वस्य = सर्वस्य, धारिणी पृथिवी स्पष्टार्थान्यन्यानि ॥१-३॥

सान्वयानुवाद—हे सौम्य = हे प्रियदर्शन ! यथा = जिस प्रकार, सुदीप्तात् पावकात् = जलती हुई आग से, सरूपाः = उसी के बराबर रूपवाली, सहस्रशः = हजारों, विस्फुलिङ्गाः = चिनगारियाँ, प्रभवन्ते = निकलती हैं, तथा = उसी प्रकार, अक्षरात् = अक्षरब्रह्म से, विविधाः = नाना प्रकार के, भावाः = कार्यवर्ग, प्रजायन्ते = उत्पन्न होते हैं, च = और, तत्र एव = (प्रलय में) उसी में ही, अपि यन्ति = लीन हो जाते हैं । हि = निश्चय ही, अमूर्तः दिव्यः पुरुषः अजः = अमूर्त दिव्य पुरुष अजन्मा, सबाह्याभ्यन्तरः = बाहर और भीतर से पूर्ण, शुभ्रः = शुद्ध, अप्राणः अमनाः हि = प्राणरहित मनरहित ही है, अक्षरात् = सनातन जीववर्ग से, परतः परः = कारणरूप से उत्कृष्ट श्रेष्ठ है । एतस्मात् = इसी दिव्य पुरुष से, प्राणः = मुख्य प्राण, सर्वेन्द्रियाणि = सारी इन्द्रियाँ, मनः = मन, खम् वायुः ज्योतिः आपः च विश्वस्य धारिणी पृथिवी जायते = आकाश, वायु, तेज, जल और सबको धारण करने वाली पृथिवी, मुख्य प्राण, मन की दस वृत्तियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥१-३॥

व्याख्या—जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में से अनेक प्रकार के अग्निकणों का

प्रादुर्भाव होता है इसी प्रकार सृष्टि के लिये उन्मुख अक्षरब्रह्म से नाना प्रकार के कार्यवर्ग प्रादुर्भूत होते हैं और प्रलयकाल में उन्हीं में ही लीन हो जाते हैं। वे सबों के द्वारा स्तुति करने योग्य हैं, बाहर और भीतर से पूर्ण एवं जन्मादि विकारों से शून्य हैं। प्राण के अनधीन जिनकी स्थिति और मन के अनधीन जिनका ज्ञान है, वे शुद्ध एवं विभु हैं, जो अक्षर से उद्भूत सूक्ष्म अव्याकृत प्रधान से परे हैं, जो समष्टि जीव है उनसे भी कारण रूप से परे हैं। इसके बाद विश्वसृष्टि का विस्तार करते हैं—इन विभु परिपूर्ण भगवान् श्रीपुरुषोत्तम से प्राण, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और आकाश, वायु, तेज, जल और सबको धारण करनेवाली पृथिवी—जो पञ्च महाभूत कहे जाते हैं ये सब उत्पन्न होते हैं ॥१-३॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—अस्येति सर्वत्रानुषज्यते। अस्याग्निर्द्युलोको मूर्धा = शिरः, 'असौ वाऽवलोको गौतमाग्निरि'ति श्रुतेः। एवमग्रेऽपि। वाग् विवृताः = वागिन्द्रियव्यापाराः, वायुः = महावायुः, अस्य देहधारकः प्राणः, विश्वं = सर्वजगत्, अस्य हृदयमन्तःकरणं सर्वं जगदस्य सङ्कल्पजमित्यर्थः। पद्भ्यां पादावित्यर्थः। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमि'ति तृतीया। एष सर्वभूतानामन्तः प्रविश्य नियन्ता।

'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥
द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं च नाभिश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।
दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता'॥

इत्यादिस्मृतिरत्र ज्ञेया ॥४॥

सान्वयानुवाद—अस्य = इस दिव्य पुरुष परमात्मा का, अग्निः मूर्धा = अग्नि मस्तक है, चन्द्रसूर्यौ = चन्द्र और सूर्य, चक्षुषी = दोनों नेत्र हैं, दिशः श्रोत्रे = दिशाएं दोनों कान हैं, च = और, विवृताः वेदाः = विस्तृत वेद, वाक् = वागिन्द्रियों के व्यापार हैं, वायुः = महावायु, प्राणः = इसके देह को धारण करने वाला प्राण है, विश्वं हृदयम् = समस्त जगत् इसका हृदय है, पद्भ्याम् = इसके दोनों पैर, पृथिवी = पृथ्वी है। एषः हि = यही, सर्वभूतान्तरात्मा = सब भूतों की अन्तरात्मा है ॥४॥

व्याख्या—इस मन्त्र में विराट् श्रीभगवान् के शरीर के अवयवों का सन्निवेश रचना-प्रकार बतलाते हैं—इस विराट् श्रीभगवान् का अग्नि अर्थात् द्युलोक मस्तक है, चन्द्र और सूर्य दोनों नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, मूर्त्तिमान् तथा शब्दरूप वेद वाणी है, महावायु इसका शरीर धारण करने वाला प्राण है, हृदय अर्थात् अन्तःकरण इसका सारा जगत् है और दोनों पैर पृथिवी हैं। ये ही परब्रह्मस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम समस्त प्राणियों के भीतर प्रवेश करके नियमन करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस विश्व ब्रह्माण्ड में जो चौदह लोक हैं, वे इस विराट् श्रीभगवान् के शरीर के अवयव बताये गये हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥४॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—पञ्चाग्निविद्योक्तक्रमेण सृष्टिमाह—तस्मादक्षरात् परतः परस्मात् पुरुषादग्निर्द्युलोकः सम्भवति यस्याग्नेः सूर्यः समिध इव समिधः = काष्ठानि; सूर्येण हि द्युलोकः सन्दीप्यते, 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिदि'ति पञ्चाग्निविद्यायां श्रुतेः। ततो हि द्युलोकाग्नेर्निष्पन्नात् सोमात् पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः पर्जन्यादोषधयः पृथिव्यामग्नौ ओषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्य उपादानभूताभ्यः पुमानग्नियोषिद्रूपाग्नौ रेतः सेकं करोति। एवं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिद्रूपपञ्चाग्निद्वारेण बह्वीर्बह्व्यः प्रजाः परस्मात् पुरुषात् समुत्पन्नाः ॥५॥

सान्वयानुवाद—तस्मात् = उससे, अग्निः = अग्नि, यस्य समिधः = जिसकी लकड़ी, सूर्यः = सूर्य है, सोमात् = सोम से, पर्जन्यः = मेघ उत्पन्न हुए, पृथिव्याम् = पृथिवी में, ओषधयः = ओषधियाँ उत्पन्न हुई, पुमान् = पुरुष, रेतः = वीर्य को, योषितायाम् = स्त्री में, सिञ्चति = सिञ्चन करता है, पुरुषात् = पुरुष से, बह्वीः प्रजाः = बहुत सन्तानें, सम्प्रसूताः = उत्पन्न होती हैं ॥५॥

व्याख्या—पञ्चाग्निविद्या में कहे गये क्रम से सृष्टि-प्रकार बतलाते हैं—पञ्चाग्नि-विद्या में सुना जाता है कि—हे गौतम! वह द्युलोक ही अग्नि तथा आदित्य ही उसका समिधा–ईन्धन है। आदित्य रूप से ही द्युलोक देदीप्यमान हो रहा है। उस अक्षर प्रकृति से परे पुरुष से अग्नि (द्युलोक) प्रकट हुआ, जिस अग्नि का सूर्य समिधा के जैसे काष्ठ (काठ) सूर्य से ही द्युलोक देदीप्यमान हो रहा है। उसी से ही द्युलोक के अग्नि से निष्पन्न सोम से पर्जन्य (मेघ) द्वितीय अग्नि है, मेघ से ओषधियाँ पृथिवी में उत्पन्न होती हैं, ओषधियों से पुरुषाग्नि में हविष्य उपादानभूत पुरुषाग्नि स्त्रीरूपाग्नि में वीर्य का सिञ्चन करता है। इस प्रकार १. द्युलोक, २. पर्जन्य, ३. पृथिवी, ४. पुरुष, ५. स्त्रीरूप पञ्चाग्नि द्वारा पुरुष से बहुत-सी प्रजाओं की उत्पत्ति होती हैं ॥५॥

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—तस्मादेव पुरुषात् ऋग्यजुसामवेदाः समुत्पन्नाः, तत्र ऋचो नियताक्षरपादावसाना गायत्र्यादिछन्दोविशिष्टाः, साम हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिध-नाख्यपञ्चभक्त्यवयवकं स्तोमादिगीतिविशिष्टं, यजूंषि अनियताक्षरपादावसानानि वाक्य-रूपाणि, दीक्षाः कर्तृनियमविशेषाः, यज्ञा अग्निहोत्राद्याः, क्रतवः सयूपाः दक्षिणाश्च, संवत्सरः कालः, यजमानः कर्माङ्गकर्ता, लोकास्तस्य कर्मफलभूताः, स्वर्गाद्याः समुत्पन्ना इत्यर्थः। लोका यत्र येषु पवते स्वकिरणैस्तान्पुनातीत्यर्थः। ते लोकाश्चन्द्रसूर्यकिरणभूता इति यावत् ॥६॥

सान्वयानुवाद—तस्मात् = उसी पुरुष से, ऋचः = ऋग्वेद, साम = सामवेद,

यजूंषि = यजुर्वेद, दीक्षा = दीक्षा, यज्ञाः = यज्ञ, च और, सर्वे क्रतवः = सम्पूर्ण क्रतु, च = और, दक्षिणाः = दक्षिणाएँ, च = और, संवत्सरः = संवत्सररूप काल, यजमानः = यजमान, च = और, लोकाः = लोक (उत्पन्न हुए हैं), यत्र = यहाँ, सोमः = चन्द्र, पवते = पवित्र करते हैं, यत्र = यहाँ, सूर्यः = सूर्य (निकलते हैं) ॥६॥

व्याख्या—उसी पुरुष से ही नियत अक्षर चरण विराम गायत्री आदि छन्द, विशिष्ट ऋग्वेद; हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन नामक पाँचों भक्ति अवयव वाले; स्तोम आदि गीतविशिष्ट सामवेद, अनियत अक्षरचरण विराम वाक्यरूप यजुर्वेद; दीक्षा, अग्निहोत्रादि यज्ञ, उसमें जो यूप होते हैं उन्हें क्रतु कहते हैं; यज्ञ में दी जानेवाली दक्षिणाएँ, संवत्सररूप काल, कर्माङ्गकर्त्ता यजमान, उसके कर्मों के फलरूप स्वर्गादि लोक सम्यक् उत्पन्न हुये। जिन लोकों में अपने किरणों से पवित्र करते हैं वे लोक चन्द्र और सूर्य किरणरूप हैं। दीक्षा दो तरह की है, एक वैष्णवी दीक्षा तथा दूसरी यज्ञ के समय यजमान को नियमों का पालन कराने के लिए दीक्षित किया जाता है ॥६॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—'तस्माच्चेति'। योनियोगे तस्मादेव पुरुषाद् देवा बहुधा कर्मजाऽजानजादिभेदेन वस्वादिगणभेदेन वा सम्प्रसूताः = उत्पन्नाः। यवः = दीर्घशूकधान्यविशेषः, व्रीहियवोपलक्षितं सर्वधान्यम्। तपः = कर्माङ्गं पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्येत्यादिविहितं पुरुषसंस्कारलक्षणं कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणं वा। श्रद्धा = आस्तिक्यबुद्धिः, सत्यम् = यथार्थभाषणम्, ब्रह्मचर्यम् = स्त्रीसङ्गादित्यागः। विधिः = नित्यनैमित्तिकादिः। तस्मादेव सप्त प्राणाः शीर्षण्याः श्रोत्रचक्षुर्नासायुग्मास्यसञ्चारशीलानि इन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। अर्चिषः = दीप्तयः, स्वस्वविषयावद्योतनानि, समिधो विषयाः; विषयैर्हि प्राणाः समिध्यन्ते, होमास्तद्विषयविज्ञानानि, 'यदस्य विज्ञाने तज्जुहोती'ति श्रुत्यन्तरात्। किञ्च सप्तेमे लोका इन्द्रियस्थानानि उत्पन्नानि, येषु लोकेषु चक्षुरादिगोलकप्रदेशेषु सुषुप्तिकाले हृदयगुहासु शयानाः सप्त प्राणा निहिताः स्थापिताः सन्तश्चरन्ति सञ्चरन्तीत्यर्थः। वीप्सा पुरुषाभिप्रायाः प्रतिपुरुषं सप्तेत्यर्थः ॥७-८॥

सान्वयानुवाद—च = और, तस्मात् = उसी पुरुष से, बहुधा = बहुत प्रकार से, देवाः = देवतालोग, साध्याः = साध्यगण, मनुष्याः = मनुष्य, पशवः वयांसि = पशु-पक्षी, प्राणापानौ = प्राण-अपानवायु, व्रीहियवौ = धान-जौ, च = और, तपः श्रद्धा सत्यम् = तप, श्रद्धा और सत्य, ब्रह्मचर्यम् च विधिः = ब्रह्मचर्य और विधि, सम्प्रसूताः = ये सब उत्पन्न हुए हैं ॥७॥

तस्मात् = उसी पुरुष से, सप्त प्राणाः = सात प्राण, सप्त = सात, अर्चिषः = अग्नि की जिह्वाएँ, समिधः = समिधाएँ, सप्त होमाः = सात तरह के हवन,

इसमे सप्त लोका: = ये सात लोक, येषु = जिनमें, प्राणा: चरन्ति = प्राण विचरते हैं, गुहाशया: = हृदयरूप गुफा में शयन करने वाले, सप्त सप्त निहिता: = सात-सात स्थापित हैं ॥८॥

व्याख्या—उसी पुरुष से ही कर्मजा, अजा और अनजा आदि भेद से व वसु आदि गण भेद से उत्पन्न हुए हैं। उन्हीं से साध्यगण, मनुष्य जाति, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और भी सारे प्राणी उत्पन्न हुए हैं। सब के जीवनधारणरूप प्राण तथा अपान एवं सब प्राणियों के आहाररूप धान, जौ व गेहूँ आदि बहुत प्रकार के अन्न उत्पन्न हुए हैं, उन्हीं से कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप, स्त्रीसङ्गादि का परित्याग-ब्रह्मचर्य, आस्तिक्यबुद्धि-श्रद्धा, यथार्थ भाषण-सत्य और नित्य तथा नैमित्तक आदि कर्मविधि उत्पन्न हुई है। काली आदि अग्नि की सात जिह्वाएँ, सात प्राण—दो कान, दो आँख, दो नाक और एक मुख—ये सात सञ्चारशील इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय ग्रहण करने वाली, सात समिधाएँ, सात प्रकार का होम-हवन अर्थात् वह जो इसके विज्ञान में हवन करता है-दूसरी श्रुति ऐसा कहती है। ये सात इन्द्रियस्थान उत्पन्न होकर जिन चक्षु आदि गोलक प्रदेश सुषुप्ति काल में हृदयगुफा में शयन करते हुए सञ्चारण करते हैं। वीप्सा (सात-सात) पुरुष के अभिप्राय हैं ॥७-८॥

अत: समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धव: सर्वरूपा:।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य ॥१०॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथम: खण्ड: ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—अत इति। अस्मादेव समुद्राद्या उत्पन्ना: स्यन्दन्ते = प्रस्रवन्ति, सिन्धव: = गङ्गाद्या नद्य:, सर्वरूपा: = बहुरूपा:। नन्वोषधीनां पृथिवीयोनित्वं दृश्यते कथं सर्वस्याक्षरयोनित्वं कथ्यते ? इत्याशङ्क्याह-येनैष इति। येन = यस्मात्कारणादेषोऽक्षरपुरुष:, भूतै: = सर्वै: परिवृत इव तदन्तरात्मत्वेन तिष्ठते = वर्त्तते, तस्मादोषध्यादीनां पृथिव्यादियोनित्वेऽपि पृथिव्याद्यन्तरात्मब्रह्मयोनित्वं नो विरुध्यते इति भाव: ॥ यत इदं सर्वं पुरुषात्परमात्मनो जातं पुरुषात्मकं च तस्मात्पुरुष एव कार्यकारणयोर्नियम्य-नियन्त्रोश्चाभेदेन पुरुषस्य सर्वशब्दवाच्यत्वात् तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं चेतनाचेतनात्मकं विज्ञातं भवति इति। कर्म = जगत्सृष्ट्याद्यनुकूलो व्यापार:, तप: = ज्ञानं स्रष्टव्यालोचनात्मकं, परम् = प्रकृते: परभूतं च, तत अमृतं मुक्तानाममृतवत् परमानन्दतया भोग्यभूतं च ब्रह्माप्यक्षरपुरुष एवेत्यर्थ:। हे सौम्य गुहायां निहितं = सर्वप्राणिनां हृदयगुहायां स्थितमेतदक्षरं ब्रह्म इह लोके यो वेद स अविद्याग्रन्थिं = ग्रन्थिवत् दुर्मोच्याम् अविद्यां, विकिरति = विक्षिपति, निरस्यतीत्यर्थ: ॥९-१०॥

इति प्रथम:खण्ड: ॥१॥

सान्वयानुवाद—अतः = इसी से, सर्वे = समस्त, समुद्राः = समुद्र, च = और, गिरयः = पर्वत (उत्पन्न हुए हैं), अस्मात् = इसी से, सर्वरूपाः = बहुत रूपों वाली, सिन्धवः = नदियाँ, स्यन्दन्ते = बहती हैं, च = और, अतः = इसी से, सर्वाः ओषधयः = सारी ओषधियाँ, च = और, रसः = रस (उत्पन्न हुए हैं), येन हि = जिस कारण से, एषः = यह, अन्तरात्मा = अन्तरात्मा, भूतैः = भूतों के साथ, तिष्ठति = रहता है। तपःकर्म = तप कर्म, परामृतम् = प्रकृति से परे अमृत, इदम् = यह दृश्यमान, विश्वम् = सब चराचर, पुरुषः एव = भगवत्स्वरूप ही है, हे सौम्य ! प्रियदर्शन ! गुहायाम् = हृदयरूप गुफा में, निहितम् = स्थित, यः = जो, एतत् = इसको, वेद = जानता है, सः = वह, इह = इस लोक में, अविद्याग्रन्थिम् = अज्ञान की गाँठ (पर्दा) को, विकिरति = खोल डालता है ॥९-१०॥

व्याख्या—इन्हीं परम पुरुष परमात्मा से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं। इन्हीं से निकलकर अनेक रूपवाली नदियाँ बह रही हैं। ओषधियों की उत्पत्ति पृथिवी से ही लोक में देखी जाती है। सबका अक्षरयोनित्व कैसे कहा जा सकता है ? ऐसी शङ्का करके बतलाते हैं कि जिस कारण से ये अक्षरपुरुष सबों से सब ओर से घिरा हुआ जैसे उनके अन्तर्यामी रूप से रहते हैं। इसलिये ओषधियों का पृथ्वी आदि कारण होने पर भी पृथिवी आदि के अन्तरात्मा ब्रह्मयोनित्व में कोई विरोध नहीं है। यह सब परम पुरुष परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं और पुरुषात्मक है, इसलिये पुरुष ही कार्य और कारण से तथा नियम्य और नियन्ता से अभेद रूप से सर्वशब्द का वाच्यत्व है। उस पुरुष को विशेष रूप से जान लेने पर यह सब स्थावर-जङ्गम भलीभाँति जान लिया जाता है। कर्म—विश्व सृष्टि-स्थिति-प्रलयानुकूल व्यापार, तप—स्रष्टव्य-आलोचनात्मक ज्ञान तथा प्रकृति से परे मुक्तात्माओं के अमृत की भाँति परमानन्द रूप से भोग्यरूप और ब्रह्म भी अक्षरपुरुष ही है। हे प्रियदर्शन शौनक ! समस्त प्राणियों के हृदय रूप गुफा में स्थित यह अक्षरब्रह्म को इस लोक में जो जानता है वह अविद्या की गाँठ को खोल डालता है॥

प्रथम खण्ड समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयः खण्डः

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत् प्राणन्निमिषच्च यत् ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—आविरित्यव्ययं प्रकाशवाचि योगिनां सदा प्रकाशमानं प्रत्यक्षमिति यावत्। सन्निहितम् = व्यापकतया सर्वेषां समीपे स्थितं, गुहायां = हृदयगुहायां, चरमन्तर्बहिः सर्वं व्याप्य विद्यमानमित्यर्थः। नाम प्रसिद्धं महत्पूज्यं पदं प्राप्यं

ब्रह्म। अत्रास्मिन् ब्रह्मणि यदेतत् एजत् 'एजृ कम्पने' जाग्रदित्यर्थः। निमिषत् = सुषुप्तं च, प्राणत् = प्राणिजातं तत्सर्वं समर्पितमित्यर्थः ॥१॥

सान्वयानुवाद—आविः = (जो) प्रकाशमान, सन्निहितम् = व्यापक रूप से सबों के पास में स्थित, गुहाचरम् नाम = हृदयरूप गुफा में बाहर-भीतर सब को व्याप्त करके विद्यमान, महत्पदम् = महान् पद प्राप्य ब्रह्म, यत् एजत् = जो चित्स्वरूपवाले, च = और, निमिषत् = आँखों को खोलने-मूँदनेवाले, एतत् प्राणत् = ये प्राणिमात्र में, अत्र समर्पितम् = इसी में समर्पित है ॥१॥

व्याख्या—सर्वगुण-सर्वशक्तिसम्पन्न स्वयं प्रकाशमान परमात्मा योगियों के लिये अक्षिगोचर होते हैं, जो व्यापक रूप से समस्त प्राणियों के समीप में स्थित हैं; वे सबों के हृदयरूप गुफा में विचरते हुए अन्दर-बाहर सबों को व्याप्त करके विद्यामान हैं। जो प्रसिद्ध महान् पूज्य प्राप्य ब्रह्म है। इसी ब्रह्म में यह जाग्रत् और सुषुप्त प्राणीसमूह सब-के-सब उसी में समर्पित है ॥१॥

एतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्।
यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—तदेतत् सर्वस्याधारभूतं ब्रह्म हे शिष्याः! जानथ = जानीत, अवगच्छत। किम्भूतं सदसद्भिर्मूर्तामूर्तैः स्थूलसूक्ष्मवस्तुभिर्वरेण्यं वरणीयमाधारत्वेन प्रार्थनीयं विजानात् जीवात्मनः परं = श्रेष्ठं, 'विज्ञानं यज्ञं तनुते यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतौ विज्ञानशब्दस्य जीववाचकत्वात्। यत्प्रजानां वरिष्ठम् उपायोपेयभावेनात्यन्तं वरणीयं यदर्चिष्मदादित्यादीनामपि प्रकाशकं यदा कङ्गुम्यश्यामाकादिभ्योऽप्यणिमदणिष्ठमतिसूक्ष्मतया सर्वान्तःप्रवेशार्हं चकारात् स्थूलेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः स्थूलं यस्मिन् लोकिनो लोकवासिनश्च निहिताः = स्थितास्तदित्यर्थः ॥२॥

सान्वयानुवाद—एतत् = इस सर्वाधार ब्रह्म को, जानथ = हे शिष्यो! तुमलोग जानो, यत् = जो, सत् असत् = सत् और असत् है, (वे कैसे हैं) वरेण्यम् = मूर्त्त और अमूर्त्त अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म वस्तुओं द्वारा आधार रूप से प्रार्थनीय जानो, वरिष्ठम् = श्रेष्ठ, विज्ञानात् = चित्स्वरूप जीवात्मा से, परम् = परे हैं, प्रजानाम् = सारी प्रजाओं के उपाय व उपेय रूप से अत्यन्त वरणीय है, यत् = जो, अर्चिष्मत् = सूर्य आदि के भी प्रकाशक हैं, च = और, यत् = जो, अणुभ्यः अणुमत् = सूक्ष्मों से सूक्ष्म है, यस्मिन् = जिस ब्रह्म में, लोकाः = समस्त लोक, च = और, लोकिनः = उन-उन लोकों पर रहने वाले प्राणी, निहिताः = स्थित हैं ॥२॥

व्याख्या—उपुर्यक्त श्रुतिप्रोक्त विज्ञान शब्द जीव का वाचक है। क्योंकि विज्ञानस्वरूप जीव ही यज्ञ का विस्तार करते हैं, जो विज्ञान में स्थित है। स्थूल और सूक्ष्म वस्तुरूप से इस जगत् में ब्रह्म ही भासित हो रहे हैं। उन्हीं को विशेष रूप से जानना चाहिये। जो समस्त प्राणियों के उपाय-उपेय रूप से अत्यन्त वरणीय हैं। जो

सबों के आधार हैं। सबों के आश्रय ये परमात्मा ही हैं। इसलिये वे जीवों से अधिक श्रेष्ठ हैं। प्रकाशस्वरूप सूर्यादि के भी प्रकाशक हैं, सूक्ष्मों से भी अतिसूक्ष्म हैं, सूक्ष्मरूप से सभी के भीतर प्रवेश करने की क्षमता हैं। जिनमें समस्त लोक और उन लोकों में रहने वाले समस्त प्राणी स्थित हैं अर्थात् ये सब जिनके सहारे टिके हुए हैं ॥२॥

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—तदेतत्सर्वाधारभूतमक्षरं ब्रह्म स प्राणः तदु = तदेव, वाङ्मनः = प्राणादिकं सर्वं तदात्मकमित्यर्थः। सत्यम् = कालत्रयाबाध्यम्, अमृतम् = अमतवत्स्वादुतया सुखभोग्यं, हे सौम्य ! तद् ब्रह्म वेद्धव्यम् = एकाग्रमनोविषयं विद्धि, तत्र मनःसमाधानं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥३॥

सान्वयानुवाद—तत् = वही, एतत् = यह, अक्षरम् = अव्यय, ब्रह्म = ब्रह्म है, सः = वही, प्राणः = प्राण है, तदु = वही, वाङ्मनः = वाणी और मन है, तत् = वही, एतत् = यह, सत्यम् = सत्य है, तत् अमृतम् = वह अमृत है, सौम्य = हे प्रियदर्शन ! तद् वेद्धव्यम् विद्धि = उन्हीं में अपने चञ्चल मन को स्थिर करना चाहिये ॥३॥

व्याख्या—वे ही सबके आधार-आश्रयरूप सनातन ब्रह्म प्राण हैं। वे ही वाणी और मन हैं, प्राणादि सब तदात्मक हैं, तीनों कालों में सत्य हैं अर्थात् उनका अस्तित्व हैं। अमृत की भाँति स्वादुरूप से सुख भोग्य हैं। हे सौम्य ! तू उन्हें एकाग्र चित्त से वेध और उन्हीं में मन को स्थिर करना चाहिये ॥३॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धीयत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—वेधनप्रकारमाह—धनुरिति। औपनिषदम् = उपनिषत्सु प्रसिद्धं प्रणवं, महच्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुर्गृहीत्वा तस्मिन् शरं = जीवं, उपासया = भगवद्ध्यानार्चनादिरूपया, निशितं = तीक्ष्णीकृतं, संस्कृतं सन्धानं कुर्यात्। सन्धाय च तस्मिन् लक्ष्ये भावना-तद्गतेन चेतसा = तत्प्राप्तीच्छया शरमायम्य सेन्द्रियान्तःकरणं तद्विषयान्तरविमुखीकरणपूर्वकं लक्ष्याभिमुखीकृत्येत्यर्थः। लक्ष्यं तदेव पूर्वोक्तलक्षणं हे सौम्य ! विद्धि = जानीहीत्यर्थः ॥४॥

सान्वयानुवाद—औपनिषदम् = उपनिषदों में प्रसिद्ध प्रणव, महास्त्रम् = महान् अस्त्र, धनुः = धनुष को, गृहीत्वा = लेकर, हि = निश्चय ही, (तस्मिन् = उस पर) शरम् = जीव को, उपासया = श्रीभगवच्चिन्तन-पूजन आदि रूप से, निशितम् = तीक्ष्ण किया हुआ, तद्भावगतेन चेतसा = श्रीभगवान् की प्राप्ति की इच्छा से, आयम्य = लक्ष्य की ओर अभिमुख करके, लक्ष्यम् = लक्ष्य को, विद्धि = वेधो अर्थात् जानो ॥४॥

व्याख्या—वेधन के प्रकार (तरीका) को बतलाते हैं—उपनिषदों में प्रसिद्ध प्रणव

महान् है और वही अस्त्र है। शरीररूपी धनुष को लेकर उस पर शररूपी जीवात्मा को श्रीभगवान् का चिन्तन-मनन-पूजन आदि द्वारा संस्कृत होकर सन्धान करे। अर्थात् ओंकार का उच्चारण करते हुए तथा उसके अर्थरूप श्रीभगवान् के चरणकमलों की उपासना रूपी भक्ति से प्राप्त तीक्ष्ण बाण से उनका अनुसन्धान करना चाहिये। सन्धान करके उस लक्ष्य में भक्ति गद्गद हृदय से उसकी प्राप्ति की इच्छा से विनम्र भाव से सारी इन्द्रियों और अन्तःकरण को लक्ष्य की ओर अभिमुख करना है। हे सोम्य! वही अक्षरपुरुष परमात्मा ही लक्ष्य है, उसे जानो ॥४॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—उक्तार्थं विवृणोति—प्रणव इति। धनुरिवात्मरूपशरसमर्पणहेतुरित्यर्थः। ओमित्यात्मानं युञ्जीतेति श्रुत्यन्तरात्। अप्रमत्तेन = सर्वविषयतो विरक्तेनैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यम्। स्वात्मत्वेनानुसन्धानं हि वेधः। ततश्च शरवत्तन्मयो भवेत्। यथा शरस्य लक्ष्ये निमग्नत्वेन लक्ष्याद्भेदकाकारो न स्फुरति एवं निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति इत्याद्युक्ततत्साम्यापन्नस्य ज्ञानैकस्वरूपस्य प्रत्यगात्मनोऽपि देवत्वादिलक्षणभेदकाकारो न स्फुरति इति ॥५॥

सान्वयानुवाद—प्रणवः = ओङ्कार ही, धनुः = धनुष है, आत्मा हि = आत्मा ही, शरः = बाण है, ब्रह्म तल्लक्ष्यम् = ब्रह्म ही उसका लक्ष्य, उच्यते = कहा जाता है, अप्रमत्तेन = प्रमादरहित व्यक्ति द्वारा ही, वेद्धव्यम् = वेधने योग्य है, शरवत् = बाण की तरह, तन्मयः = तन्मय, भवेत् = हो जाना चाहिये ॥५॥

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए अर्थ का विवरण करते हैं—समर्पण के लिये धनुष के समान यह आत्मरूप जीव ही बाण है। इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि ओङ्कार रूप आत्मा को योग में लगावे। सब विषयों से विरक्त एकाग्रचित्त से वेधन करना चाहिये। अपने आत्मरूप से स्वरूप का अनुसन्धान करना ही वेध अथवा वेधन कहलाता है। उसके बाद शर (बाण) की भाँति तन्मय हो जाना चाहिये। जिस प्रकार शर के लक्ष्य में निमग्नरूप लक्ष्य से भेदकाकार स्फुरित नहीं होता है, उस प्रकार निरञ्जन व्यक्ति परम समानता को प्राप्त करता है-इत्यादि श्रुति में बतलाये हुए ब्रह्म के साम्यापन्न एकमात्र ज्ञानस्वरूप जीवात्मा का भी देवत्वादि स्वरूप भेदकाकार स्फुरित नहीं होता है ॥५॥

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—पूर्वोक्तस्यैव दार्ढ्यार्थं पुनराह—यस्मिन्निति। यस्मिन् द्युपृथिव्यादिकमोतं समवेतं तमेवैकम्। एवैकशब्दौ साम्यातिशयव्यवच्छेदपरौ, साम्यातिशयशून्यस्वेतरसमस्तनियन्तारमात्मानं परब्रह्मभूतं भगवन्तं जानथ = जानीत, अन्या =

अन्यदेवविषया अनात्मविषयो वा, वाचो विमुञ्चथ = परित्यजत । यतोऽमृतस्यैव सेतुः = कूलप्रापकनद्यादिसेतुरिव एष परमात्मा संसारमहोदधेः पारभूतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्रापक इत्यर्थः ॥५॥

सान्वयानुवाद—यस्मिन् = जिसमें, द्यौः = स्वर्ग, पृथिवी = पृथिवी, च = और, अन्तरिक्षम् = आकाश, च = और, सर्वैः प्राणैः सह = समस्त प्राणों के साथ, मनः = मन, ओतम् = गूँथा हुआ है, तम् = उस, एकम् आत्मानम् एव = एक आत्मा को ही, जानथ = जानो, अन्याः = दूसरी, वाचः = बातों को, विमुञ्चथ = छोड़ दो, एषः = यह परमात्मा, अमृतस्य = अमृत का, सेतुः = सेतु है ॥५॥

व्याख्या—पहले कही हुई बातों को फिर से कहते हैं—जिन परब्रह्मस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम में द्युलोक, पृथ्वी, आकाश, सात प्राण और इन्द्रियों के साथ मन सब-के-सब ओत-प्रोत हैं एकमात्र उन्हीं को तुम जानो; जिनके समान और जिनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है तथा अपने से इतर सभी का नियन्ता है । दूसरी अनात्मविषया वाणी का परित्याग कर दो । शास्त्रों में बताया गया है कि जिस व्यक्ति की वाणी श्रीभगवान् के स्वरूप, गुण, यश, माहात्म्य का वर्णन नहीं करती वह व्यक्ति कूड़ाघर के समान है। इसलिये श्रुति कहती है 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' । क्योंकि यह आत्मा तीर पर पहुँचाने वाले नदी आदि पर सेतु के समान अमृत का सेतु है । अर्थात् ये परमात्मा संसार-महासागर से पारभूत अमृतत्व मोक्ष के प्रापक हैं, मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले हैं ॥६॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—किञ्च रथनाभौ समर्पिता अरा इव 'सन्ततं च शिराभिस्तु लंबत्याकोशसन्निभमि'ति श्रुत्यन्तरोक्तरीत्या यत्र हृदये नाड्यः संहताः = सङ्गताः तत्र हृदये अन्तर्मध्ये स एष प्रकृत आत्मा चरते = वर्त्तते । किम्भूतः ? 'अजायमानो बहुधा व्यजायत' इत्यादि श्रुत्यन्तरोक्तरीत्या भक्तानां समाश्रयणीयत्वाय तज्जानाय च स्वस्वरूपसंस्थानगुणादिसंयुतः तमात्मानमोमित्येवं तद्वाचकौङ्कारावलम्बनाः सन्तो ध्यायथ । एवं तमसः = प्रकृतेः, परस्तात् = परस्मै, पाराय = परतीराय प्राप्य भूताय, तुमर्थे चतुर्थी च, तत्प्राप्तुं प्रवृत्तेभ्यो वो युष्मभ्यं स्वस्ति = मङ्गलं भवत्विर्थः ॥७॥

सान्वयानुवाद—रथनाभौ = रथ की नाभि में, अराः इव = अरों की भाँति, यत्र = जिसमें, नाड्यः = नाड़ियाँ, संहताः = एक जगह पर हैं, सः = वह, बहुधा = बहुत प्रकार से, जायमानः = उत्पन्न होनेवाला, एषः = यह, अन्तः = बीच में, चरते = रहता है, ओम् इत्येवम् = 'आम्' इस प्रकार, आत्मानम् = आत्मा का, ध्यायथ = ध्यान करो, तमसः परस्तात् = प्रकृति से परे, पाराय = प्राप्यरूप परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम की प्राप्ति के लिए, वः स्वस्ति = तुम लोगों का कल्याण हो ॥७॥

व्याख्या—लोक और वेदोपनिषद् प्रसिद्ध एक ही भगवान् श्रीपुरुषोत्तम बहुत प्रकार से प्रविष्ट होकर स्वयं अजन्मा होते हुए भी बहुत प्रकार से प्रकट होते हैं तथा सभी प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से विचरते हैं। सबके अन्तर्यामी होते हुए भी उनको यथार्थ रूप से कोई जान नहीं पाता। जिस प्रकार रथ के पहिये के बीच में अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार यहाँ शरीर की सारी नाड़ियाँ हृदयकमल में सङ्गत हैं और वहीं ईश्वर भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण जीव रूप से स्थित है। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति' (श्रीमद्भा.)। ईश्वर के वाचक ओंकार का अवलम्बन करते हुए परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का ध्यान करें (करना चाहिये)। जो अज्ञानरूप अन्धकार से सर्वथा अतीत और इस दुस्तर संसारसागर के दूसरे पार हैं, उसकी प्राप्ति के लिये यही सुगम साधन है। आचार्य अपने शिष्यों को आशीर्वचन देते हैं—तुम लोगों का कल्याण हो ॥७॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—स कस्मिन् वर्त्तत इत्याह—यः सर्वज्ञः सर्ववित् भुवि = भूलोके लीलाविभूतौ एष प्रसिद्धः सर्वशासनरूपो महिमा। स एष आत्मा दिव्ये = द्योतमाने, ब्रह्मपुरे = परमव्योम्नि, वैकुण्ठाख्ये त्रिपाद्विभूतौ प्रतिष्ठित इति ॥८॥

सान्वयानुवाद—यः सर्वज्ञः = जो सबको जानने वाला, सर्ववित् = सर्वविषयक ज्ञानवान्। तस्य = उसकी, भुवि = भूलोक में, एषः महिमा = यह महिमा है, दिव्ये व्योम्नि = दिव्य आकाश, ब्रह्मपुरे = ब्रह्मपुर में, एषः हि आत्मा = यह प्रसिद्ध आत्मा, प्रतिष्ठितः = स्थित है ॥८॥

व्याख्या—वे किसमें रहते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—जो सर्वज्ञ एककालावच्छेदेन सर्वविषयक ज्ञानवान् हैं, भूलोक लीलाविभूति में उनकी यह सबको शासन करने वाली महिमा है; वे ही ये आत्मा = परमात्मा द्योतमान परमव्योम वैकुण्ठ नामक त्रिपाद विभूति में विराजते हैं ॥८॥

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—मनोमयः शमदमादिसाधनासहकृतपरमात्मोपासननिर्मलीकृतेन मनसा ग्राह्यः सर्वप्राणिधारकः प्राणः शरीरमाधेयं नियम्यभूतं यस्य स चासौ नेता प्रभुश्चेति 'स प्राणशरीरो भारूप' इति श्रुत्यन्तरात्। यद्वा जीवस्य प्राणशरीरयोः प्रापकः अन्ने भुज्यमानान्नपरिणामे शरीरे अन्तर्यामितया प्रतिष्ठितस्तस्मिन् हृदयं चित्तं सन्निधाय अमृतं संसारातीतमानन्दरूपं दुःखलेशशून्यं यद् विभाति तद्ब्रह्म विज्ञानेन निदिध्यासन-परिपाकजन्यध्रुवास्मृत्याख्यापरोक्षज्ञानेन धीराः परिपश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥९॥

सान्वयानुवाद—प्राणशरीरनेता = प्राण और शरीर के नेता, मनोमयः = मनोमय, हृदयं सन्निधाय = हृदय का सन्निधान कर, अन्ने प्रतिष्ठितः = अन्न में प्रतिष्ठित

है, यत् = जो, आनन्दरूपम् अमृतम् = आनन्दरूप अमृत ब्रह्म, विभाति = विशेष रूप से भासित हो रहा है, धीराः = उपासक, विज्ञानेन = विज्ञान के द्वारा, तत् = उसको, परिपश्यन्ति = देखते हैं ॥९॥

व्याख्या—शम, दम आदि साधना द्वारा परमात्मा की उपासना से निर्मलीकृत विशुद्ध भावयुक्त चित्त से ग्राह्य समस्त प्राणियों को धारण करने वाले प्राण, शरीर का आधेय नियम्यभूत जिनके वे नेता प्रभु हैं अथवा जीवों के प्राण और शरीर का प्रापक अन्न में भुज्यमान अर्थात् अन्नपरिणाम शरीर में अन्तर्यामिरूप से प्रतिष्ठित है-उस शरीर में हृदय का सहारा लेकर दुःखलेशशून्य जो सर्वत्र प्रकाशित है-उस ब्रह्म के निरन्तर ध्यान से परिपक्वा ध्रुवास्मृति नामक अपरोक्ष ज्ञान द्वारा धीर पुरुष साक्षात्कार करते हैं ॥९॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—परमात्मसाक्षात्कारस्य फलमाह—भिद्यते इति । तस्मिन् = सर्ववेदान्तप्रसिद्धे ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे, दृष्टे = साक्षात्कृते सति, हृत्स्थानमयते इति हृदयो जीवस्तस्य ग्रन्थिः । यद्वा अस्य साक्षाद् द्रष्टुः हृदयग्रन्थिः हृदयस्थो ग्रन्थिरिव दुर्मोच्यो देहे तत्सम्बन्धिष्वहन्ताममतात्मकोऽनादिकर्मनिरूपितमायासम्बन्धः । 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मस्वि'ति श्रीमुखोक्तेः । भिद्यते = ध्वंसमापद्यते स्वयमेवेति कर्मकर्तृप्रयोगः साधनान्तरनिरपेक्षत्वद्योतनार्थः । सूर्यप्रकाशे तमोवत् तत्कार्यभूताः सर्वसंशयाः, आत्मपरमात्मसाधनफलसम्बन्धादिविषयकाः स्वयमेव छिद्यन्ते । 'स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति श्रुत्यन्तरात् । तत्र हेतुः 'क्षीयन्ते चास्ये'ति । अस्य भगवत्प्रसादैकविषयस्य चरमजन्मनो विदुषः सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धाख्यानि सर्वकर्माणि पुण्यापुण्यरूपाणि क्षीयन्ते क्षयं = फलजननशक्तिनाशमापद्यन्ते । परमेश्वरं विशिनष्टि-परावरे लोकदृष्ट्या मनुष्यादिभ्यः परे उत्कृष्टा ब्रह्मादयोऽवरे निकृष्टा यस्मादित्यर्थः । अस्य विस्तरस्तु चतुर्थाध्यायचतुर्थपादकौस्तुभप्रभायां द्रष्टव्यः ॥१०॥

सान्वयानुवाद—तस्मिन् परावरे दृष्टे = उस परावर परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम का साक्षात्कार कर लेने पर, अस्य हृदयग्रन्थिः = जीव के हृदय की गाँठ, भिद्यते = भेदन हो जाती है, सर्वसंशयाः = सारे संशय, छिद्यन्ते = छेदन हो जाते हैं, च = और, कर्माणि = सभी पुण्य-पाप कर्म, क्षीयन्ते = क्षय हो जाते हैं ॥१०॥

व्याख्या—परमात्मा के साक्षात्कार का फल बताते हैं—इसी बात को श्रीभगवान् ने उद्धव से कही है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि' ॥

(श्रीमद्भा. ११।२०।३०)

हे प्रिय उद्धव ! जो श्रद्धा-भक्ति से मेरा भजन करता है, इससे उसके हृदय की सारी वासनाएँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं, सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं, शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा उसे मुझ सर्वात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। मनुष्य के देह में सम्बन्ध रखने वाले अहन्ता-ममतारूप अनादि कर्मों से निरूपित माया का सम्बन्ध ही हृदयग्रन्थि है। यह अन्तिम जन्म विद्वान् का सञ्चित, किये जाने वाले और प्रारब्ध समस्त पुण्य-पापरूप कर्मफल को पैदा करने वाली शक्ति का समूल नाश हो जाता है। सर्वात्मा श्रीपुरुषोत्तम परावर हैं—पर अर्थात् उत्कृष्ट ब्रह्मादि देवगण और अवर = निकृष्ट जिससे वे परावर हैं ॥१०॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—हिरण्मये = कमनीये स्वप्रकाशे वा, परे = उत्कृष्टे परमपदे, कोशे = कोश इवात्युत्कृष्टपदार्थोपलब्धिस्थानत्वात् तत्तुल्ये, विरजम् = रजोपलक्षित-प्राकृतगुणशून्यं, ब्रह्म = स्वरूपगुणादितो बृहत्तमवस्तु, निष्कलम् = दिव्यालङ्करणोपेतं कलाः = पञ्चभूतानि तद्रहितं वा, भौतिकशरीरशून्यमिति यावत्। यद्वा तद्धस्तपादादीना-मपि सच्चिदानन्दस्वरूपत्वात् हेयप्राकृतावयवशून्यम्। अत एव तत् शुभ्रं शुद्धम्। ज्योतिषाम् = प्रकाशकानां सूर्यादीनामपि ज्योतिः = प्रकाशकं यदात्मतत्त्वं, तदात्मविदो विदुर्जानन्ति ॥११॥

सान्वयानुवाद—तत् = वह, विरजम् = रजोरहित, निष्कलम् = कलारहित, ब्रह्म = ब्रह्म, हिरण्मये परे कोशे = हिरण्मय परम कोश में, तत् = वह, शुभ्रम् = शुद्ध, ज्योतिषाम् = ज्योतियों की, ज्योतिः = ज्योति है, यत् = जिसको, आत्मविदः = आत्मज्ञानी, विदुः = जानते हैं ॥११॥

व्याख्या—वे रजोपलक्षित प्राकृत गुणों से रहित, दिव्य अलङ्कारों से युक्त, पाञ्च-भौतिक शरीर से रहित, सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम उत्कृष्ट चिन्मय प्रकाशमय परमधाम में विराजमान हैं। वे सर्वदा विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति प्रकाश करने वाले सूर्यादि के भी प्रकाशक हैं। उस परमात्मतत्त्व को आत्मज्ञानी मुक्तात्मा पुरुष ही जानते हैं ॥११॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—सूर्यादिप्रकाशकत्वं सप्रपञ्चमाह—नेति। तत्र = तस्मिन् स्व-प्रकाशे ब्रह्मणि, सूर्यादयो न भान्ति = प्रकाशं न कुर्वन्ति, तदीयतेजसा अविभूतत्वा-त्कुतोऽयमस्मद्गोचरोऽग्निस्तत्र प्रकाशते। ननु प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानेष्वतिभास्वररूपवत्सु सूर्यादिषु न भान्तीति विरुद्धं कथमभिधीयते इति चेत्तत्राह—तमेति। तमेव = भगवन्तं,

भान्तं = देदीप्यमानमनु पश्चात्सर्वं सूर्यादिकं भाति इति सूर्यादिः भास्वररूपं भगवद्दत्ततया भगवदीयमेव न स्वीयं 'यस्यादित्यो मामुपयुज्य भाती'त्यादिश्रुतेः। 'तत्तेजो विद्धि मामकमि'ति श्रीभगवदुक्तेश्च। अधिष्ठानब्रह्मरूपभानव्यतिरिक्तशून्यत्वमध्यस्तप्रपञ्चस्येति परोक्तत्वयुक्तम्, अनुशब्दस्य वैयर्थ्यापत्तेः। न हि तिष्ठति यज्ञदत्ते देवदत्तं गच्छन्तं यज्ञदत्तोऽनुगच्छति इति प्रयोगो दृष्टगोचरः। वह्निमेव दहन्तमयोऽनुदहतीति वत्स्यादिति चेत्, अयसः पृथग् दग्धृत्वाभावात् अतस्तस्य भगवत एव भासा = दीप्त्या, इदं सर्वं जगद् विभातीति ॥१२॥

सान्वयानुवाद—तत्र = उस ब्रह्म में, सूर्यः न भाति = सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्रतारकम् = न चन्द्रमा और तारागण, न इमे विद्युतः = न ये बिजलियाँ, भान्ति = चमकती हैं, अयम् अग्निः कुतः = यह अग्नि क्या वहाँ प्रकाशती है ? तम् भान्तम् एव = उसके प्रकाशित होने पर ही, सर्वम् अनुभाति = सब उसके पीछे भासित होते हैं, तस्य = उसी के, भासा = प्रकाश (दीप्ति) से, इदम् सर्वम् = यह सब, विभाति = प्रकाशित होता है ॥१२॥

व्याख्या—श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीता में इस मन्त्र का अक्षरशः अनुवाद है—

'एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्॥
मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्'। (३।२५।४२)
'वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्'॥ (१०।१३।५५)
'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्'॥ (१५।१२)

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस प्रकार ब्रह्माजी ने एक साथ ही सबों को देखा और परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण के दिव्य तेज से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है। श्रीभगवान् कहते हैं—मेरे भय से वायु चलती है, सूर्य तपता है, इन्द्र वर्षा करते हैं, अग्नि जलती है और मृत्यु मेरे भय से प्राणियों का संहार करती हुई सर्वत्र विचरती है। जो सूर्य में स्थित तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है उस तेज को तू मेरा ही दिव्य तेज जान। लोक में देखा जाता है कि देवदत्त को जाता हुआ देखकर यज्ञदत्त उसके पीछे-पीछे जाता है, यज्ञदत्त के लिये वह ठहरता नहीं। अतः उन भगवान् श्रीकृष्ण की ही दिव्य दीप्ति से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥१२॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥१३॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इति द्वितीयमुण्डकम्।

तत्त्वप्रकाशिका—उपसंहरति—ब्रह्मैवेति। पुरस्तादित्यादि सर्वदिक्षु यदिदं प्रसृतं = दृश्यमानं, तत्सर्वममृतमस्पृष्टसंसारगन्धं ब्रह्मैव, किं बहुना विश्वं = समस्तमिदं जगत्, वरिष्ठं = वरणीयतमं, ब्रह्मैवेति सर्वस्य तत्कार्यत्वतदात्मकत्वतदाधेयत्व-तद्व्याप्यत्वादिना तदभिन्नत्वात् ॥१३॥

॥ इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥

सान्वयानुवाद—इदम् = यह, अमृतम् = अमृत, ब्रह्म एव = ब्रह्म ही, पुरस्तात् = सामने है, ब्रह्म = ब्रह्म ही, पश्चात् = पीछे है, ब्रह्म = ब्रह्म ही, दक्षिणतः = दायीं ओर, च = और, उत्तरेण = बायीं ओर, अधः = नीचे की ओर, च = और, ऊर्ध्वम् = ऊपर की ओर, च = और, प्रसृतम् = देखे जानेवाला, इदम् विश्वम् = यह सब चराचर जगत्, इदम् वरिष्ठम् = यह सर्वोत्कृष्ट, ब्रह्म एव = ब्रह्म ही है ॥१३॥

व्याख्या—उपसंहार करते हैं—जिनको संसार का गन्ध स्पर्श नहीं करता, अथ च दसों दिशाओं में ब्रह्म ही दिखायी दे रहे हैं उनके बारे में बहुत कहना ही क्या है? यह समस्त जगत् वरणीयतम ब्रह्म ही है। इसी तरह श्रीमद्भागवत (१।५।२०) में भी कहा गया है—'इदं हि विश्वं भगवान्' अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व (जगत्) भगवान् ही है। अतः सब ब्रह्मस्वरूप है अर्थात् ब्रह्म से यह सारा चराचर जगत् अभिन्न है ॥१३॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

द्वितीय मुण्डक समाप्त ॥२॥

•

अथ तृतीयमुण्डकः

प्रथमः खण्डः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—जीवपरयोर्देहानुप्रवेशे प्रकृतिसम्बन्धवत्त्वाविशेषेऽपि जीवस्यैव प्रकृतिसम्बन्धजन्यफलभोक्तृत्वं न तु परस्यैतद् दृष्टान्तयन्नाह—द्वेति। द्वेत्यादिषु 'सुपां सुलुगि'त्यनेन औङ आकारादेशः। द्वौ जीवपरौ सुपर्णौ गमनसाधनतया पर्णशब्दोक्त-पक्षतुल्यज्ञानादिगुणवन्तौ। सयुजौ नित्यसम्बन्धिनौ, यद्वा युज्यत इति युक्, युक्शब्दो गुणपरः समानगुणकौ, सखायौ चैतन्यादिना समानख्यानौ उपकार्योपकारकभावेन वर्तमानौ वा परस्पराविनाभूतौ वा समानमेकं वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षस्तं वृक्षवच्छेद-नयोग्यं शरीरं परिषस्वजाते परिष्वज्य वर्तेते। तयोर्द्वयोर्मध्ये अन्यः शरीराद्भिन्नो जीवस्तत्रासक्तः सन् पिप्पलं शरीरसम्बन्धकृतकर्मफलं स्वादु यथा तथा अत्ति = भुनक्ति। अनश्नन्नन्यः द्वाभ्यां भिन्नः द्वयोर्नियन्तृतया वर्तमानः परमात्मा तत्रानासक्तस्तत्फलान्यन-

श्नन्नेवाभितोऽतिशयेन प्रकाशते। अत्र वृक्षादिशब्देषु योगवशाच्छरीरादिप्रतीतिर्न तु रूपकातिशयोक्तिः ॥१॥

सान्वयानुवाद—सयुजा = नित्य सम्बन्धवाले, सखाया = जीव और ईश्वर एक दूसरे के परस्पर सखाभाव रखने वाले, द्वा सुपर्णा = दो पक्षी, समानम् वृक्षम् परिषस्वजाते = एक ही वृक्ष (शरीर) का आलिङ्गन करके रहते हैं, तयोः = उन दोनों के बीच में, अन्यः = जीव, पिप्पलम् = शरीर के सम्बन्ध से किया हुआ कर्म का फल जैसा किया है वैसा, अत्ति = भोगता है, अन्यः = दूसरा, अर्थात् दोनों से अलग, दोनों के नियन्तारूप से एक ही शरीर में बैठे हुए परमात्मा, अनश्नन् = न खाते (भोगते) हुए, अभिचाकशीति = चारों ओर अतिशय प्रकाशित कर रहे हैं ॥१॥

व्याख्या—इस मन्त्र में वृक्ष को शरीर बताया गया है, जीव के इस वृक्षरूप घोंसले में ईश्वर निवास करते हैं। जैसे वृक्ष (पेड़) को काटा जाता है, पेड़ की भाँति काटने योग्य, अर्थात् यह मनुष्यशरीर क्षणभङ्गुर, नाशवान् एवं अनित्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे वृक्ष जड़-अचेतन नाशवान् है वैसे यह शरीर भी है।

यह मन्त्र श्रीमद्भागवत (११।११।६) में भी आया है—

'सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्' ॥

यह शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदय का घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चैतन्य आदि से समान गुण वाले उपकार्य-उपकारक रूप से रहते हैं और दोनों में नित्य-सम्बन्ध है अर्थात् दोनों कभी बिछुड़ते नहीं हैं, अतः दोनों सखा हैं। उन दोनों के मध्य में दूसरा शरीर से भिन्न जीव उसमें आसक्त होकर शरीर रूप वृक्ष के फल सुख-दुःख (जय-पराजय) कष्टों को भोगता है। दूसरा न भोगता हुआ दोनों भिन्न दोनों के स्वामी रूप से रहता हुआ और कर्मों का फल न भोगता हुआ सत्य-ज्ञान आदि शक्तियों से परिपूर्णानन्द परमात्मा अपने दिव्यतेज से सब ओर प्रकाशित करता है। इस मन्त्र में जीव और ईश्वर की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

**समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥**

तत्त्वप्रकाशिका—जीवस्यासक्तिं दर्शयन् परमात्मदर्शनात् तस्य मोक्षमाह-समाने इति। समाने = एकस्मिन् वृक्षे वृक्षलक्षणयुक्ते देहे, अनीशया = ईश्वराधीनतया कर्मात्मिकाविद्यया भोग्यभूतयाऽस्त्र्यादिमय्या प्रकृत्या वा, अनीशत्वेनासमर्थत्वेन मुह्यमानः = मोहं प्राप्नुवन्, पुरुषः-पुरुषु = देहेषु, सीदति = कर्मवशतया गच्छति इति पुरुषो जीवः, निमग्नः = नितरां मग्नः; कृशोऽहं, स्थूलोऽहं, कालोऽहं खञ्जोऽहमिति तादात्म्यबुद्ध्या तदेकतामापन्नः सन्, शोचति = तत्सम्बन्धजन्यसुखदुःखान्यनुभवति। यदा तु जुष्टं = ब्रह्मादिसेवितं स्वस्मिन् वाऽनेकजन्मकृतपुण्यपुञ्जैः प्रोतं स्वस्मादन्यं

स्वामितया नियन्तृतया मोक्षदातृतया च भिन्नमीशं परमात्मानं, पश्यति = साक्षात्करोति, तदा वीतशोकः सन् अस्य महिमानं = सार्वज्ञ्यादि-लक्षणं तत्साम्यापत्तिमिति, एति = प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२॥

सान्वयानुवाद—समाने वृक्षे = एक वृक्ष पर, (रहने वाला) निमग्नः = डूबा हुआ, पुरुषः = जीव, अनीशया = असमर्थता प्रकट करता हुआ, मुह्यमानः = मोह को प्राप्त होकर, शोचति = शोक करता है, यदा = जब, जुष्टम् = ब्रह्मादि सेवित, अन्यम् = अपने से भिन्न, ईशम् = ईश्वर की (सेवा करता है), अस्य महिमानम् = उनकी महिमा को, पश्यति = देखता है, (तदा = तब) वीतशोकः = शोकरहित हो जाता है ॥२॥

व्याख्या—जीव की आसक्ति को दिखलाते हुए परमात्मा के दर्शन से उसका मोक्ष बताते हैं—एक वृक्षलक्षण युक्त शरीर में ईश्वर के अधीन कर्मात्मिका अविद्या से वशीभूत असमर्थ होकर मोह को प्राप्त करता हुआ जीव कहता है—मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं काला हूँ, मैं खञ्ज हूँ; इस प्रकार तादात्म्य बुद्धि से षड्विकार वाले शरीर में ही आत्मबुद्धि-ममता से ग्रस्त होकर उसके सम्बन्ध से उत्पन्न सुख व दुःखों का अनुभव करता है। जब ब्रह्मादि सेवित अथवा अपने अनेक जन्म-जन्मान्तर के किये हुए पुण्य-समूहों से ढेर इकट्ठे हुए अपने से भिन्न स्वामिरूप से, नियन्ता रूप से और मोक्षदाता के रूप से परमात्मा का साक्षात्कार करता है तब वह वीतशोक होकर उनकी महिमा सार्वज्ञ्यादि लक्षण व उनकी समानता को प्राप्त करता है ॥२॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥
प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भव ते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—यदा यस्मिन् काले अनेनोत्तरायणादिकालव्यावृत्तिः, पश्यः = श्रीभगवत्स्वरूपगुणशक्त्यादिसाक्षात्कारानुभवाश्रयः, पुरुषं पश्यते = अपरोक्षेण स्वात्मतयाऽनुभवति, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय = निरस्य, निरञ्जनः = प्रकृतितत्कार्यदेहादिसम्बन्धलक्षणोपाधिविनिर्मुक्तः सन् साम्यमुपैति। पुरुषं विशिनष्टि-रुक्मवर्णं कमनीयवर्णं प्रकाशमानं सौन्दर्यलावण्यकैशोर्यमाधुर्यसौगन्ध्यसौशील्याद्यनन्तकल्याण-गुणाश्रयपरमयोगिध्येयध्यातृकर्मभर्जिष्णुसर्वपुरुषार्थसुरद्रुमदिव्यमङ्गलविग्रहयुक्तमिति यावत्। 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्', 'आप्रणखात् सुवर्णं परस्तात् आप्रणखात् सुवर्णः हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुरि'त्यादिश्रुत्यन्तरात्। अनेन नीरूपस्यैव ब्रह्मणो दर्शनं मोक्षहेतुरिति मन्यमाना निरस्ताः। जीवेऽतिव्याप्तिं वारयन् आह—कर्त्तारमिति। जगत इति शेषः। तत्र हेतुरीशं नियन्तारम्। चतुर्मुखेऽपि तयोः सत्त्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—ब्रह्मयोनिं चतुर्मुखस्यापि कारणम्। 'यो ब्रह्माणं विदधाति' इति श्रुतेः। यद्वा वेदस्यापि विधिद्वारेणेशनशीलत्वाज्जगन्निर्मितत्वाच्च तद्व्यावृत्तिर्वेदस्यापि कारणमित्यर्थः। साम्यं विशिनष्टि-परममिति। अपहतपाप्मत्वादिलक्षणब्रह्मरूपेण सार्वज्ञ्यादिगुणेन च साम्यात्

परमत्वमित्यर्थः। एषः प्रकृतः प्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मा सर्वभूतैः इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया सर्वभूतैराश्रितः सर्वभूतान्तरात्मा सन् विभाति = विविधं प्रकाशते। तं विशेषेण श्रवणादिना जानन् विद्वानुपासीनस्तेन ब्रह्मणाऽतिवादी भव स्वोपास्यदेवताया रम्यवदन-शीलो भवेत्यर्थः। आत्मनि = तस्मिन्नेव क्रीडा यस्य नोपजनादिषु आत्मन्येव रतिः = प्रीतिर्यस्य न स्रक्चन्दनादौ, क्रियावान् = फलानुसन्धानशून्यकर्मानुष्ठानकर्ता च भवेत्यर्थः। एवं निष्कामकर्मणा शुद्धान्तःकरणे विद्यानिष्पत्तेरेष विद्वान् ब्रह्मविदां वरिष्ठः श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥३-४॥

सान्वयानुवाद—यदा = जब, पश्यः = द्रष्टा, ईशम् = ईश्वर, ब्रह्मयोनिम् = ब्रह्मा के कारण, कर्तारम् = जगत् के कर्त्ता, रुक्मवर्णम् = कमनीयवर्ण, पुरुषम् = परमपुरुष को, पश्यते = देखता है, तदा = उस समय, पुण्यपापे = पुण्य और पाप को, विधूय = विधुनन करके, निरञ्जनः = निर्दोष हुआ, विद्वान् = ज्ञानवान् पुरुष, परमम् साम्यम् = परम समानता को, उपैति = प्राप्त करता है॥ एषः = यह, प्राणः हि = प्राण ही, यः = जो, सर्वभूतैः = सब प्राणियों के द्वारा, विभाति = नाना प्रकार से प्रकाशित हो रहा है, विजानन् = जानने वाला, विद्वान् अतिवादी = विद्वान् अपने उपास्य देवता के रमणीय कहने वाला शील स्वभाव, ते = तुम्हारा, भव = हो, न = दूसरी बातों को कहना छोड़ दो, आत्मक्रीडः = परमात्मा में ही क्रीड़ा करता रहता है, आत्मरतिः = परमात्मा में ही रति-प्रीति करता रहता है, क्रियावान् = फलानुसन्धान न करता हुआ कर्मों को करने वाला, एषः = यह, ब्रह्मविदाम् = ब्रह्मवेत्ताओं में, वरिष्ठः = श्रेष्ठ है ॥४॥

व्याख्या—श्रीभगवान् के स्वरूप, गुण एवं अनन्ताचिन्त्य शक्ति इत्यादि को साक्षात् करने वाला, अनुभव करने वाला और उनका आश्रय लेने वाला विद्वान् जब जगत् की रचना करने वाले, वेद और ब्रह्मा इन दोनों के कारण, कमनीयवर्ण एवं प्रकाशमान परमात्मा को अपने नेत्रों से देख लेता है तब वह अपने पुण्य-पापरूप कर्मों का समूल नाश करके निरञ्जन–निर्दोष हो जाता है; प्रकृति और उसका कार्य देहादि के सम्बन्ध रूप उपाधि से विनिर्मुक्त होकर श्रीभगवान् की समता को प्राप्त हो जाता है। नीरूप ब्रह्म के दर्शन मोक्ष का हेतु माननेवालों का यह मत 'रुक्मवर्णं पुरुषं पश्यते'— इसके द्वारा निरस्त हो गया। प्राण शब्द से निर्देश किया गया परमात्मा लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध से समस्त प्राणियों के सहारे दृश्यमान सम्पूर्ण चराचर जगत् में अन्तर्यामी रूप से नाना नाम-रूप धारण कर प्रकाशित हो रहे हैं। उन परमात्मा का विशेष करके श्रवण, मनन और निदिध्यासन से जानता हुआ विद्वान् उपासक उनके महान् अनुग्रह से अतिवादी ब्रह्मज्ञानी बन उन उत्तमश्लोक श्रीभगवान् के स्वरूप, गुण एवं माहात्म्य का वर्णन करने वाला होता है। वह ग्राम्यचर्चा कभी नहीं करता। कर्म के फलों का अनुसन्धान रहित होकर निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ वह परमात्मा में ही क्रीडा करता है। इस प्रकार परमात्मा में अप्रतिहत अनुराग तथा निष्काम कर्म द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाला विद्वान् तत्त्वज्ञानी पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है ॥३-४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—मुमुक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते—सत्येनेत्यादिना। एष आत्मा सत्येन = मृषावदनत्यागेन, लभ्यः = उपासनद्वारा प्राप्यः, किञ्च तपसा हि इन्द्रियमनसामेकाश्रयलक्षणेन, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च स्वैकाग्र्यं परमं तपः' इति श्रुतेः। सम्यग्ज्ञानेन = चागमोत्पन्नेन, ब्रह्मचर्येण = स्त्रीसङ्गादित्यागेन, लभ्यः इत्यनुषङ्गः। नित्यं सर्वदा नित्यमिति अन्धदीपकन्यायेन सत्यादिषु सर्वेष्वभिवक्तव्यम्। किम्भूतः ? ज्योतिर्मयः = ज्ञानमयः, शुभ्रः = सर्वदोषशून्यः। कोऽसौ ? तत्राह—अन्तःशरीरे = शरीरस्यान्तर्मध्ये = हृदयकमले, यतयः = जितेन्द्रियाः, क्षीणदोषाः = रागादिदोषरहिताः योगिनो यं पश्यन्ति एष इत्यर्थः ॥५॥

सान्वयानुवाद—एषः = यह, अन्तःशरीरे = शरीर के भीतर बीच में (हृदय-कमल में विराजमान), ज्योतिर्मयः = ज्ञानमय, शुभ्रः = स्वभाव से ही समस्त दोषों से सर्वथा रहित, आत्मा = परमात्मा, हि = निश्चित ही, सत्येन = सत्यस्वरूप ब्रह्म के विचार-विवेचन द्वारा, तपसा = इन्द्रिय और मन को अपने में भलीभाँति एकाग्र द्वारा, ब्रह्मचर्येण = यौवनमद से युक्त स्त्रियों के सङ्गादि का परित्याग द्वारा, सम्यग्ज्ञानेन = आगम से उत्पन्न ज्ञान द्वारा, सदा लभ्यः = सर्वदा उपासना द्वारा प्राप्त होने वाला है, यम् = जिसे, क्षीणदोषाः = राग-द्वेष आदि दोषों से रहित, यतयः = जितेन्द्रिय योगिलोग, पश्यन्ति = देखते हैं ॥५॥

व्याख्या—इस मन्त्र में मुमुक्षु के सम्यक् ज्ञान के सहकारि साधन बताते हैं—समस्त प्राणियों के तत्तद् हृदयों के अनुरूप उस-उस शरीर के अन्दर मध्य हृदयकमल में ज्ञानमय, आनन्दमय एवं माया के गुण-दोषों से सर्वथा रहित परमात्मा श्रीकृष्ण स्थित हैं; जैसे सबों की आँखों में एक ही सूर्य होता है। राग-द्वेष आदि दोषों से शून्य जितेन्द्रिय योगिजन समाधि में जिनका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, वे परमात्मा नित्य तप, नित्य ब्रह्मचर्य और वेदशास्त्रादि से उत्पन्न ज्ञान द्वारा तथा सत्यस्वरूप ब्रह्म के स्वरूप-विवेचन द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं ॥५॥

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—सत्यं स्तौति—सत्यमेव = सत्यवानेव, नानृतवादीत्यर्थः। लोके सत्यवादिनाऽनृतवादिपराभवो दृश्यते। अर्चिरादिरूपेण विस्तीर्णो देवयानाख्यः पन्थाः सत्येन भवति। येन = पथा, ऋषयः = तत्त्वविदः, ह्याप्तकामाः = प्राप्त-सर्वकामाः सन्तः, तत्राक्रमन्ति = गच्छन्ति, यत्र स्थाने सत्यस्य = सत्यवचनस्य, तत्परं = सर्वोत्कृष्टप्रयोजनभूतं, निधानं = प्राप्यरूपेण निधीयते व्रजते तत्रेत्यर्थः ॥६॥

सान्वयानुवाद—सत्यम् = सत्य का, एव = ही, जयति = जय होता है,

अनृतम् = झूठ का, न = नहीं, हि = निश्चित ही, देवयान: पन्था: = देवयान मार्ग, सत्येन = सत्य से, विततः = विस्तीर्ण है, आप्तकामा: = प्राप्त समस्त काम, ऋषय: = तत्त्वज्ञानी जन, येन = जिससे, आक्रमन्ति = प्रस्थान करते हैं, यत्र = जहाँ, तत् = वह, सत्यस्य = सत्यवचन का, परमम् = उत्कृष्ट, निधानम् = निधान है ॥६॥

व्याख्या—सच कहने वाले व्यक्ति का ही विजय अर्थात् जय-जयकार होता है, झूठ कहने वाले का नहीं। लोक में देखा जाता है कि सच बोलने वाले व्यक्ति से झूठ बोलने वाले का पराभव (हार) होता है। व्यक्ति श्रीभगवान् के दुर्लभ स्थान को सत्य से ही जीत सकता है, अनृत से नहीं; जैसे महाराज बलि। अर्चिरादिरूप से विस्तीर्ण देवयान नामक मार्ग सत्य से होता है, जिस मार्ग से तत्त्वज्ञानी प्राप्तसमस्तकाम होकर वहाँ जाते हैं, जिस स्थान में सत्यवचन का सर्वोत्कृष्ट प्रयोजनरूप निधान प्राप्यरूप से है–वहाँ जाते हैं ॥६॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—देवयानपथा प्राप्यवस्तु विशिनष्टि—बृहच्चेति। तत्प्रकृतं वस्तु स्वरूपतो गुणतश्च बृहत् दिव्यं स्वयं ज्योतिः, अचिन्त्यरूपम् = इयत्तया चिन्तनानर्हकमनीयरूपयुक्तं, सूक्ष्मात् = जीववर्गादपि सूक्ष्मतरं तस्याप्यन्ततः प्रविष्टत्वात्, विभातीति = विशेषेण दीप्यते। किञ्च दूरात् सुदूरे = प्रकृतेः पारभूते परमपदे, इहान्तिके = सूर्यमण्डलादौ, पश्यत्सु = ब्रह्मदर्शिषु योगिषु, इहैव गुहायां = सर्वप्राणिनां हृदयाकाशे च, निहितं = स्थितमित्यर्थः ॥७॥

सान्वयानुवाद—तद् = वह (ब्रह्म), बृहत् = स्वरूप और गुण से महान्, च = और, अचिन्त्यरूपम् = अचिन्त्यरूप है, च = और, तत् = वह, सूक्ष्मात् = सूक्ष्म से, सूक्ष्मतरम् = सूक्ष्मरूप में, विभाति = भासित हो रहा है, तद् = वह (ब्रह्म), दूरात् सुदूरे = दूर से अत्यन्त दूर में है, इह = इस, अन्तिके च = समीप में भी है, इह = यहाँ, पश्यत्सु = देखनेवालों में, गुहायाम् एव = गुफा में ही, निहितम् = सन्निहित है ॥७॥

व्याख्या—देवयान मार्ग से प्राप्यवस्तु के स्वरूप का निरूपण करते हैं—स्वरूप और गुण से बृहत् (महान्) वस्तु को ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। वह स्वयं प्रकाशमान है, इयत्ता से चिन्तन के अर्ह नहीं है। उनका श्यामल कमनीयरूप से युक्त वर्ण अत्यन्त शोभित हो रहा है। सूक्ष्म जीव वर्ग से अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी उसके भीतर प्रवेश करके विशेष रूप से देदीप्यमान हो रहे हैं। वे प्रकृति से परे परमपद में, सूर्यमण्डल आदि में, समस्त प्राणियों के हृदयाकाश में तथा ब्रह्मदर्शी योगियों के हृदयकमल में स्थित हैं ॥७॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—चक्षुषा = प्राकृतचक्षुषा, वाचा = वेदवाण्याऽपि, इयत्तया न गृह्यते देवैरिन्द्रियैरतीन्द्रियत्वात्, तपसा = कर्मणा वा अग्निहोत्रादिना न गृह्यते। तर्हि कथं गृह्यते ? तत्राह—ज्ञानेति। ज्ञानशब्दः परमात्मवाची। 'प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी'ति श्रुतेस्तस्य ज्ञानप्रसरणहेतुत्वात्। निष्कलमुक्तार्थं परमात्मानं ध्यायमानो मुमुक्षुस्तत्प्रसादेन विशुद्धान्तःकरणो भवति, ततस्तु तं पश्यते ध्रुवास्मृत्या तं स्वानुभवविषयीकरोतीत्यर्थः ॥८॥

सान्वयानुवाद—न चक्षुषा = वह परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाचा = और न वाणी से, न अन्यैः देवैः = न दूसरी इन्द्रियों से, अपि = ही, गृह्यते = ग्रहण करने में आता है, तपसा कर्मणा वा = अथवा तप और कर्म द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तम् = उस, निष्कलम् = प्राकृतकर्मजन्य शरीर से रहित परमात्मा को, विशुद्ध-सत्त्वः = विशुद्ध अन्तःकरणवाला उपासक, ध्यायमानः = ध्यान करता हुआ, ज्ञान-प्रसादेन = उनकी प्रसन्नता से, पश्यते = देख सकता है ॥८॥

व्याख्या—श्रीमद्भागवत में भी यही कहा है—जहाँ न पहुँचकर मन के सहित वाणी भी लौट आती है तथा जिनका पार पाने में अहङ्कार के अभिमानी रुद्र एवं अन्य इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता भी समर्थ नहीं है–उन श्रीभगवान् को हम नमस्कार करते हैं (३।६।४०)। जो नाम और रूप से रहित होते हुए भी भक्तों के मोक्ष के लिये नानारूप धारण कर दर्शन देते हैं वे श्रीभगवान् मुझ पर प्रसन्न हों (६।४।३३)। 'ध्यायेदजस्रं हरिम्' इसके अनुसार निरन्तर श्रीभगवान् का ध्यान करता हुआ मुमुक्षु उनकी प्रसन्नता से वह विशुद्ध अन्तःकरणवाला हो जाता है। उसके बाद तो वह ध्रुवास्मृति द्वारा उन परमात्मा को अपने अनुभव का विषय ही कर लेता है ॥८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं तत्पदार्थमुक्त्वा तच्छक्तिभूतत्वं पदार्थस्वरूपमाह—एष इति। अणुः = अणुपरिमाणकः, एष आत्मा = जीवात्मा, चेतसा = विशुद्धमनसा, वेदितव्यः = वेदितुं योग्यः। एषः कस्तत्राह—यस्मिन्निति। प्राणापानादिरूपेण पञ्चधा = पञ्चप्रकारः प्राणो यस्मिन्, संविवेश = यदाश्रितः स इत्यर्थः। किञ्च यस्मिन् प्राणैः = इन्द्रियैः, सह प्रजानां सर्वचित्तमन्तःकरणम्, ओतम् = समवेतम्, क्षीरमिव सर्पिषा येन व्याप्तं 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट' इति श्रीमुखोक्तेः। यस्मिन् = परमात्मनि, विशुद्धे = प्रसन्ने सति, एषः = जीवात्मा, विभवति = विशेषेणाविर्भूतापहतपाप्मत्वादि-गुणाष्टको भवतीत्यर्थः ॥९॥

सान्वयानुवाद—एषः = यह, आत्मा = जीवात्मा, अणुः = अणुपरिमाणवाला, चेतसा = विशुद्ध मन से, वेदितव्यः = जानने योग्य है, पञ्चधा = प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान रूप से पाँच प्रकार का प्राण, यस्मिन् = जिसमें,

संविवेश = सम्यक् प्रविष्ट है अर्थात् आश्रित है वह, यस्मिन् = जिसमें, प्राणैः = इन्द्रियों के साथ, प्रजानां = प्राणियों का, सर्वम् चित्तम् = समस्त अन्तःकरण, ओतम् = समवेत है, यस्मिन् = जिस परमात्मा के, विशुद्धे = प्रसन्न होने पर, एषः = यह जीवात्मा, विभवति = विशेष रूप से आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि आठों गुणों से युक्त होता है ॥९॥

व्याख्या—वे पापादि रहित आठ गुण निम्न प्रकार से हैं—पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, प्यासरहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प गुणवाला जीवात्मा हो जाता है। कुछ लोग जीवात्मा को ब्रह्म मानकर उसके समान ही विभु बतलाते हैं, परन्तु इस श्रुति से ऐसा सिद्ध नहीं होता है। 'एषोऽणुरात्मा' इत्यादि। 'बालाग्रशतंभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।९)। अर्थात् बाल की नोक के सौवें भाग के फिर सौ भागों में कल्पना किये जाने पर जो एक भाग होता है वही जीव का स्वरूप समझना चाहिये। इत्यादि मन्त्रों से जीवात्मा अणु ही सिद्ध होता है। इस प्रकार इस मन्त्र में 'त्वम्' पदार्थ जीवात्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है ॥९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१०॥

॥ इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—आत्मज्ञप्रशंसामाह—यमिति। विशुद्धसत्त्वः = निर्मलान्तःकरण आत्मज्ञः, यं यं लोकं = जनं मित्रादिरूपं मनसाऽऽप्तं, विभाति = सङ्कल्पयति, यांश्च कामान् = स्त्रीपुत्रादीन् प्रार्थयते तं तं लोकं तांश्च सङ्कल्पितान् कामान्, जयति = प्राप्नोति। यतो लोकादीन् प्राप्तुमन्येभ्यः प्रापयितुं चायं समर्थस्तस्मादैश्वर्यकाम आत्मज्ञं पूजयेत् ॥१०॥

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

सान्वयानुवाद—विशुद्धसत्त्वः = निर्मल अन्तःकरणवाला (व्यक्ति), यम् यम् = जिस-जिस, लोकम् = लोक को, मनसा = मन से, संविभाति = सङ्कल्प करता है, च = और, यान् कामान् कामयते = जिन कामना-वासनाओं को चाहता है, तम् तम् = उन-उन, लोकम् = लोकों को, जयते = जीत लेता है, च = और, तान् कामान् = उन कामनाओं को अर्थात् अपने मनोरथ को प्राप्त कर लेता है, तस्मात् हि = इसलिये, भूतिकामः = ऐश्वर्य चाहनेवाला व्यक्ति, आत्मज्ञम् = आत्मज्ञानी पुरुष की, अर्चयेत् = पूजा करे ॥१०॥

व्याख्या—इस मन्त्र में आत्मा को जानने वाले पुरुष की प्रशंसा करते हैं—निर्मल अन्तःकरणवाला आत्मज्ञ पुरुष जिस-जिस जिन मित्रादि का मन से सङ्कल्प करता है और स्त्री-पुत्रादि को चाहता है उन सङ्कल्पित कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

क्योंकि वह अपनी प्राप्ति के लिये और दूसरों को प्राप्त कराने के लिये समर्थ है। इसलिये ऐश्वर्य की कामनावाले व्यक्ति आत्मज्ञ पुरुष की सेवा-पूजा करें ॥१०॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—आत्मज्ञपूजाफलमाह—स इति। स प्रकृत आत्मवित् एतत्पूर्वोक्तलक्षणं परमं = सर्वोत्कृष्टं, धाम = सर्वकामास्पदभूतं, वेद = जानाति, यत्र = यस्मिन् ब्रह्मणि, विश्वं = समस्तं जगन्निहितं = अर्पितम्। यच्च ब्रह्म शुभ्रं = शुद्धं, भाति = स्वयं प्रकाशते, यद्वा यस्मिन् विश्वं सर्वकर्मनिहितं समर्पितं सत् शुभ्रं = निर्मलं भाति तदेतद् ब्रह्म स वेद तादृशमात्मानं ये अकामाः = निष्कामा मुमुक्षवः, सन्त उपासते ते एतत् शुक्रं = चरमधातुमतिक्रम्य वर्त्तन्ते = न पुनर्जायन्त इत्यर्थः ॥१॥

सान्वयानुवाद—सः = वह, एतत् = इस, परमम् = परम, शुभ्रम् = शुद्ध, ब्रह्म धाम = ब्रह्म धाम को, वेद = जानता है, यत्र = जिसमें, विश्वम् = समस्त जगत्, निहितम् = अर्पित है, भाति = स्वयं प्रकाशित हो रहा है, ये हि = जो कई, अकामाः = निष्काम मुमुक्षु, पुरुषम् उपासते = भगवान् श्रीपुरुषोत्तम की उपासना करते हैं, ते = वे, धीराः = विवेकी पुरुष, एतत् = इस, शुक्रम् = चरमधातु को, अतिवर्तन्ति = अतिक्रमण कर जाते हैं ॥१॥

व्याख्या—आत्मज्ञानी की पूजा का फल बताते हैं—पहले बताये गये आत्मवित् पुरुष का लक्षण वह सर्वोत्कृष्ट सर्वकामास्पदरूप ब्रह्म को जानता है, जिस ब्रह्म में सम्पूर्ण जगत् अर्पित है और जो विशुद्ध ब्रह्म स्वयं स्थूल और सूक्ष्म रूप से इस नाम-रूपात्मक जगत् में भासित हो रहा है—ऐसा जानकर जो विवेकी पुरुष निष्काम भाव से मुमुक्षु होकर ब्रह्म की उपासना करते हैं वे इस चरमधातु को अतिक्रमण कर जाते हैं; फिर वे इस जन्म-जरा-मृत्युरूप संसारचक्र में घूमते नहीं हैं अर्थात् उत्पन्न नहीं होते हैं ॥१॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—मुमुक्षोः कामत्यागमेव मुख्यतया दर्शयति—कामानिति। यस्तु भोग्यतया मन्यमानो यान् कामाननिष्टविषयान् देवत्वादीन् कामयते = प्रार्थयति, स तेषु तेषु विषयेषु देवत्वादिषु कामप्रेरितः सन् कामभिः = कामैः प्रवृत्तिहेतुभिर्विषये-च्छारूपैः सह देवादिरूपेण जायते। पर्याप्तकामस्य = परिपूर्णब्रह्मकामयमानस्य कृता-

त्मनः = ज्ञानात्मतत्त्वस्य तु, इहैव = अत्रैव जन्मनि, सर्वे कामाः = विषयेच्छारूपाः, प्रविलीयन्ति = नश्यन्ति, न जन्मान्तरप्राप्तिरित्यर्थः। कृधातोः शास्त्रवित् करोतीतिवत् ज्ञानार्थत्वम् ॥२॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, कामान् = भोगों को, मन्यमानः = आदर देनेवाला, कामयते = कामना करता है, सः = वह, कामभिः = कामनाओं के साथ, तत्र तत्र = उस-उस योनि में, जायते = उत्पन्न होता है, पर्याप्तकामस्य = परिपूर्ण ब्रह्म को चाहने वाले, कृतात्मनः = आत्मतत्त्व को जानने वाले पुरुष की, इह एव = इसी जन्म में, सर्वे कामाः = सारी कामनाएँ, प्रविलीयन्ति = अच्छी प्रकार से विलीन हो जाती हैं ॥२॥

व्याख्या—इस मन्त्र में मुख्यरूप से मुमुक्षु पुरुष की कामनाओं के त्याग को दिखलाते हैं—जो भोग्यरूप से आदर देने वाला जिन अनिष्ट विषय देवत्वादि पद को चाहता है, देवता होने के लिए तरसता है वह उन-उन विषय देवत्वादि में काम से प्रेरित होकर कामनाओं की प्रवृत्ति हेतुओं से (विषयों की चाह) देवादिरूप से जन्मता है। परिपूर्ण ब्रह्म को चाहने वाले एवं आत्मतत्त्व को जाननेवाले मुमुक्षु पुरुष की इसी जन्म में ही विषयों की चाह समूल नष्ट हो जाती हैं, उन्हें दूसरे जन्म की प्राप्ति नहीं होती है ॥२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—नायमिति। यत्कामयमानस्य कामा इहैव प्रविलीयन्ति सोऽयमात्मा प्रवचनेन = शास्त्राध्ययनबाहुल्येन न लभ्यः, तथा मेधया = ग्रन्थार्थधारणशक्त्या, भूयसा श्रवणेन च न लभ्यः। यद्वा मेधाशब्दो निदिध्यासनपरस्तत्साधनत्वात्प्रवचनशब्दो मननपरः, श्रवणादिभिः केवलैर्न लभ्य इत्यर्थः। तर्हि केन लभ्यः? इत्यत्राह—यमिति। यमुपासकमेष परमात्मा वृणुते = आत्मसात्करोति। तेनात्मीयेन तत्प्रियतमेन लभ्यः तस्य प्रियतमस्योपासकस्यैष आत्मा स्वां तनूं मूर्त्तिं विवृणुते = प्रकाशयति, प्रत्यक्षीभवतीत्यर्थः ॥३॥

सान्वयानुवाद—अयम् = यह, आत्मा = परमात्मा, न प्रवचनेन = न तो प्रवचन से, न मेधया = न मेधा से, (और) न बहुना श्रुतेन = न बहुत सुनने से ही, लभ्यः = प्राप्त हो सकता है, एषः = यह (परमात्मा), यम् = जिसको, वृणुते = वरण करता है, तेन एव = उसके द्वारा ही, लभ्यः = प्राप्त किया जा सकता है, एषः = यह, आत्मा = परमात्मा, तस्य = उसके लिए, स्वाम् तनुम् = अपनी मूर्त्ति को, विवृणुते = प्रकाशित कर देता है ॥३॥

व्याख्या—जिसे चाहनेवाले मुमुक्षु की सारी कामनाएँ यहीं जड़ से समूल नष्ट हो जाती हैं वही यह परमात्मा बहुत शास्त्रग्रन्थों के अध्ययन से नहीं मिल सकता है तथा उन शास्त्रीय ग्रन्थों के अर्थों की धारणशक्ति से और न तो बहुत श्रवण से प्राप्त किया

जा सकता है। 'नानुध्यायेद् बहून् ग्रन्थान् वाचो विग्लापनं हि तत्' अर्थात् अधिक ग्रन्थों का अध्ययन न करे, क्योंकि वह वाणी का ही विग्लापन है। तब वे परमात्मा किसके द्वारा जीवात्माओं को मिलते हैं ? इस पर कहते हैं—ये परमात्मा जिस उपासक को आत्मसात् कर लेते हैं, उसके द्वारा अपने उस प्रियतम से ही मिलते हैं एवं उस प्रियतम उपासक के सामने परमात्मा अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष कर देते हैं ॥३॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाऽप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—अयमात्मा बलहीनेन = दैन्यवता न लभ्यः, तथा प्रमादात् = विषयासङ्गनिमित्तानवहितचित्तात्, अलिङ्गात् = लिङ्गरहितात्, तपसः = तपःप्रधान-संन्यासाश्रमात्, उपलक्षणमेतत्। आश्रमान्तरस्यापि लिङ्गशून्यैः सर्वैराश्रमैर्न लभ्य इत्यर्थः। यस्तु विद्वान् ब्रह्मप्राप्त्यर्थं एतैरुपायैः = बलाप्रमादसलिङ्गाश्रमैर्यतते तस्यैष आत्मा स्वरूपं धाम प्राप्तं ब्रह्म विशते = प्राप्नोति ॥४॥

सान्वयानुवाद—अयम् = यह, आत्मा = परमात्मा, बलहीनेन = बलहीन व्यक्ति द्वारा, न लभ्यः = नहीं प्राप्त किया जा सकता, च = और, प्रमादात् = प्रमाद से, वा = अथवा, अलिङ्गात् = लिङ्गरहित, तपसः = तप से, अपि = भी, न = नहीं, यस्तु = किन्तु जो, विद्वान् = विवेकी व्यक्ति, एतैः = इन, उपायैः = साधनों के द्वारा, यतते = यत्न करता है, तस्य = उसका, एषः = यह, आत्मा = स्वरूप, धाम ब्रह्म = प्राप्त ब्रह्म में, विशते = प्रवेश करता है ॥४॥

व्याख्या—बल, अप्रमाद, वैष्णव चिह्नों के साथ तथा वैराग्याश्रम से युक्त होकर जो व्यक्ति इन उपायों से प्रयत्न करता है वह विद्वान् ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥४॥

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—ऋषयः = तत्त्वदर्शिनः, एनं = परमात्मानं, सम्प्राप्य = सम्यग्ज्ञात्वा, अनुभूय, तेन ज्ञानतृप्ताः = सन्तुष्टाः, कृतात्मानः = ज्ञातात्मतत्त्वाः संयतमनसो वा, वीतरागाः = विगतविषयाभिलाषाः, अत एव प्रशान्ताः = उपरतेन्द्रियाश्च, ये ते सर्वतः = सर्वदेशकालावच्छेदेन, सर्वगम् अन्तर्बहिश्च सर्वव्यापिनं परमात्मानं देशविशेषे प्राप्य धीमन्तो युक्तात्मानः = आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टात्मानः सन्तः, सर्वमेवाविशन्ति = धर्मभूतज्ञानेन सर्वमनुभवन्तीति ॥५॥

सान्वयानुवाद—वीतरागाः = विषयतृष्णारहित, कृतात्मानः = आत्मतत्त्व को जाननेवाले, ज्ञानतृप्ताः = ज्ञान से तृप्त, प्रशान्ताः = शान्त व प्रसन्न चित्तवाले, ऋषयः = तत्त्वदर्शी, युक्तात्मानः = योगयुक्त चित्तवाले, ते धीराः = वे धीर पुरुष, एनम् = इस, सर्वगम् = सर्वगत परमात्मा को, सम्प्राप्य = पाकर, सर्वतः = सब ओर

से, प्राप्य = प्राप्त करके, सर्वम् एव = सभी वस्तुओं में, आविशन्ति = परमात्मा का दर्शन करते हैं ॥५॥

व्याख्या—जो नित्य लीला में प्रवेश करते हैं उन महात्माओं के लक्षण इस मन्त्र में कहे गये हैं। वे धर्मभूत ज्ञान द्वारा सब अनुभव करते हैं; सर्वत्र ही श्रीभगवान् की लीला का अनुभव करते हुए परमानन्द में निमग्न रहते हैं। बाहर और भीतर सर्वव्यापी आनन्दनिधि परमात्मा को देशविशेष में प्राप्त कर आविर्भूत अपहत-पाप्मत्वादि गुणाष्टक से विशिष्ट होते हैं। श्रीमद्भागवत (७।७।५५) में परमभागवत श्रीप्रह्लाद जी ने कहा है—

'एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थपरः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्' ॥

इस लोक में मनुष्यजीवन का इतना ही परम पुरुषार्थ कहा गया है कि वह भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्यभाव से भक्ति और सब अवस्थाओं में उन्हीं का चिन्तन करता हुआ सर्वत्र उन्हीं को देखे ॥५॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—वेदान्तेऽपि यतयः = यतनशीलाः सम्यक् सर्वकर्मफलत्याग-लक्षणयोगात् शुद्धान्तःकरणास्ततो वेदान्तजनितविज्ञानेन सुष्ठु निश्चितार्थाः = ज्ञातस्वप-रस्वरूपास्ते परान्तकाले = उत्कृष्टे अन्तकाले चरमशरीरावसाने परमात्मलोकेषु परामृताः = परामृतं ब्रह्म प्राप्तास्ते सर्वे, परिमुच्यन्ति–परि = सर्वतो निःशेषाविद्यया विमुक्ता भवन्तीत्यर्थः। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि'ति श्रुत्यन्तरात्। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतादिति पाठे ब्रह्मैव लोकस्तत्र स्थितास्तन्निष्ठा इत्यर्थः। परमृताद् उपासनप्रसन्नाद् ब्रह्मणो हेतोरित्यर्थः ॥६॥

सान्वयानुवाद—वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः = वेदान्तशास्त्र से उत्पन्न विशेष ज्ञान द्वारा भलीभाँति अपने स्वरूप तथा परमात्मा के स्वरूप को निश्चयपूर्वक जान लिया है जिसने, यतयः = प्रयत्नशील, शुद्धसत्त्वाः = शुद्ध अन्तःकरणवाले, ते सर्वे = वे सब अधिकारिगण, परान्तकाले = प्रयाणकाल में ब्रह्मलोकेषु = ब्रह्मलोक में, परामृताः = परम अमृतस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, परिमुच्यन्ति = सब ओर से सारी अविद्या से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं ॥६॥

व्याख्या—वेदों के अन्तिम भाग (उपनिषदों) को ही वेदान्त के नाम से पुकारा जाता है। जिसका चिन्तन-मनन करने से जीव परम अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके अपने को कृतकृत्य मानता है तथा अविद्या का समूल नाशकर अपने स्वरूप का और परमात्मा के स्वरूप का सम्यक् बोधकर जन्म-जरा-मृत्यु से छुटकारा पाकर श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त करता है ॥६॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—किञ्च मुच्यमानस्य जीवस्य या उपकरणभूताः प्राणादिनामान्त-षोडशकलासु कर्मव्यतिरिक्ता पञ्चदशकलाः ताः स्वाः प्रतिष्ठाः गताः स्वकारणं प्राप्ता भवन्ति। देवाः = इन्द्रियाणि च, प्रतिदेवतासु = तदधिष्ठात्रादित्यादिषु संयोगविशेषं प्राप्नुवन्ति यानि च तत्कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि तानि विज्ञानमय आत्मा च एते सर्वे सर्वस्मात् परेऽव्यये ब्रह्मणि एकीभवन्ति। कर्मणां तत्रैकीभावस्तज्ज्ञाने नाशः जीवस्यैकीभावो नाम रूपविमुक्तः ॥७॥

सान्वयानुवाद—पञ्चदश = पन्द्रह, कलाः = कलाएँ, च = और, सर्वे देवाः = सभी देवता (इन्द्रियाँ), प्रतिदेवतासु = उनके अधिष्ठाता सूर्यादि देवताओं में, गताः = जाकर, प्रतिष्ठाः = प्रतिष्ठित हो जाते हैं, कर्माणि = कर्म, च = और, विज्ञानमयः = चित्स्वरूप, आत्मा = जीवात्मा, सर्वे = सब, परे = प्रकृति से परे, अव्यये = अव्यय परमात्मा में, एकीभवन्ति = एक हो जाते हैं ॥७॥

व्याख्या—शरीर छोड़ने वाले जीवात्मा के जो उसके उपकरणरूप ये—१. नाम, २. वाग्, ३. मन, ४. सङ्कल्प, ५. चित्त, ६. विज्ञान, ७. ध्यान, ८. बल, ९. अन्न, १०. जल, ११. तेज, १२. आकाश, १३. स्मर, १४. आश, १५. और १६. प्राण—इन सोलह कलाओं में कर्मव्यतिरिक्त पन्द्रह कलाएँ हैं वे अपने कारण को प्राप्त होती हैं। इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठाता सूर्यादि में संयोगविशेष को प्राप्त होती हैं और उनके जो किये गये कर्म अप्रवृत्त फल हैं वे सब तथा विज्ञानमय जीवात्मा परब्रह्म में एक हो जाते हैं ॥७॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—यथेति। यथा स्यन्दमानाः = गच्छन्त्यो नद्यः समुद्रं प्राप्य नामरूपे विहाय च भगवतीभागरथीत्यादिशुक्लानीलेत्यादिनामरूपाभ्यां विमुक्ताः सन्त्यो-ऽस्तं गच्छन्ति समुद्रे = समुद्रसाधारणनामरूपे भजन्ति। तथा विद्वान् अपि नामरूपाद् = देवदत्ततिर्यगादिलक्षणाद्, विमुक्तः परात्परं पुरुषं परमात्मानमुपैति। परमात्मासाधारण-नामरूपे सत्यं ज्ञानमित्यादिश्रुत्युक्तसत्यज्ञानादिनाम 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि'त्यादि श्रुत्युक्ताप्राकृतरूपं च प्रश्नोपनिषदि स्पष्टम्। यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यत इत्यादिना ॥८॥

सान्वयानुवाद—यथा = जिस प्रकार, स्यन्दमानाः = बहती हुई, नद्यः = नदियाँ, नामरूपे = नामरूप को, विहाय = छोड़कर, समुद्रे = समुद्र में, अस्तं गच्छन्ति = डूब या मिल जाती हैं, तथा = उसी प्रकार, विद्वान् = तत्त्वज्ञानी, नामरूपात् = नामरूप से, विमुक्तः = मुक्त होकर, परात्परम् दिव्यम् पुरुषम् = परात्पर दिव्य पुरुष परमात्मा को, उपैति = प्राप्त हो जाता है ॥८॥

व्याख्या—इस मन्त्र का सारांश यह है कि—जिस प्रकार शुक्ला भगवती गङ्गा, नीला यमुना इत्यादि नदियाँ पर्वतों से निकलती हैं और उनके जल स्वयं ही नीचे की ओर बहते हुए समुद्र में जाकर मिल जाते हैं। उस समय वे शुक्ला और नीले रङ्ग की मालूम नहीं पड़ती हैं। उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी नामरूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—स इति। यः कश्चिद्ध वै किल लोकं तत्परमं ब्रह्म वेद स ब्रह्मैव भवति। ध्वस्तावरणप्रभाविशिष्टदीपवदाविर्भूतबृहज्ज्ञानगुणविशिष्टो भवतीत्यर्थः। आनुषङ्गिकप्रयोजनमाह—नास्य विदुषः कुले अब्रह्मविद् भवति। किञ्च शोकमिष्ट-वैकल्यनिमित्तं मानसं तापं पापं च तरति = अतिक्रामति। गुहाग्रन्थिभ्यः = अनादि-कर्मनिरूपितमायासम्बन्धतत्कार्यरागद्वेषादिभ्यो विमुक्तः सन् अमृतो मुक्तो भवत्याविर्भूता-पहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टो भवतीत्यर्थः ॥९॥

व्याख्या—यह बिल्कुल ही सच्ची बात है कि जो कोई उस परम ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। अर्थात् अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, अज्ञान का पर्दा विध्वंस हो जाने पर प्रभाविशिष्ट दीप की भाँति आविर्भूत बृहद् ज्ञान व गुणों से वह विशिष्ट हो जाता है। आनुषङ्गिक प्रयोजन बताते हैं—इस विद्वान् के कुल में ब्रह्म को न जानने वाला कोई नहीं होता है। ब्रह्मवित् होने के कारण वह शोक से पार हो जाता है और पाप से तर जाता है। इष्ट वैकल्य निमित्त मानस सन्ताप ही शोक है। अनादि कर्मनिरूपित माया का सम्बन्ध और उसका कार्य राग-द्वेषादि से मुक्त होकर वह अमृत (मुक्त) हो जाता है तथा आविर्भूत अपहत-पाप्मत्वादि गुणाष्टक से विशिष्ट हो जाता है ॥९॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—एतद्ग्रन्थद्वारकब्रह्मविद्यासम्प्रदाने विधिमुपदर्शयन्नुपसंहरति—तदिति। तद्विद्यासम्प्रदानविधानमभिमुखीकृत्य ऋचा = मन्त्रेणोक्तं, क्रियावन्तः = नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठानयुक्ताः, श्रोत्रियाः = अधीतश्रुतयः, ब्रह्मनिष्ठाः = ब्रह्मबोद्धुमिच्छवः, श्रद्धयन्तः सन्तः, एकऋषि एकर्षिरूपात्रसाध्यतया एकर्षिशब्दोदितमग्निहोत्रं स्वयं जुह्वते, ये तेषामेवैतां ब्रह्मप्रतिपादिकामुपनिषद्रूपां विद्यां प्रब्रूयात्। शिरोव्रतं = शिर-स्यङ्गारधानिकाधारणलक्षणाथर्वणानां वेदव्रतत्वेन प्रसिद्धं यैस्तु यथाविधि चीर्णमनुष्ठितं तेषामेव च वदेत नान्येषाम् ॥१०॥

व्याख्या—उस ब्रह्मविद्या के सम्प्रदान-विधान को सम्मुख करके इस मन्त्र से

कहा गया है कि जो नित्य प्रातःसन्ध्या-वन्दनादि, नैमित्तिक एकादशीव्रत, सूर्य व चन्द्र-ग्रहण में स्नान-दानादि सत्कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले, श्रुतियों को पढ़ने वाले, ब्रह्म को जानने की इच्छा रखने वाले श्रद्धा रखते हुए स्वयं अग्नि में हवन करते हैं और जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रत का अनुष्ठान किया है उन्हीं को यह ब्रह्मविद्या बतलावे, दूसरों को नहीं ॥१०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ।

इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

•

तत्त्वप्रकाशिका—तदेतत् सत्यमक्षरमङ्गिरा ऋषिः पूर्वं शौनकाय यथोवाच तथाऽन्योऽपि मुमुक्षवे ब्रूयात्। एतद्ग्रन्थरूपमचीर्णव्रतो नाधीते = न पठति। इयं ब्रह्मविद्या येभ्य ऐतिह्यक्रमेण प्राप्ता तान् ब्रह्मादीन् नमस्यति नम इति, द्विर्वचनं विद्यासमाप्तिद्योतनपरम्। सर्वोऽयं मुण्डकग्रन्थः परमात्मपरः। इति प्रथमाध्यायद्वितीयतृतीयपादयोरदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः द्युभ्वाद्यायतनस्वशब्दादित्यधिकरणद्वयकौस्तुभप्रभायां द्रष्टव्यः ॥११॥

॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥

मुण्डकोपनिषद्व्याख्या मिताऽस्तु सुगमाक्षरा।
सङ्गृहीता मया स्वीयबोधाय नान्यबुद्धये ॥१॥
श्रीमुकुन्दप्रसादेन लब्धवेदान्तबुद्धिना।
ईक्षणीया मुदा सद्भिश्चापल्यं क्षम्यतां मम ॥२॥

इति सनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाद्याचार्य श्री १०८ श्रीमहामुनीन्द्रभगवन्निम्बार्काचार्योपबृंहितवैदिकानादिसत्सम्प्रदायानुगतनिखिलशास्त्रपारावारीणातिसृत्वरकीर्तिधवलीकृतदिङ्मण्डलेन स्वाभाविकद्वैताद्वैतसिद्धान्तसमर्थनदक्षजगद्विजय्याचार्य श्री १०८ केशवकाश्मीरिभट्टेन निर्मिता मुण्डकोपनिषद्व्याख्या सम्पूर्तिमगात्।

व्याख्या—उस ब्रह्मविद्यारूप इस सत्य (अक्षर) को अङ्गिरा ऋषि ने पहले शौनक ऋषि को जैसे उपदेश दिया था वैसे ही दूसरा व्यक्ति भी मुमुक्षु को उपदेश करे। जिसने विधिवत् शिरोव्रत का अनुष्ठान नहीं किया हो, वह इसे नहीं पढ़ सकता है। परम ऋषियों को नमस्कार है, परम ऋषियों को नमस्कार है। इस प्रकार दो बार ऋषियों को नमस्कार विद्या की समाप्ति का द्योतक है ॥११॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(पाठकवृन्द शान्ति पाठ का अर्थ उपनिषद् के प्रारम्भ में देखें ।)

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्याग-
मूर्त्तिस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबा तर्क-तर्कव्याकरणतीर्थपाद-
पद्मान्तेवासी योगिराजस्वामिराधाविहारिदासजी काठियाबाबा-
चरणारविन्दचञ्चरीक डॉ. स्वामी द्वारकादासजी
काठियाबाबा कृत अन्वयार्थ-तत्त्वप्रभा
नाम्नी हिन्दी टीका में अथर्ववेदीय
मुण्डकोपनिषद् समाप्त ।

●

माण्डूक्योपनिषद्

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(इसका अर्थ मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में देखें।)

आनन्दमजरं नित्यं निखिलं गुणसागरम्।
राधारमणमिष्टार्थं प्रपद्ये पुरुषोत्तमम्॥१॥
पान्तु नो वासुदेवस्य श्रीपादाम्बुजरेणवः।
मूर्ध्नि दधुर्विधीशेन्द्रा यान्निजाभीष्टप्राप्तये॥२॥
निम्बभानुपदद्वन्द्वं प्रणमामि मुहुर्मुहुः।
यद्वन्दनेन मन्दोऽपि लभते तत्समानताम्॥३॥
श्रीनिवासं गुरुं वन्दे करुणावरुणालयम्।
बादरायणसूत्राणां भाष्यकारं मुनीश्वरम्॥४॥
नत्वाऽन्यान् देशिकान् मान्यान् पूर्वाचार्योक्तितः खलु।
माण्डूक्योपनिषद्व्याख्यां करिष्येऽहं यथामति॥५॥

विषयविरक्तस्य शमदमादिसाधनसम्पन्नस्य भगवद्दिदृक्षालम्पटस्य गुरुभक्तिसम्पन्नस्य मुमुक्षोरनिष्टनिवृत्तिपूर्वकं परमानन्दावाप्तये समस्तव्यस्तप्रणवप्रतिपाद्यस्य भगवतो वासुदेवस्य रमाकान्तस्योपास्तिमाह—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—अव रक्षणगतिकान्तिप्रवेशेत्यादिधातोः प्रवेशार्थकस्यावतेः कर्मणि मनिन् प्रत्यये टेर्लोपे 'ज्वरत्वरे'त्यादिनोपधाकारस्य वकारस्य चोठि सवर्णे दीर्घे च सति ऊम् इति जायते। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोरि'ति गुणे च सति ओमिति निष्पन्नम्। ओतं प्रविष्टं चेतनाचेतनजातमस्मिन्नित्योम् ओमिति प्रणवप्रतिपाद्यं यत् तदेतदक्षरं सत्यं ब्रह्मैव सन्निकृष्टतरवस्तुवाचको ह्येतच्छब्दः। परमात्मनः सर्वान्तरयामित्वेन सन्निहितत्वादेतदित्युच्यते। तदिदं प्रणववाच्यं ब्रह्मगुणपूर्णत्वात् सर्वमित्युच्यते। प्रागुपदर्शितं प्रणवस्याभिधेयमुक्तं प्रवृत्तिनिमित्तं किमिति जिज्ञासायां त्रिकालातीतत्वमित्याह—

तस्येत्यादिना। तस्य परब्रह्मण उप समीपे वाचकत्वेन स्थितस्योङ्कारस्य विशेषणाख्यानं प्रवृत्तिनिमित्तं कथ्यत इत्यर्थः। तत्किमित्यत आह–भूतमिति। ओमित्युक्तं ब्रह्मभूतं भवद् भविष्यमिति योजना कालत्रये विद्यमानमक्षरं ब्रह्म सदैकरसमित्यर्थः। इदं सर्वमित्युक्तं पूर्णत्वमक्षरादन्यस्य नेत्याह—सर्वमोङ्कार एवेति। ओङ्कार एव सर्वमिति योजना भूतं भवद् भविष्येत्युक्तं प्रवृत्तिनिमित्तं त्रिकालातीतं यच्चेत्यादिना। कालत्रयविकाररहितं त्रिकालातीतञ्च यदन्यद्वस्त्वस्ति तदप्योङ्कार एव। ओङ्पदवाच्यमक्षराख्यं ब्रह्मैव न ततोऽन्यत्तादृशमित्यर्थः ॥१॥

सान्वयानुवाद—ॐ इति एतत् = ओम् ऐसा यह, अक्षरम् = अक्षर, इदम् सर्वम् = यह सब, तस्य = उसका, उपव्याख्यानम् = उपव्याख्यान है, भवत् = वर्त्तमान, भविष्यत् = भविष्य, भूतम् = जो बीत चुका है, इति सर्वम् = यह सब, ओङ्कार एव = ओङ्कार ही है, च = और, यत् = जो, त्रिकालातीतम् = तीनों कालों से अतीत, अन्यत् = दूसरा, तदपि = वह भी, ओङ्कार एव = ओङ्कार ही है ॥१॥

व्याख्या—विषयों से विरक्त, शम-दम आदि साधनों से सम्पन्न श्रीभगवान् को देखने के लिये उत्कट लालसा गुरुभक्तिसम्पन्न मुमुक्षु पुरुष की अनिष्ट निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति के लिए समस्त-व्यस्त प्रणवप्रतिपाद्य भगवान् श्रीपुरुषोत्तम की उपासना को बताते हैं—स्थावर-जङ्गम रूप सम्पूर्ण जगत् इसमें प्रविष्ट है, ऐसा यह ओम् है। ओम् ऐसा प्रणवप्रतिपाद्य जो वह यह अक्षर सत्य ब्रह्म ही सन्निकृष्टतर वस्तु-वाचक ही एतत् शब्द है। परमात्मा सर्वान्तर्यामिरूप से सन्निहित रहने से 'एतत्' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् परमात्मा में सर्वान्तर्यामित्व सन्निहित है। वही यह प्रणववाच्य ब्रह्म के गुण पूर्णत्व होने से 'सर्व' (सब कुछ) ऐसा कहा जाता है। पहले दर्शाया गया प्रणव का अभिधेय उक्त प्रवृत्तिनिमित्त क्या है? इस जिज्ञासा पर कहते हैं—त्रिकालातीतत्व उस परब्रह्म के समीप में वाचक रूप से स्थित ओङ्कार का विशेष आख्यान प्रवृत्तिनिमित्त कहा जाता है। वह कौन है? इस पर कहते हैं—ओम् इस प्रकार कहा गया ब्रह्मरूप भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों कालों में विद्यमान अक्षरब्रह्म सदा एकरस है। यह सब इस प्रकार बताया गया है–पूर्ण अक्षर से दूसरा नहीं है; यह भी कहा गया है कि प्रवृत्तिनिमित्त तीनों कालों से अतीत और अक्षर से दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। यच्च इत्यादि से तीनों कालो में विकार रहित और तीनों कालों से अतीत जो अन्य वस्तु है वह भी ओङ्कार ही है। 'ओङ्' पदवाच्य अक्षर नामक ब्रह्म ही है, उससे दूसरा वैसा नहीं है ॥१॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—ब्रह्मणः पूर्णत्वं कुत इत्यतस्तत्र प्रमाणं सूचयन्नाह—एतद् ब्रह्मोङ्कारप्रतिपाद्यमक्षराख्यं परं ब्रह्म सर्वं गुणपूर्णमित्येतत् हि पूर्णमद इत्यादि-श्रुतिप्रसिद्धम्। चतुर्मुखप्रभृतीनां प्रत्यगात्मनां नियन्तुः कस्यचित् पूर्णत्वत्रिकालातीत-त्वयोः स्वीकर्तव्यत्वादवधारणमयुक्तमित्यतः सोऽपि परमात्मेवेत्याह—अयमात्मा ब्रह्मै-

वेति। चतुर्मुखादिषु स्थितोऽयमात्माऽनादि कर्त्ता प्रतीयते सोऽपि ओङ्कारपदवाच्यो भगवान् वासुदेव एवेत्यर्थः। एवं समस्तप्रणवप्रतिपाद्यभगवदुपास्तिमभिधायेदानीं प्रणवांशाका-रमकारोकारनादप्रतिपाद्यानां विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाणामुपास्तिम्, अकारः प्रथममात्रेत्यत्र वक्तुमादौ प्रस्तावयति—सोऽयमात्मेति। यः चतुर्मुखादीनामादानकर्तृत्वेनाभिहितः सोऽय-मात्मोङ्कारवाच्यो भगवान् चतुष्पात्। चत्वारः पादा अंशा यस्यासौ चतुष्पादित्यर्थः ॥२॥

ननु के ते चत्वारः पादाः कानि च तेषां स्थानानि कश्च तेषां व्यापारः किंविधं च रूपं किञ्च तेषां भोग्यमित्यतो नान्तःप्रज्ञमित्यादिना वक्तुं विश्वतैजसप्राज्ञानां स्थानादीनि तावदाह–जागरितस्थान इत्यादिना। तृतीयः पाद इत्यनेन तत्र विश्वस्य स्थानादिकं दर्शयति।

सान्वयानुवाद—हि = चूँकि, एतत् = यह, सर्वम् = सब, ब्रह्म = ब्रह्म है, अयम् = यह, आत्मा = परमात्मा, ब्रह्म = ब्रह्म है, सः = वह, अयम् = यह, आत्मा = परमात्मा, चतुष्पात् = चार चरणोंवाला है ॥२॥

व्याख्या—ब्रह्म के पूर्णत्व का प्रतिपादन करते हुए १. जगत्पाद, २. जीवपाद, ३. ईश्वरपाद और ४. अक्षरपाद–इस प्रकार श्रुतियों में जगह-जगह चतुष्पाद ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है। यह ओङ्कारप्रतिपाद्य अक्षर नामक परब्रह्म सब गुणों से पूर्ण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लिखित है—'उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च' ॥ अर्थात्—यह परब्रह्म वेदान्त में वर्णित है, उनमें तीन (जीव, जगत्, ईश्वर ये तीन) सुप्रतिष्ठित हैं और वह अक्षर रूप से वर्त्तमान है। यद्यपि इस वाक्य में केवलमात्र अक्षरपाद का ही स्पष्ट रूप से उल्लेख है, अन्य तीन रूपों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है तथापि वही श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्ट रूप से वर्णित है—'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा .....ह्यकर्त्री त्रय यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्' ॥ अर्थात्—ज्ञ = सर्वज्ञ ईश्वर, अज्ञ = असर्वज्ञ = अल्पज्ञ अर्थात् अनीश्वर जीव, ये दोनों ही अज = जन्मरहित हैं और भोक्ता = जीव के भोग्य विषय सम्पादन में नियुक्ता प्रकृति भी अजा है। जब अज्ञ जीव उन तीनों रूपवाले ब्रह्म को प्राप्त होता है तब ब्रह्म से अभिन्न हो जाने से वह भी अनन्त, विश्वरूप और अकर्त्ता हो जाता है। ऊपर बताये गये प्रकार से श्रुति, बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्र और उसके निम्बार्कभाष्य में ब्रह्म के जगत्पाद, जीवपाद, ईश्वरपाद और अक्षरपाद इस प्रकार चतुष्पाद कहे गये हैं। और—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' ॥

अर्थात् वह इन्द्रिय आदि से अतीत कारण रूप ब्रह्म 'पूर्ण है', यह कार्यात्मक जगद्रूप ब्रह्म भी पूर्ण है। पूर्ण कारणरूप ब्रह्म से पूर्ण जगद्रूप कार्य अभिव्यक्त होता है, पूर्णरूप इस कार्यात्मक जगत् के पूर्णत्व को ग्रहण करके प्रलयकाल में पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट (शेष) रहता है। इस वाक्य में ब्रह्म जो चतुष्पाद है, वेद ने उसी का प्रतिपादन किया है। कौन वे चार चरणों वाले हैं और कितने उनके स्थान हैं, कौन-सा उनका

व्यापार है, किस प्रकार उनका रूप है और उनका भोग्य क्या है, कैसा है ? श्रुति उसी विश्व के स्थानादि को दिखलाती है—

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—जागरितं स्थानमक्ष्यादिरूपं यस्यासौ तथोक्तः। चक्षुःस्थान इत्यर्थः। बहिःप्रज्ञः = बहिष्ठं वस्तु ज्ञापयति बाह्यपदार्थविषयकसंविति निर्मितिति यावत्। सप्ताङ्गः = द्वौ पादौ चत्वारो हस्ता हस्तिकर इति सप्ताङ्गवान्। एकोनविंशतिमुखः। तत्राष्टादशमुखानि प्रमाकाराणि, मध्यमं तु गजाकारमिति शेषः। स्थूलभुक्—स्थूलान् = बाह्यान् विषयान्, जीवेन्द्रियद्वारा भुङ्क्ते इत्यर्थः। वैश्वानरः = विश्यते ज्ञानेन प्रविश्यते इति व्युत्पत्त्या ज्ञानविषयीभूतं स्थूलं विश्वशब्दोक्तं भोक्तृत्वेन तत्सम्बन्धी वैश्वः अनशनान्तरः वैश्वश्चासौ नरश्चेति वैश्वानरः। विश्व इति यावत्। प्रथमः = पादः प्रथमांशः ॥३॥

व्याख्या—जाग्रत् स्थान अक्षि (नेत्र) आदि रूप जिसका वह जागरित (जाग्रत्) स्थान है। जागतिक वस्तु को जाननेवाला बाह्य पदार्थ विषयक ज्ञानवान्। सात अङ्ग हैं-दो पैर, चार हाथ और अङ्गुलि सात अङ्गोंवाला। उसमें अठारह मुख प्रमाकार तथा बीच का गजाकार। स्थूल बाह्य विषयों को जीव इन्द्रिय द्वारा भोगता है, ज्ञान के द्वारा प्रवेश करता है-इस व्युत्पत्ति से ज्ञान का विषय स्थूल विश्व शब्द से कहा गया भोक्तृत्व, उससे सम्बन्ध रखनेवाला वैश्व है। जो विश्व अर्थात् बहुत हो और नर हो उसे वैश्वानर कहते हैं। अर्थात् संक्षेप में यह कह सकते हैं कि विश्वरूप सर्वरूप नराकार वैश्वानर परमात्मा ही है। वैश्वानर सनातन पूर्णब्रह्म परमात्मा का पहला पाद है ॥३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं विश्वस्य स्थानादिकं निरूप्य तैजस्य स्थानादिकं निरूपयति—स्वप्नं = मनोरूपं स्थानं यस्यासौ तथोक्तः। अन्तःप्रज्ञः = अन्तःस्थितवासनामयपदार्थान् प्रकर्षेण ज्ञापयति जानाति चेत्यन्तःप्रज्ञ इति, जानातेः कः। सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख इति पूर्ववद् व्याख्येयम्। प्रविविक्तभुक् = जाग्रत्पदार्थानुभवजन्यवासनोत्पादकत्वेन तद्रूपत्वात् स्वप्नस्थितं वस्तु जाग्रत्पदार्थविलक्षणत्वात् प्रविविक्तमुच्यते। तद्भुङ्क्ते तदनुभवजन्यभोगवानित्यर्थः। तैजसो द्वितीयः पादो द्वितीयांशः ॥४॥

व्याख्या—मनोरूप स्थान जिसका है, अन्तःप्रज्ञः = भीतर स्थित वासनामय पदार्थों को अच्छी तरह से जानता है, सात अङ्गोंवाला—पूर्वोक्त एकोनविंशति मुख, जाग्रत् पदार्थों का अनुभवजन्य कर्म वासनाओं को उत्पन्न करने वाला उसी रूप होने से स्वप्न स्थित वस्तु जाग्रत् पदार्थों से विलक्षण होने से प्रविविक्त कहा जाता है। उसी को भोगता है, उसके अनुभवजन्य भोगवाला तैजस का द्वितीय (दूसरा) पाद (अंश) है ॥४॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं विश्वतैजसयोः स्थानं निर्वाच्य प्राज्ञस्य स्थानं प्रदर्शनपर उत्तरग्रन्थः प्राज्ञस्य सुषुप्तिस्थानं कीदृशमिति जिज्ञासायां लक्षणोक्त्याऽऽदौ तन्निरूपयति—यत्र यस्यामवस्थायां सुप्त अज्ञानावृतः। मन आदीन्द्रियाणामुपरतत्वात् न कामं काम्यमानमर्थं न कामयते न कञ्चन स्वप्नपदार्थं पश्यति तत् स्थानं सुषुप्तमित्युच्यते। सुषुप्तमेव स्थानं यस्य स सुषुप्तस्थानः हृदयाकाशरूप इति यावत्। एकीभूतः प्रत्यहं विश्वतैजसाभ्यामेकीभावस्यापद्यमानत्वेनैकीभूत इत्युच्यते। प्रज्ञानघन एव। सुषुप्तिसमये घनं तज्जीवं जानाति प्रज्ञापयति जीवस्येति प्रज्ञानघनः। प्रपूर्वादन्तर्णीतण्यर्थाज्ज्ञा अवबोधन इति। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा.सू.३।३।११३) बहुलग्रहणात्कर्मणि ल्युट्यनादेशे प्रज्ञानः प्रज्ञापितो घनो जीवो येन स प्रज्ञानघन इति विग्रहः। आनन्दमयः आनन्दप्रचुरः, पूर्णानन्द इति यावत्। आनन्दभुक् विषयभोगं विनाऽप्यभिव्यक्तकेवलस्वरूपभूतानन्दभुक्। तेन विश्वतेजसोर्व्यावृत्तिः। तयोः स्थूलान्तरविषयभोगेनानन्दोक्तेः। हीत्येतदुभयं विशेषानन्तशक्तिभ्याम् उपपन्नमिति प्रसिद्धं सूचयति। चेतोमुख = ज्ञानरूपमुखः। मुखेत्युपलक्षणं, ज्ञानरूपसर्वावयव इत्यर्थः। एतादृशः प्राज्ञः तृतीयः पादः तृतीयोंऽशः, आनन्दमयत्वं चेतोमुखत्वं यत्प्राज्ञस्य कथितं तदितररूपत्रयेऽपि बोध्यम् ॥५॥

व्याख्या—जिस अवस्था में सोया हुआ व्यक्ति अज्ञान से आवृत रहता है, मन आदि इन्द्रियों के उपरत हो जाने से काम्यमान अर्थ को नहीं चाहता है। किसी भी स्वप्न पदार्थ को देखता नहीं है वह स्थान सुषुप्त है, ऐसा कहा जाता है। सुषुप्त ही स्थान है जिसका वह सुषुप्तस्थान हृदयाकाशरूप है। जो एकरूप है, प्रतिदिन विश्व और तैजस का एकरूप भावापन्न बताया जाता है। जो एकमात्र घनीरूप ज्ञानस्वरूप है। सुषुप्ति समय में ज्ञानघन वह जीव को जानता है। अर्थात् आनन्दमय, आनन्दप्रचुर तथा पूर्णानन्द आनन्द का ही भोक्ता विषय भोग के बिना भी अभिव्यक्त केवल स्वरूपभूत आनन्द को भोगता है। उसके द्वारा विश्व और तेज की व्यावृत्ति हुई। विश्व और तेज दोनों का स्थूलान्तर विषयभोग द्वारा आनन्द की उक्ति (कथन) है। ये दोनों विशेष अनन्त शक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं यही सिद्ध हुआ। ज्ञानरूप जिसका मुख है अर्थात् समस्त अवयव ही ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार तृतीय पाद, तृतीय अंश आनन्दमयत्व ज्ञानरूपत्व जो प्राज्ञ का स्वरूप कहा गया है उससे भिन्न तीन रूपों में भी जानना चाहिये ॥५॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं विश्वादीनां त्रयाणां महिमानां निरूप्यान्तःप्रज्ञमित्यादिना

तुरीयमहिमानं पृथग्वक्तुं चतुर्णामपि महिमानं युगपदादावाह—एष चतूरूपो भगवान् सर्वेषामीश्वरः। एष सर्वज्ञः सर्वान्तर्यामी, एष सर्वस्य योनिः कारणम्। एतदेव विशदयति–भूतानां प्रभवाप्ययौ। भूतानां प्रभवः प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः। अप्येत्यस्मिन्नित्यप्ययः। एतौ हि यस्मात्। चतूरूपोपेताद्धरेः सकाशाद्भवत इति ॥६॥

व्याख्या—इस प्रकार विश्वादि तीनों की महिमा का निरूपण करके 'अन्तःप्रज्ञम्' इत्यादि द्वारा चौथी महिमा को अलग से कहने के लिए चारों की महिमा को एक साथ ही बतलाते हैं—ये चतूरूप भगवान् सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ, सबके अन्तर्यामी और ये ही सबके कारण हैं। इसी बात को विस्तार से बताते हैं—इन्हीं सर्वेश्वर भगवान् से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय (संहार) होता है ॥६॥

अथ गौडपदीयकारिका:

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—स्वोक्तदार्ढ्याय ब्रह्मदृष्टान् मन्त्रान् प्रमाणत्वेन वक्तुं प्रतिजानीते। अत्रैते श्लोका भवन्ति—अत्र जागरितस्थान इत्याद्यर्थे। एते वक्ष्यमाणा ब्रह्मदृष्टा मन्त्राः प्रमाणतया भवन्तीत्यर्थः। विश्वो बहिःप्रज्ञः, तैजसोऽन्तःप्रज्ञः, प्राज्ञः प्रज्ञानघन इत्यत्र मन्त्रं पठति—बहिरिति। विश्वो वैश्वानरः। बहिःप्रज्ञ इत्याद्युक्तरीत्या स्पष्टार्थाः। एक एव भगवान् विश्वादिरूपेण त्रिधा बहिःप्रज्ञत्वादिप्रकारत्रयोपेतत्वेन च स्मृतः ॥१॥

व्याख्या—अपने बताये हुए को दृढ करने के लिए ब्रह्मदृष्ट मन्त्रों को प्रमाण रूप से कहने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—इस विषय में ये श्लोक हैं अर्थात् ये कहे जानेवाले ब्रह्मदृष्ट मन्त्र प्रमाण रूप से हैं। बाहर की ओर प्रज्ञावाला है, विभु–व्यापक विश्व ही भीतर प्रज्ञावाला है जो तैजस है तथा प्रज्ञानघन है। एक ही भगवान् श्रीपुरुषोत्तम विश्व (वैश्वानर), तैजस और प्राज्ञ रूप तीन प्रकार से युक्त बताया गया है ॥१॥

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—जागरितस्थानः स्वप्नस्थानः सुषुप्तस्थान इत्युक्तार्थे मन्त्रं पठति—हृदयस्थ आकाशे त्रिधा स्थानत्रयवत्त्वेन देहे व्यवस्थित इत्यर्थः ॥२॥

व्याख्या—दक्षिण नेत्र में तथा मुख में विश्व, मन के भीतर तैजस और हृदयस्थित आकाश में प्राज्ञ तीन प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त स्थान वाले देह में स्थित है ॥२॥

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—स्थूलभुक् प्रविविक्तभुगानन्दभुगित्युक्तार्थे मन्त्रं पठति—स्थलभुगित्याद्युक्तार्थं त्रिधा प्रकारत्रयेण भोगं विश्वादीनाम् ॥३॥

व्याख्या—विश्व (परमात्मा) ही इस स्थूल जगत् का नित्य भोक्ता है, तैजस ही सूक्ष्म जगत् का नित्य भोक्ता है तथा प्राज्ञ आनन्द का नित्य भोक्ता है। इस तरह तीन प्रकार से विश्वादि का भोग बताया गया है ॥३॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तन्तु तैजसम्।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—तत्रैव मन्त्रान्तरं पठति—स्थूलं भोग्यं वस्तुकर्त्ता विश्वं कर्म तर्पयते। तैजसं प्राज्ञमुभयत्र तर्पयते इत्यनुवर्त्तते। आनन्दम्। आनन्दः तृप्तिं विश्वादीनां नित्यतृप्तस्य स्थूलादिना तृप्तिः क्रीडारूपा बोध्या ॥४॥

व्याख्या—वही दूसरा मन्त्र पढ़ते हैं—स्थूल भोग्य वस्तु से किये जानेवाले कर्म का तर्पण अर्थात् निष्काम होकर सम्पूर्ण कर्म विश्वरूपी भगवान् को समर्पित करना ही तर्पण है, तैजस तथा प्राज्ञ को। जैसे कि श्रीभगवान् ने कहा है—'तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः' ॥ (श्रीमद्भा. १०।८१।९) 'अङ्ग हे सखे ! एते पृथुकतण्डुलाः मां विश्वं तर्पयन्ति'। हे मित्र ! ये चिउड़े मुझ विश्व को तृप्त करने वाले हैं। इसी प्रकार विश्व, तैजस और प्राज्ञ नित्य तृप्त का स्थूलादि द्वारा तृप्ति क्रीडारूप जाननी चाहिये ॥४॥

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्त्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानोऽपि न लिप्यते ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—जागरितादिस्थानेषु विश्वादिरूपो भोक्ता स्थूलादिरूपं तद्भोज्यं चेत्युभयं सर्वथा ज्ञेयमित्याशयवान् तद्वेतुः फलमाह—धामशब्दो गृहापरपर्यायस्थानवाची तथा च त्रिषु दक्षिणाक्षिमुख इत्यादिनोक्तेषु जागरितादिधामसुस्थानेषु भोक्ता विश्वो हि स्थूलभुगित्यादिनोक्तप्रकीर्तितो विश्वादिः, तस्य स्थूलादिकं भोज्यं स्थूलं तर्पयत इत्यादिना कीर्त्तितमेतदुभयञ्च। यो वेद स भुञ्जानोऽभ्यवहारादिकं कुर्वाणोऽपि न लिप्यते। अहं भोक्ता ममेदं भोज्यमित्यभिमानरहितो भवति विश्वादिरूपस्य, हरेरेव भोक्तृत्वज्ञानादित्यर्थः ॥५॥

व्याख्या—जाग्रत् आदि स्थानों में विश्वादि रूप भोक्ता, स्थूलादि रूप उसके भोज्य और दोनों सर्वथा ज्ञेय हैं। इस प्रकार आशयवाले उसे जाननेवाले का फल बताते हैं—तीनों धामों में जो भोज्य है, जो भोक्ता-भोगनेवाला बताया गया है, जो इन दोनों को जानता है वह भोगनेवाला भी लिप्त नहीं होता अर्थात् मैं भोक्ता हूँ, मेरा यह भोज्य है इस प्रकार के अभिमान से वह रहित होता है। विश्व आदि रूप श्रीहरि के ही भोक्तृत्व ज्ञान से-यही सारांश निकला। धाम शब्द गृह के अपर पर्याय स्थानवाची शब्द है ॥५॥

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून् पुरुषः पृथक् ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—एष योनिः सर्वस्येत्यत्र मन्त्रं पठति—चतूरूपो हरिरेव सर्वभावानां वस्तूनां प्रभव उत्पादक इति निश्चयरूपं ज्ञानं सतामेवासतां त्वन्यथेति भावः। एतदेव विवृणोति—सर्वं जनयति इति। सर्वस्य प्रणेतृत्वात्प्राणः। पुरि शेतेऽसौ पुरुषः विश्वादिचतूरूपो हरिः सर्वमचेतनं स्वरूपेण जनयति चेतोंऽशून् ज्ञानरश्मियुक्तान् चेतनान् जीवान् पृथग् जडवैलक्षण्येन जनयतीत्यर्थः ॥६॥

व्याख्या—चतूरूप श्रीहरि ही समस्त वस्तुओं के उत्पादक हैं—ऐसा निरूपरूप ज्ञान सज्जनों को ही है, असत् दुर्जनों के लिए तो अन्यथा भाव है। इसी बात को बताते हैं—परमात्मा सब जड़-चेतन जगत् की रचना करते हैं, उन्हीं में प्रणेतृत्व है अतः वे सबके प्राण हैं। सभी प्राणियों के हृदय रूप पुरी (नगर) में सोते हैं इसलिए वे परमात्मा विश्वादि चतूरूप श्रीहरि अचेतन को स्वरूप से उत्पन्न करते हैं और ज्ञानरश्मि से युक्त चेतन जीवों को अलग से अर्थात् जड़ से सर्वथा पृथक् रूप से रचते हैं ॥६॥

विभूतिं प्रभवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं विनिश्चित्य इत्यत्र सतां वैपरीत्येन निश्चय इत्यर्थात् प्राप्तं तदुभयं व्यनक्ति—केचित् सृष्टिचिन्तकाः सृष्टिस्वरूपनिरूपणे दक्षत्वाभिमानवन्तो ब्रह्मस्वरूपपरिणामवादिनोऽसन्तः प्रभवं विभूतिं जीवजडतया विविधया भवनं ब्रह्मणो मन्यन्ते। अयं पक्ष अविकारितया श्रुत्यादिप्रसिद्धस्येश्वरस्यैतादृशविविधभवनाङ्गीकारे हीनत्वादिदोषप्राप्त्याऽयुक्त इति हृदयम्। अन्यैः प्रच्छन्नबौद्धैर्मायाभिरेषा सृष्टिः स्वप्नमायासरूपा स्वप्नपदार्थसृष्टिसदृशी ऐन्द्रजालिकमायासदृशी वा न यथार्थेति विकल्पिता निश्चितेत्यर्थः। अयमपि पक्षः पूर्णशक्तेः कुतो माया सर्वज्ञत्वात् स्वप्नवत् कुतः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्, असक्तः सत्यसृष्टौ मायासृष्टिं वितन्वते अनन्ताचिन्त्यविभवः कथं तामीहते हरिः वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदित्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्ष्यः ॥७॥

व्याख्या—सृष्टि के स्वरूप निरूपण में विद्वानों का बड़ा मतभेद है—विभूति को जीव-जड़ रूप से सृष्टि मानते हैं, दूसरे कुछ लोग स्वभाव को, मीमांसक कर्म को और प्रच्छन्न बौद्ध मायावादी कहते हैं कि मायाओं के द्वारा यह सृष्टि स्वप्न माया सरूपा है, यथार्थ नहीं है मिथ्या है; ऐसा निर्णीत किये हैं।

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।

तत्त्वप्रकाशिका—सृष्टिविषये सिद्धान्तं निरूपयति—प्रभोः अविकारिणो मायातीतस्य हरेः सकाशाद्या सृष्टिरखिलस्य जगतः सा इच्छामात्रम्। इच्छामात्राधीनेति सृष्टिविषये यथार्थनिश्चयवन्तो ब्रह्मादयः प्राहुः। अनेन ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकर्तृत्वमेव

सिद्धान्त इत्युक्तं भवति। एवं सिद्धान्तकर्त्तारं प्रति पूर्वपक्षमध्ये सिद्धान्तमभिधाय पुनः पूर्वपक्षान्निरूपयति—काल इत्यादिना।

व्याख्या—सृष्टि के विषय में सिद्धान्त का निरूपण करते हैं—अविकारी मायातीत भगवान् श्रीहरि से जो अखिल जगत् की सृष्टि होती है वह इच्छामात्र है। सृष्टि के बारे में ठीक-ठीक निश्चय करने वाले ब्रह्मादि देवगण ऐसा बतलाये हैं। अर्थात् यह सारा जगत्प्रपञ्च श्रीहरि से ही उत्पन्न होता है। इस विवेचन से ब्रह्म में ही इस जगत् का जन्म आदि कर्त्तृत्व है, ऐसा सिद्धान्त बताया गया है। इस प्रकार सिद्धान्त कर्त्ता के प्रति पूर्वपक्ष के बीच में सिद्धान्त बताकर पुनः पूर्वपक्ष से निरूपण करते हैं।

कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—कालस्यैव सर्वोत्तमत्वेन चिन्तकाः भूतानां कालादेवोत्पत्तिं मन्यन्ते। उपलक्षणमेतत्। यदृच्छा नियतिः स्वभावप्रधानचतुर्मुखादीनां निरासः पुरुषप्रभुपदाभ्यामेव द्रष्टव्यः। तथाहि कालप्रधानयोर्जडत्वेन कर्त्तृत्वायोगात् रुद्रस्य पत्युरसामञ्जस्यादित्युक्तन्यायेन दुष्टत्वात्। ब्रह्मणोऽप्येको नारायण आसीन्न ब्रह्मेत्यादिना प्रलयेऽभावावगमेन जगत्कर्त्तृत्वायोगेनैते पक्षा अयुक्ता एव। अतो भगवान् वासुदेवः सर्वस्य कर्त्तेति पक्षः साधीयान् ॥८॥

व्याख्या—सर्वोत्तम रूप से चिन्तन करनेवाले विद्वान् भूतों की सृष्टि काल से ही मानते हैं। यह उपलक्षण है। यदृच्छा, नियति, स्वभाव, प्रधान और ब्रह्मादि का निराकरण हो गया। पुरुष और प्रभु पद से ही जानना चाहिये। काल और प्रधान (जड़ प्रकृति) जड़ होने से उन दोनों में कर्त्तृत्व नहीं हो सकता है। इसलिये काल तथा जड़ प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता है। रुद्र पशुपति का मत भी स्वीकार्य नहीं है, चूँकि वह युक्तियुक्त तथा वेदसम्मत नहीं है और ब्रह्मा में भी जगत्कर्त्तृत्वादि नहीं हो सकता है। श्रुतिप्रमाण से जाना जाता है—एक नारायण ही थे, ब्रह्मा नहीं। प्रलयकाल में नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है अतः वे जगत् के कारण नहीं हो सकते। भगवान् श्रीवासुदेव ही समस्त जगत् के कर्त्ता है, यही पक्ष ही श्रुतियों द्वारा साधित होता है ॥८॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥९॥ इति।

इत्यथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषदि प्रथमः खण्डः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—ब्रह्मण इच्छामात्रेण यत्स्रष्टृत्वमुक्तं तच्च न सम्भवति। यतः तस्य चाप्तसमस्तकामत्वेन प्रयोजनाभावादन्यथा स्वार्थप्रवृत्तौ पूर्णकामत्वहानिः, परार्थ-प्रवृत्तावनन्तदुःखबहुलं जगत्सृजतः करुणावत्वादिहानिरित्यतोऽत्रापि सिद्धान्तं प्रदर्शयितुं मन्त्रान्तरं पठति—अतृप्तस्यैव हरेः भोगार्थं = भोगाख्यप्रयोजनाय, सृष्टिरित्यन्ये मन्यन्ते। अपरे तु क्रीडार्थं सृष्टिः-क्रीडायाः। तत्रापि सिद्धान्तमाह-देवस्येति। देवस्य

एषोऽयं जगत्सर्जनादिरूपो व्यापारः क्रीडारूपत्वात्स्वभाव एव, न तेन प्रयोजनापेक्षा:; यथोक्तं भगवता श्रीबादरायणेन–'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'। (ब्र.सू. २।१।३३) आप्त-समस्तकामस्यापि परब्रह्मणो विचित्रसृष्टौ प्रवृत्तिलीलैव केवला न तत्र प्रयोजनोद्देश इत्याह —आप्तकामस्य = पूर्णकामस्य, का स्पृहा = न कापीत्यर्थः। इतिशब्दो रूपत्रय-निरूपणसमाप्तौ ॥९॥

इत्यथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमः खण्डः ॥१॥

व्याख्या—श्रीभगवान् ने यह विश्व अपनी क्रीडा के लिए ही बनाया है (श्रीमद्भा.८।२२।२०)। वे अपने भक्तों के परमकल्याणार्थ (मोक्ष के लिये) नाना रूप धारण कर लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव किसी भी प्रकार से उनकी शरण में आ जायें। अतः उनके भोग के लिये और कुछ लोग उनकी क्रीडा के लिए सृष्टि मानते हैं। परमात्मा का यह जगत्-सर्जन आदिरूप व्यापार क्रीडारूप ही है; जैसा कि भगवान् ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है—भगवान् श्रीपुरुषोत्तम की लीला लोक की भाँति होती है, जो मोक्षदायिनी है। वे आप्तसमस्तकाम हैं। उन्हें किसी भी वस्तु का प्रयोजन नहीं है, न तो किसी से किसी वस्तु की अपेक्षा है और न स्पृहा है; चूँकि वे परिपूर्णकाम हैं।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥१॥

उपनिषत्

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चो-पशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—पादत्रये व्याख्याते व्याख्येयत्वेन क्रमवशात्प्राप्तं तुरीयं पादं व्याख्यातुमुत्तरग्रन्थप्रवृत्तिस्तत्रमुखेन तत्स्वरूपं निरूपयति—नान्तःप्रज्ञं–देहान्तःस्थिता ये स्वाप्नपदार्थास्तान् न प्रज्ञापयतीति नान्तःप्रज्ञः तम् = स्वप्नावस्थाया अकर्त्तारमित्यर्थः। न बहिःप्रज्ञं–बहिःस्थिता पदार्था जाग्रत्कालीनास्तान् न प्रज्ञापयतीति न बहिःप्रज्ञः तम् = जाग्रद् अवस्थाया अकर्त्तारमित्यर्थः। नोभयतःप्रज्ञं–बहिःशब्दादिकं जानाति अन्तः स्वं न च पश्यति। कस्याञ्चिदवस्थायां तामुभयज्ञानशब्दवाच्यावस्थायाञ्च न प्रज्ञापयतीति नोभय-यतःप्रज्ञः तम्। एतदवस्थाप्रवर्त्तकौ विश्वतैजसाविति सम्प्रदायविदः। न प्रज्ञानघनं घने-त्यज्ञानावृतस्य जीवस्य सुषुप्त्यवस्था कालसुखानाञ्च प्रज्ञापनं यस्मान्न भवत्यसौ न प्रज्ञानघनस्तम् = सुषुप्त्यवस्थाया अकर्त्तारमित्यर्थः। न प्रज्ञं प्रज्ञाशब्दोक्ता सम्प्रज्ञात-समाध्यवस्था अकर्त्तारमित्यर्थः। नाप्रज्ञम्–चरमदेहमुत्सृज्य मुक्तिं गच्छन्तां ज्ञानप्रदो न भवतीति नाप्रज्ञस्तम्। अदृष्टम्–मुख्यप्राणानुग्रहाभावेनामुक्तो यस्तेनादृश्यमानत्वाद-दृष्टस्तम्। अव्यवहार्यम्–मुक्तिं विना संसारे ग्रहणापरपर्यायव्यवहाराद्यविषयत्वादव्य-वहार्यस्तम्। अग्राह्यमित्यर्थः। अलक्षणम्–विश्वादित्रयवत् जाग्रदाद्यवस्थाप्रवर्त्तकत्व-रूपानुमापकधर्मशून्यत्वादलक्षणस्तम्। अचिन्त्यम्–अनुमापकधर्मशून्यत्वादेवानुमिति-

रूपचिन्ताविषयो न भवतीत्यचिन्त्यस्तम्। अव्यपदेश्यम्–व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञान-साध्यत्वादचिन्त्यत्वादेव व्यपदेष्टुमशक्यत्वादव्यपदेश्यस्तम्। ऐकात्म्यप्रत्ययसारम्–एकः प्रधान आत्मापूर्ण एकश्चासौ आत्मा च एकात्मा स्वार्थे ष्यञ्। ज्ञानरूपत्वात् प्रत्यय आनन्दरूपत्वात्सारः। ऐकात्म्यश्चासौ प्रत्ययश्चासौ सारश्चेति तथोक्तस्तम्। प्रपञ्चोपशमम्–गुणादिभिर्विस्तृतत्वात् प्रपञ्चः। उशब्द उच्छब्दवद् उपशब्दोऽप्युत्कृष्टवाची। शमशब्द-श्चानन्दरूपत्ववाची. तथा चोत्कृष्टानन्दरूपत्वादुपशमः प्रपञ्चश्चासावुपशमश्च प्रपञ्चोपशम-स्तम्। यद्वा प्रपञ्चस्य देहस्य सम्बन्धरूपस्योपशमो नाशो यस्माद्भवत्यसौ प्रपञ्चोपशमः तम्। शिवम्–निर्दुःखरूपत्वाच्छिवस्तम्। अद्वैतम्–वस्तुस्वरूपापेक्षया अन्यथा प्रत्ययो द्वैतं तच्छमयतीत्यद्वैतस्तम् = अन्यथा प्रत्ययाकरणमित्यर्थः। एतादृशमात्मनस्तुर्यं पादं मन्यन्त औपनिषदा मन्यन्ते। सोऽयमात्मा चतुष्पादित्युक्तमुपसंहरति–स इति। स विश्वादिरूपेण चतुष्पादात्मा आद्यानादिकर्त्ता स एव मुमुक्षुभिर्विशेषेण ज्ञेय इत्यर्थः ॥७॥

व्याख्या—पीछे तीन पादों की व्याख्या कर चुके हैं, इस समय क्रम से प्राप्त चौथे पाद के व्याख्यान के लिये उत्तरग्रन्थ की प्रवृत्ति, उसमें श्रुति द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है–ब्रह्म के उभयलिङ्ग का प्रतिपादन स्वयं ब्रह्मसूत्रकार महर्षि बादरायण ने किया है—'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि'। (३।२।११) पूर्ववर्णित विश्व (वैश्वानर), तैजस और प्राज्ञ परमात्मा के इन नामों का निर्देश श्रीमद्भागवत (७।१५।५४) में भी मिलता है—'विश्वश्च तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात्'। अर्थात् परमात्मा का चौथा स्वरूप या पाद है–इस प्रकार वैदान्तिक मानते हैं—वह आत्मा (परमात्मा) है, वही विशेष रूप से जानने योग्य है। इस मन्त्र की संस्कृत टीका अतिसरल–सुबोध है अतः उसका अर्थ लिखा नहीं जा रहा है। नान्तःप्रज्ञं इत्यादि मन्त्र का अर्थ श्रीमद्भागवतकार महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन ने समाधि में कितने ही सुन्दर ढंग से सङ्कलन किया है—

'स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र' ॥
(श्रीमद्भागवत ११।३।३५)

पिप्पलायनजी बोले–हे नरेन्द्र! इस जगत् के जन्म, पालन और संहार का अभिन्न निमित्तोपादानकारण होते हुए भी जो स्वयं कारणरहित हैं तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषप्ति अवस्था में रहते हुए भी जो तुरीय अवस्था में स्थित हैं; जिनकी प्रेरणा से देह, इन्द्रिय, मन और प्राण सब सक्रिय होकर अपने-अपने कार्य में निरत रहते हैं वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण हैं, तुम उन्हीं को जानो। यही उनका स्वरूप है। अतः उन्हीं को विशेष रूप से जानना चाहिये ॥७॥

कारिकाः

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।

तत्त्वप्रकाशिका—अस्मिन्नर्थे ब्रह्मदृष्टान् मन्त्रान् संवादयन्नाह। अत्रैते श्लोका

भवन्ति। प्रपञ्चोपशममिति तुरीयस्य सर्वानिष्टनिवृत्तिकारणत्वमुक्तं तत्र तावन्मन्त्रं पठति—सर्वदुखानां निवृत्तेः कारणमिति शेषः। ईशानः–ईशान् = ब्रह्मादीन्, अनति = प्रेरयतीति ईशानः = प्रभुः स्वामी। अव्ययः सदैकरसः।

व्याख्या—तुरीय अवस्था में स्थित सभी तरह के अनिष्टों को दूर करने वाले कारण ब्रह्म का स्वरूप पीछे कहा गया है। उनके बारे में मन्त्र पढ़ते हैं—सारे दुःखों की निवृत्ति से कारण शेष रहता है। जो ब्रह्मादि देवगणों को प्रेरित करता है वह ईशान, प्रभु, स्वामी सदा-सर्वदा एकरस है-ऐसा कहा गया है।

अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—अद्वैतमित्युक्तार्थे मन्त्रं पठति—अद्वैतः = मिथ्याज्ञाननिवर्तकः। सर्वभावानां भवन्ति देहयोगेनोत्पद्यन्त इति भावाः जीवास्तेषां कर्तरि षष्ठी। तैः मुक्तिं गमिष्यद्भिर्देव उपास्यो विभुः समर्थः कारणभूतः तुर्यस्तुरीयः स्मृतः मन्त्रदृग्भिरिति शेषः ॥१०॥

व्याख्या—यहाँ 'अद्वैत' का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—जिसके समान तथा जिससे बढ़कर दूसरा नहीं है वह अद्वैत = अद्वितीय महान्-से-महान् श्रीकृष्ण है। शरीर के सम्बन्ध से समस्त जड-चेतन जीवों की उत्पत्ति होती है। सारी प्रजा मैथुन धर्म द्वारा ही सृष्टि करती है। गर्भ को धारण करनेवाली माता और बीज को स्थापित करने वाला पिता श्रीभगवान् ही है (श्रीमद्भगवद्गीता १४।४)। इसलिये वे सबके उपास्यदेवता हैं, सर्वसमर्थ कारणरूप परमपिता हैं जो तुरीय अवस्था में स्थित रहते हैं; ऐसा मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने बताया है ॥१०॥

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमिति तुरीयस्य विश्वादिभ्यस्त्रिभ्यो वैधर्म्यमुक्तं तत्र मन्त्रं पठति—अथ विश्वादीनां बद्धत्वोक्तिरन्यगतबन्धस्य तदधीनत्वात् तदधीनत्वादर्थवदिति न्यायेन वा बन्धयतीति बद्ध इति कर्तृव्युत्पत्त्या वेति ज्ञातव्यं न तु बद्धत्वं सर्वमानविरुद्धत्वात्। कार्यं भ्रमः कारणमनादिकर्मात्मिकाऽविद्या विश्वतैजसौ कार्यकारणरूपद्विविधबन्धवन्तौ प्रज्ञः कारणरूपैकबन्धनात्कार्यकारणाकारेण द्वावपि बन्धौ तुरीये न स्त इत्यर्थः। ननु विश्वतैजसयोर्द्विविधबन्धवत्त्वेन प्राज्ञतुरीयाभ्यां भेदेऽपि परस्परं व्यावर्त्तकधर्माभावेन कथं भेद इति चेदुच्यते। अविद्यारूपकारणबद्धत्वस्योभयत्राविशिष्टत्वेऽपि कार्यबद्धत्वे वैलक्षण्यसद्भावात्। तथाहि—अविद्यातत्कार्यस्वातन्त्र्यादिविषयकजाग्रत्कालीनभ्रमरूपो भयबन्धप्रदो विश्वः। अविद्यातत्कार्यजाग्रत्कालीनभ्रमकार्यस्वाप्नभ्रमरूपो भयबन्धप्रदस्तैजसः। न च स्वप्नस्य जाग्रत्कालीनभ्रमकार्यत्वं कथमिति शङ्क्यम्। 'अदृष्टे चाश्रुतेऽभावेन भाव उपजायते' इति वचनेन तत्संस्कारद्वारा तत्कारणकत्वस्य सत्त्वात्। द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यत इत्यनेन

तुरीयस्य सर्वथाऽबन्धकत्वमुक्तम्। तेनार्थात् सर्वज्ञानप्रदत्वं तस्येति सूचितं भवति। तथा च नाप्रज्ञमित्युक्तार्थेऽप्ययं मन्त्रः प्रमाणमिति द्रष्टव्यम् ॥११॥

व्याख्या—सातवें मन्त्र में आत्मा को बताया गया है कि—'जो न भीतर की ओर प्रज्ञावाला है, न बाहर की ओर प्रज्ञावाला है, न दोनों ओर प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न जाननेवाला है,⋯यह तुरीय अवस्था है विश्व। तैजस और प्राज्ञ एवं जाग्रत्, स्वप्न और सुषप्ति–तीनों अवस्थाओं से शून्य आत्मा को वैधर्म्य कहा गया है। इस विषय पर निम्नलिखित मन्त्र पढ़ते हैं—ये दोनों विश्व और तैजस कार्य-कारण के आकार से बँधे हैं और प्राज्ञ तो कारणबद्ध है, वे दोनों तुरीय अवस्था में नहीं रहते हैं। महर्षि बादरायण का यह सिद्धान्त है—'तदधीनत्वादर्थवत्'। (ब्र.सू. १।४।३) इस संसार में जितने अर्थवान् शक्ति-शक्तिमान् विभूति-विभूतिमान्⋯इत्यादि हैं वे सब-के-सब उस परमात्मा के अधीन हैं। वही इस जड़-चेतन रूप जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता और संहर्त्ता है। श्रीभगवान् के अनन्य परमभक्त श्रीप्रह्लादजी ने उनकी स्तुति करते हुए श्रीमद्भागवत (७।९।३२) में कहा है—हे भगवन्! इस चराचर समस्त विश्व को स्वयं ही अपने उदर (पेट) में समेटकर आप आत्मसुख का अनुभव करते हुए चेष्टारहित होकर महाप्रलय-कालीन प्रलयसलिल के मध्य में शयन करते हैं। उस समय योग द्वारा बाह्य दृष्टि को बन्दकर आप अपनी योगनिद्रा में रहते हुए तुरीय अवस्था में स्थित रहते हैं। उस समय आप न तो तमोगुण और न विषयों को ही ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार योगी पुरुष भी समाधि में स्थित रहते हैं, उस समय वे तुरीय अवस्था में स्थित रहते हैं; उस समय उनको बाहर का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है ॥११॥

नात्मानं न परं चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक् सदा ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—न प्रज्ञानघनमित्युक्ते प्राज्ञाद्वैधर्म्यं मन्त्रं पठति—प्राज्ञः, आत्मानं = स्वरूपं, परान् = जीवाज्ञानसुषुप्त्यवस्थाकालसुखेभ्योऽन्यान् पदार्थान् सत्या-नृतशब्दलक्षितं तत्कार्यं पुण्यं पापं च न संवेत्ति। णिजन्तमेतत् न संवेदयतीत्यर्थः। इतरेषामसंवेदनरूपक्रियाप्रदाने प्राज्ञस्यैव स्वतन्त्रत्वात्। न संवेत्तीति श्रुतावुक्तं स्वतन्त्रे कर्तृशब्दः स्यादिति वचनादवगन्तव्यम्। तुर्यमिति सर्वदृगित्येतदपि णिजन्तम्। तथा च तुरीयं रूपमात्मानं परान् ज्ञानोत्तरकृतपुण्यं चैतत्सर्वं मुक्तौ दर्शयतीति सर्वदृगित्यर्थः। अनेनाप्रज्ञमित्युक्तं सर्वज्ञानप्रदत्वञ्च प्रमाणितं भवतीति ज्ञातव्यम् ॥१२॥

सान्वयानुवाद—न आत्मानम् = न आत्मा को, न परान् = न दूसरों को, न सत्यम् = न सत्य को, अपि च = और भी, न अनृतम् = न झूठ को, प्राज्ञः = प्राज्ञ, किञ्चन = कुछ, संवेत्ति = भलीभाँति जानता है, सदा = हमेशा, सर्वदृग् = सबको देखनेवाला, तुर्यम् = तुरीय अवस्था में स्थित है ॥१२॥

व्याख्या—'न प्रज्ञानघनम्' सातवें मन्त्र में ऐसा कहा गया है, प्राज्ञ से वैधर्म्य में मन्त्र पढ़ते हैं—प्राज्ञ स्वरूप को, जीव की अज्ञान-सुषुप्ति अवस्था काल में सुखों से

दूसरे पदार्थों को सत्य अनृत शब्द से लक्षित पुण्य और पाप को नहीं जानता है, न जाना जा सकता है। दूसरे असंवेदनरूप क्रिया प्रदान में प्राज्ञ की ही स्वतन्त्रता है। नहीं जानता है, ऐसा श्रुति में कहा गया है। स्वतन्त्र में कर्तृ शब्द है, इस वचन से जानना चाहिये। तुरीय रूप आत्मा (स्वरूप) को दूसरों को ज्ञानोत्तर कृत यह सब सर्वद्रष्टा मुक्ति में दिखलाता है। इस विवेचन से 'अप्रज्ञम्' जो कहा गया था, सर्वज्ञानप्रदत्व प्रमाणित होता है—ऐसा जानना चाहिये ॥१२॥

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—शिवमद्वैतमिति। तुरीयस्योक्तमद्वैतमिति विशेषणं सुषुप्तज्ञान इत्यादौ प्राज्ञस्वरूपकथनपरे वाक्ये प्राज्ञस्याभिप्रेतम्। अतः प्राज्ञतुरीययोरद्वैततत्त्वं समानमित्यत्र मन्त्रं पठति—प्राज्ञतुरीययोरुभयोर्देहादिविषयस्वातन्त्र्यभ्रमरूपद्वैतस्याग्रहणकारणत्वं तुल्यमित्यर्थः। नात्मानमित्यादिना प्राज्ञतुरीययोर्वैधर्म्यं चोक्त्वा द्वैतस्येति साम्यं चोक्त्वा पुनर्वैधर्म्यं प्रकारान्तरेणाह-बीजेति। देहगेहादौ स्वातन्त्र्यबुद्धिबीजभूता मूलाविद्यायुतः प्राज्ञस्तस्यास्तदधीनत्वेन प्राज्ञस्य तत्प्रवर्त्तकत्वात् तद्युक्तत्वं युक्तम्। मृत्युयुतः स्वामीत्यादाविवेति द्रष्टव्यम्। सा च मूलाविद्या तुर्ये न वर्त्तते तत्प्रवर्त्तको न भवतीत्यर्थः ॥१३॥

सान्वयानुवाद—द्वैतस्य = द्वैत का, अग्रहणम् = ग्रहण नहीं है, उभयोः = दोनों, प्राज्ञतुर्ययोः = प्राज्ञ और तुरीय का, तुल्यम् = बराबर है, बीजनिद्रायुतः =कारण निद्रा से युक्त, प्राज्ञः = प्राज्ञ, च = और, सा = वह (मूलाविद्या), तुर्ये = तुरीय अवस्था में, न विद्यते = नहीं रहती है ॥१३॥

व्याख्या—प्राज्ञ और तुरीय दोनों देह आदि विषय स्वातन्त्र्य भ्रमरूप द्वैत का ग्रहण नहीं है, कारणता तुल्य है। 'नात्मानम्' इत्यादि द्वारा प्राज्ञ और तुरीय का वैधर्म्य बताकर द्वैत की समता कहकर पुनः वैधर्म्य दूसरी तरह से बताते हैं-देह-गेह आदि में स्वातन्त्र्य बुद्धि कारणरूप मूल अविद्या से युक्त प्राज्ञ उसके अधीन है। वह मूला अविद्या तुरीय अवस्था में नहीं रहती हैं, न उसका प्रवर्त्तक होता है ॥१३॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका—विश्वतैजसयोर्द्विविधबन्धत्वेन साम्यं प्राज्ञस्यैकबन्धत्वेन, ताभ्यां वैलक्षण्यं सर्वबन्धशून्यत्वेन तुरीयस्य, त्रिभ्यो वैधर्म्यं कार्यकारणावित्यनेनोक्तं तत्रैव मन्त्रान्तरं पठति—स्वप्नः = कार्यरूपो भ्रमः, निद्रा = अविद्या, आद्यौ = विश्वतैजसौ स्वप्ननिद्रायुतौ। उक्तरीत्या कार्यकारणबद्धौ। प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया = स्वप्नशब्दोक्तकार्यभ्रमं विना निद्रया अविद्यया युतः। कारणमात्रबद्ध इत्यर्थः। निश्चिताः = यथार्थनिश्चयवन्तः, तुरीये निद्रां स्वप्नं च नैव पश्यन्ति, सर्वथा कार्यकारणबन्धशून्यत्वेनैव तं पश्यन्तीत्यर्थः ॥१४॥

सान्वयानुवाद—आद्यौ = विश्व और तैजस दोनों, स्वप्ननिद्रायुतौ = स्वप्न और निद्रा से युक्त, निद्रया = निद्रा से, प्राज्ञः तु अस्वप्नः = प्राज्ञ तो अस्वप्न है, न निद्राम् = न निद्रा को, न चैव स्वप्नम् = और न स्वप्न को, निश्चिताः = निश्चय करने वाले, तुर्ये = तुरीय अवस्था में, पश्यन्ति = देखते हैं ॥१४॥

व्याख्या—जब कोई सोया हुआ रहता है तब वह नींद में नाना तरह के स्वप्नों को देखता है, परन्तु यहाँ वैसा नहीं है। ठीक-ठीक निश्चय करनेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष विश्व, तैजस, स्वप्न-निद्रा से युक्त स्वप्नों को नहीं देखते, क्योंकि तुरीय अवस्था में वे न निद्रा लेते हैं और न तो स्वप्न को देखते हैं, उस समय तो वे समाधि में रहते हैं और समाधि के द्वारा सारी वस्तुओं को भलीभाँति जान लेते हैं ॥१४॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रातत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

तत्त्वप्रकाशिका—नन्वेतादृशतुरीयस्य प्राप्तिः कदेत्याशङ्कापरिहारायाह—तत्त्वं स्वतन्त्रत्वं भगवतोऽजानतः पुंसो या निद्राऽविद्याऽस्ति तयाऽन्यथा गृह्णतोऽहं ममेत्यादि-जाग्रत्कालीनस्वातन्त्र्यभ्रमयुक्तस्य स्वप्नः स्वप्नदर्शित्वभ्रमो भवति, जाग्रदवस्थायां स्वा-तन्त्र्यादिविषयभ्रमजन्यसंस्कारेण जाग्रत्कालीनमिदमिति स्वप्नरूपो भ्रमो भवति। एवंरूपे तयोर्विपर्यासे जाग्रत्स्वप्नभ्रमयोर्विपरिवर्त्तने क्षीणे सति पद्यत इति पदं तुरीयमश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१५॥

सान्वयानुवाद—अन्यथा = दूसरे प्रकार से, अजानतः = न जानता हुआ, निद्रातत्त्वम् = निद्रा तत्त्व को, गृह्णतः = ग्रहण करनेवाले (व्यक्ति का), स्वप्नः = स्वप्न भ्रम होता है, तयोः = स्वप्न और भ्रम, विपर्यासे = क्षीण हो जाने पर, तुरीयपदम् = तुरीयपद को, अश्नुते = प्राप्त कर लेता है ॥१५॥

व्याख्या—श्रीभगवान् के स्वतन्त्रत्व को न जाननेवाले व्यक्ति की जो निद्रा अर्थात् अविद्या है उससे अन्यथा ग्रहण करता हुआ अहन्ता-ममता इत्यादि जाग्रत्-कालीन स्वातन्त्र्य भ्रम युक्त स्वप्न देखनेवाले व्यक्ति में भ्रम होता है। जाग्रत् अवस्था में स्वातन्त्र्यादि विषय भ्रमजन्य संस्कार द्वारा जाग्रत्कालीन 'इदम् इति' = यह इस प्रकार का अपना स्वप्न भ्रम होता है। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न भ्रम के क्षीण हो जाने पर वह तुरीयपद को प्राप्त हो जाता है ॥१५॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुद्ध्यते तदा ॥१६॥

तत्त्वप्रकाशिका—नन्वनादि-अविद्याबद्धस्य जीवस्य जाग्रत्स्वप्नयोर्विपर्यासक्षय एव कथं स्यादित्यतो यदा सद्गुरूपदेशादिना भगवत्प्रबोधोदयस्तदैवेत्याशयेनाह—अनादेर्विष्णोरनादिभूतया मायया इच्छया तदधीनतया प्रकृत्या च सुप्तः स्वापितो जीवो यदा ईश्वरेच्छयैव सद्गुरूपदेशेन प्रबुद्ध्यते प्रबोधमायाति श्रवणादिमान् भवतीति यावत्। तदा अजं = जनिरहितम्, अनिद्रम् = अज्ञानरहितम्, अस्वप्नं = स्वप्नाद्युपलक्षित-

जाग्रदवस्थातीतम्, अद्वैतम् = अन्यथाज्ञानशून्यं भगवन्तं, बुध्यतेऽपरोक्षतो जानातीत्यर्थः । अनन्तरं विपर्यासक्षयो भवतीति भावः ॥१६॥

सान्वयानुवाद—अनादिमायासुप्तः = अनादि माया से सोया हुआ, जीवः = जीवात्मा, यदा = जब, प्रबुद्ध्यते = जागता है, अजम् = जनिरहित, अनिद्रम् = निद्रारहित, अस्वप्नम् = स्वप्नरहित, अद्वैतम् = अद्वैत श्रीभगवान् को, तदा = तब, बुद्ध्यते = जानता है ॥१६॥

व्याख्या—अनादि भगवान् श्रीविष्णु की अनादिरूपा माया = इच्छा से उसके अधीन प्रकृति द्वारा सोया हुआ जीव जब ईश्वर की इच्छा से ही सद्गुरु के उपदेश से ज्ञान को प्राप्त करता है। अर्थात् आत्मा के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करनेवाला हो जाता है तब वह जनिरहित, अज्ञानरहित, स्वप्न आदि उपलक्षित जाग्रत् अवस्थातीत, अन्यथा ज्ञानशून्य श्रीभगवान् को अपरोक्ष रूप से जान लेता है ॥१६॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

तत्त्वप्रकाशिका—नन्वहं ममेत्यादिस्वस्वामिभावसम्बन्धरूपप्रपञ्चो यदि जीवस्वभावः स्यात्तदा भगवदनुग्रहादपि कथं निवर्तेतेत्याशङ्कायां स न जीवस्वभावः किन्त्वाभिमानिको भगवदिच्छाधीन एव अतः तज्ज्ञानजनिततत्प्रसादान्निवृत्त्युपपत्तिरित्याशयेनाह—प्रपञ्चः देहादिनिरूपितस्वस्वामिभावरूपः जीवस्याभिमानाद् विद्येत अस्वाभाविकतयाऽभगवद्वशत्वेन च विद्यते इत्यङ्गीकारो यदि भवेत् तथापि भगवज्ज्ञानात् निवर्तेतैव नात्र संशय इत्यर्थः । ननु भगवज्ज्ञानादपि कथं तन्निवृत्तिरित्यतो भगवदिच्छाधीनत्वात् तदिच्छयैव निवृत्तिर्युक्तेत्याशयेनाह—मायामात्रमिति । अद्वैतं महद्भिर्यथावत्तया ज्ञातं ब्रह्मादिवस्तुजातमज्ञैर्द्वैतं द्वितीयेन प्रकारेण ज्ञातं तद्वैपरीत्येन ज्ञातः तच्च मिथ्याज्ञानं तेषां मायामात्रं भगवदिच्छया मात्रं निर्मितं जातमित्यर्थः । तथा च तादृशमिथ्याज्ञानस्यानादितोऽनुवृत्तस्यापीच्छया जातत्वेनास्वाभाविकत्वात्तत्प्रसादेन तन्निवृत्तिर्युक्तेति भावः । उक्तं हि—संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' ॥ (गी.)

इति श्रीमुखवचनस्य जागरूकत्वात् । इदमत्राकूतम् । ननु चेतनाचेतनात्मकवस्तुनो विद्यमानत्वात् । अद्वैतानुपपत्त्या कथमद्वैतमुच्यते, न च ब्रह्मणश्चेतनाचेतनयोश्च स्वरूपेणाभिन्नत्वान्नाद्वैतानुपपत्तिस्तथात्वे गुणदोषसाङ्कर्यप्रसक्तेर्दुर्वारत्वात् । स्वाभाविकभेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणः स्वत एव जीवभावाभ्युपगमाद् गुणवद्दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोषब्रह्मतादात्म्योपदेशविरुद्धा एवेति चेन्न; यतो न वयं स्वरूपेण जीवेश्वरयोरैक्यमभ्युपगच्छामः येनोक्तापत्तिः प्रसज्येत, किन्तु इतरेतरात्यन्तविलक्षणत्वेन ब्रह्मणश्चेतनाचेतनयोश्च स्वरूपेण भिन्नत्वं प्रतिपादयामः, तत्र चेतनस्याणुत्वेन निर्देशार्हत्वम् अचेतनस्य च स्थूलत्वेन ब्रह्मणस्तयोर्वैलक्षण्येनेति विवेकः । यथा ब्रह्मणश्चेतना

त्रेतनयोश्च स्वाभाविकभेदस्तथैवाभेदः सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वव्यापकत्वस्वतन्त्रसत्व-सर्वाधारत्वधर्मपुरस्कारेण भेदः ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्यत्वतद्व्याप्यत्वतत्तन्त्रसत्त्वपराधेयत्वेन स्वरूपेणाभेदः एतद्रूपेणाद्वैतज्ञानं द्वैतज्ञानञ्च यथार्थज्ञानमेतद्वैपरीत्येन ज्ञानं मिथ्याज्ञान-मिति ॥१७॥

व्याख्या—उपनिषदों को 'वेदान्त' शब्द से पुकारा जाता है। श्रीमद्भागवत समस्त उपनिषदों का सार है। 'सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते'। (श्रीमद्भा. १२।१३।१५) श्रीमद्भागवत में इस मन्त्र का अनुवाद अक्षरशः तो नहीं है लेकिन भावार्थ लगभग एक ही स्पष्ट लक्षित हो रहा है—

> 'बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
> मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि' ॥ (श्रीमद्भा. १२।४।२५)

हे राजन्! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धि की हैं, प्रत्यगात्मा में नानात्व यह मायामात्र है। मन्त्रार्थ देखिये—यदि = अगर, प्रपञ्चः विद्येत = प्रपञ्च हो, निवर्तेत = टल जायें, निवृत्त हो जायें, न संशयः = इसमें संशय नहीं है। मायामात्रमिदम् = यह मायामात्र है। परमार्थतः द्वैतमद्वैतम् = परमार्थतः द्वैताद्वैत है। जैसे कि दूसरे शास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित है—

> 'द्वैतं चैव तथाद्वैतं द्वैताद्वैतं तथैव च।
> न द्वैतं नापि चाद्वैतमिति तत्पारमार्थिकम्' ॥ (दक्षसं. ७।४८)

द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत ये तीनों प्रकार के मत हैं। इनमें द्वैत या अद्वैत पारमार्थिक नहीं हैं, द्वैताद्वैत ही परमार्थिकि हैं।

> 'अन्तर्यामी जगद्रूपी सर्वसाक्षी निरञ्जनः।
> भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितो वै परमेश्वरः' ॥ (बृ.ना.पु. ३।२७)

सभी प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से जड़जगत्प्रपञ्च रूप से सर्वद्रष्टा निर्मलस्वरूप परमेश्वर परमात्मा भिन्नाभिन्न स्वरूप से अर्थात् भेदाभेद सम्बन्ध से स्थित हैं।

परमभागवत श्रीप्रह्लादजी ने कहा है—

'प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम्'। (श्रीमद्भा. ७।६।२१)

स्वयं श्रीभगवान् प्रत्यगात्म स्वरूप से और दृश्य-प्रपञ्च रूप से लक्षित हो रहे हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतेः ॥१७॥

> **विकल्पो न निवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।**
> **उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥१८॥**

तत्त्वप्रकाशिका—उक्तमेव पूर्ववाक्यार्थं विशदयन्नुपसंहरति—देहादौ स्वीयता-भिमानलक्षणबन्धरूपो विकल्पो यदि केनचिदज्ञानिना कल्पितः। उपदेशात् = श्रीगुरु-कृताद् भगवदुपदेशाच्छ्रवणरूपात् तज्ज्ञानादपरोक्षज्ञानद्वारा न निवर्तेतापितु निवर्तेतैव।

उक्तार्थेऽप्रामाण्यशङ्कापरिहारायाह—अयं वाद इति। ब्रह्मणि प्रागुपदर्शितप्रकारेण यथावज्ज्ञाते सति द्वैतं देहगेहादौ स्वस्वामिभावसम्बन्धज्ञानरूपमन्यथाज्ञानं न विद्यते निवर्तेत। तदनन्तरं भगवद्भावापत्तिरूपां मुक्तिमेतीत्ययं सतां वादः सिद्धान्तः। अतो नात्राप्रामाण्यशङ्काकलङ्कावकाश इति भावः ॥१८॥

इत्यथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां द्वितीयः खण्डः ॥२॥

व्याख्या—यदि देह आदि में अपना अभिमान लक्षण बन्धन रूप विकल्प की कोई अज्ञ व्यक्ति कल्पना करता है तो श्रीगुरु के द्वारा किये गये श्रीभगवद्-उपदेश अर्थात् आत्मा के श्रवण-मनन रूप ज्ञान से अपरोक्ष ज्ञान द्वारा शिष्य का देहाभिमान छूट जाता है। ब्रह्म में पहले दिखाये गये प्रकार से ठीक-ठीक मालूम हो जाने पर द्वैत अर्थात् देह-गेह आदि में अपना स्वामिभाव सम्बन्ध ज्ञान रूप अन्यथा ज्ञान नहीं रहता है, निवृत्त हो जाता है। वह सर्वथा बन्धनों से छूट जाता है और देहात्मबुद्धि को छोड़ देता है। इसके बाद ही वह श्रीभगवद्भावापत्तिरूपा मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। यही सज्जनों का सिद्धान्त है। अतः यहाँ पर अप्रामाण्य की शङ्का के कलङ्क को बिल्कुल ही अवकाश नहीं है ॥१॥

द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

उपनिषत्

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं चतुरो विश्वादीन्निरूप्य तेषामेव चतुर्णां प्रणवांशाकारोकारमकारनादं प्रतिपाद्यस्वरूपं महिमानं वक्तुमुत्तरखण्डद्वयम्; तत्राद्यखण्डं विश्वादीनां त्रयाणां प्रणवांशाकारादित्रयप्रतिपाद्यत्वं वक्तुमनूद्यते—सोऽयं विश्वादिचतूरूप आत्मा अध्यक्षरं सर्वतोऽधिकत्वादधि, अविनाशित्वादक्षरमोमित्याक्रियत इत्योङ्कारः। यद्वक्तुमुक्तमनूदितं तन्निरूपयितुं प्रस्तावयति—अधिमात्रमिति। अधि अधिकाः पूर्णा मात्रा यस्यासौ अधिमात्रः। कस्ता मात्रा इत्यत आह–पादा मात्रा इति। पादाः = अंशाः, मात्रा = मात्राशब्दवाच्याः। ते पादा अपि क इत्यत आह—अकार इत्यादिना। अत्र नादोऽपि ग्राह्यः ॥१॥

सान्वयानुवाद—सः = वह, अयम् = यह, आत्मा = परमात्मा, अध्यक्षरम् = अधि अक्षर, ओङ्कारः = ओङ्कार, अधिमात्रम् = अधिमात्रा, पादाः = पाद, मात्राः मात्रा च = मात्राएँ और मात्राएँ, पादाः = पाद (चरण), अकारः उकारः मकारः इति = अकार, उकार और मकार है ॥१॥

व्याख्या—इस प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञ और परमात्मा का स्वरूप निरूपण करके उन चारों का प्रणवांश अकार, उकार, मकार और नाद प्रतिपाद्य स्वरूप-महिमा को कहने के लिये दो उत्तर को प्रस्तुत करते हैं। पहले खण्ड में विश्वादि तीनों क

प्रणवांश अकारादि त्रय प्रतिपाद्यता की व्याख्या है। वह यह विश्वादि चतूरूप आत्मा सब ओर से अधिक होने से, अविनाशी होने से अक्षर 'ओम्' ऐसा उच्चारण किया जाता है। अधिक (ज्यादा) हैं पूर्ण मात्राएँ जिसकी वह अधिमात्र कहलाता है। कौन-कौन वे मात्राएँ हैं ? इस पर कहते हैं—पाद (चरण) अंश मात्राशब्द वाच्य है। वे पाद भी हैं- अकार, उकार, मकार और नाद ॥१॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—तत्राकारवाच्यः क इत्यत आह—जागरितेति। यो जागरितस्थानो वैश्वानरः भगवतः प्रथममात्रा = प्रथमोंऽशो विश्वः, स अकारः = अकारवाच्यः। विश्वे अकारप्रवृत्तौ निमित्तद्वयं निर्वक्ति–आप्तेरादिमत्त्वाद्वेति। आप्तेर्जीवस्य विषयानापयति प्रापयतीत्याप्तिस्तन्निमित्तात्। आमिमत्वाद्वा। सुषुप्त्यवस्थातो जाग्रदवस्थायां प्रत्यागमने विश्वस्य प्राज्ञाद्विभज्यमानत्वेन प्राज्ञरूपादिमत्त्वम्। स्वप्नादुत्थाने तैजसाद् विभज्यमानत्वेन तैजसरूपादिमत्त्वमस्तीत्येवमादिमत्त्वाद्वा आ इत्युच्यते इत्यर्थः। आप्त्यादिमत्वरूपनिमित्तद्वयेनाकारवाच्यतया विश्ववेत्तुः फलमाह—आप्नोतीति। य एवं निमित्तद्वयेन विश्वस्याकारवाच्यत्वं वेद स सर्वान् कामान् काम्यान् विषयान्विश्वानुग्रेण प्राप्नोति ॥२॥

सान्वयानुवाद—जागरितस्थानः = जाग्रत् स्थान, वैश्वानरः = वैश्वानर, अकारः = अकार, प्रथमा = पहली, मात्रा = मात्रा है, आप्तेरादिमत्त्वात् = आप्ति (जीव) आदिमत्त्व होने से, ह वै = निश्चय ही, सर्वान् कामान् = समस्त कामनाओं को, प्राप्नोति = प्राप्त हो जाता है, च = और, आदिः = पहले, भवति = होता है, यः = जो, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है ॥२॥

व्याख्या—विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीनों में अकार वाच्य कौन है ? इस पर कहते हैं—जो जाग्रत् स्थान वैश्वानर है श्रीभगवान् की प्रथममात्रा अर्थात् प्रथम अंश विश्व, वह अकार वाच्य है। विश्व में अकारप्रवृति पर निमित्तद्वय का निर्वचन करता है, आप्त जीव को विषयों को प्राप्त कराता है। इस प्रकार आप्ति उसके निमित्त होने से आप्ति कहा। सुषुप्ति अवस्था से जाग्रत् अवस्था में प्रत्यागमन होने पर विश्व का प्राज्ञ से विभाजन रूप से प्राज्ञ रूपादिमान है। स्वप्न से उठने पर तैजस से विभाजन रूप से तैजस रूपादिमान हो जाता है। इस प्रकार आदिमान होने से 'अ' ऐसा कहा जाता है। आप्त्यादिमान रूपनिमित्त दो से तथा अकार वाच्य रूप से विश्ववेत्ता का फल बतलाते हैं—जो इस प्रकार निमित्त दो से विश्व की अकारवाच्यता को जानता है वह सारे विषयों को विश्व के अनुग्रह से प्राप्त हो जाता है ॥२॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—उकारवाच्यः क इत्यत आह—यः स्वप्नस्थानस्तैजसो द्वितीया

मात्रा स उकारः = उकारवाच्यः। तत्रोकारशब्दप्रवृत्तौ निमित्तद्वयमाह–उत्कर्षादुभय-त्वाद्वेति। शरीराभिमानादुत्थाप्योद्धृत्य स्वप्नमण्डलं प्रति वासनामयपदार्थानुभवार्थ कर्षतीत्युत्कर्षस्तस्मात्। बाह्यव्यापारोपरतिरूपनिद्रायाः स्वाप्नविषयानुभवस्य च हेतुत्वादुभयत्वं तस्माद्वा उकारवाच्य इत्यर्थः। एवं निमित्तद्वयेन तैजसस्योकारवाच्यत्व-वेतुः फलमाह—उत्कर्षतीत्यादिना। एवं निमित्तद्वयेन तैजसोङ्कारवाच्यत्वं यो वेद स ज्ञानसन्ततिमुत्कर्षति। ज्ञानसन्तत्योत्कृष्टो भवतीत्यर्थः। समानश्च भवति स्नेहाद् द्वेष-भावाच्च सर्वमुक्तानां मध्यस्थो भवति। अस्यैवमुकारवाच्यतया तैजसवेतुः कुलेऽब्रह्मवित् पुत्रो न भवति। ब्रह्मवित्पुत्रो भवतीत्यर्थः ॥३॥

सान्वयानुवाद—स्वप्नस्थानः = स्वप्न स्थान, तैजसः = तैजस, उकारः = उकार, द्वितीया = दूसरी, मात्रा = मात्रा है, उत्कर्षात् = उत्कर्षण, उभयत्वात् = स्वप्न और तैजस इन दोनों का, वा = निश्चय ही, उत्कर्षति = उत्कर्षण होता है, ह वै = निश्चय ही, ज्ञानसन्ततिम् = ज्ञानसन्तति को, च = और, समानः = समान, भवति = होता है, अस्य = इसके, कुले = कुल में, अब्रह्मवित् = ब्रह्म को न जाननेवाला, न = नहीं, भवति = होता है, यः = जो, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है ॥३॥

व्याख्या—जो स्वप्नस्थान तैजस दूसरी मात्रा है वह उकारवाच्य है। उसमें उकार शब्द की प्रवृत्ति पर निमित्तद्वय से कहा—शरीराभिमान से उठकर अपने सूर्यमण्डल के प्रति वासनामय पदार्थों के अनुभव के लिए कर्षण करता है। बाह्य व्यापारों से उपरत रूप निद्रा का और स्वप्न विषय अनुभव का कारण दोनों उकारवाच्य हैं। इस प्रकार निमित्तद्वय द्वारा तैजस की उकारवाच्यता को जाननेवाले विद्वान् का फल बताते हैं—इस प्रकार निमित्तद्वय द्वारा तैजस की ओङ्कारवाच्यता को जो जानता है वह ज्ञान का सम्यक् विस्तार करके उत्कृष्ट होता है। स्नेह से और द्वेष भाव से तथा समस्त मुक्तों में मध्यस्थ होता है। इस प्रकार उकार वाच्यरूप से तैजस को जानने वाले इस व्यक्ति के कुल में ब्रह्म को नहीं जानने वाला पुत्र नहीं होता अर्थात् ब्रह्म को जाननेवाला पुत्र ही होता है ॥३॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—मकारवाच्यः क इत्यत आह—यः सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो भगवतस्तृतीया मात्रा स मकारो मकारवाच्यः। प्राज्ञे मकारप्रवृत्तौ निमित्तद्वयमाह—मितेर-पीतेर्वेति। मितिरन्तर्गतिः, तथा च सुषुप्तौ जीवमात्मन्यन्तर्गमयतीति हेतोः। तथाऽपीतेः सुषुप्तौ बाह्यज्ञानलयकर्तृत्वाद्वा मकारवाच्य इत्यर्थः। 'मानं ज्ञानं लयश्चैव मर्यादा चापि कथ्यते' इति वचनात्। एवं निमित्तद्वयेन प्राज्ञस्य मकारवाच्यवत्वेतुः फलमाह–मिनोति ह वा इत्यादिना। एवं निमित्तद्वयेन प्राज्ञस्य मकारवाच्यत्वं यो वेद स इदं सर्वं जगन्मिनोति। प्रत्यणूनामपि जीवानां प्रकाशतो व्याप्तेः सत्त्वात् प्रकाशस्यान्तर्गमयति। अणुमात्रस्थितं पदार्थजातं जानातीति यावत्। अपीतिर्दुःखादेः संसारस्य विलापकश्च भवतीत्यर्थः ॥४॥

सान्वयानुवाद—सुषुप्तस्थानः = सुषुप्त स्थान, प्राज्ञः = प्राज्ञ, मकारः = मकार, तृतीया = तीसरी, मात्रा = मात्रा है, मितेः = मिति (मान) का, वा = अथवा, अपीतेः = दुःखबहुल संसार का, ह वै = निश्चय ही, इदम् = यह, सर्वम् = सब, मिनोति = माप लेता है, च और, अपीतिः = अपीति, भवति = हो जाता है, यः = जो, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है ॥४॥

व्याख्या—मकारवाच्य कौन है ? इस पर कहते हैं—जो सुषुप्तस्थान प्राज्ञ भगवान् की तीसरी मात्रा है वह मकारवाच्य है। प्राज्ञ में मकारप्रवृत्ति पर निमित्तद्वय बतलाते हैं—मिति अन्तर्गति तथा सुषुप्ति में जीव को अपने भीतर ले जाती है-इस हेतु से अपीति है। सुषुप्ति अवस्था में बाह्य ज्ञान का लय कर्त्तृत्व मकारवाच्य है। मान ज्ञान और लय ही मर्यादा भी कहा जाता है, ऐसा वचन है। इस प्रकार निमित्तद्वय द्वारा प्राज्ञ की मकारवाच्यता को जानने वाले व्यक्ति का फल बताते हैं—इस प्रकार निमित्तद्वय द्वारा प्राज्ञ की मकारवाच्यता को जो जानता है वह इस सारे जगत् को माप लेता है। जीव अणु होते हुए भी अपने धर्मभूत ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जान लेता है और दुःखादि संसार का विलापक हो जाता है ॥४॥

कारिकाः

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥१९॥

तत्त्वप्रकाशिका—जागरितस्थान इत्यादिनोक्तार्थे विश्वाससम्पादनाय ब्रह्मदृष्टान् मन्त्रान्संवादयन्नाह—अत्रैते श्लोका भवन्ति। अत्रैत इति। तत्र जागरितस्थान इत्याद्यर्थे मन्त्रं पठति-विश्वस्येति। विश्व अकारवाच्य इत्येव विश्वस्यात्वविवक्षामुक्तरीत्या अकारवाच्यत्वविवक्षां कृत्वेति यावत् मात्रासम्प्रतिपत्तौ मात्राया विश्वलक्षणभगवदंशस्य सम्प्रतिपत्तौ ध्याने क्रियमाणे सति अस्य धातुरुत्कटं विस्पष्टं यथा भवति तथाऽऽदिसामान्यम्। उक्तरीत्या विश्वस्य प्राज्ञतैजसरूपादिमत्त्वं विद्यते तदुपासकस्यापि भवतीत्येवमादिमत्त्वेन साम्यं भवति। शब्दसाम्यमेवात्र द्रष्टव्यम्। तथाप्तिसामान्यम्। उक्तरीत्याप्तिमत्त्वेनापि साम्यं स्यात् भवतीत्यर्थः ॥१९॥

सान्वयानुवाद—विश्वस्य = विश्व का, अत्वविवक्षायाम् = अत्व विवक्षा में, आदिसामान्यम् = आदि सामान्य, उत्कटम् = उत्कट है, मात्रासम्प्रतिपत्तौ = मात्रा की सम्यक् प्रतिपत्ति में, स्यात् = हो, च = और, आप्तिसामान्यम् एव = आप्तिसामान्य ही ॥१९॥

व्याख्या—इस विषय में ये श्लोक हैं-जाग्रत्स्थान इत्यादि अर्थ में मन्त्र पढ़ते हैं—विश्व अकारवाच्य है, विश्व की अत्व-विवक्षा को कही गयी रीति से अकार वाच्यत्व विवक्षा करके मात्रा का विश्व-लक्षण भगवान् के अंश का भलीभाँति बोध तथा ध्यान किये जाने पर धाता का उत्कट-विस्पष्ट जैसा होता है वैसा आदिसामान्य है। बतायी

गयी रीति से विश्व का प्राज्ञ और तैजस रूपादिमान होता है, उसके उपासक का भी होता है। इस प्रकार आदिमान रूप से समता है। शब्दसमता ही यहाँ जानना चाहिये तथा आप्ति सामान्य है-उक्त रीति से आप्तिमान रूप से भी समता है ॥१९॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥२०॥

तत्त्वप्रकाशिका—स्वप्नस्थान इत्याद्यर्थे मन्त्रं पठति—तैजसस्येति। तैजसस्योकारवाच्यत्वविज्ञाने, उक्तरीत्या उकारवाच्यत्वविवक्षां कृत्वा मात्रासम्प्रतिपत्तौ तैजसलक्षणभगवदंशध्याने। अस्योपासकस्य स्फुटमुत्कर्षः ज्ञानोत्कर्षरूपं फलं विद्यते। तथाविधं भगवन्निष्ठोभयत्वसदृशमुभयत्वञ्च विद्यते। निद्रास्वप्नविषयानुभवश्च भगवता क्रियते इति तस्योभयत्वम्। अस्याप्युपासकस्य बाह्येन्द्रियोपरमरूपनिद्रामुक्तौ भवति। बाह्येन्द्रियाणि जडानि सर्वाण्यपि नश्यन्तीति यावत् स्वरूपेन्द्रियेण विषयानुभवश्च भवतीत्युभयत्वं विद्यते भवतीत्यर्थः ॥२०॥

सान्वयानुवाद—तैजसस्य = तैजस का, उत्वविज्ञानः = उत्व-विशेष ज्ञान, उत्कर्षः = उत्कृष्ट, स्फुटम् = स्फुट, दृश्यते = देखा जाता है, तथाविधम् = उसी प्रकार, मात्रासम्प्रतिपत्तौ = मात्रा की सम्यक् प्रतिपत्ति में, उभयत्वम् = उभयता, स्यात् = हो ॥२०॥

व्याख्या—तैजस की उकारवाच्यता भलीभाँति जान लेने पर बतायी गयी रीति से उकार-वाच्यत्व की विवक्षा करके मात्रा की ठीक-ठीक जानकारी में तैजस का स्वरूप श्रीभगवान् के अंश का ध्यान-चिन्तन करने पर उपासक व्यक्ति का ज्ञान-उत्कर्ष रूप फल होता है। उसी प्रकार श्रीभगवान् में निष्ठा उभयत्व सदृश और उभयत्व है, निद्रा में स्वप्न-विषयों का अनुभव भगवान् के द्वारा किया जाता है, ऐसा उभयत्व है। इस उपासक को भी बाह्य-इन्द्रिय-उपरम रूप निद्रा छूट जाने पर अनुभव होता है। बाहर की सारी जड़ इन्द्रियाँ समूल नष्ट हो जाती हैं। स्वरूप इन्द्रिय द्वारा विषयों का अनुभव होता है, यही उभयत्व है ॥२०॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥२१॥
त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितम्।
स पूज्यस्सर्वभावानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥२२॥

तत्त्वप्रकाशिका—सुषुप्तिस्थान इत्याद्यर्थे मन्त्रं पठति—प्राज्ञस्य मकारभावे = मकारवाच्यत्वे उक्तरीत्या मकारवाच्यत्वविवक्षां कृत्वा मात्रासम्प्रतिपत्तौ प्राज्ञरूपभगवदंशध्यानेऽस्योत्कटं मानसामान्यम्। उक्तरीत्या स्वान्तर्यामित्वेन साम्यमुक्तरीत्या लयकर्तृत्वेन च साम्यञ्च भवतीत्यर्थः ॥२१॥

यत् अकाराद्यभिधेयविश्वाद्युपासकानां सर्वकामावाप्त्यादिफलमुक्तं तत्सत्यमेव,

कुत इति चेत्। अकाराभिधेयविश्वाद्युपासकाः सर्वकामाप्त्यादिमन्त इति वेत्तुरपि फलोक्तेः। न हि तस्य मिथ्यात्वतद्वेत्तुः फलं भविष्यतीत्याशयेनाह—त्रिष्विति। यो निश्चितो निश्चितरूप ज्ञानवानधिकारी। त्रिषु धामसु तेजःस्वरूपञ्च गृहं प्राज्ञधामेति गीयत इति वचनात्। विश्वादिस्वरूपेषु अकारादिवाच्यतयोपासकेनोपासितेषु सत्सूपजायमानं यदुपासकस्योपास्यत्वेन आप्त्यादिमत्त्वरूपं सामान्यं साम्यं तत्तुल्यम्। मोक्षपर्य्य-वसायित्वादविकारीति वेत्ति। सर्वभावानां कर्त्तरि षष्ठी। सर्वभावैः = सर्वजीवैः, पूज्यो वन्द्यश्च भवति, महामुनिश्च भवतीत्यर्थः ॥२२॥

सान्वयानुवाद—मकारभावे = मकार होने पर, प्राज्ञस्य = प्राज्ञ का, मानसामान्यम् = मान सामान्य, उत्कटम् = उत्कृष्ट है, च = और, मात्रासम्प्रतिपत्तौ = मात्रा की सम्यक् प्रतिपत्ति में, तु = तो, लयसामान्यम् एव = लयसामान्य ही है। त्रिषु = तीनों, धामसु = धामों में, यत् = जो, तुल्यम् = तुल्य, सामान्यम् = सामान्य, वा इति = ऐसा, निश्चितम् = निश्चयरूप अधिकारी है, सः = वह, सर्वभावा-नाम् = समस्त जीवों से, पूज्यः = पूजनीय, च वन्द्यः = वन्दनीय, एव = ही, महामुनिः = महामुनि होता है ॥२१-२२॥

व्याख्या—जो निश्चयरूप ज्ञानवान् अधिकारी ऊपर बताये गये प्रकारों से तेजः-स्वरूप गृह प्राज्ञ धाम, विश्वादि स्वरूपों में अकारादि वाच्यरूप से उपासक के द्वारा उपासित सन्तों में उपजायमान जो उपासक का उपास्य रूप से आप्त्यादिमान् सामान्यसमता को मोक्ष पर्यवसायित्व अविकारी ऐसा जानता है। वह सभी जीवों द्वारा पूजनीय एवं वन्दनीय होता है और महामुनि होता है। पूर्व मन्त्र की व्याख्या स्पष्ट है अतः अनुवाद का विस्तार से विराम देते हैं ॥२१-२२॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम्।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यतेऽगतिः ॥२३॥

तत्त्वप्रकाशिका—विश्वाद्युपासकानां सर्वकामावाप्त्यादिफलमुक्तम्। तत्प्राप्तिरूप-फलान्तरञ्चास्तीत्याह—अकारः = अकारवाच्यो विश्वः, तथा ध्यातः विश्वं स्वं प्रति नयति उपासकं नयतीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। विश्वादीनां जाग्रदादिप्रवर्त्तकत्वेन तत्तदवस्थायां जीवेन गम्यत्ववत्तुरीयस्य तदभावात् तत्प्रयुक्तं गम्यत्वमपि नास्तीत्याशङ्कां परिहरति–नामात्र इति। विश्वादिवत्तत्प्रत्यहमेकीभावे विभागयोरभावे नामात्रो यस्तुरीय-स्तस्मिन्नगतिः कर्मणि क्तिन् भावप्रधानश्च निर्देशः। अगम्यता नास्तीति सोऽपि उपासकः। प्राप्य एव। आत्मानं संविशतीति तस्यापि गम्यत्ववचनात्। तथा च न जाग्रदादिप्रवृत्तिकारणत्वं गम्यत्वे प्रयोजकमिति भावः ॥२३॥

इत्यथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां तृतीयः खण्डः ॥३॥

सान्वयानुवाद—अकारः = अकार, विश्वम् = विश्व को, नयति = ले जाता है, च = और, अपि = भी, तैजसम् = तैजस को, पुनश्च मकारः = मकार, प्राज्ञम् =

प्राज्ञ को, नामात्रे = दोनों एक हो जाने पर, अगतिः = गतिरहित, विद्यते = होता है ॥२३॥

व्याख्या—अकारवाच्य विश्व तथा ध्यान करते विश्व अपने प्रति उपासक को ले चलता है। इस प्रकार आगे भी व्याख्यान करना चाहिये। विश्व, तैजस और प्राज्ञ, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के प्रवर्त्तक रूप से उस-उस अवस्था में जीव द्वारा गम्यत्व की भाँति तुरीय अवस्था का, उसके अभाव से उसके द्वारा प्रयुक्त गम्यत्व भी नहीं है ? इस शङ्का का परिहार करते हैं—विश्वादि की तरह उसके प्रति अहम् (अहमर्थ) एकीभाव = एक हो जाने पर विभागों के अभाव में भिन्न अंश रहित नहीं होता, जो तुरीय है उसमें अगति कर्म में क्तिन् प्रत्यय हुआ, भाव प्रधान निर्देश है। अगम्यता नहीं है वह भी उपासक प्राप्य ही है ॥२३॥

उपनिषत्

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥१॥

इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता

तत्त्वप्रकाशिका—नान्तःप्रज्ञमित्यनेनोक्तं तुरीयमात्मनः पादं गुणानुवादपुरस्सरं नादप्रतिपाद्यत्वं दर्शयति—अव्यवहार्यादिकं प्राग् व्याख्यातम्। तथा च योऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत अमात्रः चतुर्थस्तृतीयः, स ओङ्कारस्तदवयवभूतनादपदप्रतिपाद्यः। नादप्रतिपाद्यत्वेन तुरीयोपासकस्य फलमाह—आत्मेति। य एवमात्मत्वाव्यवहार्यत्वादिना तुरीयं नादप्रतिपाद्यं वेद स आत्मैव भूत्वा देहाभिमानं त्यक्त्वा आत्मना प्रसन्नेन परमात्मना तुरीयप्रसादादिति यावत्। आत्मानं तुरीयं संविशति। प्रविश्य स्वेच्छया स्वयोग्यभोगान् भुञ्जानः सुखमास्त इति भावः ॥१॥

सान्वयानुवाद—अमात्रः = भिन्न अंश से रहित, चतुर्थः = चौथा, अव्यवहार्यः = जो व्यवहार का विषय नहीं है, प्रपञ्चोपशमः = जो इस जगत्प्रपञ्च-भूतसमुदाय से सर्वोत्कृष्ट आनन्द रूप है, शिवः = सुमङ्गल कल्याणकारी है, अद्वैतः = जिसके जोड़े का कोई नहीं है, ओङ्कारः एव = (वह) ओङ्कार ही है। आत्मा एव = आत्मा ही है, यः = जो, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है, (सः = वह) आत्मना = परमात्मा की प्रसन्नता से, आत्मानम् = नित्य लीलानिकुञ्ज में, संविशति = प्रवेश करता है ॥१॥

व्याख्या—पीछे सातवें मन्त्र में बताये गये परमात्मा के स्वरूप को जो मुमुक्षु व्यक्ति जानता है वह इस प्रकार आत्मत्व-अव्यवहार्यत्वादि से तुरीय नादप्रतिपाद्य को जान लेता है और वह आत्मा ही होकर देहाभिमान को छोड़कर परमात्मा की प्रसन्नता से उनकी नित्य लीला में प्रवेश कर अपने योग्य भोगों को भोगता हुआ अनन्त ब्रह्मसुख का निरवच्छिन्न रूप से अनुभव करता हुआ रहता है। श्रीमद्भागवत (३।२९।३४) में कहा गया है—'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति'। इस प्रकार भगवान् ईश्वर

जीवरूप से सब प्राणियों में प्रविष्ट है। 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी. ७।१९) सब वासुदेव स्वरूप है। श्रीभगवान् की प्राप्ति के प्रतिबन्धक देहाभिमान और मत्सर ही हैं।

कारिका:

ओङ्कारं पादशो विद्यात् पादा मात्रा न संशयः।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२४॥

तत्त्वप्रकाशिका—स्वोक्तार्थे ब्रह्मदृष्टान् मन्त्रान् प्रमाणयति-अत्रेति। तानेवोदाहरति-अत्रैते श्लोका भवन्ति—पादशः पादैः। कः पादशब्दार्थ इत्यत आह-पादा इति। . मात्रा = अंशाः, तथा चोङ्कारं भगवन्तमकारादिभिः, पादैः = अंशैः प्रतिपाद्यं विद्यात्। तत्रोङ्कारं तुरीयं पादशः नादरूपांशप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञात्वा किञ्चित् सांसारिकं विषयजातं न चिन्तयेत् न चिन्तयति। तमेव प्रविश्यानन्दाविर्भावमेतीति भावः ॥२४॥

सान्वयानुवाद—ओङ्कारम् = ओङ्कार को, पादशः = चरणों से, विद्यात् = जानो, पादाः = पाद, मात्राः = अंश (है), न संशयः = इसमें संशय नहीं है, ओङ्कारम् = ओङ्कार को, पादशः = पैरों से, ज्ञात्वा = जानकर, किञ्चित् अपि = कुछ भी, न चिन्तयेत् = चिन्तन न करे ॥२४॥

व्याख्या—कौन पाद शब्द का अर्थ है ? इस पर कहते हैं—ओङ्काररूप भगवान् को मकारादि अंशों द्वारा प्रतिपाद्य जानो। उसमें ओङ्कार चारों पादों से नाद रूप अंश प्रतिपाद्य रूप से जानकर किञ्चित् सांसारिक विषयों की चिन्ता न करे। इस प्रकार भली भाँति जानकर परमात्मा में ही प्रवेश करके आनन्द-आविर्भाव को प्राप्त करता है अर्थात् श्रीभगवान् की नित्य लीला में प्रवेश करता है ॥२४॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

तत्त्वप्रकाशिका—संसारं तितीर्षुणावश्यमोङ्कारप्रतिपाद्यश्चतूरूपो भगवान् ध्यातव्य इत्यत्र मन्त्रं पठति—प्रणवे = जाग्रदादिप्रणयनात्प्रणवशब्दवाच्ये चतूरूपे परब्रह्मणि वासुदेवे चेतो युञ्जीत। प्रणवस्वरूपमेवाह—प्रणव इति। ब्रह्मेति गुणैर्बृहत्वात् पूर्णत्वात् ब्रह्म। ततः किं फलमित्यत आह-प्रणव इति। प्रणवस्य निर्भयत्वादेव तत्र नित्यं मनोयोगयुक्तस्यापि भयं नास्तीत्यर्थः ॥२५॥

सान्वयानुवाद—प्रणवे = प्रणव में, चेतः = चित्त (मन) को, युञ्जीत = लगावे, प्रणवः = प्रणव (ओङ्कार), निर्भयम् = भयरहित, ब्रह्म = ब्रह्म है, प्रणवे = प्रणव में, नित्ययुक्तस्य = नित्य युक्त व्यक्ति का, क्वचित् = कहीं किसी से, भयम् = भय, न विद्यते = नहीं होता है ॥२५॥

व्याख्या—'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो.सू. १।२८); 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इत्यादि योगसूत्रों में भी बताया गया है कि ब्रह्म का वाचक प्रणव है, प्रणवस्वरूप ब्रह्म का (अपने इष्टदेवता का) जप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये। इसलिये

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने ओङ्कार को ही 'एकाक्षर' ब्रह्म कहा है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गी. ८।१३)। अतः प्रणव निर्भय ब्रह्म है। प्रणव में सदा युक्त साधक का संसार में किसी से भय नहीं होता ॥२५॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परं स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥२६॥

तत्त्वप्रकाशिका—विश्वादिरूपाणां परस्परं भगवता च सह न गुणतारतम्यमित्याह—अपरमपरः पूर्वतनो मूलरूपपूर्वावतारात्मा प्रणवो हरिर्ब्रह्म पूर्णं हि प्रसिद्धमेतत्। परः पश्चात् नो विश्वाद्यवताररूपः प्रणवो हरिश्च ब्रह्म पूर्णम्। पूर्वावतारे पश्चिमावतारे पूर्णतैव न क्वचिदपि न्यूनतेति भावः। पूर्णत्वसम्भावनाय तत्स्वरूपं निरूपयति—अपूर्व इत्यादिना। प्रणवस्तत्प्रतिपाद्यो विश्वादिचतूरूपो भगवान्। अपूर्वः-न विद्यते पूर्वं कारणं यस्यासौ तथोक्त अनादिरित्यर्थः। अनन्तरः-न विद्यते अन्तरो नाशो यस्यासौ तथोक्तः। न विद्यतेऽन्यो जगतोऽन्तरः अन्तःस्थितः यस्मादसौ तथोक्त इत्यप्यर्थो द्रष्टव्यः, सर्वस्य हृदये स्थितमिति वक्ष्यमाणत्वात्। अबाह्यः-न विद्यतेऽन्यो जगद्-बाह्यो यस्मादसौ तथौक्तः सर्वगतत्वात् तथा। अनपरः-न विद्यतेऽपरः स्थितिकर्त्ता यस्येति तथोक्तः पराधीनस्थित्यभावात् तथा। न विद्यते व्ययो यस्य स शश्वदेकप्रकारः ॥२६॥

व्याख्या—अपर पूर्वतन मूल रूप पूर्वावतार आत्मा प्रणव भगवान् श्रीहरि परब्रह्म पूर्ण ही है, यह प्रसिद्ध है। पीछे हमारे विश्व आदि अवतार रूप प्रणव और श्रीहरि परब्रह्म पूर्ण ही है। पहले अवतार में तथा पीछे के अवतार में पूर्णता ही है, कहीं भी किसी अंश से न्यूनता नहीं है अर्थात् सर्वतः परिपूर्ण है। पूर्णता की सम्भावना के लिये उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं—प्रणव उसके प्रतिपाद्य विश्वादि चतूरूप भगवान्। जिसके पूर्व (पहले) कारण नहीं है वह अपूर्व कहलाता है, वैसे अनादि कहा गया है। जिसका अन्तर (नाश) नहीं है, उसे 'अनन्तर' कहते हैं। अन्य नहीं हैं जगत् के भीतर स्थित है-ऐसा भी अर्थ जानना चाहिये। जगत् के रूप में स्वयं वही हैं। इस मन्त्र में परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का सर्वगतत्व बताया गया है। जैसे कि श्रीमद्भागवतकार महर्षि बादरायण ने कहा है—

'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः' ॥ (श्रीमद्भा. १०।९।१३)

वह सदा एक प्रकार, सर्वाधिष्ठान, सर्वरूप, सर्वगत, सर्वान्तर्यामी, स्वेच्छाधीन, परेच्छानधीन, पूर्ण सनातन ब्रह्म-ये सब उन्हीं श्रीकृष्ण में ही घटते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥२६॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्रणवप्रतिपाद्यस्य विश्वादिचतूरूपस्य परब्रह्मणः पूर्व इत्यादिना

सृष्ट्यादिकर्त्ताऽन्यो नास्तीत्युक्तं, न केवलमेतावत् किन्तु स्वयमेव सर्वस्य कर्त्तेति वदंस्तदुपासकस्य फलं दर्शयति—सर्वस्य = जगतः, आदिः = कारणं, मध्यं = स्थितिकर्त्ता, अन्तः = संहारकः, एवेति निश्चये। ज्ञानिनः फलमाह—एवमिति। जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्तृत्वब्रह्मत्वेन सर्वस्माद्भिन्नं ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्यत्वतद्व्याप्यत्वतत्तन्त्रत्वादिना अभिन्नं च प्रणववाच्यं हरिं ज्ञात्वा तदनन्तरं प्रारब्धभोगानन्तरं तद् ब्रह्म व्यश्नुते विशेषेण प्राप्नोति सदा सत्त्वेऽपि स्थानविशेषाभिप्रायेणेत्युक्तिः ॥२७॥

सान्वयानुवाद—सर्वस्य = सम्पूर्ण जगत् का, आदिः = कारण, मध्यम् = पालन करनेवाला, च तथा एव = और वैसे ही, अन्तः = संहार करनेवाला, हि = निश्चय ही, प्रणवः = प्रणव है, एवं हि = इस प्रकार ही, प्रणवम् = प्रणव को, ज्ञात्वा = जानकर, अनन्तरम् = इसके बाद, तद् = उस ब्रह्म को, व्यश्नुते = प्राप्त होता है ॥२७॥

व्याख्या—निश्चय ही एकाक्षर ओङ्कार प्रणवस्वरूप ब्रह्म भगवान् श्रीहरि जड़-चेतन रूप दृश्यमान जगत् का आदि कारण, उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले हैं। इसमें संशय नहीं है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लयकर्तृत्व, ब्रह्मरूप में सब से भिन्न, ब्रह्मात्मक, ब्रह्मनियम्य, ब्रह्मव्याप्य आदि होने से यह समस्त चराचर जगत् ब्रह्म से अभिन्न है। उपासक इस प्रकार प्रणववाच्य भगवान् श्रीहरि को जानकर प्रारब्ध कर्मों को भोगने के बाद ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥२७॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥
स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

इत्यथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषदि तृतीयः खण्डः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्रणवपदवाच्यस्य परब्रह्मणो महिमानमाह—ईश्वरं = सर्वनियन्तारम्। प्रणवं = हरिं, सर्वस्य हृदि स्थितम्। विद्यात् = उपासीत। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' ॥ इति श्रीमुखवचनम्। एवं सर्वव्यापिनमोङ्कारमोमित्यादिक्रियमाणत्वादोङ्कारस्तं मत्वा = उपास्य, धीरः = ज्ञानी, न शोचति एवं प्रणवप्रतिपाद्यविश्वादिचतूरूपभगवज्ज्ञानिनः स्तुवन्नुपनिषदं समापयति—अमात्रः = भिन्नांशरहितः यद्वा अंशरहितः, मूलरूपेण स्थित इति यावत्। अनन्तमात्रः = पुनरनन्तांशः, द्वैतस्योपशमः = स्वोपासकानां सर्वानिष्टनिवर्तकः, शिवः = निर्दुःखसुखस्वरूपः। ओमित्यादिक्रियमाणत्वादोङ्कारो विश्वादिचतूरूपो हरिः। येन = अधिकारिणा, विदितः = सम्यक् श्रवणादिना ज्ञातः। स एव मुनिरपरोक्षज्ञानी भवति। इतरो जनस्तु न मुनिरित्यर्थः। उपनिषदर्थस्य सर्वस्यावधारणार्थमन्ते द्विरुक्तिः ॥२८-२९॥

निम्बभानुपदद्वन्द्वं सर्वाघनुत्तये नमः ।
अशेषफलदातारं भक्तजनहृदि स्थितम् ॥१॥

इति सनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाद्याचार्यश्री १०८ श्रीमहामुनीन्द्रभगवन्निम्बार्का-
चार्योपबृंहितवैदिकानादिसत्सम्प्रदायानुगतनिखिलशास्त्रपारावारीणाति-
सृत्वरकीर्तिधवलीकृतदिङ्मण्डलेन स्वाभाविकद्वैताद्वैत-
सिद्धान्तसमर्थनदक्षजगद्विजय्याचार्य श्री १०८
केशवकाश्मीरिभट्टेन निर्मिता माण्डूक्योपनिषद्-
व्याख्या सम्पूर्तिमगात् ।

व्याख्या—प्रणवपदवाच्य परब्रह्म की महिमा को बताते हैं—सब के नियन्ता ईश्वर, प्रणव श्रीहरि सब के हृदय में स्थित हैं; उनकी उपासना करनी चाहिये, उन्हीं की शरण में जाना चाहिये। इस प्रकार सर्वव्यापी, ओङ्कार, ओम् इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध पहले 'ॐ' ऐसा उच्चारण करके सर्वगुणसम्पन्न सगुण-साकार श्रीपति कृष्ण की उपासना करके धीर–ज्ञानी व्यक्ति शोक नहीं करता। इस प्रकार प्रणवप्रतिपाद्य विश्वादि चतूरूप भगवत्तत्त्वज्ञ व्यक्ति की स्तुति करते हुये उपनिषद् का समापन करते हैं—भिन्न अंश रहित अथवा मूल रूप से स्थित, अनन्त मात्रावाले अर्थात् अनन्त (असंख्य) अंशवाले, अपने उपासकों के समस्त अनिष्टों को दूर करनेवाले, सुख-शान्ति-कल्याण करनेवाले पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं। जो अधिकारी श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ओङ्कार ब्रह्म श्रीकृष्ण को जानता है वही मुनि है, वही अपरोक्ष ज्ञानी होता है, इतर जन मुनि नहीं है। वह मुनि है इतर जन मुनि नहीं है। अन्त में दो बार आवृत्ति उपनिषद् के सम्पूर्ण अर्थों को हृदय में अवधारण करने के लिये सूचित किया है ॥२८-२९॥

इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रमतानुवर्त्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्याग-
मूर्त्तिस्वामिधनञ्जयदासजी काठियाबाबा तर्क-तर्कव्याकरणतीर्थपाद-
पद्मान्तेवासी योगिराजस्वामिराधाविहारिदासजी काठियाबाबा-
चरणारविन्दचञ्चरीक डॉ. स्वामी द्वारकादासजी
काठियाबाबा कृत अन्वयार्थ-तत्त्वप्रभा
नाम्नी हिन्दी टीका में अथर्ववेदीय
माण्डूक्योपनिषद् समाप्त ।

●

तैत्तिरीयोपनिषद्

अथ शिक्षावल्ली

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! ॥१॥

॥ इति शिक्षाध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमस्तस्मै राधिकानन्ददायिने।
परमानन्दसन्दोहसान्द्रानन्दवपुष्मते ॥१॥
निम्बादित्यस्य पादाब्जं लोचनानन्ददायकम्।
सकलार्थप्रदं नृणां प्रणमामि पुनः पुनः ॥२॥
श्रीनिवासं गुरुं वन्दे करुणावरुणालयम्।
बादरायणसूत्राणां भाष्यकारं गुणार्णवम् ॥३॥
सकलान् देशिकान् नत्वा पूर्वाचार्योक्तितः खलु।
तैत्तिरीयस्य च व्याख्यां व्याकरिष्ये यथामति ॥४॥

अनेकजन्मादिसहसन्तापोपतप्यमानस्य पुंसः यदि दैववशात् महतां सङ्गः स्यात्तदा संसाराद् विरज्यते, ततो विरक्तस्य शमदमादिसाधनसम्पन्नस्य गुरुभक्त्यैकनिष्ठस्य श्रीभगवद्दिदृक्षालम्पटस्योपासकस्यात्यन्तिकानिष्टनिवृत्तिपूर्वकं परमानन्दाप्तिहेतुभूतानन्ताचिन्त्यापरमितस्वरूपगुणशक्तिवैभवपरब्रह्मभूतश्रीवासुदेवस्वरूपविषयकज्ञानाय प्रवृत्तापीयं तैत्तिरीयोपनिषदन्यस्य व्याख्यानावरुद्धत्वेन न तज्ज्ञापनसमर्था अतस्तद्व्याख्या पूर्वाचार्योक्तितः प्रतन्यते।

तत्रादौ आदित्यसंस्थितो भगवान् वासुदेवो ब्रह्माणं प्रति ब्रह्मविद्यामनुतिष्ठन् भृगुर्विघ्नपरिहारार्थमेतद्विद्याप्रवर्त्तकत्वादिन्द्रियादिप्रेरकत्वाद्वा मित्रादिदेवान् प्रार्थयते—शं नो मित्र इत्यादिना।

तत्त्वप्रकाशिका—मित्रो देवता नोऽस्मभ्यं शं सुखमुदिश्य भवतु। सुखप्रदो भवत्वित्यर्थः। एवं वरुणाद्या देवा नः शमुद्दिश्य भवन्त्वित्यर्थः। उरुक्रम इति विष्णोर्विशेषणम्। उरुरुत्कृष्टः क्रमः पराक्रमो वा यस्यासावुरुक्रमः। ब्रह्मणे चतुर्मुखाय नमः। हे वायो! ते तुभ्यं नमः। पुनस्तं वायुमपरोक्षतः प्रार्थयते—त्वमेवेति। त्वं प्रत्यक्षम्। अक्षमक्षं प्रति प्रेरकतया स्थितत्वात् प्रत्यक्षशब्दवाच्योऽसि। ब्रह्मासि ब्रह्म-

त्मकोऽसि। यस्माद् ब्रह्मात्मकोऽसि तस्मात् त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मात्मकं वदिष्यामि, शिष्येषु उपदिशामि। ऋतं सत्यमित्यत्रापि त्वामित्यनुवर्त्तते। ऋतं यथार्थज्ञानवन्तं सत्यं यथार्थ-ज्ञानपूर्वकं वक्तारं कर्त्तारमित्यर्थः। तत् ब्रह्मात्मकं वायुरूपं श्रोतारं मामवतु तत् वक्तारं विद्योपदेष्टारं चावतु। पुनरवतु मामवतु वक्तारमित्युक्तिरादरार्था। उत्तरत्र प्रवर्त्तनीयायां विद्यायां प्रसक्तविघ्नानां शान्तिरस्त्वित्याह—शान्तिरिति। आध्यात्मिकाधिदैविकाधि-भौतिकविघ्नपरिहाराभिप्रायेण त्रिवारं शान्त्युक्तिः ॥१॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

सान्वयानुवाद—ॐ = इस एकाक्षर ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके उपनिषद् का प्रारम्भ करते हैं, नः = हमारे लिये, मित्रः = मित्र देवता, शम् = सुखप्रद हों, वरुणः = वरुण देवता, शम् = सुखप्रद हों, नः = हमारे लिये, अर्यमा = अर्यमा, शम् भवतु = सुखप्रद हों, इन्द्रः = इन्द्र, बृहस्पतिः = बृहस्पति, नः = हमारे लिये, शम् = सुखप्रद हों, उरुक्रमः = उत्कृष्ट पराक्रमवाले, विष्णुः = भगवान् विष्णु, नः = हमारे लिये, शम् = सुखप्रद हों, ब्रह्मणे = परब्रह्म के लिये हमारा, नमः = नमस्कार है, वायो = हे वायुदेव ! ते = तुम्हारे लिये, नमः = नमस्कार है, त्वम् एव = तुम ही, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष, ब्रह्म असि = ब्रह्म हो, वदिष्यामि = कहूँगा, ऋतम् = प्रिय मधुर वाणी, वदिष्यामि = कहूँगा, सत्यम् = सत्य, वदिष्यामि = कहूँगा, तत् = वह (ब्रह्म), माम् = मेरी, अवतु = रक्षा करें, तत् = वह, वक्तारम् = वक्ता की (कहनेवाले आचार्य की), अवतु = रक्षा करें, माम् अवतु = मेरी रक्षा करें, वक्तारम् अवतु = वक्ता की रक्षा करें, ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

व्याख्या—मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण आदि देवगण हम सबके लिए सुखप्रद हों। जिनका उत्कृष्ट पराक्रम अथवा पादविक्षेप है वे भगवान् श्रीविष्णु हम सभी के लिये सुख-शान्तिप्रद हों। ब्रह्म के लिये नमस्कार है। हे वायुदेव ! तुमको नमस्कार करते हैं। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, सभी व्यक्तियों के नेत्रों के प्रति प्रेरक रूप से स्थित हो अतः तुम प्रत्यक्ष शब्दवाच्य हो। तुम ब्रह्मस्वरूप हो। श्रीभगवान् ने उद्धवजी से श्रीमद्भागवत (११।१९।३७-३८) में कहा है—

'सत्यं च समदर्शनम्। ऋतं च सूनृता वाणी'। सभी वस्तुओं में सम = मुझ ब्रह्म का दर्शन करना यही सत्य है और जो नहीं देखते है उनके लिये जगन्मिथ्या है। प्रिय मधुर वाणी बोलना ऋत है। वह ब्रह्मात्मक वायुरूप श्रोता मेरी रक्षा करें और वह वक्ता विद्योपदेष्टा की रक्षा करें। पुनः मेरी रक्षा करें तथा वक्ता की रक्षा करें—ऐसा दो बार आदरार्थ है। आगे प्रवर्त्तनीय विद्या में प्रसक्त विघ्नों की शान्ति (शमन) हो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः—इस प्रकार तीन बार कहने का यह मतलब है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विघ्नों के परिहार के अभिप्राय से तीन बार कहा गया है।

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥१॥

•

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णस्स्वरः । मात्रा बलम् । साम सन्तानः । त्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥२॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—ब्रह्मविद्याभ्यसनेच्छोरधिकारिण: पूर्वशिक्षणीयमर्थं प्रतिजानीते-शीक्षामिति। शिक्ष्यते इति शिक्षा शिक्षणीयमर्थमित्यर्थ:। व्याख्यास्यामो विशेषेण ख्यास्याम:। तामेव शिक्षामाहु:, वर्ण इत्यादिना वर्ण: ज्ञातव्य इति शेष:। वर्ण: = अकारादिवर्णानामुच्चारणस्थानं कण्ठादिज्ञातव्यम्। स्वर: = उदात्तानुदात्तादिस्वरितादिरूपो ज्ञातव्य:। मात्रा = अकारादिरूपा एकैको वर्णो ज्ञातव्य:, बलं = वर्णोच्चारणहेतुभूत: स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतादिस्वरूप: प्रयत्नो ज्ञातव्य:। साम = वर्णानां सन्धि: ज्ञातव्य:। सन्तान: = वर्णानां परम्परा पदवाक्यादिरूपो वर्णसमुदाय इति यावत्। उपसंहरति—इत्युक्तमिति। शीक्षाध्याय: शिक्षणीयानामर्थानामध्यायोऽध्ययनमुपदेश: इत्येवमस्माभि: कृत इत्यर्थ: ॥२॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सान्वयानुवाद—ओं = ऐसा उच्चारण करके, शीक्षाम् = अब हम शिक्षा का, व्याख्यास्याम: = व्याख्यान करेंगे, वर्ण: = वर्ण, स्वर: = स्वर, मात्रा: = मात्रा, बलम् = बल, साम = साम, सन्तान: = सन्तान, इति = इस प्रकार, शीक्षाध्याय: = शिक्षा का अध्याय, उक्त: = कहा गया है।

व्याख्या—अकार आदि वर्णों का ठीक-ठीक उच्चारण स्थान कण्ठादि को जानना चाहिये तथा ककार आदि व्यञ्जन वर्णों का पाठविधि-परिचय गुरु की शिक्षा के अनुसार होना चाहिये। जैसे दन्त्य 'स' के स्थान में तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरितादि रूपों को जानना चाहिये। क्योंकि मन्त्रों में स्वरभेद होने से उनका अर्थ बदल जाता है अत: उदात्तादि स्वरों का ध्यान रखना चाहिये। अन्यथा अशुद्ध स्वरों का उच्चारण करनेवाला अनिष्ट का भागी होता है (यथेन्द्रशत्रु:)। इसी तरह मात्राएँ हैं; जैसे ह्रस्व और दीर्घ अकारादि एक-एक वर्ण को जानना चाहिये। वर्णों का उच्चारण हेतुभूत स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत आदि स्वरूप प्रयत्नों को समझना चाहिये। साम = वर्णों की सन्धि को समझना चाहिये। सन्तान = वर्णों की परम्परा पद-वाक्य आदिरूप वर्णसमुदाय ये सब जानना परमावश्यक है। ऐसा शिक्षणीय अर्थों का अध्याय-अध्ययन उपदेश वेदों ने किया है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥२॥

•

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् ।

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु अधि-

लोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महसꣳहिता इत्याचक्षते ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—शन्नो मित्र इत्यादिना आदौ देवता प्रार्थने कृतेऽपि प्रतिविद्यमभीष्टफलार्थं देवताप्रार्थनं कर्त्तव्यमित्याशयेन। अथातः संहिताया इति वक्ष्यमाणविद्याप्रवृत्त्यर्थं पुनर्मित्रादिदेवान् प्रति अभीष्टफलं प्रार्थयते—सः मित्रादिवाय्वन्तो देवसमुदायो नौ गुरुशिष्ययोर्निर्विघ्नविद्यासमाप्तिसम्पादनेन यशो यशस्करोऽस्तु। सह नौ ब्रह्मवर्चसं वेदाध्ययनजनितवर्चो विशेषकरश्च भवतु। हेति मित्रादीनां यश आदि दातृत्वं प्रसिद्धमिति दर्शयति। संहिता वर्णानां सन्निकर्षस्तद्विषयमुपासनं वक्तुं प्रतिजानते ऋषयः। अथात इति। अथ = वर्णशिक्षाव्याख्यानन्तरम्। संहितायाः वर्णसम्बन्धिनीमुपनिषदं पञ्चस्वधिकरणेषु प्रकरणेषु व्याख्यास्यामः सम्यक् कथयामः। अधिकरणनामान्याह—अधिलोकमित्यादिना। लोकमधिकृत्य वर्त्तमानमधिलोकं तन्नामकं प्रथमप्रकरणम्। ज्योतिषां समूहो ज्यौतिषं, तदधिकृत्य वर्त्तमानमधिज्यौतिषं तन्नामकं द्वितीय-प्रकरणम्। विद्यामधिकृत्य वर्त्तमानमधिविद्यं तन्नामकं तृतीयप्रकरणम्। प्रजा अधिकृत्य वर्त्तमानमधिप्रजं तन्नामकं चतुर्थप्रकरणम्। आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानमध्यात्मं तन्नामकं पञ्चमप्रकरणम्। ता एताः संहिताः भगवदधिष्ठानत्वेन महासंहिता इत्याचक्षते विद्वांसः ॥३॥

सान्वयानुवाद—नौ = हम (गुरु और शिष्य) दोनों का, यशः = यश, सह = एक साथ बढ़े, सह = एक साथ ही, नौ = हम दोनों का, ब्रह्मवर्चसम् = ब्रह्मतेज बढ़े, अथ = अनन्तर, अतः = यहाँ से, अधिलोकम् = अधिलोक, अधिज्यौतिषम् = अधिज्यौतिष, अधिविद्यम् = अधिविद्य, अधिप्रजम् = अधिप्रज, अध्यात्मम् = अध्यात्म, पञ्चसु = पाँच, अधिकरणेषु = अधिकरणों में, संहितायाः = संहिता के, उपनिषदं व्याख्यास्यामः = उपनिषद् का व्याख्यान करेंगे। ताः = इन सबको, महासंहिताः = महासंहिता, इति आचक्षते = ऐसा कहते हैं ॥

व्याख्या—वह मित्रादि वायु पर्यन्त देवसमुदाय हम गुरु और शिष्य के निर्विघ्न विद्या-समाप्ति सम्पादन द्वारा यशस्कर हो। साथ ही हम दोनों का वेदाध्ययन-जनित वर्च विशेषकर हो। संहिता वर्णों के संनिकर्ष, उसके विषय उपासना को कहने के लिये ऋषि प्रतिज्ञा करते हैं। वर्णशिक्षा व्याख्यान के बाद संहिता के वर्ण सम्बन्धिनी उपनिषद् पाँच अधिकरणों (प्रकरणों) में भलीभाँति कहेंगे। जैसे लोक का अधिकरण या अधिकार करके वर्त्तमान अधिलोक—उस नाम का पहला प्रकरण; इस प्रकार ज्योति, विद्या, प्रजा और आत्मा पञ्च प्रकरणात्मक श्रीभगवान् के अधिष्ठान रूप से विद्वान् इसे महासंहिता कहते हैं ॥३॥

अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम् ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथैवं प्रतिज्ञानन्तरमधिलोकं निरूप्यते। तदेव विवृणोति—पृथिवीत्यादिना। पृथिवी पूर्वरूपं पूर्वो वर्णः पूर्वरूपम्। संहितायाः पूर्वे वर्णे पृथिवीसंस्थत्वेन भगवद्रूपमुपासीतेत्यर्थः। द्यौः प्रकाशस्वरूपमुत्तररूपं संहिताया उत्तरवर्णे

प्रकाशस्वरूपत्वेन भगवद्रूपमुपासीत। आकाशोऽन्तरिक्षलोकः सन्धिर्मध्यं पूर्वोत्तररूपयोः सन्धीयेतेऽस्मिन् पूर्वोत्तररूपे। वायुः सन्धानम्। सन्धिकार्यभूता सन्ध्यक्षरव्यवहरणरूपा सन्धानक्रिया सन्धानशब्देनोच्यते। उपसंहरति—इत्यधिलोकमिति ॥४॥

सान्वयानुवाद—अथाधिलोकम् = इस प्रकार प्रतिज्ञा के बाद अधिलोक का निरूपण किया जाता है। पृथिवी पूर्वरूपम् = पृथिवी पूर्वरूप (पूर्व वर्ण), द्यौरुत्त-ररूपम् = द्युलोक उत्तररूप, आकाशः = आकाश, सन्धिः = इन दोनों की सन्धि (मिलन)। वायुः सन्धानम् = वायु सन्धान, इति अधिलोकम् = इस प्रकार अधिलोक की संहिता कही गयी ॥४॥

व्याख्या—इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनन्तर अधिलोक का निरूपण किया जाता है। पृथिवी पूर्व वर्ण पूर्वरूप है। संहिता के पूर्व वर्ण में पृथिवी संस्था के रूप में भगवद् रूप की उपासना करे। द्युलोक प्रकाशस्वरूप उत्तररूप संहिता के उत्तरवर्ण में प्रकाश स्वरूप से भगवान् के रूप की उपासना करे। आकाश–अन्तरिक्षलोक सन्धि पूर्व और उत्तर के मध्य है। इस पूर्वोत्तर रूप में सम्पन्न हो जाता है। सन्धि कार्यरूप सन्धि अक्षर व्यवहरणरूप सन्धान क्रिया सन्धान शब्द से कहा जाता है ॥४॥

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम् ॥५॥ अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनꣳ सन्धानम्। इत्यधिविद्यम् ॥६॥ अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननꣳ सन्धानम्। इत्यधिप्रजम् ॥७॥

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्। इत्यध्यात्मम्। इतीमा महासꣳहिताः। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। सन्धीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥८॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथाधिलोकनिरूपणानन्तरमधिज्यौतिषं निरूप्यते। सूर्यः अग्निः पूर्वरूपं संहितायाः पूर्ववर्णरूपम्। आदित्यः भौमः। संहिताया उत्तरवर्णरूपम्। एवमग्रेऽपि योजनीयम्। आपो नीराणि। विद्युत् एव वैद्युतोऽचिरप्रभवः। आचार्यो गुरुः। अन्तेवासी शिष्यः। विद्याऽऽचार्येणोच्चमाना प्रवचनम्। गुरुशिष्ययोः प्रकर्षेणोच्चारणं विधायाः। माता जननी पिता जनकः। प्रजा पुत्रादिः। प्रजननमुत्पत्तिः प्रजायाः। अधरा हनुरधरोष्ठमारभ्य चिबुकफलकाक्रान्ता। उत्तरा हनुरुत्तरमोष्ठमारभ्यानासामूलम्। वाग् वर्णोच्चारणशक्तिं ताल्वादिस्थमिन्द्रियम्। जिह्वा प्रसिद्धा। इतीमाः। इत्येवमिमाः महासंहिताः व्याख्याता इत्यर्थः। महासंहितावेत्तुः फलमाह—य एवमिति। योऽधिकारी एवं

पूर्वोक्तप्रकारेणैता व्याख्याताः महासंहिता, वेद = जानात्युपासीत । सन्धीयते सम्बध्यते प्रजया = पुत्रादिलक्षणया पशुभिर्गवादिभिः । ब्रह्मवर्चसेन वेदाध्ययनजनिततेजसा अन्नाद्येन अन्नञ्च तदाद्यञ्चान्नाद्यं तेन व्रीहियवादिनेत्यर्थः । सुवर्ग्येण स्वर्गेण लोकेन प्रजादिभिः सम्पन्नो भवतीत्यर्थः ॥५-८॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

व्याख्या—अन्वयार्थ सरल होने से शब्दार्थ नहीं लिखा गया है। अधिलोक निरूपण के बाद अधिज्यौतष का निरूपण किया जाता है। सूर्य एवं अग्नि पूर्वरूप संहिता के पूर्व वर्णरूप हैं। आदित्य-भौम संहिता के उत्तर वर्णरूप है। इस प्रकार आगे भी जोड़ना चाहिये। आपः = जल, वैद्युतः = बिजली, आचार्यः = गुरुदेव, अन्तेवासी = शिष्य, प्रवचनं = गुरु के द्वारा बताया गया उपदेश। अर्थात् गुरु और शिष्य के सम्यक् प्रकार से विद्या के उच्चारण को प्रवचन कहा जाता है। माता = जननी, पिता = जनक। प्रजा = पुत्रादि। प्रजा की उत्पत्ति को प्रजनन शब्द से बताया गया है। अधरा हनुः = नीचे ओष्ठ से आरम्भ करके जबड़ा तक पूर्वरूप है। उत्तरा हनुः = ऊपर के ओष्ठ से लेकर नासामूल तक उत्तररूप है। वाक् = वाणी, वर्णों का उच्चारण करने में समर्थ ताल्वादिस्थ इन्द्रियाँ सन्धि हैं। इस प्रकार ये महासंहिताएँ कही गयी हैं। जो अधिकारी इस प्रकार पहले बताये गये प्रकार से इन बतायी हुई महासंहिताओं को जानता है वह पुत्रादि सन्तानों से, पशुओं—गौ-बछड़ों से, वेदाध्ययन जनित तेज से, धान-जौ-अन्नादि से, स्वर्गलोक से प्रजाओं के साथ सम्पन्न हो जाता है॥

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

•

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—वेदविद्याभ्यासिनः प्रतिभाप्रज्ञापरपर्यायमेधादिना भाव्यम्। अतस्तत्प्राप्त्यर्थं विद्या निरूप्यते—यश्छन्दसामृषभ इत्यादिना। तत्रादौ मेधां प्रार्थयते—यश्छन्दसामिति। यः छन्दसां = वेदानाम्, ऋषभः = अधिपतिः, विश्वरूपः = पूर्णरूपः, यश्चामृतात्। एकवचनं बहुवचनार्थे। अमृतेभ्योऽपौरुषेयत्वेन नित्येभ्यो जरामरणादिविध्वंसनहेतुतयाऽमृतसमानेभ्यो वा च्छन्दोभ्यो वयः सुपर्ण इत्यादिवाक्येभ्योऽधि सम्बभूव। सुव्यक्ततया प्रतिपाद्यः तदुक्तप्रकारेणोपास्त्या प्रकटो बभूवेति वा स इन्द्रो भक्ताभिलषितदाता वेदव्यासरूपो हरिर्मयोपासितः सन्, मा = मां, मेधया मोक्षार्थकवेदविद्याभ्यासहेतुभूतया प्रज्ञया स्पृणोतु बलयतु प्रज्ञाबलयुक्तं करोतु। हे देव! वेदव्यास! एवं मेधासम्पत्त्यनन्तरम्। अहं त्वत्प्रसादादमृतस्य वेदस्य धारणो धारको भूयासम्। मोक्षार्थं वेदविद्याश्रवणजनिततत्त्वज्ञानवान् भूयासमिति यावदित्यर्थः। पुनः

प्रार्थनीयान्तरमाह—शरीरमिति। हे देव! मे शरीरं विचर्षणं = विचक्षणं योग्यम्भवतु। सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वं प्रार्थयते जिह्वा-मे इत्यादिना। हे देव! मे मम जिह्वा मधुमत्तमा। मदधिर्मध्विति प्रोक्तो मदः सुखमिहोच्यते। मदाधीयतेऽस्मिन्निति मधु ब्रह्म। अतिशयेन तद्वती। तत्प्रतिपादिका भवतु। कर्णाभ्यां भूरि पूर्णं ब्रह्म विश्रुवं विशेषेण शृणवानि। इदमुपलक्षणम्। चक्षुषा तद्रूपाणि पश्यामीत्यादि द्रष्टव्यम्। हे देव! त्वं ब्रह्मणः वेदस्य कोश आवासो निधिरसि मेधया पिहितः। आच्छादितोऽसि पूर्णोऽसीति यावत्। पुनः प्रार्थनीयान्तरमाह—हे देव! मे मया श्रुतं दिव्यवेदार्थं गोपाय = गोपय। अयोग्यं प्रत्युपदेशविषये बुद्धिमदत्वारक्षस्वेत्यर्थः। गुपू रक्षण इति धातोः यद्वा मदीयं श्रुतमर्थं गोपाय। अविस्मृतं कुरु। श्रुतं मे मा प्रहासीरिति शाखान्तरोक्तेरयमर्थः ॥९॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, छन्दसाम् = वेदों के, ऋषभः = अधिपति, विश्वरूपः = पूर्णरूप है, अमृतात् = अमृतस्वरूप, छन्दोभ्यः = वेदों से, अधि सम्बभूव = प्रकट हुआ है, सः = वह, इन्द्रः = परम ऐश्वर्यवान्, मा = मुझे, मेधया = मेधा से, स्पृणोतु = सम्पन्न करे, देव = हे देव! अमृतस्य धारणः = अमृत को धारण करनेवाला, भूयासम् = हो जाऊँ, मे = मेरा, शरीरम् = शरीर, विचर्षणम् = विचक्षण योग्य हो, मे जिह्वा = मेरी जीभ, मधुमत्तमा = प्रिय मधुरभाषिणी हो जाय, कर्णाभ्याम् = कानों द्वारा, भूरि = अधिक, विश्रुवम् = सुनता रहूँ, मेधया = मेधा से, पिहितः = आच्छादित हो, ब्रह्मणः = ब्रह्म के, कोशः = कोश, असि = हो, मे = मेरे, श्रुतम् = सुने हुए दिव्य वेदार्थ को, गोपाय = रक्षा करो ॥९॥

व्याख्या—जो वेदों के अधिपति पूर्णरूप अमृतस्वरूप है, अमृतों से अपौरुषेय है। नित्यों से जरा-मरणादि विध्वंसन हेतुरूप से, अमृत के समान छन्दों से, वय-सुपर्ण इत्यादि वाक्यों से तथा सुव्यक्त रूप से प्रतिपाद्य बताये गये प्रकार से उपासना द्वारा प्रकट हुआ वह इन्द्र भक्ताभिलषित दाता वेदव्यासरूप श्रीहरि मेरे द्वारा उपासित होकर मुझे मेधा से मोक्षार्थक वेदविद्या अभ्यास हेतुभूत प्रज्ञा से प्रज्ञाबल युक्त करे। हे देव वेदव्यास! इस प्रकार मेधासम्पत्ति के बाद मैं आपके प्रसाद (प्रसन्नता) से वेद का धारण करनेवाला हो जाऊँ। मोक्ष के लिए वेदविद्या श्रवणजनित तत्त्वज्ञानवान् हो जाऊँ। हे देव! मेरा शरीर विचक्षण योग्य हो। समस्त इन्द्रियों की भगवत्परक प्रार्थना करते हैं—मेरी जिह्वा मधुमत्तमा हो। मदधि मधु ऐसा कहा गया है, मद सुख इस लोक में कहा जाता है, मधु नाम ब्रह्म का है। मेरी जिह्वा ब्रह्म की प्रतिपादिका हो। कानों से पूर्ण ब्रह्म को विशेष रूप से सुनता रहूँ। आँखों से उनका दर्शन करता रहूँ, हाथों से उनकी सेवा करता रहूँ। हे देव! तू वेद के कोश आवासनिधि हो। मेधा से आच्छादित हो, पूर्ण हो। हे देव! मेरे सुने हुए दिव्य वेदार्थ की रक्षा करो अथवा मेरे सुने हुए अर्थ की रक्षा करो ॥९॥

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणा चीरमात्मनः।
वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा।
ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—मेधादिसम्पन्नस्याद्यान्नवस्त्राद्यभावे सति मनः क्षोभेण विद्या न सम्यक् प्रतिष्ठिता भवत्यतस्तदर्थं काञ्चनविद्यामाह—आवहन्तीति। हे स्वाहा! स्वीयं स्वीकुरुते। स्वीयमेव हविरादिकं भ्रान्त्या जीवानां स्ववत्प्रतीतं स्वीकुरुत इति स्वाहा, स चासावश्चेति स्वाहेति सम्बुद्धिः, गोविन्देति शेषः। आत्मनो जीवसमूहान्नादिसर्वभोगान् आवहन्ती प्रापयन्ती। अजां ग्राममनयदितिवत् द्विकर्मता वा। इदानीमिति शेषः। मम पशुभिः = अश्वादिभिः सह वासांसि गावो गाः। अन्नपाने च कुर्वाणा वर्त्तते यतः। अतः तां लोमशां सुशिखण्डोपशोभितां श्रियं लक्ष्मीं मे मयि सर्वदा आवह स्थापय उत्तरत्रापि निश्चलां कुर्वित्यर्थः ॥१०॥

सान्वयानुवाद—मम आत्मनः = मेरे अपने लिए, अचीरम् = जल्दी ही, वासांसि = हर तरह के कपड़े, च = और, गावः = गौएँ, च = और, अन्नपाने = खाने-पीने का पदार्थ, सर्वदा = हमेशा, आवहन्ती = प्राप्त कराने वाली, वितन्वाना = विस्तार करनेवाली, कुर्वाणा = उन्हें बनानेवाली, लोमशाम् = रोएँवाले अश्व आदि, पशुभिः सह = पशुओं के सहित, श्रियम् = लक्ष्मी को, मे = मेरे लिए, आवह = स्थापित कर। ततः = इसलिये, 'स्वाहा' कहकर तुझे आहुति दी जाती है ॥१०॥

व्याख्या—मेधादि से सम्पन्न व्यक्ति के अन्न-वस्त्रादि का अभाव होने पर मनः क्षोभ से विद्या भलीभाँति स्थिर या हमेशा कण्ठस्थ रह नहीं सकती, अतः उसके लिये काञ्चन विद्या को कहते हैं—हे स्वाहा! यह अपनी वस्तु को स्वीकार करती है, अपने ही हवि इत्यादि भ्रान्ति से जीवों के अपने समान प्रतीत को स्वीकार करती है, स्वाहा यह सम्बोधन है। जीवसमूहों के अन्नादि सारे भोग पदार्थों को प्राप्त करा देती है। उनका विस्तार करनेवाली, मेरे अश्वादि पशुओं के साथ वस्त्र, गौएँ, अन्न एवं जल को देनेवाली है। अतः उस सुशिखण्ड से उपशोभित लक्ष्मी मेरे घर में हमेशा के लिये स्थापित कर दें और आगे के लिये भी निश्चल कर दीजिये ॥१०॥

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान्वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वां भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे। निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—अभ्यस्ता विद्या शिष्येभ्यो व्याख्यातैव ज्ञानाधिक्येन सम्पादकतया सम्पूर्णा भवति नान्यथा। 'आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यस्य बुद्धितः। पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं व्याख्यानकौशलादि'ति वचनात्। अतस्तदर्थं शिष्यसम्पत्तिं प्रार्थयते—आमायान्त्विति। हे स्वाहा! मा मां प्रति ब्रह्मचारिणः शिष्याः। आयन्तु आयान्तु विविधा विविधगोत्रोत्पन्नाः प्र = प्रकृष्टाः ज्ञानप्रकर्षवन्तः, दमाः = इन्द्रियनिग्रहवन्तः, शमाः = भगवन्निष्ठबुद्धयः। व्याख्यातृयशः श्रुत्वैव हि दिग्भ्यः शिष्याः समायान्ति नान्यथा। अतस्तदर्थं यशः प्रार्थयते—यश इति। जने व्याख्यातृजनमध्ये

शिष्यागमनार्थं यशो यशस्वी असानि = भवानि । हे भग ! षड्गुणपूर्ण स्वाहा तं त्वा त्वां मनसा प्रविशानि सदा त्वामुपासीनो भवानि । हे भग ! स्वाहा स त्वं मा मां प्रविश मदुपास्तिविषयो भव । किन्तत इत्यत आह–तस्मिन्निति । हे भग ! स्वाहा सहस्रशाखे = बहुरूपे तस्मिंस्त्वयि मनसा प्रविष्टोऽहं त्वामुपासीन इति यावत् । अपरोक्षज्ञानद्वारा पापमप्रारब्धं निमृजे = प्रक्षालये ॥११॥

सान्वयानुवाद—ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारीगण, मा = मरे पास, आयन्तु = आयें, स्वाहा = 'श्रीविष्णवे स्वाहा' ऐसा उच्चारण करके आहुति दें, ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारिगण, विमायन्तु = निष्कपट हों, स्वाहा = 'माधवाय स्वाहा' ऐसा कहकर आहुति दें, ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारिगण, प्रमायन्तु = प्रकृष्ट अप्रतिहत ज्ञान वाले हों, स्वाहा = 'श्रीमन्नारायणाय स्वाहा' ऐसा मन्त्रोच्चारण करके नित्य नियम से हवन करें । ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारिलोग, दमायन्तु = इन्द्रिय निग्रह वाले हों, स्वाहा = मूलमन्त्र का जप करते हुए स्वाहा कहते हुए हवन करें । ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारिगण, शमायन्तु = श्रीभगवन्निष्ठ बुद्धिवाले हो, जने = लोक में, यशः = यशस्वी, असानि = होऊँ, स्वाहा पूर्ववत् । वस्यसः = श्रीमानों की अपेक्षा, श्रेयान् = अधिक श्रीमान्, असानि = हो जाऊँ, भग = हे भगवन् ! तं त्वा = उस आप में, प्रविशानि = मैं प्रविष्ट हो जाउँ, भग = हे भगवन् !, सः = वह, मा = मुझमें, प्रविश = मेरी उपासना के विषय हो, तस्मिन् सहस्रशाखे = उस हजारों शाखावाले, त्वयि = आप में, अहं निमृजे भग = हे भगवन् ! मैं अपने पापों का प्रक्षालन कर लूँ ॥११॥

व्याख्या—स्वाहा शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति लगाकर जैसे 'विष्णवे' आहुति डालनी चाहिये । शिक्षागुरु कहते हैं—आमायन्तु = विविध गोत्र में उत्पन्न ब्रह्मचारिलोग मेरे पास विद्या पढ़ने के लिए आयें, प्रातःकाल स्वाहा पद के साथ प्रज्वलित अग्नि में आहुति दें । वे कपटशून्य हों, प्रकृष्ट ज्ञानवान् हों, इन्द्रिय-निग्रहवान् हों तथा भगवन्निष्ठ बुद्धिवाले हों । व्याख्यान करनेवाले के यश को सुनकर ही दिशाओं से शिष्य आते हैं, अन्यथा नहीं । व्याख्या करनेवाले व्यक्ति के बीच में शिष्य आगमनार्थ जन-जन में यशस्वी हों । हे भग ! छः गुणों से पूर्ण स्वाहा वह तुम मुझमें प्रविष्ट हो जा अर्थात् मेरी उपासना का विषय हो । हे भग ! स्वाहा बहुत रूप में तुम में मन से मैं प्रविष्ट हूँ अर्थात् तुम्हारी उपासना करता हूँ। अपरोक्ष ज्ञान द्वारा पाप-अप्रारब्ध को मैं प्रक्षालन कर लूँ ॥११॥

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति । यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥१२॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—शिष्याश्चायत्नेनैवायान्त्विति सदृष्टान्तं प्रार्थयते—यथाप इति । यथा आपः, उन्नतप्रदेशे प्रविष्टा अनायासेन प्रवताः निम्नभूमीः । 'प्रवता स्यान्निम्नभूमिरि'ति वचनात् । निम्नप्रदेशानिति यावत् । उद्दिश्य यन्ति गच्छन्ति आयान्तीति

यावत्। यथा चाहर्जरम्। अहानि = जीर्णानि, गतानीति यावत्। यत्र भवन्ति सोऽहर्जरः संवत्सरः, तं प्रतिमासाः यथा प्रयन्ति तदन्तर्गता भवन्तीति यावत्। एवमेव हे धातः! सर्वजगदाधारकत्वादेव मां प्रति ब्रह्मचारिणः सर्वतो दिग्भ्य आयन्तु = आयान्तु। आगत्य च मदाज्ञायां यन्तु = तिष्ठन्तु। मदज्ञानुवर्तिनो भवन्त्विति यावत्। मोक्षं प्रार्थयते। प्रतिवेशोऽसीति। हे धातस्त्वमादौ मा मां प्रपद्यस्व पद्लृ गतौ णिजन्तं प्रकर्षेण गमय त्वत्समीपं प्रापय। पश्चात्त्वं प्रतिवेशो मुक्तौ मया प्रवेष्टुं योग्योऽसि। अनन्तरं मा मां प्रकर्षेण भाहि भा दीप्तौ णिच्, दीपय = प्रकाशय। आनन्दादिसर्वभोगदानेन मत्स्वरूपाविष्करणं कुर्विति यावत्। प्रपद्यस्व प्राप्नुहि च। 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामि'ति श्रुतेरिति भावः ॥१२॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सान्वयानुवाद—यथा = जिस प्रकार, आपः = जल, प्रवता = निम्न प्रदेश में प्रविष्ट होकर, यन्ति = बहते हैं, यथा = जिस प्रकार, मासाः = महीने, अहर्जरम् = दिनों तथा मासों के बीतने पर संवत्सर, धातः = हे धातः! एवम् = इस प्रकार, माम् = मेरे पास, सर्वतः = सब ओर से, ब्रह्मचारिणः = ब्रह्मचारीगण, आयन्तु = आयें, स्वाहा = श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिये स्वाहा शब्द के साथ अग्नि में आहुति दें। प्रतिवेशः = मुक्ति में प्रवेश के लिये योग्य, असि = हो, मा = मुझे, प्रभाहि = भलीभाँति प्रकाशित कर, मा = मुझे, प्रपद्यस्व = प्राप्त हो जा ॥१२॥

व्याख्या—जिस प्रकार जल उन्नत प्रदेश में प्रवेश करते हुए अनायास निम्नभूमि होते हुए सागर में मिल जाते हैं। जिस प्रकार महीने दिनों के होते हैं वह अहर्जर संवत्सर उसे प्रतिमास (हर महीने) जैसे चले जाते हैं, उसी के अन्तर्गत होते हैं। इस प्रकार हे धातः! समस्त जगत् को धारण करने वाले मेरे प्रति ब्रह्मचारि लोग सारी दिशाओं से आयें। आकर मेरी आज्ञा में ठहरें, मेरी आज्ञा का पालन करनेवाले हों। मोक्ष की प्रार्थना करते हैं—हे धातः! तुम पहले मुझे प्राप्त हो जा। तुम्हारे समीप प्राप्त करा दो। पीछे तू मुक्ति में मेरे द्वारा प्रवेश के लिए योग्य है। इसके बाद मुझे प्रकाशित कर अर्थात् आनन्द इत्यादि समस्त भोग प्रदान द्वारा मेरे दिव्य स्वरूप को प्रकट कर दें और मुझे प्राप्त हो जा। यह परमात्मा उसके लिए अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। ऐसा कठोपनिषद् के मन्त्र में कहा गया है। यही इस चौथे अनुवाक का भावार्थ है ॥१२॥

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥४॥

•

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद् ब्रह्म स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः ॥१३॥

तत्त्वप्रकाशिका—पूर्ववेदविद्याभ्यासिनो मेधादिप्राप्त्यर्थं विद्यानिरूपिताः। सम्प्रति

व्याहृतिनिष्ठां विद्यामाह—भूर्भुवः सुवरित्यादिना। भूर्भुवः सुवरित्येताः वै प्रसिद्धाः तिस्रो व्याहृतयः। अनिरुद्धादिमूर्त्तयो वै प्रसिद्धाः, माहाचमस्यः। अतिचमत्कृतित्वान्माहाचमस्यनामा विष्णुस्तं याति जानाति इति माहाचमस्यो ब्रह्मा। समस्तव्याहृतीनां प्रवेताऽपि मह इति एतां व्याहृतिं पूर्णतत्त्वप्रतिपाद्यां वासुदेवाख्यां तासां तिसृणां व्याहृतीनां तत्प्रतिपाद्यानां चतुर्व्यूहमूर्तीनां चतुर्थीं चतुर्थीत्वेन प्रवेदयते जानाति इत्येतत् ह स्म प्रसिद्धमित्यर्थः। तत् व्याहृतिचतुष्टयप्रतिपाद्यं ब्रह्म बृहत्वात् स अनिरुद्धादि चतुरात्मा भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा ब्रह्मादिसर्वदेवानामन्तर्यामी स्वामी वा अन्या देवताः ब्रह्माद्या अङ्गानि तेनैव जातत्वादागन्तुकानि। अप्रधानानि परिवारतया सेविका इति यावत्॥१३॥

सान्वयानुवाद—भूः = भूः, भुवः = भुवः, सुवः = स्व, इति = इस प्रकार, एताः = ये, वै = प्रसिद्ध, तिस्रः = तीन, व्याहृतयः = सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, तासाम् = उन तीनों व्याहृतियों की, चतुर्थीम् = चौथी व्याहृति जो, महः इति = 'मह' इस नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध है। एताम् = इस व्याहृति को, माहाचमस्यः = ब्रह्मा, प्रवेदयते = जानते हैं, तद् = वह, ब्रह्म = ब्रह्म है, सः = वह, आत्मा = परमात्मा है, अन्याः = अन्य, देवताः अङ्गानि = समस्त देवगण उसके अङ्ग हैं॥१३॥

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्र में भूः, भुवः, स्वः और महः इन चारों व्याहृतिरूपा चतुर्व्यूहरूपी ब्रह्मविद्या का उपदेश करके समस्त देवताओं को परब्रह्म श्रीकृष्ण का अङ्ग कहा गया है। जो मन्त्रमूर्त्ति हैं, जिनका वर्णन श्रीमद्भागवत (१।५।३७-३८) में किया गया है—

'नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्'॥

भगवते वासुदेवाय नमः, सङ्कर्षणाय नमः, प्रद्युम्नाय नमः, अनिरुद्धाय नमः, धीमहि = ध्यायेम। हे भगवन्! हम आप का ध्यान करते हैं; भगवान् वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को नमस्कार करते हैं। इस प्रकार जो विवेकी पुरुष चतुर्व्यूहरूपी वासुदेवादि नामचतुष्टय द्वारा प्राकृत मूर्ति रहित मन्त्रमूर्त्ति यज्ञपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना-अर्चना-वन्दना करता है वही व्यक्ति सम्यग्दर्शी एवं पूर्ण ज्ञानी है। अनिरुद्ध आदि चतुरात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मादि समस्त देवताओं के अन्तर्यामी हैं, वे सब उनके अङ्ग हैं और श्रुतियाँ उन्हीं का ही साक्षात् प्रतिपादन करती हैं॥१३॥

भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते॥१४॥

तत्त्वप्रकाशिका—भूरादिव्याहृतिवाच्यानर्थान् दर्शयति—भूरिति वेति। भूः प्रथमा व्याहृतिः। इतिरनुकरणार्थः। वै स्मरणार्थम्। अयं प्रत्यक्षो लोको भूर्लोकः अन्तरिक्षं द्यावाभूम्योरन्तरालस्थो लोकः। असौ परोक्षो लोकः स्वर्गलोकः। अथवा भूरादिव्याहृतिवाच्यानां तन्नामकाऽनिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणमूर्तीनामुपास्त्यर्थं नामान्तराणि निर्दिष्टानीति। मह इति व्याहृतिवाच्यो वासुदेव आदित्यः = आदित्यस्थः। वामन-रूपेणादितेः सुतत्वादादित्यशब्दवाच्यश्च। महशब्दोऽयम् अकारान्तो न तु सकारान्तः। तथात्वे महरित्यादिप्रयोगापत्तेरिति ज्ञातव्यम्। आदित्यस्य महत्त्वमुपपादयति—आदित्येन वावेति। प्रसिद्धादित्येन सर्वे लोकाः भूम्यन्तरिक्षादयो लोकाः महीयन्ते प्रकाशदानेन पूज्यन्ते प्रकाश्यन्त इति यावत्। इत्येतत् वाव प्रसिद्धम्, आदित्यस्थेन वासुदेवेन सर्वे लोकाः भूरादिशब्दवाच्या अनिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणा महीयन्ते पूज्यन्ते स्वेच्छयेत्यर्थः। महो वासुदेवः चन्द्रमास्तत्र स्थितः। आह्लादकत्वात् चन्द्रमाशब्दवाच्यश्च। तस्य महत्त्व-मुपपादयति—चन्द्रमसेति। सर्वाणि ज्योतींषि। अग्निवाय्वादित्याख्यानि चन्द्रमसा महीयन्ते पूज्यन्ते अलङ्क्रियन्त इति यावत्। चन्द्रस्थेन वासुदेवेन सर्वाणि ज्योतींषि अग्निवाय्वादित्यसञ्ज्ञकानि अनिरुद्धादीनि महीयन्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि योजना द्रष्टव्या, अर्थानुसारेण पादबद्धाक्षरा ऋचः। सामानि ऋच एव गीतिमत्यो, यजूंष्य-विवक्षितछन्दोरूपाणि गद्यानि। मह इति ब्रह्मोङ्कारः। अखिलवेदप्रतिपादितत्वात् बृहत्वाच्च सर्वे वेदा ऋगाद्याः महीयन्ते शोभन्ते तथा ब्रह्मणा वेदप्रतिपाद्येन बृहत्वात् तच्छब्दवाच्येन वासुदेवेन सर्वे वेदा ऋगादिशब्दवाच्या अनिरुद्धाद्याः ॥१४॥

सान्वयानुवाद—भूः = भूः, इति = अनुकरणार्थ, वै = स्मरणार्थ, अयम् = यह, लोकः = लोक, भुवः = भुव, इति, अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष लोक, सुवः = स्व, इति, असौ = वह, लोकः = लोक, महः = मह, इति, आदित्यः = आदित्य, आदित्येन = आदित्य से, वाव = प्रसिद्ध, सर्वे = समस्त, लोकाः = लोक, महीयन्ते = पूजित होते हैं, भूः = भूः, इति, वा = स्मरणार्थ, अग्निः = अग्नि, भुवः = भुवः, इति, वायुः, सुवः = स्व इति, आदित्यः = आदित्य, महः = मह, इति चन्द्रमाः = चन्द्र, चन्द्रमसा = चन्द्र से, वाव = प्रसिद्ध, सर्वाणि = समस्त, ज्योतींषि = ज्योतियाँ, महीयन्ते = पूजित होती हैं। इति वै, ऋचः = ऋचाएँ, भुवः = भुवः, इति, सामानि = सामवेद, सुवः = स्व, इति यजूँषि = यजुर्वेद, महः = मह, इति ब्रह्म, ब्रह्मणा = ब्रह्म से, वाव = निश्चय ही, सर्वे = सब, वेदाः = वेद, महीयन्ते = पूजित होते हैं ॥१४॥

व्याख्या—भूः आदि व्याहृतिवाच्य अर्थों को बताया जा रहा है-भूः यह पहली व्याहृति है, इति शब्द अनुकरण के लिए है और 'वै' स्मरण के लिए है। यह प्रत्यक्ष भूर्लोक है। आकाश और पृथ्वी के अन्तराल में स्थित अन्तरिक्षलोक है। वह परोक्ष लोक स्वर्गलोक है। अथवा भूः आदि व्याहृतिवाच्य के नाम अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण मूर्त्ति की उपासना के लिए नामान्तर = दूसरे नामों के निर्देश किये गये हैं, ऐसा समझना चाहिये। 'मह' यह व्याहृतिवाच्य वासुदेव आदित्य है अर्थात् आदित्य में स्थित है।

साक्षात् परब्रह्म वामन रूप से अदिति के पुत्र होने से आदित्य शब्दवाच्य है। ठीक ही कहा है कि—

'सशङ्खचक्ररविमण्डलस्थितं कुशेशयाक्रान्तमनन्तमच्युतम्।
भजामि बुद्ध्या तपनीयमूर्तिं सुरोत्तमं चित्रविभूषणोज्ज्वलम्' ॥

विचित्र विभूषणों से उज्ज्वल, श्वेतकमलधारी, तपनीयविग्रह, शङ्ख-चक्रधारी, आदित्यमण्डल में स्थित अनन्त अच्युत भगवान् वासुदेव को मैं मन से भजता हूँ।

'अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम्'। 'वामनत्वाच्च वामनः'।

(श्रीमद्भागवत ८।१७।२४,१०।३।४२)

यह 'मह' शब्द आकारान्त है, सकारान्त नहीं। आदित्य के महत्त्व का उपपादन करते हैं—प्रसिद्ध आदित्य से समस्त लोक = भूमि, अन्तरिक्ष आदि लोक प्रकाशदान द्वारा पूजित होते हैं अर्थात् प्रकाशित हो रहे हैं। आदित्यस्थ भगवान् वासुदेव द्वारा समस्त लोक भूः आदि शब्दवाच्य अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण अपनी इच्छा से पूजित हो रहे हैं। मह वासुदेव चन्द्रमा उसमें स्थित है। आह्लादकत्व होने से चन्द्रमा शब्दवाच्य भगवान् वासुदेव है। उसके महत्त्व का उपपादन करते हैं—सारी ज्योतियाँ पूजित होती हैं। अर्थात् अग्नि, वायु और आदित्य चन्द्र से अलङ्कृत होते हैं। चन्द्रमा में स्थित वासुदेव द्वारा अग्नि, वायु और आदित्य संज्ञक अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा सङ्कर्षण अलङ्कृत होते हैं। इस प्रकार उत्तरत्र भी जोड़ना एवं जानना चाहिये। अर्थानुसार पादबद्ध अक्षर ऋचाएँ हैं। अखिलवेदप्रतिपाद्य बृहत्तम तत् शब्दवाच्य भगवान् वासुदेव से निखिल वेद ऋग् आदि पदवाच्य अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण हैं ॥१४॥

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥१५॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥१५॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्राण उच्छ्वासकर्मा। अपानो निःश्वासकर्मा। व्यानः प्राणापानसन्धिस्थो वीर्यवत् कर्महेतुः। अन्नमदनीयम्। मह इत्यन्नम्। अन्नेन प्रसिद्धेन सर्वे प्राणाद्याः महीयन्ते = पूज्यन्ते, आप्यायिता भवन्ति। तथाऽन्नस्थेन तच्छब्दवाच्येन वासुदेवेन सर्वे प्राणाः प्राणादिशब्दवाच्या अनिरुद्धाद्याः महीयन्ते इत्यर्थः। उपसंहरति—ता वा एता इति। अत्रैव प्रत्येकश इति पदद्वयमध्याहार्यं तथा च ता वा एताश्चतस्रोऽनिरुद्धादिमूर्तयः। एवं भूरिति वा अयं लोक इत्यादिप्रकारेण प्रत्येकश्चतुर्धा एवं सति षोडशमूर्तयः सम्पन्ना इत्यर्थः। एवं षोडशमूर्तिवेतुः फलमाह—चतस्रश्चतस्र इति या इति शेषः। याश्चतस्रः व्याहृतयो भूरादिव्याहृतिचतुष्टयप्रतिपाद्या अनिरुद्धादि-मूर्तयः, याश्च प्रत्येकशश्चतस्रश्चतस्रः भूरिति वा अयं लोक इत्यादिप्रकारेण षोडशमूर्तय इति यावत्। ताः यो माहाचमस्य नामा चतुर्मुखो वेद सः सावधारणमेतत् स एव ब्रह्म

वेद सम्यक् परमब्रह्मज्ञानी तस्यैव सम्यक् षोडशात्मस्वरूपवित्वादिति भावः। अस्मै सम्यक् षोडशात्मविदे सर्वे देवा बलिं = पूजां च, आ अतितरां वहन्ति = प्रापयन्ति, कुर्वन्तीति यावदित्यर्थः ॥१५॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥

सान्वयानुवाद—भूः = भूः, इति, वै = ही, प्राणः = प्राण है, भुवः = भुवः इति, अपानः = अपान है, सुवः = स्वः, इति, व्यानः = व्यान है, महः = मह, इति, अन्नम् = अन्न है, अन्नेन = अन्न से, वाव = ही, सर्वे = सभी, प्राणाः = प्राण, महीयन्ते = तृप्त होते हैं, ताः = वे, वै = ही, एताः चतस्रः = ये चारों, चतुर्धा = चार प्रकार के हैं, चतस्रः चतस्रः = एक-एक करके चार-चार भेद होने से कुल सोलह, व्याहृतयः = व्याहृतियाँ हैं, ताः = उनको, यः। जो, वेद = जानता है, सः = वह, ब्रह्म = ब्रह्म को, वेद = जानता है, अस्मै = इस उपासक के लिए, सर्वे = सब, देवाः = देवता, बलिम् = पूजा, आवहन्ति = करते हैं ॥१५॥

व्याख्या—ऊपर लम्बी साँस लेना यह प्राण का कर्म है और अपान का कर्म निःश्वास = निर्गत साँसे, व्यान और अपान सन्धि में स्थित वीर्य की भाँति कर्म हेतु है। समस्त प्राण आदिप्रसिद्ध अन्न से ही आप्यायित होते हैं। अन्न में स्थित तत् शब्दवाच्य भगवान् वासुदेव से प्राण आदि शब्दवाच्य अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण अपनी इच्छा से पूजित होते हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार प्राकृत मूर्त्ति रहित मन्त्रमूर्त्तियाँ हैं। यह लोक इत्यादि प्रकार से एक-एक करके चार प्रकार की हैं, इस प्रकार पदद्वय का अध्याहार करने पर सोलह मूर्तियाँ सम्पन्न होती हैं। सोलह मूर्त्ति को जाननेवाले व्यक्ति का फल बताते हैं—जो चारों व्याहृतियाँ हैं, भूः आदि व्याहृति नाम चतुष्टयप्रतिपाद्य अनिरुद्धादि मूर्त्तियाँ हैं, जो प्रत्येक चार-चार हैं। यह लोक इत्यादि प्रकार से सोलह मूर्त्तियाँ हैं। वे जो माहाचमस्य नामा चार मुखवाले ब्रह्मा जी जानते हैं, वह सावधारण यह वही ब्रह्म को भली-भाँति जानते हैं, वही परम ब्रह्मज्ञानी है। वही सम्यक् षोडशात्मस्वरूप को जाननेवाला है। इस सम्यक् षोडशात्मस्वरूप वेत्ता के लिए समस्त देवगण बलि पहुँचाते हैं अर्थात् उसे नाना प्रकार की वस्तुएँ भेंट करते हैं।

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥५॥

•

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरणमयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले ॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवं भूरादिनामिनोऽनिरुद्धादेर्लोकादावुपास्तिमभिधाय देहे चोपास्तिमधिष्ठानकथनपूर्वमाह—स एष इत्यादिना। य एष प्रसिद्धः हृदयान्तराकाशो वर्त्तते तस्मिन् दहराकाशे सोऽयं मनोमयः मनः प्रधानः पुरुषोऽनिरुद्धोऽस्ति। स कीदृश

इत्यत आह—अमृत इत्यादि। अमृतः = देहनाशेऽपि नाशशून्यः। हिरण्मयः = हिरण्यं बाह्यसुखविलक्षणं सुखम्। मयट् चाधिक्यार्थे तथा चेतरविलक्षणपूर्णानन्दस्वरूप इत्यर्थः। प्रद्युम्नस्य स्थानमाह—अन्तरेणेति। तालुके = तालुकस्य अन्तरेण = मध्ये य एष प्रसिद्धः स्तन इव अजा गलस्तन इवावलम्बते सा इन्द्रस्य तन्नामकस्य प्रद्युम्नस्य योनिराधारस्थानम्। योनिशब्दापेक्षया सेति स्त्रीलिङ्गम्। सङ्कर्षणस्थानमाह—यत्रासाविति। यत्र यः विः सुपर्णरूपत्वात् विनायकः सङ्कर्षणः। असौ यत्र देहे केशान्तः प्रथमा सप्तम्यर्थे केशान्ते केशमूले वर्त्तते। वासुदेवस्थानमाह—व्यपोहीति। जगति व्यपगते सति प्रलयकाले स्थातृत्वेन व्यपः व्यपशब्दवाच्यः, हि तथात्वेन स्मृत्यादिप्रसिद्धः वासुदेवः। आशीर्षकपाले नञ् पर्य्युदासार्थः। तथा च शीर्षसम्बन्धिनीये कपाले उभयपार्श्वभागाविति यावत्। ताभ्यां भिन्ने स्थाने कपालादुपरिगतस्थान इति यावत् तिष्ठतीत्यर्थः॥

सान्वयानुवाद—सः = वह, यः = जो, एषः = यह, अन्तर्हृदये = हृदय के अन्दर, आकाशः = आकाश है, तस्मिन् = उसमें, अयम् = यह, हिरण्मयः = हिरण्मय, अमृतः = अमृत, मनोमयः = मनोमय, पुरुषः = पुरुष है। अन्तरेण तालुके = तालु के बीच में, यः = जो, एषः = यह, स्तनः इव = स्तन के समान, अवलम्बते = अवलम्बित है, सा = वह, इन्द्रयोनिः = इन्द्रयोनि है, यत्र = जहाँ, असौ = वह, केशान्तः = केशमूल में रहता है। व्यपः = परमात्मा, हि = निश्चय ही, अशीर्षकपाले = अशीर्ष कपाल में रहता है।

व्याख्या—शास्त्र में लिखा है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'। इतिहास (महाभारत) और पुराणों द्वारा वेदोपनिषदों के अर्थों का स्पष्टीकरण करे। पुराणों के अर्थों को वेदों की भाँति जानना चाहिये। इस अनुवाक में भूः आदि नामवाले अनिरुद्ध आदि के लोकादि में उपासना बताकर देह में उपासना का अधिष्ठान बताते हैं—जो यह प्रसिद्ध हृदयपुण्डरीक के भीतर आकाश है उस दहराकाश में वही यह मनोमय = मनप्रधान पुरुष अनिरुद्ध है।

'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया'॥ (श्रीमद्भा. ३।२६।१४)

अन्तःकरण एक ही है किन्तु लक्षणरूपा वृत्तिभेद से चार प्रकार का लक्षित होता है। जैसे मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त। मन समस्त इन्द्रियों का अधीश्वर है, जिसके अधिष्ठाता देवता भगवान् अनिरुद्ध है। ज्ञान का उद्गमस्थान बुद्धि है, जिसके अधिष्ठाता देवता भगवान् प्रद्युम्न है। अहङ्कार-अभिमान के अधिष्ठाता देवता भगवान् सङ्कर्षण है। 'सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याक्षते'। (५।२५।२) जीवों का शुद्ध चित्त वसुदेव शब्द से कहा जाता है, उसमें प्रकट होने के कारण परमात्मा का नाम वासुदेव पड़ा (श्रीमद्भागवत ४।३।२३)। इस प्रकार क्रमशः श्रीभगवान् मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त के अधिठाता है। इस अनुवाक में ये ही चार बातें कही गयी हैं। दो श्लोकों से अन्तःकरण, अहङ्कार, बुद्धि और मन के अधिष्ठाता भगवान् वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को प्रणाम करते हैं—

'वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ।
सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च ॥
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ।
नमो नमोऽनिरुद्धाय पूर्णाय निभृतात्मने' ॥ (श्रीमद्भागवत ४।२४।३४-३६)

भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति वायौ । सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति ॥१६॥

तत्त्वप्रकाशिका—पुनरपि भूरादिनामिनोऽनिरुद्धादेरधिदैवमग्न्यादावधिष्ठाने उपास्तिप्रकारमाह-भूरित्यग्न्यावित्यादिना । भूरिति नामाऽनिरुद्धोऽग्नौ प्रतितिष्ठति । संव्यवस्थितः । भुव इति कीर्त्तितः प्रद्युम्नो वायौ तिष्ठति, सुवरिति नामा सङ्कर्षण आदित्ये सूर्ये तिष्ठति । मह इति नामा वासुदेवो ब्रह्मणि चतुर्मुखे तिष्ठति । वासुदेवस्य परिच्छिन्ने चतुर्मुखाख्याधिष्ठाने स्थितत्वोक्त्या प्राप्तपरिच्छिन्नत्वशङ्कां परिहरति—आप्नोति इति । स्वाराज्यम् = स्वस्याधीनतया आसमन्ताद् विद्यमानं यद्राज्यमव्याकृताकाशादिकं जगत् तत् आप्नोति । मनसस्पतिम् = मनःशब्दोपलक्षितस्य ज्ञानक्रियाशक्तेरन्तःकरणपतिं फलयितारम् । वाक्पतिः । वागिति कर्मेन्द्रियमात्रस्योपलक्षणं वाचः पतिर्वाक्पतिः । चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिः स्पष्टम् । चक्षुःश्रोत्रयोर्ग्रहणं त्वग्घ्राणरसनानामुपलक्षणार्थम् । विज्ञानपतिः विज्ञानं बुद्धिस्तस्य पतिः । एतत् एतेषु वागादीन्द्रियेषु ततो नित्यं स्थित इत्यर्थः । मनोऽनधीतेन्द्रियाणां स्वस्य कार्यजननाक्षमत्वान्मनोऽधिष्ठितत्वं तावदिन्द्रियाणामपेक्षितं मनसि चानिरुद्धस्य सत्त्वेन तेषां तद्व्याप्तत्वप्राप्तौ मनोनामकानिरुद्धे वासुदेवस्य व्याप्ततयावस्थितत्वेन वागादीन्द्रियेषु वासुदेवस्तिष्ठतीति व्याप्त्या भवति वासुदेवो वागादिपतिरिति भावः ॥१६॥

सान्वयानुवाद—भूः = भूः, इति, अग्नौ = अग्नि में, प्रतितिष्ठति = प्रतिष्ठित होता है, भुवः = भुवः, इति, वायौ = वायु में प्रतिष्ठित होता है, सुवः = स्व, इति, आदित्ये = आदित्य में प्रतिष्ठित होता है, महः = मह, इति, ब्रह्मणि = ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है, स्वाराज्यम् = स्वराज्य को, आप्नोति = प्राप्त होता है, मनसस्पतिम् = मन के पति को, आप्नोति = प्राप्त होता है, वाक्पतिः = वाणी का पति, चक्षुष्पतिः = नेत्रों का पति, श्रोत्रपतिः = कानों का पति (पति = रक्षा करनेवाला), विज्ञानपतिः = विज्ञान का पति, एतत् = इन सबों में, ततः भवति = नित्य स्थित है।

व्याख्या—फिर से भूः आदि नामों का अनिरुद्ध आदि का अधिदैव अग्नि आदि अधिष्ठान में उपासना का प्रकार बताया जा रहा है—भूः इस नाम से प्रसिद्ध अनिरुद्ध अग्नि में सम्यक् व्यवस्थित है । भुवः इस कीर्ति से प्रद्युम्न वायु में स्थित है । स्वः इस सञ्ज्ञा से सङ्कर्षण सूर्य में स्थित है । 'मह' यह नाम है जिसका वह भगवान् वासुदेव ब्रह्मा में स्थित है । वासुदेव का परिच्छन्न होने पर चतुर्मुख (ब्रह्मा) नामक अधिष्ठान में स्थितत्व उक्ति से प्राप्त परिच्छिन्नत्व शङ्का का परिहार करते हैं—अपने अधीन रूप से

दिशा-विदिशा, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब ओर से विद्यमान जो राज्य अव्याकृत आकाशादि जगत् है उसे प्राप्त होता है। मन शब्द से उपलक्षित ज्ञान और क्रिया के अन्त:करण का पति (फलयिता) है। वही कर्मेन्द्रिय मात्र का उपलक्षण वाणी का पति है। नेत्रों और कानों का पति है। विज्ञान नामा बुद्धि का पति इन वाक् (वाणी) आदि इन्द्रियों में नित्य स्थित है। मन के अधिष्ठाता देवता अनिरुद्ध है और वाणी के अधिष्ठाता देवता वासुदेव है। जो वागीश नामक भगवान् का हयग्रीव स्वरूप है ॥१६॥

आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मप्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्व ॥१७॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्रकृतस्यैव वासुदेवस्य महिमानमाह—आकाशेति। वासुदेवाख्यं ब्रह्म आकाशशरीरं = आकाशवत् व्याप्तशरीरं, सत्यात्मनिर्दोषगुणस्वरूपं प्राणारामम्। प्राणं = बलरूपं च, तत् आराममानन्दरूपं चेति प्राणारामम्। मन आनन्दम्। मन अवबोधन इति धातो: मनोज्ञानरूपं च तत् आनन्दरूपं चेति तथोक्तम्। शान्ति—शस्य = सुखस्य, तदुन्नतिपरम्पराया इति यावत्, अन्ति = अन्ते स्थितम्। निरवधिकसुखोन्नतियुक्तमित्यर्थ:। समृद्धम्—सं = सम्यक्, स्वत: अन्यप्रसादमन्तरेण ऋद्धम् = पूर्णम्। अमृतम् = नित्यमुक्तम्। हे प्राचीनयोग्य अधिकारवर्गेषु प्राधान्यात् प्राथमिकयोग्य इति पूर्वोक्तप्रकारेण। अनिरुद्धादिरूपिणं मामुपास्व = ममोपास्तिं कुर्विति चतुर्मुखं प्रति विष्णोर्वचनम् ॥१७॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥

सान्वयानुवाद—आकाशशरीरं ब्रह्म = आकाश के समान व्याप्त शरीर ब्रह्म, सत्यात्म = सत्यस्वरूप, प्राणारामम् = प्राणरूप और आनन्दरूप, मन आनन्दम् = ज्ञानरूप और आनन्दरूप, शान्ति = सुख के अन्त में स्थित, समृद्धम् = सम्यक् ऋद्ध = पूर्ण, अमृतम् = नित्यमुक्त, इति = पूर्वोक्त प्रकार से, प्राचीनयोग्य = हे प्राचीनयोग्य, उपास्व = मेरी उपासना कर ॥१७॥

व्याख्या—प्रकृत प्रकरण में स्थित भगवान् वासुदेव की ही महिमा का श्रुति प्रतिपादन करती है—परमात्मा वासुदेव नामक परम ब्रह्म आकाश की भाँति व्याप्त शरीर, सत्यस्वरूप, निर्दोष गुणस्वरूप, प्राण-बलरूप, आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है। सुख के अन्त में स्थित निरवधिक सुखोन्नति से युक्त, भलीभाँति स्वत: दूसरे के प्रसाद (प्रसन्नता) के बिना ऋद्ध = पूर्ण है और अमृत = नित्यमुक्त है। हे प्राचीन-योग्य = आद्य ऋषि ब्रह्मन्! पहले कहे गये प्रकार से चतुर्व्यूह रूपी मेरी उपासना करो, ऐसा चतुर्मुख ब्रह्मा के प्रति भगवान् श्रीविष्णु का वचन है ॥१७॥

षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥६॥

•

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माꣳसꣳ स्नावास्थिमज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳ स्पृणोतीति॥१८॥

इति सप्तमोऽनुवाकः॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—दिशः = प्राच्याद्याः। अवान्तरदिशः = आग्नेयाद्याः कोणाः। ओषधयः = फलपाकान्ताः व्रीह्यादयः। वनस्पतयः = अश्वत्थाद्याः। आत्मा = अहङ्कार-तत्त्वम्। इत्यधिभूतम्। भूतसम्बन्धपाङ्क्तम्। इति निरूपितमित्यर्थः। अथाध्यात्मम्। आत्मानं देहमधिकृत्य विद्यमानम्। तत्सम्बन्धीति यावत् पाङ्क्तं निरूप्यत इत्यर्थः। स्नावेन सहितम् अस्थिस्नावास्थि। एतत् पृथिव्यादिपाङ्क्तषट्कम्। अधिविधाय = अधिकृत्य। ऋषिः = मुख्यतो वेदद्रष्टा वासुदेवोऽवोचत्। किमवोचदित्यतस्तदेव दर्शयति–पाङ्क्तं वा इदमिति। इदं सर्वं पृथिव्यादिवाय्वादिकं पाङ्क्तं पञ्चत्वसङ्ख्य-योपेतं तथा चेदं पाङ्क्तं पृथिव्याद्यं पाङ्क्तषट्कं स्वयं हरिः पाङ्क्तेनैव पञ्चत्व-सङ्ख्योपेतेन नारायणादिरूपेण प्रविष्टः सन्निति शेषः, स्पृणोति वलयति स्वस्वकार्यक्षमं करोतीत्यर्थः॥१८॥

इति सप्तमोऽनुवाकः॥१७॥

सान्वयानुवाद—पृथिवी = पृथ्वी, अन्तरिक्षम् = आकाश और पृथ्वी के अन्तराल में स्थित लोक, द्यौः = स्वर्गलोक, दिशः = दिशाएँ, अवान्तरदिशः = अवान्तर दिशाएँ, अग्निः = अग्नि, वायुः = वायु, आदित्यः = सूर्य, चन्द्रमाः = चन्द्र, नक्षत्राणि = नक्षत्र, आपः = जल, ओषधयः = ओषधियाँ, वनस्पतयः = वनस्पतियाँ, आकाशः = आकाश, आत्मा = अहङ्कार तत्त्व, इति अधिभूतम् = यह अधिभूत है। अथ = इसके बाद, अध्यात्मम् = अध्यात्म का उपदेश करते हैं, प्राणः = प्राण, व्यानः = व्यान, अपानः = अपान, उदानः = उदान, समानः = समान, चक्षुः श्रोत्रम् = आँख, कान, मनः वाक् = मन, वाणी, त्वक् चर्म = त्वचा, चर्म, मांसम् = मांस, स्नावा = नाड़ी, अस्थि = हड्डी, मज्जा = मज्ज, एतत् = यह, अधिविधाय = अधिकार करके, ऋषिः = वेदद्रष्टा ने, अवोचत् = बोला, इदम् = यह, सर्वम् = सब, वा = निश्चय ही, पाङ्क्तम् = पाङ्क्त है, पाङ्क्तेन एव = पाङ्क्त से ही, स्पृणोति इति = अपने-अपने कार्य कर सकता है।

व्याख्या—पूर्व-पश्चिम आदि दिशाएँ, अवान्तर दिशाएँ–आग्नेय आदि कोण, ओषधियाँ—धान, जौ आदि; वनस्पतियाँ–अश्वत्थ आदि वृक्ष, आत्मा–अहङ्कार तत्त्व; इन्हें अधिभूत कहते हैं। इस प्रकार भूतों से सम्बन्ध पाङ्क्त (पंक्ति) का निरूपण किया गया है। इसके बाद आत्मा—देह का अधिकार करके विद्यमान, उससे सम्बन्धी पंक्ति का निरूपण किया जा रहा है—जैसे प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान ये शरीर

के अन्दर रहने वाले हैं। आँख, कान, मन, वाणी, त्वचा, चर्म, मांस, नाड़ी के साथ हड्डी और मज्जा है। इस प्रकार अधिकार करके मुख्य रूप से वेदद्रष्टा वासुदेव ने कहा। क्या कहा है ? इस पर उसे ही दिखलाते हैं—यह सब पृथ्वी आदि तथा वायु आदि पाङ्क्त पञ्चत्व संख्या से युक्त तथा यह पाङ्क्त पृथ्वी आद्य पाङ्क्त षट्क स्वयं हरि पाङ्क्त से ही पञ्चत्व सङ्ख्यायुत नारायणादि रूप से प्रविष्ट होकर स्व-स्व कार्यक्षम करते हैं ॥१८॥

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥७॥

•

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा। अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳ सन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्म प्रस्तौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥१९॥

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—वेदविद्याभ्यासिनः पूर्वभाविनीं प्रणवविद्यामाह—ओमिति ब्रह्मेत्यादिना। ओङ्कारवाच्यो ब्रह्म भगवान् वासुदेवो यद्यद्भगवतो रूपं तदिदं सर्वमोमिति शब्देनोच्यते। समस्तरूपसहितस्य भगवत ओङ्कारवाच्यत्वं कुतः सिद्धिमिति चेत्। भगवन्तमुद्दिश्य कर्मकर्त्तृभिः अध्वर्य्यादिभिर्नियमेन तदादावुच्चार्यमाणत्वादित्यभिप्रेत्याह—अप्य इति। अपि तस्मादोङ्कारस्य भगवद्वाचकत्वादेव भगवदुद्देशेन कर्मकर्त्तारोऽध्वर्यवः ओङ् श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमित्युच्चार्य्य आश्रवयेत्याश्राव मन्त्रं पठन्ति। अन्यथा तत्र स्यादित्यर्थः। ननु कर्मकर्त्तृभिरध्वर्युभिः भगवदुद्देशेनोमित्युचार्याश्रावमन्त्रपाठेनोमित्यस्यैव भगवद्वाचकत्वं प्राप्तं न त्वोङ्कारस्येत्यत उक्तम्। ओमित्येतदनुकृतीति। ओङ् इत्येतत् ओमित्येतदनुकृति ओमित्येतदक्षररूपम्। ओङ्कारोकारयोरेकार्थत्वमेवेत्यर्थः। ह स्म वा इति निपातत्रयेणेदं सुप्रसिद्धमिति द्योतयति। तथा भगवदुद्देशेन कर्मकर्त्तारः। उद्‌गातारः ओमित्युचार्य सामानि गायन्ति उद्‌गान् मन्त्रान् पठन्ति। तथा भगवदुद्देशेन कर्मकर्त्तारो होतारः। ओमित्युच्चार्य्य ओङ् शों शावेति शस्त्राणि शंसन्ति मन्त्रविशेषान् पठन्ति। तथा भगवदुद्देशेन कर्मकर्त्ताऽध्वर्युरोमित्युच्चार्य ओधामोदैवतेति प्रतिगरं प्रतिगृणाति। प्रतिगिरसंज्ञं मन्त्रं विशेषं पठति। कर्मकर्त्ता ब्रह्माख्य ऋत्विक् ओमित्युचार्य प्रस्तौति। सोमस्य प्रकर्षेण प्रसवनकण्डनं करोति। यजमानः ओमित्युच्चार्य्याग्निहोत्रमनुजानाति। अनुतिष्ठतीति यावत्। तथाऽहं ब्रह्मपरं ब्रह्मोपाप्नुवानि प्राप्नुयामित्यभिप्रेत्य प्रवक्ष्यन् अञ्जसा स्वाध्यायकृत् ब्राह्मणः। ओमित्याह = ओमित्युच्चार्य्य स्वाध्यायं करोतीत्यर्थः। तस्य फलमाह—ब्रह्मैवेति। एवं जानन्त एते अध्वर्य्वाद्याः। ओङ्कारवाच्यं परब्रह्मैवाप्नोति। एकवचनं बहुवचनार्थे, आप्नुवन्ति = प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥१९॥

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

व्याख्या—ओङ्कार शब्दवाच्य ब्रह्म भगवान् वासुदेव के जो-जो रूप हैं यह सब ओम् इस शब्द से कहे जाते हैं। समस्त रूप सहित भगवान् में ओङ्कारवाच्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? ऐसी शङ्का होने पर उसका प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं—श्रीभगवान् को उद्देश करके कर्म-कर्त्ता अध्वर्यु आदि द्वारा नियम से ओङ्कार का पहले उच्चारण किया जाता है। ऐसा ही स्मृतिशास्त्रों में कहा गया है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (श्रीमद्भगवद्गीता ८।१३); 'मामन्ते ब्रह्म यास्यथ' (श्रीमद्भागवत १०।७३।२३)। ओम् यह प्रणवात्मक एकाक्षर ब्रह्म है। श्रीभगवान् बीस हजार आठ सौ राजाओं से कहते हैं—तुमलोग अन्त में (शरीरपात होने पर) मुझ ब्रह्म को प्राप्त हो जाओगे। इसलिये ओङ्कार भगवान् का वाचक है। भगवान् के उद्देश से कर्म करने वाले अध्वर्यु 'ओङ्' सुनाइये-ऐसा कहने पर सुनाते हैं। 'ओम्' इस प्रकार उच्चारण करके मन्त्र पढ़ते हैं। 'ओम्' इस प्रकार की यह अनुकृति अक्षर रूप है। ओङ्कार और उकार में एकार्थता है। ह स्म और वा इन निपातत्रय से यह सुप्रसिद्ध है-इस प्रकार द्योतित करता है। सामवेद का गान करते हैं। भगवान् के उद्देश से कर्म करने वाले होता 'ओं शों' ऐसे विशेष मन्त्रों को पढ़ते हैं। भगवान् के उद्देश से कर्मकर्त्ता अध्वर्यु नामक ऋत्विज 'ओं' ऐसा पहले उच्चारण करके प्रतिगरसंज्ञक विशेष मन्त्रों को पढ़ते हैं। 'ओम्' ऐसा कहकर कर्मकर्त्ता ब्रह्मा नामक ऋत्विज सोम का अच्छी तरह प्रसवन कण्डन करते हैं। यजमान 'ओम्' इस प्रकार उच्चारण करके अग्निहोत्र का अनुष्ठान करते हैं। 'मैं परब्रह्म को प्राप्त करूँ' ऐसा अभिप्राय करके स्वाध्याय करने वाले ब्राह्मण 'ओं यों' कहकर (उच्चारण करके) स्वाध्याय करते हैं। इस प्रकार ये अध्वर्यु आदि श्रीभगवन्मुखोल्लासार्थ फलाभिसन्धिशून्य होकर सत्कर्म करनेवाले ओङ्कार शब्दवाच्य परब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं ॥१९॥

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥८॥

•

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
मानुषञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च।
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥२०॥

तत्त्वप्रकाशिका—ऋतं = यथार्थज्ञानम्। स्वाध्यायः = अध्ययनम्। प्रवचनम् = अध्यापनम्। एतानि कर्त्तव्यानीति शेषः। एवमुत्तरत्रापि कर्तव्यपदानुवृत्तिर्द्रष्टव्या। ऋतस्य कर्तव्यत्वं नाम सम्पाद्यत्वम्। सत्यम् = यथार्थज्ञानपूर्वकं यथार्थवचनं तत्पूर्वकं सत्कर्मकरणञ्च। तपः = एकादश्यादिषूपवासः श्रीभगवद्ध्यानञ्च। दमः = इन्द्रियनिग्रहः। शमः = बुद्धेः भगवन्निष्ठता। अग्नयः = अग्नीनां पूजा, अग्नीनामाधानं वा।

अग्निहोत्रं = तन्नामकं कर्म। अतिथयः = अतिथीनां पूजा। मानुषम् = स्वस्वज्ञानाधिक्येऽपि मानुषधर्मप्रवर्त्तनमेव कार्यं न तु ज्ञानाद्यैश्वर्यप्रकटनमयोग्येषु कार्यमित्यर्थः। प्रजा = शिष्यपुत्रादिरूपा। प्रजारक्षणमन्नज्ञानादिदानेन प्राप्तामयादिनिवारणेन च कर्त्तव्यमित्यर्थः। प्रजनः = पुनः प्रजननं पुत्ररूपेण सन्ततिकृतिः। प्रजातिः = उत्पन्ने तनये उपनयनादिकर्मभिः ब्रह्मण्यरूपप्रकृष्टजातिकरणम्। अत्र सर्वत्र सत्यादिभिः सह पुनः स्वाध्यायप्रवचनयोः कर्त्तव्योक्तिः सत्याद्यपेक्षयाऽत्यावश्यकत्वज्ञापनायेति द्रष्टव्यम्॥२०॥

व्याख्या—प्रिय-मधुर वाणी बोलना ऋत है। पढ़ना और पढ़ाना ये कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार उत्तरत्र भी कर्त्तव्य पदों की अनुवृत्ति जाननी चाहिये। यथार्थ ज्ञानपूर्वक ठीक-ठीक कहना और सत्कर्मों को करना, एकादशी आदि में उपवास रहना और श्रीभगवान् का ध्यान करना तप है। दम = इन्द्रियों का निग्रह करना, शम = मन को वश में करके बुद्धि को श्रीभगवान् में लगाना, अग्नि-पूजन अथवा अग्नि का आधान करना, उसमें हवन करना और अतिथि जनों का पूजन करना, अपने-अपने ज्ञान से आधिक्य होने पर भी मानव धर्म का प्रवर्त्तन ही करना चाहिये; न कि अयोग्य व्यक्तियों में ज्ञान आदि ऐश्वर्य का प्रकटन करना चाहिये। शिष्य तथा पुत्र आदि रूपा प्रजा है। प्रजा की रक्षा अन्न एवं विद्या आदि दान द्वारा और प्राप्त रोगादि निवारण द्वारा करनी चाहिये। सन्तति चलाने के लिए पुत्ररूप से जन्म देना 'प्रजन' है, उत्पन्न पुत्र में उपनयन आदि स्वस्तिवाचनपूर्वक द्विजाति संस्कार कर्मों द्वारा ब्रह्मण्य रूप प्रकृष्ट जाति करना प्रजाति है। यहाँ पर सभी जगह सत्य आदि के साथ सच्छास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन कार्य करते रहना चाहिये। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन विधि है जो वेदों की अमृतवाणी है॥२०॥

सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥२१॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—अत्र कर्त्तव्यत्वोक्तानां ऋतस्वाध्यायप्रवचनसत्यादीनां किं परस्परं साम्यमुत तत्रैकस्याधिक्यमिति शङ्कायां तत्र ऋषिमतान्याह—सत्यमित्यादिना। सत्यवचाः सत्यवचन एव निरतो रथीतरस्यापत्यं पुमान् राथीतरः = तन्नामा ऋषिः, सत्यमिति निरुक्तं सत्यमेव श्रेयः साधनमिति तदेव सम्पाद्यम्। तत्रैव तप आदेः सर्वस्यान्तर्भावादित्याह—तपोनित्यः तपोनिष्ठः। पुरुशिष्टेरपत्यं पुमान् पौरुशिष्टिस्तन्नामा कश्चिदृषिः। तप इति ध्यानादिरूपं तप एव श्रेयः साधनमिति तदेव कर्त्तव्यम्। तत्रैव ऋतसत्यत्वादीनामन्तर्भावादित्याह। मुद्गलस्यापत्यं पुमान् तद्गोत्रापत्यं वा मौद्गल्यो नाको नामतः स्वाध्यायप्रवचन एव कर्त्तव्ये इत्याह। कुत इत्यत ऋतसत्यतप आदीनां साधनेषु प्रधानादित्यभिप्रेत्याह—तद्धीति। तत् = स्वाध्यायप्रवचनकरणमेव तपः। इदमुपलक्षणं तद्धि सत्यमपि द्रष्टव्यम्। हि शब्देन प्राणायामादयस्तुष्टिपर्यन्ता द्विगुणाधिकाः स्वाध्यायोऽतः कोटिगुणः। 'तप आद्याः क्रमात्सर्वे उत्तरोत्तरतोऽधिकाः। अज्ञस्य श्रवणं श्रेष्ठमयुक्तेर्मननं तथा। ध्यानं निश्चिततत्त्वस्य तस्माच्छास्त्रावमर्शनम्। वरं दशगुणं

तस्मात् व्याख्यैकस्य शतोत्तरे'ति प्रमाणप्रसिद्धिं दर्शयति । अत इदमेव मतं पूर्वमतस्यापेक्षयाऽधिकमिति भावः । द्विरुक्तिस्तात्पर्यद्योतनार्था ॥२१॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

व्याख्या—सत्य वचन में ही निरत रथीतर के पुत्र राथीतर ऋषि का कहना है कि सत्य का ही निर्वचन किया जाता है, सत्य ही श्रेय साधन है, उसका ही सम्पादन करना चाहिये । उसी में ही तप आदि सब का अन्तर्भाव हो जाता है, इस पर कहते हैं—तप इति । तपोनिष्ठ पुरुशिष्टि के पुत्र पौरुशिष्टि नाम वाले कोई ऋषि ने तप को ही श्रेष्ठ बताया है । निरन्तर श्रीभगवद्ध्यानरूप तप ही श्रेय साधन है, वही करना चाहिये । मुद्गल के पुत्र अथवा उनके गोत्र में उत्पन्न मौद्गल्य नाक नाम के ऋषि का कहना है कि अध्ययन और अध्यापन ही करना चाहिये । वही तप है, वही तप है । द्विरुक्ति तात्पर्य-द्योतनार्थ है । ये तीनों वैदिक ऋषि थे । पठन-पाठन से ही तत्त्व का ज्ञान होता है, समय का सदुपयोग होता है, इसलिए निवृत्तिपरक शास्त्र वेदान्तादि सात्त्विक ग्रन्थों को पढ़े और पढ़ायें । तप श्रीभगवान् का हृदय है और विद्या शरीर है—'तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या' । (श्रीमद्भागवत ६।४।४६) अतः विद्या-अध्ययन-अध्यापन के साथ तपरूप श्रीभगवान् का ध्यान करना चाहिये । श्रीभगवान् सत्यस्वरूप है, अतः सत्यवचन बोलना चाहिये । 'सत्यं परं धीमहि' । (श्रीमद्भागवत १।१।१)

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥९॥

•

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणꣳ सुवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥२२॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—पूर्वम् ऋतादेः सर्वस्मात् स्वाध्यायप्रवचनयोराधिक्यमुक्तम् । इदानीं तत्फलमाख्यायिकया निरूपयति—अहं वृक्षस्येत्यादिना । संसरत्यनेनेति संसारः = लिङ्गदेहः । तस्य रेरिवा, छेत्ता–रीङ्क्षय इति धातोः । कीर्त्तिः = मत्कीर्त्तिः । पृष्ठं गिरेरिव, पर्वतपृष्ठोपमाविस्तारेति शेषः । यथा पर्वताऽधोभाग ऊर्ध्वभागापेक्षया विस्तृतो भवत्येवं मत्कीर्त्तिरपि सर्वत्र विस्तृतेत्यर्थः । ऊर्ध्वपवित्रः = उन्नतो ह्यूर्ध्व उच्यत इति वचनादूर्ध्वशब्दस्योन्नतवाचित्वम् । उन्नतत्वं चात्युत्कृष्टत्वमत्युत्कृष्टश्च हरिरेव स्वाध्यायप्रवचनादिसम्पत्त्याऽपरोक्षज्ञानानन्तरमहमादौ तावदूर्ध्वे नात्युत्कृष्टेन विष्णुना पवित्रः पाविताऽप्रारब्धसमस्तपापरहितोऽस्मि । तद्यथैषीकतूलमिति श्रुतेः । तदनन्तरं प्रारब्धकर्मणां भोगेन क्षये चरमदेहपातानन्तरमर्चिरादिद्वारेण सूर्यलोकं प्राप्य तत्र वाजिरूपश्च नेता च वाजिनीः सूर्यस्तत्र वसतीति वाजिनीवसुस्तेन वाजिनीवसुना = विष्णुना । अमृतं प्रारब्धकर्मशेषनिर्मुक्तश्चास्मि विरजां प्राप्य तत्र लिङ्गशरीराख्यवृक्षस्य रेरिवा छेत्ताऽस्मि ।

अनन्तरमभिव्यक्तबहुतरानन्दमनुभवन्नैव सवर्चसं द्रविणं सुवर्णमिवाहं जातम्। वर्चस-शब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चस' इत्यत्र योगविभागात्समासान्तो वा। न केवलं सर्ववर्चसं द्रविणमस्मि किं नाम सुमेधाः ? सुष्ठु अभिव्यक्तं मेधा ज्ञानं यस्यासौ सुमेधाश्चास्मि। अमृतेन = मरणरहितेन भगवता, उक्षितः = सिक्तो व्याप्तः। तत्सन्निधानविशेषयुक्तश्चास्मीत्येवं मे कीर्त्तिः स्वाध्यायप्रवचनजन्ययशोलक्षणागिरेः पृष्ठमिव पर्वताधोभागवत् विस्तृता। दिगन्तविश्रान्ता जातेत्यर्थः। कस्येदं वचनमित्यप्रतीतेः श्रुतिः स्वयमाह–इतीति। इत्येवं वैवस्वतमनुवंशोत्पन्नस्य हरिश्चन्द्रपितुः त्रिशङ्कोस्तन्नाम्नो राज्ञो वेदानुवचनम्। वेदप्रवचनजन्यं फलं निरूपितमित्यर्थः ॥२२॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥१०॥

व्याख्या—पहले ऋतादि सबसे स्वाध्याय और अध्यापन का आधिक्य बताया गया है। इस समय उन दोनों का फल आख्यायिका के द्वारा निरूपण करते हैं—जीव इस स्थूल शरीर द्वारा ही संसरण करता है, इस कारण संसार लिङ्गदेह है। मैं (जीव) उसका छेदन करने वाला हूँ। रीङ् धातुक्षय अर्थ में है। मेरी कीर्त्ति पर्वत के समान विस्तार युक्त है। पहाड़ की भाँति ऊँची मेरी कीर्त्ति का लोक में विस्तार है। जिस तरह पहाड़ का नीचे का भाग ऊपर के भाग की अपेक्षा विस्तृत होता है, उसी तरह मेरी कीर्त्ति भी सभी जगह विस्तृत है। उन्नत को ऊर्ध्व शब्द से कहा जाता है। ऊर्ध्व और उन्नत ये दोनों समानार्थक शब्द हैं। उन्नतत्व, अति उत्कृष्टत्व और अति उत्कृष्ट भगवान् श्रीहरि ही है। स्वाध्याय और प्रवचन आदि सम्पत्ति द्वारा अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर मैं आकाश में भगवान् श्रीविष्णु द्वारा पवित्र हूँ, समस्त पापों से रहित हूँ। इसके अनन्तर प्रारब्ध कर्मों का भोग के द्वारा क्षय हो जाने पर चरम देह पातानन्तर अर्चिरादि द्वार से सूर्यलोक को प्राप्त कर वहाँ वाजिरूप नेता और वाजिनी सूर्य निवास करते हैं। वाजिनीवसु भगवान् श्रीविष्णु के द्वारा मैं अमृत हूँ, प्रारब्ध कर्मों का शेष निर्मुक्त हूँ। विरजा नदी को पाकर वहाँ लिङ्गशरीर नामक वृक्ष का मैं छेदन करनेवाला हूँ। इसके बाद अभिव्यक्त बहुतर आनन्द का अनुभव करता हुआ सुवर्ण की भाँति मैं देदीप्यमान हूँ, सुष्ठु मेधाधारण शक्तिसम्पन्न हूँ। अमृतस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु द्वारा उक्षित (सिक्त) हूँ अर्थात् व्याप्त हूँ। इस प्रकार वैवस्वत मनु के वंश में उत्पन्न राजा हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशङ्कु नाम के राजा का यह वेदानुवचन है। वेदप्रवचन जन्य फल का निरूपण किया है। श्रीमद्भागवत में यह आख्यायिका इस प्रकार है—विश्वामित्र ऋषि ने अपने तेज से राजा त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग भेजना चाहा, परन्तु देवताओं ने वहाँ से उसे नीचे ढकेल दिया। विश्वामित्र ऋषि ने उन्हें आकाश में ही रोक दिया और त्रिशङ्कु आजतक नीचे सिर और ऊपर पैर किये लटके हैं। यथा—

'सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात्' ॥ (श्रीमद्भागवत ९।७।६)

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥१०॥

•

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥२३॥

तत्त्वप्रकाशिका—ब्रह्मविद्याव्याख्यानानन्तरमाचार्येणान्तेवासिनं प्रति शिक्षणीयान् नियमानाह—वेदमनूच्येत्यादिना। आचार्यो वेदम् अनूच्य = व्याख्याय अन्ते समीप एव वसतीत्यन्तेवासी शिष्यस्तमनुशास्ति शिक्षयति। शिक्षाप्रकारमाह—सत्यं वदेति। सत्यवचननिष्ठो भव धर्मं चर। स्ववर्णाश्रमविहितं कर्म चर। आचर। स्वाध्यायात् अधीत वेदादिशास्त्रात्। मा प्रमदः = प्रमादयुक्तो मा भूः। तद्विस्मृतिमान् मा भूरिति यावत्। यद्वा अनध्यायातिरिक्तदिवसेषु व्याख्यानविषये प्रमादयुक्तो मा भूरित्यर्थः। आचार्यकुले वेदाध्ययनानन्तरं प्रियं = तदभिलषितं यद्धनं तत्। आचार्याय आहृत्य = दक्षिणात्वेन दत्वा, प्रजातन्तुं = प्रजासन्ततिं, मा व्यवच्छेत्सीः = माच्छेदय, गृहस्थाश्रमस्वीकारं कुर्विति यावत्। सत्योक्तौ धर्माचरणे च तात्पर्यद्योतनाय तदुभयविषये प्रमादो मास्त्वित्याह—सत्यादित्यादिना। कुशलात् = क्षेमकरात्, कर्मणोऽदृष्टार्थान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै = ज्ञानमोक्षाख्यैश्वर्यविषये न प्रमदितव्यम्। यद्वा भूत्यै = भूत्या। दैवान्महैश्वर्यप्राप्त्या तत्प्राप्तावपीति यावत्, उक्तसत्यादिविषये न प्रमदितव्यमित्यर्थः ॥२३॥

सान्वयानुवाद—वेदम् अनूच्य = वेद की व्याख्या कर, आचार्यः = सद्गुरुदेव, अन्तेवासिनम् = अपने शिष्य को, अनुशास्ति = शिक्षा देते हैं, सत्यं वद = तुम सच बोलो, धर्मम् चर = धर्म का आचरण करो, स्वाध्यायात् = स्वाध्याय से, मा प्रमदः = प्रमाद न करो, आचार्याय = आचार्य के लिए, प्रियम् धनम् = दक्षिणा के रूप में उनका अभिलषित धन, आहृत्य = देकर, प्रजातन्तुम् = प्रजासन्तति को, मा व्यवच्छेत्सीः = व्यवच्छेद न करना, सत्यात् = सत्य से, न प्रमदितव्यम् = प्रमाद नहीं करना चाहिये, धर्मात् = धर्म से, न प्रमदितव्यम् = प्रमाद नहीं करना चाहिए, कुशलात् = क्षेमकर कर्मों से, न प्रमदितव्यम् = प्रमाद नहीं करना चाहिये, भूत्यै = भूति से, न प्रमदितव्यम् = प्रमाद नहीं करना चाहिये, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् = पठन और पाठन में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—ब्रह्मविद्या की व्याख्या के बाद आचार्य अपने शिष्य के प्रति शिक्षणीय नियमों का उपदेश करते हैं—तुम हमेशा सच बोलो, झूठ नहीं बोलना चाहिये। इसके ज्वलन्त उदाहरण शुक्राचार्य जी के शिष्य महाराज बलि हैं—'नायं त्यजति सत्यवाक्'। (श्रीमद्भागवत ८।२२।३०) याज्ञवल्क्यजी ने कहा है—'वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्'। अर्थात् जहाँ सत्य बोलने से ब्राह्मण आदि वर्णों के वध की सम्भावना हो वहाँ साक्षी असत्य (झूठ) बोल सकता है। धर्म का आचरण करना चाहिये। इसलिये—'ध्रियतेऽधःपतन् पुरुषोऽनेनेति धर्मः'। धर्म नीचे गिरते हुए पुरुष को धारण करता है अर्थात् बचाता है। यह धर्म शब्द का अर्थ है। धर्म के विषय में आदिकाव्यकार त्रिकालज्ञ महर्षि वाल्मीकि जी ने लिखा है—

'धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मादर्थं प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्' ॥

संसार में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्म में ही सत्य प्रतिष्ठित है। धर्म से ही अर्थ का उपार्जन होता है (अधर्म से नहीं)। धर्म से ही सुख मिलता है। मनुष्य धर्म से ही सब को प्राप्त करता है। यह भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है, इसलिये धर्माचरण करना चाहिये। वेदादि शास्त्र से प्रमाद न करें। अथवा अनध्याय के अतिरिक्त दिवसों में व्याख्यान विषय में प्रमादयुक्त न होवें। गुरुदेव के लिए दक्षिणा के रूप में उनका अभिलषित धन देकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करें। यह कोई जरूरी नहीं है कि सब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।

'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा' ॥
(मुण्डकोपनिषद् १।२।११)

कुशल-क्षेमकर सत्कर्मों को श्रीभगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभाव से करते रहना चाहिये। इससे मनुष्यों का विषयों से दूषित अन्तःकरण शुद्ध होता है। क्योंकि सत्कर्म श्रीभगवान् की प्राप्ति का साधन है। ऐश्वर्य और सम्पत्ति से कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। पढ़ने और पढ़ाने में आलस्य कभी नहीं करना चाहिये ॥२३॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् ॥२४॥

तत्त्वप्रकाशिका—देवतोद्देशेन क्रियमाणं कर्त्तव्यं देवकार्यं समाराधनादि, पितॄनुद्दिश्य क्रियमाणं कर्त्तव्यं श्राद्धादि, ताभ्यां न प्रमदितव्यम्। माता देववत्पूज्या यस्यासौ तथोक्तः। आचार्यो देववत्पूज्यो यस्यासौ तथोक्तः। अतिथयो देववत्पूज्या यस्यासौ तथोक्तः। देवपूजावत् मात्रादिपूजायां निरतो भवेत्यर्थः। अनवद्यानि = निर्दुष्टानि, तानि = तान्येव। इतराणि = सावद्यानि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि अस्माभिराचर्यमाणानि समीचीनकर्माणि तान्येव तत्सदृशान्येव त्वयोपास्यानि = सेव्यानि कर्त्तव्यानीति यावत्। नो इतराणि। दैवादस्माभिर्देहादौ प्रतिबन्धकवशेन कदाचित् स्नानादिकर्त्तव्यं परित्यक्तं चेत् त्वया न परित्याज्यमिति भावः। ये के च ब्राह्मणाः = अस्मच्छ्रेयांसः। अस्मदपेक्षया ज्ञानादिना अधिकास्तेषामासने त्वया न प्रश्वसितव्यं = नासितव्यं नोपवेष्टव्यम्। यद्वा तेषां सतां तत्समक्षमिति यावत्। त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यमित्यर्थः ॥२४॥

व्याख्या—देवताओं के उद्देश से क्रियमाण कर्त्तव्य देवकार्य-समाराधन आदि में प्रमाद (आलस्य) नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय है अत: उनकी उपेक्षा कदापि न करें। यथायोग्य उनकी आराधना करें। पितरों को उद्देश करके क्रियमाण कर्त्तव्य श्राद्धादि में प्रमाद नहीं करना चाहिए; जैसे—'नामगोत्रं पितृणां तु प्रापकं हव्यकव्ययो:'। (मत्स्यपुराण १९।४) माता-पिता की तिथि पर विधिपूर्वक श्राद्ध करें। देव और पितृकार्यों में विद्वान् पुरुषों को खीर, पूड़ी, मालपुआ, शाकान्न भोजन कराने से अनन्त फल प्राप्त होता है। जिसकी माता देवता के समान पूज्या है, जिसके पिता देवता के समान पूज्य है। जिसके आचार्य देवता के समान पूज्य है। देवपूजा की भाँति माता, पिता, गुरु और अतिथिजनों की पूजा में निरत होओ। इस संसार में जो-जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हीं का ही तुम्हें सेवन करना चाहिये। उनसे भिन्न जो निन्दनीय कर्म हैं, उनका आचरण कदापि नहीं करना चाहिये। हमारे जो-जो आचर्यमाण समीचीन कर्म हैं उनके सदृश ही तुम्हें सेवन करना चाहिये। जो कई हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनके आसन पर तुम्हें नहीं बैठना चाहिये। 'आगतं स्वागतं कुर्यात्' इसके अनुसार सज्जन ज्ञानादि से बड़े ब्राह्मण घर पर पधारें, उनका आसन द्वारा यथोचित सत्कार करना चाहिये ॥२४॥

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥२५॥

तत्त्वप्रकाशिका—ज्ञानाधनादिकं श्रद्धया = आस्तिक्यबुद्धिपूर्वकं देयम्। अश्रद्धयाऽपि देयमेव। गुणभूतश्रद्धाभावे प्रधानं दानं न परित्याज्यम्। गुणप्रधानयोर्विरोधे गुणे त्वन्यायकल्पनमिति न्यायात्। मृगभयात् बीजानावापादर्शनाच्चेति भाव:। श्रिया = ऐश्वर्यानुसारेण। ह्रिया = स्वस्य सम्पत्तौ सत्यामप्यदाने लोका हसिष्यन्तीति लज्जया वा देयमित्यर्थ:। भिया = अदाने गुर्वादीनां दण्डभयेन परलोके यमदण्डभयेन वा। संविदा = 'अनादिनिधनं विष्णु: पात्रस्थ: परमेश्वर:' इति ज्ञानपूर्वकं सत्पात्रे देयम्। यद्वा पात्रापात्रविचारेणेत्यर्थ: ॥२५॥

सान्वयानुवाद—श्रद्धया = श्रद्धा-भक्ति से, देयम् = देना चाहिये, अश्रद्धया = अश्रद्धा से, देयम् = देना चाहिये, श्रिया = ऐश्वर्य के अनुसार, देयम् = दान देना चाहिये। ह्रिया = लज्जा से, देयम् = देना चाहिये, भिया देयम् = डर से भी देना चाहिये, संविदा = सम्यक् ज्ञान से, देयम् = देना चाहिये, अथ = इसके बाद, यदि = अगर, ते = तुम को, कर्मविचिकित्सा = कर्म में संशय हो, वा = अथवा, वृत्तविचिकित्सा = सदाचार में संशय, स्यात् = हो ॥२५॥

व्याख्या—अपनी विद्या और धन दूसरे को आस्तिक्य बुद्धिपूर्वक अवश्य देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ थोड़ा-बहुत यथाशक्ति दान अवश्य करना चाहिये। गुणभूत श्रद्धा न होने पर प्रधान दान परित्याज्य नहीं है। कुछ श्रीमदान्ध लोगों

का स्वभाव है कि वे याचक को देखते ही जल-भुन जाते हैं। वे यह विचार नहीं कर पाते कि ये याचक बने कैसे ? जो मनुष्य कभी दान नहीं करता वही याचक बन घर-घर मारा-मारा फिरता है ? याद रखें–याचक माँगने नहीं आते, वे तो आप को शिक्षा देने आते हैं कि सब को प्रतिदिन यथाशक्ति दान करना चाहिये; जो दान नहीं करते उनकी गति ऐसी ही होती है। वे हमारी तरह इधर-उधर एक-एक दाने के लिए हाथ फैलाते फिरते हैं।

'याचका नैव याचन्ते बोधयन्ति गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां नित्यमदातुर्गतिरीदृशी' ॥

अपने ऐश्वर्य के अनुसार दान करना चाहिये। अपनी सम्पत्ति होने पर भी न देने पर लोग उनकी हँसी उड़ायेंगे, लज्जा से देना चाहिये। परलोक में यमदण्ड के भय से अथवा गुरुजनों के दण्डभय से दान देना चाहिये। इस प्रकार वर्त्तमान कभी तुम्हारे श्रौत और स्मार्त कर्म में संशय हो। तब आगे स्वयं श्रुति कहती है—ये तत्रादि ॥२५॥

ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन्। तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥२६॥

॥ इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथैवं वर्त्तमानस्य यदि कदाचित् ते तव श्रौते स्मार्त्ते वा कर्मणि वृत्ते वाऽऽचारलक्षणे विचिकित्सा = संशयः, स्यात् तत्र तदा तत्र देशे ये ब्राह्मणास्तत्र कर्मणि तदङ्गे च सम्मर्शिनः = विचारशीलाः, युक्ताः = ज्ञानाद्युपाययुक्ताः, आयुक्ताः = स्वधर्माचरणआग्रहयुक्ताः। अलूक्षाः = अरूक्षाः, अक्रूरमतयः। प्रश्ने कृते सति कोपरहिता इति यावत्। धर्मकामाः = धर्माचरण एव कामवन्तः, स्युः = भवेयुः, ते ब्राह्मणाः तत्र = कर्मादौ, यथा वर्त्तेरन्। त्वमपि तत्र = कर्मादौ, तत्तत्करणविषये तथैव = तदनुसारेणैव, वर्त्तेथाः न तु तद्विरोधेनेत्यर्थः। अथानन्तरमभ्याख्यातेषु = प्रत्याख्या-तेषु, वेदनिन्दितेषु अधर्मेषु तद्विषय इति यावत्, यदि विचिकित्सा स्यादिति वर्त्तते ये तत्रेत्यादिकमुक्तार्थम्। एवमाचार्योऽन्तेवासिनं प्रति धर्मानुद्दिश्य श्रद्धोत्पादनायाह—एष इति। एषः सत्यं वदेत्यादि। आदेशः = हरेराज्ञा। न केवलं राजाज्ञावत्। हरेराज्ञा-मात्रमिदम्। किन्नाम एषः तस्य हरेरुपदेशः। आचार्यपरम्पराप्राप्तः। नायमुपदेशो विरोचनं प्रति ब्रह्मोपदेश एव किन्नाम। एषा वेदोपनिषद् सत्यं वद इत्यादि वेदानां रहस्यम्। एषोपनिषच्छब्दापेक्षया स्त्रीलिङ्गम्। उपसंहरति–एतदिति। एतदनुशासनं शिक्षणं मया त्वां प्रति कृतमित्यर्थः। एवं मच्छिक्षितप्रकारेण त्वया सत्यवचना-दिकमुपासितव्यमनुष्ठेयम्। तात्पर्यातिशयद्योतनाय स्वोक्तमवधारयति—एवमु चेति। उ-

चशब्दावेवार्थौ एवमेव मदुक्तप्रकारेणैव। एतत्सत्यवचनादिकमुपास्यमनुष्ठेयमेव। न कदाचिदपि आलस्यादिभीरुणा परित्याज्यमित्यर्थः ॥२६॥

विघ्नपरिहारायादौ यां शान्तिं पठित्वा विद्या उपक्रान्ता समापिता च तामेव शान्तिं ब्रह्मा विघ्नपरिहारायान्ते पठति—

शन्नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः। शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति तैत्तिरीयोपनिषदि प्रथमा शीक्षावल्ली समाप्ता ॥१॥

अस्यार्थं पूर्ववत्।

श्रीमत्तैतिरीयोपनिषदः तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां शीक्षा-वल्ली समाप्ता ॥१॥

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥१२॥

सान्वयानुवाद—ये = जो, तत्र = वहाँ, सम्मर्शिनः = विचारशील, युक्ताः = ज्ञानादि उपायों से युक्त, आयुक्ताः = अपने वैदिक भावगत धर्मों का आचरण करने में आग्रह युक्त, अलूक्षाः = असम्बद्ध रूक्ष कटुवचनों से रहित, धर्मकामाः = धर्म को चाहनेवाले धर्मात्मा, स्युः = हों, ते = वे, यथा = जिस प्रकार, तत्र = कर्मादि में, वर्तेरन् = लगे रहते हैं, तेषु = उनके साथ, तथा = वैसे ही, वर्तेथाः = तुम को भी करना चाहिये। एषः = यह, आदेशः = भगवान् श्रीहरि की आज्ञा है। एषः उपदेशः = यही उनका उपदेश है, एषा = यही, वेदोपनिषद् = वेद और उपनिषदों का रहस्य है, च = और, एतत् = यही, अनुशासनम् = आचार्य-परम्परा से प्राप्त शिक्षा है, एवम् = इस प्रकार, उपासितव्यम् = उपासना करनी चाहिये, एवम् उ = इसी प्रकार, एतत् = यह, उपास्यम् = उपासनीय है।

व्याख्या—यह कार्य करते हुए अगर तुमको किसी बात की शङ्का का अवसर तुम्हारे मन में हो जायें या संशय हो जायें तो इस संशय के निवारणार्थ उस देश में जो ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न हैं, श्रीभगवान् के द्वारा बताये गये धर्मों का आचरण करने वाले धार्मिक धर्मात्मा हैं, असम्बद्ध कटुवचन न कहने वाले विद्वान् पुरुष रहते हैं; वे जिस प्रकार धर्म-कर्म का आचरण करते हैं ठीक उसी प्रकार का आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। यह भगवान् श्रीहरि का उपदेश है, जो आचार्य (गुरु) परम्परा से प्राप्त है; जिनके निःश्वास से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो इत्यादि वेदों का रहस्य है।

'यतो धर्मस्ततः कृष्णः'। (श्रीमहाभारत-भीष्मपर्व अ. २३)

जहाँ धर्म है वहीं पर षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न नारायण श्रीकृष्ण निवास करते हैं।

'सत्यं परं धीमहि'।

(श्रीमद्भागवत १।१।१)

सत्यस्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं। इसलिये सज्जनो ! धर्म को कभी न भूलें, सर्वत्र धर्म का प्रचार करें। स्त्रियों के मनाने में, हास-परिहास में, विवाह में, जीविका के विषय में, प्राण-सङ्कट में, गौ-ब्राह्मणों की रक्षा के लिए एवं किसी की हिंसा हो रही हो तो वहाँ झूठ कहना भी निन्दित नहीं माना जाता है; यह ऋग्वेद की श्रुतियों का रहस्य है। इतने स्थानों पर मिथ्या-भाषण करने की छूट है परन्तु अन्यत्र असत्य बोलना महापाप माना जाता है। इस प्रकार बताये गये प्रकार से ही सत्य वचन आदि का अनुष्ठान करना चाहिये; कभी भी आलस्य आदि के कारण परित्याग नहीं करना चाहिये।

॥ द्वादश अनुवाक समाप्त ॥१२॥

॥ शीक्षावल्ली समाप्त ॥

•

अथ ब्रह्मानन्दवल्ली

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि-नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

तत्त्वप्रकाशिका—यद् ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थं पूर्वसम्पादनीया विद्या निरूपिता तामेव विद्यां वरुणाय वक्तुं तत्र प्रसक्तविघ्नपरिहाराय ब्रह्मा शान्तिं पठति—सह नावित्यादिना। सः मित्रादिः, नौ = गुरुशिष्यौ, अवतु = रक्षतु, विघ्नान् परिहृत्येति शेषः। हेति मित्रादेः रक्षणे सामर्थ्यमस्तीति प्रसिद्धिं दर्शयति। स मित्रादिः, नौ = गुरुशिष्यौ, भुनक्तु = अन्नादिदानेन पालयतु। हेति भोजनदाने सामर्थ्यप्रसिद्धिमाह। नौ = आवां, सह मिलित्वा भोजयत्विति वा। आवां गुरुशिष्यौ सह मिलित्वा वीर्यं = व्याख्यानविषये प्रयत्नं करवावहै = कुर्वः। लोडुत्तमपुरुषद्विवचनमिदम्। नौ = आवाभ्यामधीतं तेजस्वि वीर्यवत्तममस्तु। आवां तेजस्विनौ भवाव। अधीतं फलप्रदमस्तु। गुरुशिष्यौ आवां मा विद्विषावहै = विद्वेषं न करवावहै = न कुर्वः। शान्तिरिति त्रिरुक्तेः प्रयोजनं पूर्वमेवोक्त-मनुसन्धेयम् ॥१॥

व्याख्या—जो ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए पहले सम्पादनीया विद्या निरूपण की गयी है उसी विद्या का वरुण को उपदेश करने के लिए उस प्रसक्त विघ्नपरिहार के लिए ब्रह्मा जी शान्ति का पाठ करते हैं। वे मित्र आदि देवगण हम दोनों गुरु और शिष्य की रक्षा करें। विघ्नों का परिहार करके हमारी रक्षा करें। 'ह' यह शब्द मित्रादि के रक्षण में सामर्थ्य है—इस प्रसिद्धि को दिखलाता है। वे मित्र आदि देवता हम गुरु और शिष्य दोनों का अन्नादि दान द्वारा पालन करें। 'ह' यह पद भोजन दान में सामर्थ्य-प्रसिद्धि को

बताता है। हम गुरु और शिष्य मिलकर व्याख्यानविषय में प्रयत्न करते हैं। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या करामलकवत् हो। अधीत विद्या फलप्रद हो। हम दोनों आपस में विद्वेष नहीं करते। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विघ्नों के परिहार के अभिप्राय से तीन बार शान्ति कही गयी है ॥१॥

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम् तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—अचिन्त्यानन्तनिरतिशयस्वाभाविकबृहत्तमस्वरूपगुणाद्याश्रय ब्रह्मण उपासकः सर्वेभ्यः परमुत्कृष्टं ब्रह्म प्राप्नोति। परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्य प्राप्यत्वेन निर्दिष्टत्वात् तस्यैवोपास्यत्वमिति बोद्धव्यम्। ननु तत्परं ब्रह्म किं लक्षणकं, नहि लक्षणेन विनाऽस्येतरसमस्तव्यावृत्ततया शक्यते ज्ञातुं कीदृशं तद्वेदनं का च तत्प्राप्तिः कीदृशं च प्राप्यमिति जिज्ञासायामाह—तदेषेति। तदेतच्छङ्कातुर्य्यमभिप्रैति। तदुत्तरत्वेनेति यावत्। एषा = वक्ष्यमाणा ऋक्मन्त्रवर्णरूपा। उक्ता = उच्यते। तमेव मन्त्रवर्णमुदाहरति–सत्यमित्यादिना। सत्यम् = निरुपाधिकसत्तासम्बन्धि तेन। विकारास्पदमचेतनं संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः। ज्ञानम् = नित्यासङ्कुचितज्ञानैकाकारम्। तेन कादाचित्कसङ्कुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः। अनन्तम् = देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदशून्यम्। द्वितीयतृतीयप्रश्नोत्तरमाह—यो वेदेति। यः = अधिकारी, गुहायां = हृदयगुहायां, परमे व्योमन् = व्योम्नि दहराकाशे, निहितं = सत्यत्वादिविशिष्टम्। परब्रह्म वेद स ब्रह्मवित् अधिकारी सर्वान् कामान् = स्वयोग्यानन्दादीन्। विपश्चिता ब्रह्मणा सह अश्नुते = भुङ्क्ते। विपश्चितत्वं नाम निरुपाधिकानन्त्याधीनासङ्कुचितसर्वविषयकज्ञानवत्त्वम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यनेन ब्रह्मणः सकलेतरव्यावृत्तं ब्रह्मणः लक्षणमुक्तम्भवति। हृदयगुहानिहितत्वप्रकारकज्ञानप्रतिपादनेन यो वेद निहितं गुहायामित्यनेन। विच्छब्दार्थ उक्तः। परमे व्योमन् सोऽश्नुते इत्यनेनाप्नोति शब्दार्थ उक्तः। सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इत्यनेन प्राप्यमुक्तम्। इतिशब्दो मन्त्रवर्णसमाप्तिद्योतकः ॥२॥

सान्वयानुवाद—ब्रह्मविद् = ब्रह्मज्ञानी, परम् = परमात्मा को, आप्नोति = प्राप्त होता है, एषा = यह, अभ्युक्ता = (अभि + उक्ता) भलीभाँति श्रुति ने बतायी है, सत्यम् = सत्यस्वरूप, ज्ञानम् = ज्ञानस्वरूप, अनन्तम् = अनन्तस्वरूप, ब्रह्म = ब्रह्म है। यः = जो, परमे व्योमन् = परम दहराकाश में, गुहायाम् = प्राणियों के हृदय-गुफा में, निहितम् = संनिहित है, वेद = उसे जानता है, सः = वह, विपश्चिता = एक ही साथ समस्त देश, काल, वस्तु विषयक ज्ञानवान्, ब्रह्मणा सह = ब्रह्म के साथ, सर्वान् = सभी, कामान् = अपने योग्य आनन्दादि को, अश्नुते = भोगता है, इति।

व्याख्या—उपासक अनन्त, अचिन्त्य, निरतिशय, स्वाभाविक बृहत्तम स्वरूप, गुणादि का आश्रय तथा सबों से परम उत्कृष्ट ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। स्मृतिशास्त्र में कहा गया है—

'एष प्रकृतिरव्यक्तः कर्त्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद् बृहत्तमोऽच्युतः'॥

भगवान् अच्युत श्रीकृष्ण ही प्रकृति है, अव्यक्त (निर्गुण) है, कर्त्ता है, सनातन = ब्रह्म है, सभी भूतों से परे है इसलिये वह बृहत्तम = ब्रह्म है अर्थात् बड़ों से बड़ा है। यही ऋग्वेद के मन्त्रवर्णों से बताया गया है। जो सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण है एवं सभी प्राणियों के हृदयानुरूप उस-उस हृदय-गुफा में अन्तर्यामी रूप से बैठा हुआ है, उस परब्रह्म को जो विद्वान् पुरुष जानता है वह ब्रह्मवित् कहलाता है और वह ब्रह्म के साथ समस्त आनन्दादि सुखों को भोगता है एवं ब्रह्मभाव में स्थित होता है। यही मोक्षपद है ॥२॥

इन मन्त्रवर्णों द्वारा अब सृष्टिक्रम तथा जगत् की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।
अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।
ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—सत्यं ज्ञानमनन्तमित्युक्तं वस्त्वपरिच्छेदलक्षणमानन्त्यं सर्वोपादानत्वसर्वान्तरत्वमुखेन प्रपञ्चयति—तस्माद्वेति। तस्मान्मोक्षजनकीभूतज्ञानविषयत्वेन ब्रह्मशब्दोक्तादेतस्मान्मन्त्रवर्णोपलक्षितादात्मनः परमात्मन आकाशः सम्भूतः = उत्पन्नः। इदं पदं यथालिङ्गं यथावचनं पुरुषान्तेष्वनुवर्त्तते। शब्दगुणवत्त्वेन प्रसिद्धादाकाशाद् वायुः। शब्दस्पर्शगुणो नभस्वान्। वायोरुक्तादग्निः शब्दस्पर्शरूपगुणस्तेजो धातुः। अग्नेरुक्तादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणा द्रवात्मिकाः। अद्भ्य उक्ताभ्यः पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा कठिना भूमिः। पृथिव्या उक्ताया ओषधयः = फलपाकान्ताः। ओषधीभ्य उक्ताभ्य अन्नम् = फलपाकान्ताः। ओषधीभ्य उक्ताभ्य अन्नम् = अदनीयं प्रसिद्धम्। अन्नादुक्तात्पुरुषः = स्थूलदेहः पुरुषशब्दाभिधेयः ॥३॥

सान्वयानुवाद—तस्मात् = उस, एतस्मात् = इस, आत्मनः = परमात्मा से, आकाशः = आकाश, सम्भूतः = उत्पन्न हुआ, आकाशात् = आकाश से, वायुः = वायु, वायोः = वायु से, अग्निः = अग्नि, अग्नेः = अग्नि से, आपः = जल अद्भ्यः = जल से, पृथिवी = पृथ्वी, पृथिव्याः = पृथ्वी से, ओषधयः = ओषधियाँ उत्पन्न हुई, ओषधीभ्यः = ओषधियों से, अन्नम् = अन्न उत्पन्न हुआ है, अन्नात् = अन्न से, पुरुषः = स्थूल शरीरवाला मनुष्य उत्पन्न हुआ है (होता है और आगे होगा)।

व्याख्या—तत् शब्द एतत् शब्द का ही परामर्श है। यथा—'तत्त्वमसि' एवं 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'। तुम वही हो। हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र धारण किये हुए स्थित हैं। जगत् का सर्जन कर उसमें अनुप्रविष्ट हुआ है। श्रुति ने ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति का वर्णन

किया है। परमात्मा ने समस्त संसार की रचना की एवं अपने सत्यसङ्कल्प के अनुसार स्वयं बहुरूप होकर जगत् में प्रवेश किया और प्रवेश करके नाम-रूप को धारण किया है। 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' यह उनका सङ्कल्प वाक्य है। वे परब्रह्म परमात्मा आकाश में शब्द रूप से रहते हैं, वायु में स्पर्श रूप से, अग्नि में तेज रूप से, जल में रस रूप से, पृथ्वी में गन्ध रूप से, औषधियों में जीव रूप से, अन्न में भोग रूप से, प्रकृति और पुरुष में नियम्य रूप से, चित्त में वासुदेव रूप से, अहङ्कार में सङ्कर्षण रूप से, बुद्धि में प्रद्युम्न रूप से और मन में अनिरुद्ध रूप से विराजते हैं। यह स्थूल शरीर पुरुष शब्द से कहा जानेवाला अन्न रसमय होने के कारण रस का ही परिणाम है (मदीय शोधप्रबन्ध शीर्षक—श्रीमद्भागवते निम्बार्कवेदान्तस्य समन्वयः हिन्दीभाषानुवादसहितः-पृ. २४८)। इसलिये यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म से अभिन्न है। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' अर्थात् इस जगत् में ब्रह्म के बिना कुछ भी नहीं है। हे अर्जुन! जो समस्त भूतों का बीज है, वह मैं ही हूँ। मेरे बिना चराचर-भूत कुछ भी नहीं है (श्रीमद्भगवद्गीता १०।३९)। इसलिये समस्त जड़-चेतन जगद्रूप संसार ब्रह्ममय है ॥३॥

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥४॥

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्याये प्रथमोऽनुवाकः॥

तत्त्वप्रकाशिका—स वा एष पुरुषोऽयं देहोऽन्नरसमयः, रसस्य परिणामः। अन्नमशितं त्रिधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुः सः पुरुषो भवति, यो मध्यमस्तन्मांसम्। (छान्दोग्योपनिषद् ६।५।१) इत्याद्युक्तरीत्या जाठराग्निपच्यमानान्नसारांशनिर्वर्त्यमानमांसादिमयत्वात् शरीरस्येति भावः। तस्य पुरुषस्य पक्षिण इदमेव प्रसिद्धमेव शिरो मस्तकम्। अयं दक्षिणो भुजः। दक्षिणो दक्षिणः भागस्थः। पक्षः = पत्रम्। अयं वामो भुजः। उत्तरो वामभागस्थः। पक्षः = पत्रम्। अयं गलमारभ्याकटिस्थलं मध्यमो देहभागोऽङ्गानामात्मा धारकत्वेन प्रधानभूत इत्यर्थः। मध्यं ह्येवाङ्गानामात्मा इति श्रुतेः। इदं कटिस्थलादधः स्थितं पादद्वयम्। पुच्छवदाधारत्वात्पुच्छम्। प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठन्त्यस्मिन्निति प्रतिष्ठाऽऽधार इत्यर्थः। अत्र पुरुषशब्दितमनुष्यपाण्यादेः पक्षत्वादिरूपिणं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थम्, तत्तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणोक्तेऽयं मन्त्ररूपश्लोकोऽपि भवतीत्यर्थः।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य
तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥

सान्वयानुवाद—सः = वह, एषः = यह, पुरुषः = पुरुष, वै = निश्चय ही, अन्नरसमयः = अन्नरसमय है, तस्य = उसका, इदम् = यह, एव = ही, शिरः = मस्तक है, अयम् = यह, दक्षिणः पक्षः = दाहिना पत्र है, अयम् = यह, उत्तरः

पक्षः = बायाँ पत्र है, अयम् = यह, आत्मा = आत्मा है, इदम् = यह, पुच्छम् = पूँछ, प्रतिष्ठा = प्रतिष्ठा है। तत् अपि = उस अर्थ में, एषः = यह, श्लोकः = श्लोक, भवति = है।

व्याख्या—अन्न ही प्राणियों का जीवन है, ऐसा ही श्रीमद्भागवत (११।२६।३३) में बताया गया है। वही यह पुरुष यह देह (शरीर) अन्नरसमय है, रस का परिणाम है। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लिखित है कि—पुरुषों द्वारा किये गये अन्न भोजन का तीन प्रकार से विधान किया जाता है। उसका जो स्थविष्ठ धातु = स्थूल अंश है वह पुरुष है, जो मध्यम है वह मांस है। तेजः, जल और पृथ्वी के विमिश्रण द्वारा प्राणियों के शरीर का अङ्गसमूह गठित होता है। पृथिवी से पुरीष (मल), मांस मन, जल से मूल, शोणित और प्राण। इसी तरह तेज से अस्थि (हड्डी), मज्जा और वाक् = वाणी उद्भूत होती है। इसलिये भगवती श्रुति ने उपदेश किया है—यह पुरुष अन्न-रस के विकार से उत्पन्न हुआ है। इस पुरुष के अङ्ग-विशेष को सिर (मस्तक) कहते हैं, अङ्ग-विशेष का नाम दक्षिण बाहु, अङ्ग-विशेष का नाम वामबाहु, अङ्ग-विशेष का नाम आत्मा अर्थात् मध्य-भाग, अङ्ग-विशेष का नाम पुच्छ अर्थात् नाभि के निम्नस्थ मेरुदण्ड का निम्न भाग जिस पर यह शरीर प्रतिष्ठित है। उसके सम्बन्ध में निम्नोक्त मन्त्ररूप श्लोक भी है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीः श्रिताः।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः॥

तत्त्वप्रकाशिका—अन्नाद् = अदनीयात्। वै = प्रसिद्धात्। प्रजाः = जन्तवः प्रजायन्ते। या काश्च = याः काश्चन, निखिलाः स्वेदजाण्डजजरायुजोद्भिजा इत्यर्थः। पृथिवीं = ब्रह्माण्डान्तर्बहिर्वर्त्तिनीं भूमिं श्रिता। अथो = अपि च, उत्पन्नाश्चान्नेनैव जीवन्ति। अन्तकाले तत्रैव लयं यान्तीत्यर्थः॥

सान्वयानुवाद—वै = प्रसिद्ध, अन्नात् = अन्न से, याः काः च = जो कोई, प्रजाः = प्रजा, प्रजायन्ते = उत्पन्न होती हैं, पृथिवीं श्रिताः = पृथ्वी के सहारे हैं, अथो = और भी, अन्नेन = अन्न द्वारा, एव = ही, जीवन्ति = जीवित रहती हैं। अथ = इसके बाद, अन्ततः = अन्तकाले, एतत् अपि = इसी अन्न में ही, यन्ति = लय को प्राप्त होती हैं।

व्याख्या—अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज और स्वेदज ये चार प्रकार के जीव प्रसिद्ध अन्न से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर रहनेवाली भूमि के आश्रित रहते हैं। वे अन्न से ही जीते हैं, फिर अन्तकाल में अन्न में ही लय होते हैं॥

अन्न ँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते।
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते।
अन्न ँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते॥

तत्त्वप्रकाशिका—सर्वभूतोपकारकत्वादन्नमेव ज्येष्ठम्। अत एव सर्वव्याधिनिवर्त्तकत्वादेव सर्वौषधमुच्यते। अन्ने ब्रह्मदृष्टिं कुर्वत उपासकस्य फलं दर्शयति—सर्वमिति। येऽधिकारिण अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठमित्यादिना प्रकारेणान्नं ब्रह्मोपासते ते सर्वं पूर्णमन्नं प्राप्नुवन्ति। ब्रह्मदृष्टिहेतुभूतं ब्रह्मसाम्यमाह—अन्नं हीति। ब्रह्मणो हि सर्वरोगनिवर्त्तकत्वात्सर्वभेषजत्वस्य सत्त्वादिति भावः।

सान्वयानुवाद—अन्नम् = अन्न, हि = ही, भूतानाम् = भूतों में, ज्येष्ठम् = ज्येष्ठ है, तस्मात् = इसलिये, सर्वौषधम् = सर्वौषध, उच्यते = कहा जाता है, ये = जो उपासक, अन्नम् ब्रह्म = अन्न में ब्रह्मदृष्टि भाव से, उपासते = उपासना करते हैं, अन्नम् = अन्न को, आप्नुवन्ति = प्राप्त कर लेते हैं, अन्नम् = अन्न, हि = ही, भूतानाम् = भूतों में, ज्येष्ठम् = ज्येष्ठ है, तस्मात् = इसलिये, सर्वौषधम् = सर्वौषध शब्द से, उच्यते = कहा जाता है।

व्याख्या—अन्न समस्त प्राणियों का उपकारक होने से ही श्रेष्ठ है, क्योंकि प्राण को अन्न द्वारा भोजन देने से सारी इन्द्रियाँ तृप्त ही जाती हैं। इसलिये सकल व्याधि निवर्त्तक होने से ही सर्वौषध पद से कहा जाता है। अन्न में ब्रह्मदृष्टि करने वाले उपासक का फल दिखलाते हैं—जो विद्वान् पुरुष 'अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्' इत्यादि प्रकार से अन्न ब्रह्म की उपासना करते हैं वे पूर्ण अन्न को प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्मदृष्टि हेतुभूत ब्रह्म की समता को बताते हैं—'अन्नं हि भूतानामि'त्यादि। सद्गृहस्थ व्यक्तियों को चाहिये कि वे अवश्य ही श्रीभगवान् के प्रीत्यर्थ अनाथ-भिक्षुक भूखे व्यक्तियों को अन्न-वस्त्रादि का दान करें तथा न्यायोपार्जित धन से परम पुरुष परमात्मा का यजन करें॥

अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—जननवृद्धिहेतुत्वमन्नब्रह्मणोः साम्यमित्यर्थः। अन्नशब्दस्य निरुक्तिमाह—अद्यत इति। अद्यते = भक्ष्यते भूतैरिति शेषः। अत्ति च भक्षयत्यपि, चकारः कर्मकर्तृव्युत्पत्त्योरन्नशब्दे समुच्चयार्थः। भूतान्यण्डजादीनि तस्माद्यतोऽद्यतेऽत्ति च भूतानि ततः। अन्नमन्नशब्दं तदन्नमुच्यते कथ्यते। इति श्लोको भवतीति सम्बन्धः।

एवमाकाशादेरन्नमयस्य स्थूलशरीरपर्यन्तस्य मन्त्रब्राह्मणोदितब्रह्मोपादानकत्वमात्मन आकाश इत्यात्मशब्दश्रवणात् तदन्तर्यामिकत्वं चोक्तं भवति। एवमाकाशादेरन्नमयशब्दितस्थूलशरीरपर्यन्तस्य ब्रह्मैवात्मोपादानं चेत्युक्त्या स आत्मा क इत्यपेक्षाया

आनन्दमय एव स आत्मेति दर्शयितुं स्थूलारुन्धतीन्यायेन स्थूलदेहवर्त्तिनं प्राणमयमा-त्मत्वेन दर्शयति। सूक्ष्मामरुन्धतीं दर्शयितुं प्रवृत्तः प्रथमत एव सूक्ष्माया अरुन्धत्याः प्रदर्शनासम्भवं पर्यालोच्य तत्समीपवर्त्तिनीं स्थूलतारकामियमेवारुन्धतीति दर्शयति। तस्यां स्थूलतारकायां श्रोतुररुन्धतीत्वबुद्धौ धृतायां तत्समीपवर्त्तिनीं वस्तुतोऽरुन्धतीं सूक्ष्मामियमेवारुन्धतीति दर्शयति। सोऽयं स्थूलारुन्धतीन्याय इत्यर्थः। तस्मादिति। तस्येदमेव शिर इत्युक्तमहिमोपेतादेतस्मात् श्लोकोक्तमहिमोपेतादन्नरसमयात् देहात् अन्यो या प्राणमयः स एवात्मन आकाशः सम्भूत इत्याकाशादिसर्वोपादानत्वेन तदन्तर्यामित्वेन च निर्दिष्ट आत्मा। तथा चोक्तं वेदान्तकौस्तुभे—'अनन्वयादिति चेत स्यादवधारणात्'। (ब्र.सू. ३।३।१७) इति सूत्रव्याख्यानावसरे तथाहि। ननु पूर्वत्रान्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। इत्यादावात्मशब्दस्यानात्मन्यन्वयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय इत्यत्रा-त्मशब्देन परमात्मनोऽग्रहणमिति चेत् परमात्मन आत्मशब्देन परिग्रहः स्यादेव कुतः अवधारणात् पूर्वत्रापि। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति प्रकृतं पर-मात्मानं बुद्धौ निधाय तत्स्वरूपगुणनिर्णयार्थं प्राणमयादौ परमात्मबुद्ध्यैवात्मशब्दान्व-यस्यावधारितत्वात्। तस्मादानन्दादीनां गुणानामेव गुणिस्वरूपनिरूपणस्य उपसंहारः। न प्रियशिरस्त्वादीनां तद्गुणानामिति भाषितम्। तथा चान्नमयादन्तरे प्राणमये प्रथमं परमा-त्मबुद्धिरवतीर्णा तदनन्तरं च प्राणमयादन्तरे मनोमये ततो विज्ञानमये तत आनन्दमय इत्याशयः। अत्र पञ्चवृत्तेः प्राणस्य प्राणनवृत्तिप्रचुरत्वात् प्राणमयत्वम्। तेनैष पूर्ण इति। तेन = प्राणमयेन आत्मना अयमन्नरसमय आत्मा पूर्णः। व्याप्त इति यावत्। निखिलस्य शरीरस्य प्राणव्याप्तत्वादिति भावः। स वा एष पुरुषविध एवेति। स वा एष अन्तरव-स्थितः प्राणमयः पुरुषविधः एव पुरुषाकार एवेत्यर्थः। हस्तपादादिमत्त्वेन पुरुषविधत्वभ्रमं निरस्यति। तस्यान्नमयस्य पुरुषविधत्वमनुकृत्य प्राणमयोऽपि पुरुषविध इत्यर्थः ॥५॥

सान्वयानुवाद—भूतानि = जन्तु, अन्नाद् = अन्न से, जायन्ते = उत्पन्न होते हैं, जातानि = उत्पन्न होकर, अन्नेन = अन्न द्वारा, वर्द्धन्ते = बढ़ते हैं, अद्यते = (भूतों द्वारा) खाया जाता है, च = और, भूतानि = भूतों को, अत्ति = (अन्न) खाता है, तस्मात् = इसलिये, तत् अन्नम् = वह अन्न, इति = ऐसा, उच्यते = कहा जाता है, तस्मात् वै = उस, एतस्मात् = इस, अन्नरसमयात् = अन्नरसमय से, अन्यः = भिन्न, अन्तरः = अन्दर में अवस्थित, प्राणमयः आत्मा = प्राणमय आत्मा है, तेन = उससे, एषः = यह, पूर्णः = व्याप्त है, सः वै एषः = वही यह, पुरुषविधः एव = पुरुषाकार ही है, तस्य = उसका, पुरुषविधताम् = पुरुषविधत्व, अन्वयम् = अनुगत, पुरुषविधः = पुरुषाकार है।

व्याख्या—अन्न से सब जीव उत्पन्न होते हैं, जन्म ग्रहण करके अन्न के द्वारा ही वर्द्धित होते हैं, दूसरे के आहार्य्य होते हैं एवं दूसरे को आहार करते हैं, अतएव उन सबों को अन्न शब्द से कहा जाता है। इस अन्नरसमय पुरुष से पृथक्, किन्तु उसी के अभ्यन्तर में प्राणमय पुरुष अवस्थित है, यह प्राणमय पुरुष ही अन्नमय के सम्बन्ध में आत्मा है। इसी प्राणमय के द्वारा ही अन्नमय पूर्ण (व्याप्त) है वह पुरुषाकार है।

अन्नमय पुरुष की भाँति उसके अनुरूप यह प्राणमय पुरुष विशेष है। इसपर भाष्यकार भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने बताया है—'अन्योऽन्तर आत्मा' इस श्रुत्युक्त आत्म शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण है। जिस प्रकार 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यहाँ पर आत्म शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण है ठीक वैसे ही (ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य ३।३।१६)। इसलिये आत्मा शब्द परमात्मा का वाचक है। उस प्राणमय आत्मा से यह अन्नरसमय आत्मा व्याप्त है। अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में प्राण व्याप्त है। वही यह भीतर में स्थित प्राणमय पुरुषाकार ही है। इसलिये अन्नमय में पुरुषाकारता को अनुकरण करके प्राणमय भी पुरुषाकार है ॥५॥

तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा ॥६॥ तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—तस्य प्राणमयस्य शिरः प्राण एव। तस्य पक्षिणः पक्षो दक्षिणो बाहुर्व्यानः। उत्तरः पक्षः सव्यबाहुरपानः। यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महानिति स्मृत्युक्तरीत्या वायुविकारभूतप्राणापानादिधारकत्वादाकाशस्यात्मत्वम्। पृथिव्यामाकाशस्य प्रतिष्ठितत्वादस्याः पुच्छत्वम्। प्राणमयस्य प्राणादिरूपार्थे श्लोकं प्रमाणयति-तदपीति ॥६॥

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायां द्वितीयोऽनुवाकः ॥२॥

सान्वयानुवाद—तस्य = उस (प्राणमय) का, शिरः = सिर, प्राणः एव = प्राण ही है, व्यानः = व्यान, दक्षिणः = दाहिना, पक्षः = पत्र है, अपानः = अपान, उत्तरः = बायाँ, पक्षः = पत्र है, आकाशः = आकाश, आत्मा = आत्मा है, पृथिव्याम् = पृथ्वी पर, पुच्छम् = पूँछ, प्रतिष्ठा = प्रतिष्ठा है, तत् = उस के बारे में, अपि = भी, एषः = यह, श्लोकः भवति = श्लोक है ॥

व्याख्या—उस प्राणमय का प्राणवायु सिर है, व्यान दक्षिणबाहु है, अपान उत्तर बाहु है, आकाश आत्मा है। तत्त्वप्रकाशिकाटीकाकार पृथिवी में सप्तमी विभक्ति का पाठ मानते हैं। उससे यहाँ अर्थ की सङ्गति नहीं बैठती है। हमारे परात्पर गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी सन्तदास जी काठियाबाबा की 'वेदान्तसुबोधिनी नाम्नी भाषा व्याख्या' में—'पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा पाठ है। पृथिवी पुच्छ—आश्रय-स्थान है। उसके सम्बन्ध में आगे बताया जानेवाला यह श्लोक (मन्त्र) है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥२॥

•

अथ तृतीयोऽनुवाकः

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये।
प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते॥
सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते।
प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति।
तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥

तत्त्वप्रकाशिका—देवाः प्राणम् अनुप्राणन्ति = चेष्टन्ते, मनुष्याः = मनुजाः, पशवश्च = गवाद्याः। चकारः सर्वशरीरसंग्रहार्थः। एते प्राणाधीनजीवना इत्यर्थः। प्राणाः हि = यस्मात् भूतानामण्डजादीनाम्। आयुर्जीवनं कारणं तस्मात् यस्मादायुस्ततः सर्वायुषम्। सर्वभूतायुर्हेतुत्वात् सर्वेषामायुरित्युच्यत इत्यर्थः। प्राणोपासकस्य फलं निर्दिशति—सर्वमेवेति। येऽधिकारिणः प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति प्रकारेण प्राणे ब्रह्मदृष्टिं कुर्वन्ति ते सर्वे सर्वमायुः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। एवं प्राणमय आकाशाद्यन्नमयान्तस्यात्मत्वबुद्धिमवतार्य बुद्धिं निवर्तयति—तस्यैष इति। पूर्वस्य = अन्नमयस्य, आत्मैष एव तस्य = प्राणमयस्य आत्मेत्यर्थः। शारीरः = शरीरसम्बन्धी आत्मा। अनेनात्मशब्दस्य स्वरूपार्थभ्रान्तिर्निरस्ता भवति। ततश्चान्नमयप्राणमयावेकात्मकौ न त्वन्नमयस्य प्राण आत्मेत्यर्थः॥

सान्वयानुवाद—ये = जो, देवाः = देवता, मनुष्याः = मानव, च = और, पशवः = गौ आदि, प्राणम् = प्राण के सहारे, अनुप्राणन्ति = चेष्टाएँ करते हैं अर्थात् जीते रहते हैं, हि = क्योंकि, प्राणः = प्राण, भूतानाम् = अण्डज आदि जीवों की, आयुः = आयु है, तस्मात् = इसलिये, सर्वायुषम् = सबका आयु, उच्यते = कहा जाता है। प्राणाः हि = प्राण ही, भूतानाम् = चतुर्विध जीवों की, आयुः = आयु है, ये = जो, प्राणम् ब्रह्म = प्राणस्वरूप ब्रह्म की, उपासते = उपासना करते हैं, ते = वे, सर्वम् एव = सम्पूर्ण, आयुः = आयु को, यन्ति = प्राप्त कर लेते हैं, तस्य = उसका, एषः = यह, शारीरः = शरीर सम्बन्धी, आत्मा = आत्मा, यः = जो, पूर्वस्य = पहले अन्नमय का आत्मा है वही॥

व्याख्या—अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज इन चार प्रकार के भूत-प्राणियों की आयु (जीवन) प्राण ही है। ये चतुर्विध जीव प्राण के सहारे ही जी रहे हैं। इस सम्पूर्ण जगत् में ये ही चार प्रकार के जीव होते हैं।

'अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र'।
(श्रीमद्भागवत ११।३।३९)

आदित्यादि देवगण भी जीव हैं। यथा—

"आदित्यादिजीववर्गादन्योऽस्ति परमात्मा, कुतः ?
'आदित्ये तिष्ठन्नि'त्यादिना भेदव्यपदेशात्"। (ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य १।१।२२)

प्राण भी ईश्वर का ही रूप है।

'प्राणो हि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत्' ॥

जो लोग प्राणरूपी ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे दीर्घायु को प्राप्त करते हैं, प्राण ही प्राणमात्र की आयु है, अतएव प्राण को 'सब की आयु' इस प्रकार कहा जाता है। अन्नमय का जो आत्मस्वरूप है, वही प्राण है। उस प्राणमय की आत्मा है और यह प्राणमय शरीर सम्बन्धी पुरुष-देह है। जैसे सेवक अपने स्वामी राजा के पीछे-पीछे चलते हैं, ठीक वैसे ही सबों के शरीरों में प्राण के प्रबल रहने पर ही सारी इन्द्रियाँ सक्रिय-प्रबल रहती हैं और जब वह सुस्त पड़ जाता है तब सारी इन्द्रियाँ भी सुस्त हो जाती हैं॥ (श्रीमद्भागवत २।१०।१६)

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—तर्ह्यन्नमयप्राणमययोः क आत्मेति जिज्ञासायामाह—तस्मादिति पूर्ववद् व्याख्येयम्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। अत्र प्राचुर्य्यार्थे मयट्। मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यान्तःकरणवृत्तिषु मनोवृत्तेः प्राचुर्य्यात्। तेन मनोमयेन एषः प्राणमयः पूर्णः। स वा एष मनोमयः पुरुषविध एव = पुरुषाकृतिरेव। तस्य = प्राणमयस्य। पुरुषविधतामनुकृत्य। मनोमयोऽपि पुरुषविध इत्यर्थः। मनोमयस्य शिर आदिकमाह—तस्येत्यादिना। तस्य = मनोमयस्य यजुर्वेदविषयज्ञानजनकमनोव्यापारः शिर इत्यर्थः। मुख्यार्थस्य यजुर्वेदस्य मनःसम्बन्ध्यभावेन मनसः शिरोरूपेणासम्भवात्। एवमुत्तरत्रापि। ऋग् दक्षिणः पक्षः = दक्षिणो बाहुः। साम उत्तरः पक्षः = वामबाहुः। आदेश आत्मा। इदं कुर्विदं मा कार्षीरिति विधिनिषेधरूपं रहस्यानुशासनमादेश इत्यर्थः। अत्र तज्जन्यज्ञानहेतुभूतान्तःकरणवृत्तिरादेशशब्देन उच्यते। अथर्वाङ्गिरसः अथर्वाङ्गिरसा दृष्टा मन्त्राः प्रतिष्ठाहेतुभूतं पुच्छमित्यर्थः। अत्रापि अथर्वाङ्गिरःशब्दस्तज्जन्यज्ञानहेतुभूतमनोव्यापारः। तदेष इति पूर्ववत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायां तृतीयोऽनुवाकः ॥३॥

सान्वयानुवाद—वै = निश्चयार्थ, तस्मात् = उस, एतस्मात् = इस, प्राणमयात् = प्राणमय से, अन्यः = भिन्न, अन्तरः = भीतर में स्थित, आत्मा = आत्मा (मनोमय) है, तेन = उससे, एषः = यह, पूर्णः = व्याप्त है, सः = वह, एषः

वै = यह, पुरुषविधः = पुरुष के आकार का, एव = ही है, तस्य = उसके, पुरुषविधताम् = पुरुषाकारत्व को (अनुकरण करके), पुरुषविधः = पुरुषाकृति, अन्वयः = अनुगत है, तस्य = उसका, यजुरेव = यजुर्वेद ही, शिरः = सिर है, ऋग् दक्षिणः = ऋग्वेद दाहिना, पक्षः = पक्ष है, साम = सामवेद, उत्तरः = बायाँ, पक्षः = पत्र है, आदेशः = आदेश, आत्मा = आत्मा है, अथर्वाङ्गिरसः = अथर्वा और अङ्गिरा ऋषि द्वारा देखे गये मन्त्र, पुच्छम् = पूँछ (तथा) प्रतिष्ठा = आधार है, तत् = उसके सम्बन्ध में, अपि = भी, एषः = यह, श्लोकः भवति = मन्त्र है।

व्याख्या—प्राणमय से पृथक् उसके अभ्यन्तर मनोमय अवस्थित है। यही मनोमय पुरुष ही प्राणमय के सम्बन्ध में आत्मा है। अन्नमयादि शब्द मयट् प्रत्ययान्त है, यहाँ मयट् प्रत्यय प्राचुर्य्य अर्थ में हुआ है। महामुनि पाणिनि ने प्राचुर्य्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय का विधान किया है। मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त नामक अन्तःकरण-वृत्तियों में मनोवृत्ति का प्राचुर्य्य है। उस मनोमय से यह प्राणमय पूर्ण है। वही यह मनोमय पुरुष की आकृति ही है। प्राणमय के समान उसके अनुरूप मनोमय भी पुरुष-विशेष है। उस मनोमय का यजुर्वेद विषयक ज्ञानजनक मनोव्यापार मस्तक है। ऋग्वेद दाहिना बाहु है। सामवेद बायाँ बाहु है। 'यह करो, यह मत करो' इस प्रकार विधि-निषेध रूप रहस्य अनुशासन आदेश है। मन्त्रद्रष्टा अथर्वा और अङ्गिरा प्रतिष्ठा के कारण रूप पुच्छ (पूँछ) आधार है अर्थात् आश्रय-स्थान है। इस सम्बन्ध में आगे बताया जानेवाला मन्त्र है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥३॥

•

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्त्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—यतः = यस्माद् ब्रह्मानन्दाद्वाचः मनसा सहाप्राप्य साकल्ये-नाप्रतिपाद्य निवर्त्तन्ते तादृशं ब्रह्मानन्दं दृश्यते, त्वग्रया बुद्ध्या मनसा तु विशुद्धेन मनसा ज्ञात्वा कदापि न बिभेतीत्यर्थः। अत्र ब्रह्मानन्दस्याशुद्धमनसाग्राह्यत्वेऽपि शुद्धमनो-ग्राह्यत्वेन मनोविषयत्वमस्तीति द्रष्टव्यम्।

तस्यैष इति पूर्वस्य प्राणमयस्य य आत्मा स एव मनोमयस्यात्मा। एवञ्चान्न-मयप्राणमयमनोमयानामेक आत्मैकम्भवति। स क इत्यपेक्षायामाह–तस्माद्वेति। अत्र मनोमयो जीवो न बुद्धिमात्रम्। मयट्प्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतेः। तेन विज्ञानमयेन एषः मनोमयः पूर्णः। स वा एष विज्ञानमयः पुरुषविध एव = पुरुषाकृतिरेव। तस्य विज्ञान-मयस्य शिरोबाह्वादिकमाह–तस्येत्यादिना। तस्य शिरः श्रद्धैव श्रद्धाऽऽस्तिक्यसम्पन्न-बुद्धिवृत्तिः। ऋतं शास्त्रार्थविषये मानसव्यापारविषयावृत्तिः। सत्यं तस्मिन्नेव वाक्का-याभ्यामनुष्ठीयमाने तद्विषयावृत्तिः। ब्राह्मणे त्वामहसे, ओमित्यात्मानं युञ्जीतेति। विहित-ज्ञानविशेषो योगशब्देनोच्यते। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। योगविरोधिनिरसनसामर्थ्य-लक्षणं महः पुच्छमित्यर्थः।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य
तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां चतुर्थोऽनुवाकः ॥४॥

सान्वयानुवाद—यतः = जहाँ से, मनसा सह = मन के साथ, वाचः = वाणी, अप्राप्य = उसे न पाकर, निवर्त्तन्ते = लौट आती है। ब्रह्मणः = ब्रह्म के, आनन्दम् = आनन्द को, विद्वान् = जाननेवाला व्यक्ति, कदाचन = कभी, न बिभेति = भय नहीं करता, इति = यह श्रुतियों का अटल सिद्धान्त है। तस्य = उस मनोमय पुरुष का, एषः एव = यही, शारीरः = स्वरूप है, यः = जो, पूर्वस्य = पहले कहा गया है। आत्मा = चेतन है। वै = निश्चयार्थे, तस्मात् = उस, एतस्मात् = इस, मनोमयात् = मनोमय से, अन्यः = भिन्न, अन्तरः = अभ्यन्तर, आत्मा विज्ञानमयः = आत्मा विज्ञानमय है, तेन = उससे, एषः = यह, पूर्णः = पूर्ण है, सः = वह, एषः = यह, वै पुरुषविध एव = पुरुषाकृति ही है। तस्य = उसकी, पुरुषविधताम् अन्वयः = पुरुषाकृति अनुगत है, पुरुषविधः = पुरुषाकार, तस्य = उसके, श्रद्धा एव = श्रद्धा ही, शिरः = सिर है, ऋतम् = प्रिय मधुर वाणी, दक्षिणः = दाहिना, पक्षः = पंख है, सत्यम् = सत्य, उत्तरः = बायाँ, पक्षः = पंख है, योगः = योग, आत्मा = आत्मा है, महः = मह, पुच्छम् = पूँछ, प्रतिष्ठा = आश्रयस्थान है, तत् = उसके सम्बन्ध में, अपि = भी, एषः श्लोकः भवति = यह मन्त्र है ॥

व्याख्या—जिसे प्राप्त न होकर मन के सहित वाक्य निर्वर्तित होते हैं, उसी परब्रह्म के आनन्द को जिसने जान लिया है या प्राप्त कर लिया है, उसे किसी से कदापि भय प्राप्त नहीं होता। यह मन्त्र श्रीमद्भागवत (३।६।४०) में भी देखने को मिलता है—

'यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः' ॥

जिसे वाणी मन के सहित सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादन न करके जहाँ से लौट आती है, उस भगवान् को हम सब सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं। क्योंकि वह परब्रह्म परमात्मा अवाङ्मनसगोचर है। जो प्राणमय का अन्तरात्मा स्वरूप है, वही मन इस मनोमय पुरुष का शरीर (स्वरूप) है। यह मनोमय से पृथक् है। उसके भीतर विज्ञानमय

अवस्थित है। इस प्रकार अन्नमय, प्राणमय और मनोमय एक आत्मा है। यहाँ विज्ञानमय आत्मा जीव है, बुद्धिमात्र नहीं। उस विज्ञानमय से यह मनोमय पूर्ण है। उस विज्ञानमय के सिर, बाहु आदि को बताते हैं—उसका सिर श्रद्धा ही है, श्रद्धा नाम आस्तिक्य सम्पन्न बुद्धि वृत्ति का है। ऋत नाम शास्त्रार्थ के विषय में मानस व्यापार विषयिणी वृत्ति का है। सत्य नाम से उसी में ही वाणी और शरीर द्वारा अनुष्ठीयमान उसकी विषयिणी वृत्ति है। योग आत्मा है—'परो हि योगो मनसः समाधिः' ऐसा कहा गया है। योग विरोधी निरसन सामर्थ्य लक्षण मह पुच्छ है ॥

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥४॥

•

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति।

तत्त्वप्रकाशिका—विज्ञानं = प्रत्यगात्मा। 'कृत्यल्युटो बहुलमि'ति सूत्रात् नन्द्यादित्वाद् वा जानातीत्यर्थे ल्युडाश्रीयते। न चात्र विज्ञानपदस्य बुद्धिपरत्वं युज्यते, यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चेति प्रतिपादितलौकिकवैदिककर्मकर्तृत्वासम्भवात्। य आत्मनि तिष्ठन्निति माध्यन्दिनपाठगतात्मशब्दस्थाने यो विज्ञाने तिष्ठन्निति काण्वपाठ-दर्शनाद्विज्ञानशब्दो जीवात्मपर इति भावः। सर्वे देवा विज्ञानं = प्रत्यगात्मस्वरूपमेव प्रधानशब्दितादधिचेतनाद् ब्रह्मणोऽपि ज्येष्ठं प्रजापतिविद्योक्तरीत्योपासते। एवं वेत्तुः फलमाह—विज्ञानं ब्रह्म चेदिति। चेद्यदि कश्चिद् विज्ञानरूपं ब्रह्म वेद। तस्माच्च जीवात् न प्रमाद्यति कदापि प्रमादयुक्तो न भवति। शरीरे पाप्मनो हित्वा = क्षपयित्वा देहे वर्त्तमान एव विनष्टाश्लिष्टपूर्वोत्तराघः सर्वान् कामान् सम्यगश्नुत इत्यर्थः॥

सान्वयानुवाद—विज्ञानम् = ज्ञानस्वरूप जीव, यज्ञम् = यज्ञ का, तनुते = विस्तार करता है, चापि = और भी, कर्माणि = कर्मों का, तनुते = विस्तार करता है, सर्वे = समस्त, देवाः = देवता, विज्ञानम् = प्रत्यगात्मस्वरूप है, (वे) ज्येष्ठम् ब्रह्म = ज्येष्ठ ब्रह्म की, उपासते = उपासना करते हैं, चेत् = अगर कोई, विज्ञानं ब्रह्म = जीव ब्रह्म को, वेद = जानता है, तस्मात् चेति = उससे भी, न प्रमाद्यति = प्रमाद नहीं करता है, पाप्मनः = पापों को, शरीरे = शरीर में, हित्वा = समूल नाश कर, सर्वान् कामान् = सारी कामनाओं को, समश्नुते = प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—यहाँ पर विज्ञान पद का बुद्धिपरक अर्थ नहीं है। 'यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च' इस प्रकार प्रतिपादित लौकिक-वैदिक कर्मकर्तृत्व उसमें असम्भव है। जो विज्ञान में रहता है—इस प्रकार काण्वपाठ में देखा जाता है कि विज्ञान शब्द जीवात्मपरक है। अतः यहाँ विज्ञान शब्द जीवात्मबोधेच्छया उच्चारित है। यदि कोई

विज्ञानरूप ब्रह्म को जानता है वह उससे कभी भी प्रमादयुक्त नहीं होता है। क्योंकि कपिलदेवजी ने कहा है—'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति'। वही ईश्वर भगवान् पूर्ण ब्रह्म सब जीवों में जीव रूप से स्थित है। वह शरीर में पापों को छोड़कर सभी विषयभोगों को भोगता है तथा दिव्य सुख का अनुभव करता है।

तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः सः। वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥

तत्त्वप्रकाशिका—पूर्वस्य तस्य मनोमयस्य य एष विज्ञानमयः शारीर आत्मा। एतस्माद्विज्ञानमयाज्जीवादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः नारायणो वासुदेवः। तेनानन्दमयेन एष विज्ञानमयः पूर्णः। स वा एष आनन्दमयः। तस्यानन्दमयस्य। अयं विज्ञानमयः। आनन्दमयस्य परब्रह्मणो वासुदेवस्य शिरोबाह्वादिकमाह—तस्येत्यादिना। तस्य शिरः प्रियम्। इष्टवस्तुदर्शनजन्यं सुखम्। दक्षिणः पक्षो दक्षिणबाहुः, मोदः = तल्लाभजन्यं सुखम्। उत्तरः पक्षः सव्यबाहुः प्रमोदः। लब्धस्योपभोगजन्यं सुखम्। आत्मा = मध्यकायः। आनन्दः = सुखातिशयः। न चैकस्य ब्रह्मणः पुच्छत्वेन मध्यकायत्वेन च निरूपणं कथमिति वाच्यम्। एकस्यैव परब्रह्मणो वासुदेवस्य ब्रह्मरूपत्वेन पुच्छत्वम्। आनन्दत्वेन रूपेण मध्यकायत्वमित्युपपत्तेः। तदप्येष श्लोक इति पूर्ववत्॥

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायां पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥

सान्वयानुवाद—पूर्वस्य = पहले, तस्य = उस मनोमय का, यः = जो, एषः = यह, एव = ही, शारीरः = शरीर सम्बन्धी, आत्मा = स्वरूप है, वै = निश्चयार्थ, तस्मात् = उस, एतस्मात् = इस, विज्ञानमयात् = विज्ञानमय से, अन्यः = भिन्न, अन्तरः = अभ्यन्तर, आत्मा आनन्दमयः = आत्मा आनन्दमय है, तेन = उससे, एषः = यह, पूर्णः = पूर्ण है, सः = वह, एषः = यह, वै = निश्चय ही, पुरुषविधः = पुरुषाकार, एव = ही है, तस्य = उस आनन्दमय का, पुरुषविधः = पुरुषाकार, अन्वयम् = अनुगत है, तस्य = उसका, प्रियम् = प्रिय, एव = ही, शिरः = सिर है, मोदः = मोद, दक्षिणः = दाहिना, पक्षः = पत्र है, प्रमोदः = प्रमोद, उत्तरः = बायाँ, पक्षः = पत्र है, आनन्दः = आनन्द, आत्मा = आत्मा है, ब्रह्म = ब्रह्म, पुच्छम् = पुच्छ, प्रतिष्ठा = आश्रयस्थान है, तत् = उसके सम्बन्ध में, अपि = भी, एषः श्लोकः भवति = यह श्लोक है।

व्याख्या—पहले बताये गये उस मनोमय का जो यह विज्ञानमय शारीर आत्मा है। इस विज्ञानमय (ज्ञानस्वरूप) जीव से अन्य सभी प्राणियों के हृदयपुण्डरीक में रहने वाले आत्मा आनन्दमय नारायण वासुदेव ही है। उस आनन्दमय से यह विज्ञानमय पूर्ण है। वही यह पुरुषाकार ही है। उस आनन्दमय का यह विज्ञानमय है। आनन्दमय पर-ब्रह्मस्वरूप वासुदेव के सिर, बाहु आदि को श्रुति दिखाती है—तस्येत्यादि द्वारा। भगवान् श्रीवासुदेव की त्रिगुणात्मिका माया से अस्पृष्ट चिद्घन-ज्ञानघन नित्य सच्चिदानन्द श्रीविग्रह है। ऐसा ही श्रुति में सुना जाता है—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः'। (छान्दोग्योपनिषद् १।६।७) सूर्यमण्डल के भीतर जो यह पुरुष दीखता है उसका श्मश्रु, केश और नखपर्यन्त समस्त अङ्ग ही हिरण्मय है, दिव्य है। श्रुति के 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' वाक्य का अर्थ अन्नमयादि वाक्यों के अन्त में जो 'पुच्छं प्रतिष्ठा' शब्द है उसके अनुरूप अर्थ अवश्य ही करना होगा, अन्य अर्थ नहीं होता है। अतः 'पुच्छ' शब्द का अर्थ है पुच्छ देश, जिसके ऊपर जीव उपवेशन करता है, बैठता है। इसलिये 'पुच्छं प्रतिष्ठा' वाक्य उक्त हुआ है। (निम्बार्कवेदान्त का संक्षिप्त सार, पृ. १४८)

•

अथ षष्ठोऽनुवाकः

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।

तत्त्वप्रकाशिका—आनन्दमयं ब्रह्म असत्त्वेन ये विदुः ये च सत्त्वेन विदुस्त-दुभयोः फलं वक्तुमाह—असन्नेवेति। ब्रह्मशब्देनानन्दमय एवोच्यते प्रागुपदिष्टानां श्लोकानां पुच्छवदानन्दविषयकत्वदर्शनादस्यापि श्लोकस्य तथात्वं वाच्यं, न तु ब्रह्मपुच्छमिति निर्दिष्टतदेकदेशविषयत्वं तथा च ब्रह्म आनन्दमयरूपमसदिति चेत् यदि वेद। अत्र सर्वत्रापि एकवचनं बहुवचनार्थे। विदुः। ते वेत्तारः असन्नेव भवति। असन्तः = दुःखिनो भवन्ति। तम आलयाः भवन्तीति यावत्। ब्रह्मानन्दमयरूपमस्तीति चेद्यदि वेद विदुः तर्हि एतान् वेत्तॄन् ततः सम्यग्वेत्तृत्वादेव सन्तं सतः सुखिनो मोक्षयोग्यानिति यावत् इति ज्ञानिनो विदुरित्यर्थः। इति श्लोको भवतीति सम्बन्धः। आनन्दमयस्य ब्रह्मणः आकाशादिविज्ञानमयान्तःपदार्थान्तर्यामितया निर्दिष्टस्यात्मान्तरं नास्ति, किमिति शङ्कां व्युदस्यति—तस्यैष इति। विज्ञानमयान्तःपदार्थस्यात्मभूत एवानन्दमय आत्मा तस्यानन्दमयस्यास्यात्मेत्यर्थः। ततश्चानन्यात्मकत्वमुक्तं भवति, न च पूर्वपर्य्यायेषु तस्यैष एव शारीर आत्मेत्यस्यानन्यात्मकत्वप्रतिपादत्वादर्शनादस्मिन्नपि पर्याये तदाश्रयणेऽर्थवैरूप्यं स्यादिति शङ्क्यम्। पूर्वेषु पर्यायेष्वनुक्तस्य ब्रह्मावयवत्वस्येह निरूपणात्तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति निर्देशाभावात् चैतत्पर्यायस्य तस्यैष एव शारीर आत्मेत्यस्यानन्यात्मत्वमेवार्थः।

सान्वयानुवाद—चेत् = अगर (कोई), ब्रह्म = ब्रह्म, असत् = असत् है, इति = इस प्रकार, वेद = समझता या जानता है, सः = वह (व्यक्ति), असत् = असत्, एव = ही, भवति = हो जाता है, चेत् = अगर (कोई), ब्रह्म अस्ति = ब्रह्म है, इति = इस प्रकार, वेद = जानता है, ततः (तु) = तो, एनम् सन्तम् = इसको सत्पुरुष, विदुः = समझते हैं। इति = यह, बिल्कुल सच बात है। तस्य = उस आनन्दमय का, एषः = यह, एव = ही, शारीरः = शरीर सम्बन्धी, आत्मा = स्वरूप है, यः = जो, पूर्वस्य = पहले कहा गया है।

व्याख्या—जो व्यक्ति आनन्दमय ब्रह्म को असद्रूप से समझते हैं और जो सद्रूप से जानते हैं उन दोनों का फल बताते हैं—ब्रह्म शब्द से आनन्दमय ही कहा जाता है, ब्रह्म ही आनन्दमय शब्द का अर्थ है। उस आनन्दमय ब्रह्म को जो असत् (अस्तित्वविहीन) जानता है—इस नास्तिकता के कारण ही वे हतभाग्य दुःखी हो जाते हैं। वह सच्चिदानन्दस्वरूप आनन्दमय सद्ब्रह्म है—ऐसा जो जानते हैं वे सत् हैं। अर्थात् उन्हें कविजन सज्जन (सत्पुरुष) कहते हैं।

अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित् समश्नुता३उ। सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्।

तत्त्वप्रकाशिका—आनन्दब्रह्मप्रतिपादनानन्तरं ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रमाभिहितप्राप्तिविशदीकरणार्थमनुप्रश्नानाह—अथशब्दः प्रकरणान्तरारम्भद्योतनार्थः। आनन्दमयब्रह्मनिरूपणानन्तरं प्रकरणान्तरमारभ्यते। अतः ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वाक्येन ब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तेरुक्तत्वात् तच्छ्रुतवता वरुणेन चतुर्मुखं प्रति अनुप्रश्नास्तत्त्वनिर्णयानुकूलाः प्रश्नाः कथ्यन्ते। तानेव विशदयति—उतेति। ब्रह्मविदिति निरवधारणोक्तेः कश्चनाविद्वानुत। एकवचनं बहुवचनार्थे। अज्ञानिनोऽपि प्रेत्य = मृत्वा, अमुं लोकं = परलोकं वैकुण्ठादिस्थं परब्रह्मेति यावत्। गच्छति = गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। आहोस्वित् विद्वान् = ज्ञानिन एवामुं लोकं प्रेत्य गच्छन्त्येवं द्विकोटिक एकः प्रश्नः। ज्ञानिन एव ब्रह्म प्राप्नुवन्तीति पक्षेऽपि ज्ञानिनो ब्रह्म प्राप्नुवन्ति अथ केचनैवेति द्विकोटिको द्वितीयः प्रश्नोऽध्याहार्यः।

सर्वेऽपि ज्ञानिनो ब्रह्म प्राप्नुवन्तीति पक्षेऽपि किं सर्वेऽपि ज्ञानिनो ब्रह्म सम्यक् प्राप्नुवन्ति मुक्तौ भोग्यभूतं ब्रह्मानुभवन्तीति यावत्, उत ब्रह्मरूपेणैकीभवन्तीत्यर्थसिद्धः प्रश्नः। एतत्सर्वं बादरायणाचार्यैरुपासात्रैविध्यादिति सूत्रे स्पष्टमुक्तम्। एतान् प्रतिवक्तुं जगत्स्रष्टृत्वसर्वदेवादिभयप्रदत्वमुक्तिप्रदत्वादिना रूपेण ब्रह्मणः प्राप्यत्वज्ञापनायाह—सोऽकामयत इति। स आनन्दमयः परमात्मा अकामयत। कामनाप्रकारमेवाह-बहु स्यामिति। अहमादौ प्रजायेय देवमनुष्यादिरूपेण प्रादुर्भवानि नियम्यं जगच्च स्यात्, तदनन्तरं त्यदादिशब्दवाच्यब्रह्मादिजगन्नियामकतया अहं बहुरूपः स्याम् इत्यकामयत,

एवं कामनानन्तरं सः प्रलयकालगो वासुदेवस्तपोऽतप्यत स्रष्टव्यालोचनरूपं तपः कृतवान्। स तपस्तप्त्वा स्वोदरस्थं जगदालोच्य। अनन्तरं यदिदं किञ्चित् जगत् सत्यादिशब्दवाच्यं तदिदं सर्वमसृजत। तत्सृष्ट्वा तन्नियामकतया स्वयमपि बहुरूपो भूत्वा सृष्टं तदेव जगदनुप्राविशत। सर्वव्याप्तस्य ब्रह्मणः प्रत्येकं सर्ववस्तुषु पुष्कलप्रतीत्यर्हस्थितिविशेष एवानुप्रवेशः।

सान्वयानुवाद—अथ = इसके बाद, अर्थात् दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है, अतः = यहाँ से, अर्थात्—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस वाक्य से, अनुप्रश्नाः = तत्त्व-निर्णय के अनुकूल प्रश्न किये जाते हैं। उत = क्या, कश्चन = कोई व्यक्ति, प्रेत्य = मरकर, अमुम् लोकम् = उस लोक में, गच्छति = जाता है, अविद्वान् = अज्ञानी अज्ञ व्यक्ति, आहो = अथवा, कश्चित् = कोई, विद्वान् = ज्ञानवान् पुरुष, प्रेत्य = मरकर, अमुम् लोकम् = उस लोक को, समश्नुते = प्राप्त होता है, सः = उस परमात्मा ने, अकामयत = कामना की, बहु स्याम् = बहुत हो जाऊँ, प्रजायेयेति = मैं प्रजा रूप से प्रकट हो जाऊँ, सः = उसने, तपः अतप्यत = तपस्या की, सः = उसने, तपः तप्त्वा = तप करके, यत् किञ्च = जो कुछ, इदम् = यह जगत्, इदम् सर्वम् असृजत = इस समस्त जगत् का सर्जन किया, तत् सृष्ट्वा = उसकी सृष्टि करके, तत् एव अनुप्राविशत् = वही नियामक रूप से स्वयं भी बहुत रूप होकर सृष्ट जगत् में प्रवेश किया है।

व्याख्या—अनन्तर शिष्य आचार्य से इस प्रकार प्रश्न करते हैं—क्या कई अविद्वान् (अज्ञ) व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त उस परलोक को प्राप्त होते हैं अर्थात् वैकुण्ठ आदि में स्थित परब्रह्म को प्राप्त होते हैं? अथवा कई विद्वान् (ज्ञानी) व्यक्ति क्या मृत्यु के बाद उस परलोक को प्राप्त होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रुति कहती है—उस आनन्दमय परमात्मा ने इच्छा की, मैं अनेक रूप में उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊँ, प्रजारूप से मेरा प्रकाश हो। उसने ऐसा ध्यान किया, ध्यान करके यह समस्त जो कुछ हैं उसकी सृष्टि की और सर्जन कर उसमें प्रविष्ट हुआ। यह मन्त्र श्रीमद्भागवत में अनेक स्थान पर आया है।

> यथा—'सृष्ट्वाऽनुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
> नानेव दारुषु विभावसुवद् विभासि'। (श्रीमद्भागवत ४।९।७)
> 'यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
> सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः'। (श्रीमद्भागवत १०।४९।२९)

अग्नि वस्तुतः एक ही है, परन्तु वह जैसे तरह-तरह की लकड़ियों में प्रकट होती है, ठीक वैसे ही हे भगवन्! आप जगत् का सर्जन कर उसमें अन्तर्यामिरूप से प्रवेश कर जाते हैं। फिर इसके बाद असद्गुणों में नानारूप धारण कर सूर्य की भाँति भासित हो रहे हैं। यही बात दशम स्कन्ध में भी कही गयी है।

तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयनञ्चा-

निलयनञ्च। विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च। सत्यञ्चानृतञ्च। सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्द-वल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—तत् = ब्रह्म, जगदनुप्रविश्य सच्च = चेतनं, त्यच्च = विकारास्पदमचेतनमभवत्। ब्रह्मैव चेतनाचेतननामरूपभाग्भवतीत्यर्थः। यदि प्रपञ्चं प्रति ब्रह्मण उपादानकारणत्वं स्यात्तदा विकारित्वं स्यादित्याशङ्क्याह—निरुक्तञ्चेति। जातिगुणाभिधायिशब्दवाच्यमचेतनं निरुक्तम्। तच्छून्यं चेतनजातमनिरुक्तम्। एता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिता इत्युक्तरीत्याऽचेतनवर्गाधारभूतं चेतनजातं निलयनम्। आश्रितमचेतनजातं त्वनिलयनम्। विज्ञानं चेतनमविज्ञानं तद्रहितमचेतनम्। निर्विकारतया सत्यत्वं चेतनस्याचेतनस्य न तथात्वम्। निरुक्तत्वनिलयनत्वविज्ञानत्वयुक्तसत्यानृतशब्दितचेतनाचेतनं नामरूपभाग्भवदपि ब्रह्म सत्यमेवाभवत्। अजहन्निर्विकारत्वलक्षणस्वभावमेवाभवदित्यर्थः। यदिदमिति। यस्माच्चेतनाचेतनात्मकवर्गानुप्रविष्टतया सत्यशब्दवाच्यस्य ब्रह्मण आत्मत्वमत एव सर्वमपि चेतनाचेतनात्मकं जगच्छास्त्रदृष्टिमन्तः पुरुषाः पराशरादयः 'हरेर्न किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति ज्योतींषि विष्णुर्भवनानि विष्णुः' इत्याचक्षत इत्यर्थः। उक्तार्थे सम्मतितया श्लोकमुदाहरति—तदपीति। तत्रापि देवमनुष्यादिरूपेण भवने एषः वक्ष्यमाणः श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायां षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥

सान्वयानुवाद—तत् = वह ब्रह्म, अनुप्रविश्य = जगत् में अनुप्रवेश करके, सत् च = चेतन और, त्यत् च = विकारास्पद अचेतन, अभवत् = हो गया, निरुक्तं च = निर्वचन किया गया और, अनिरुक्तं च = सम्पूर्ण निर्वचन करना सम्भव नहीं, निलयनम् = निवासस्थान, च = और, अनिलयनम् = घर-द्वार राज्यहीन, च = और, विज्ञानम् = चेतन, च = और, अविज्ञानम् = उससे रहित जड़ वस्तु, सत्यम् = सत्य, च = और, अनृतम् = झूठ, सत्यम् अभवत् = सत्य हो गया, यत्किञ्च = जो कुछ, इदम् = यह जगत्, तत् = वह, सत्यम् = सत्य है, इति = इस प्रकार, आचक्षते = विद्वान् पुरुष कहते हैं, तदपि = उस सम्बन्ध में भी, एषः = यह, श्लोकः भवति = कहा जानेवाला मन्त्र है।

व्याख्या—उस परब्रह्म ने इस जड़-चेतनरूप जगत् में प्रवेश किया। प्रविष्ट होकर वह स्थूल-मूर्त्त और सूक्ष्म-अमूर्त्त (व्यक्त और अव्यक्त) रूपों से प्रकाशित हुआ, देहादि-आश्रय विशिष्ट तथा उससे अतीत हुआ, विज्ञान एवं अविज्ञान हुआ, सत्य एवं अनृत हुआ। वही सत्यस्वरूप परमात्मा सब ओर से दिखाई देनेवाला सब कुछ हुआ है, इसलिये उसे 'सत्य' ऐसा मनीषी व्यक्ति कहते हैं। पृथ्वी, जल और तेज मूर्त्त तथा

वायु और आकाश अमूर्त पदार्थ हैं। जड़ और चेतन सब ब्रह्मस्वरूप है, उससे कुछ अलग नहीं है। ऐसा ही कहा गया है—

'भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन'। (श्रीमद्भा. १०)

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥६॥

•

अथ सप्तमोऽनुवाकः

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मान ँ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

तत्त्वप्रकाशिका—इदं = स्थूलं चेतनाचेतनशरीरकं ब्रह्मानभिव्यक्तनामरूपं सृष्टेः प्रागासीत्। तस्मादिदं जगदभिव्यक्तनामरूपमभवदित्यर्थः। नन्वसच्छब्दितस्य ब्रह्मण उपादानत्वे कर्त्रन्तरमपेक्षितं निमित्तोपादानयोर्भेदावश्यम्भावादित्याशङ्क्याह—तदात्मानमिति। अन्तरात्मानमेवोपादानत्वेन स्वीकृत्य स्वयमेवाकुरुत यस्मात्तस्मादेव हेतोः ब्रह्म सुकृतमुच्यते, सुसम्यक् विश्वात्मना स्वरूपं कृतमित्यर्थः। इति श्लोको भवतीति सम्बन्धः। भवतु तावत् सुकृतत्वं ब्रह्मणस्तस्योपास्यत्वप्राप्यत्वयोः किमायातमित्यत्राह—तद्वै तत्सुकृतमिति। सुकृतत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म रसः पूर्णानन्द इत्यर्थः। ननु भगवतः पूर्णानन्दत्वे किं मानमित्याशङ्क्य मुक्तानां सुखकारणत्वादयं पूर्णानन्द इत्याह—रसमिति। हि यस्माद्रसं पूर्णानन्दमेनं वासुदेवं लब्ध्वैव = प्राप्यैव अयं मुक्त आनन्दीभवति स्वयोग्यानन्दपूर्णो भवति। अन्यथा तन्न स्यात्। न हि दुःखिनं प्राप्तस्यानन्दो दृश्यते। तथाऽयं वासुदेवः पूर्णानन्दो न स्यात् यदि, तर्हि तं प्राप्तो मुक्तोऽपि पूर्णानन्दो न स्यात्; लोके दुःखिनं प्राप्तस्यानन्दादर्शनात्। भवति च मुक्तः पूर्णानन्दः। 'ज्योतिर्मयेषु देहेषु स्वेच्छया विश्वमोक्षिणः। भजन्ते तु सुखान्येव न दुःखादीन् कदाचने'ति वचनात्। अतस्तत्प्राप्यो वासुदेवोऽपि पूर्णानन्द इति सिद्ध्यतीति भावः। तथा च वासुदेवस्य प्राप्यत्वोपास्यत्वे युक्ते।

सान्वयानुवाद—अग्रे = सृष्टि के पहले, इदम् = यह जगत्, असत् = अप्रकाशित, वै = ही, आसीत् = था, ततः = उससे, वै = ही, सत् = यह दृश्यमान जगत्, अजायत = उत्पन्न (प्रकाशित) हुआ है, तत् = उसने, आत्मानम् = अपने को, स्वयम् = स्वयं, अकुरुत = जगत् के रूप में परिणत किया है, तस्मात् = इसलिये, तत् = वह, सुकृतम् = सुकृत, उच्यते = कहा जाता है, वै इति, सः = वह, वै = निश्चय ही, रसः = रस है, हि = क्योंकि, अयम् = यह जीव, रसम् = रस को, लब्ध्वा = प्राप्त करके, एव = ही, आनन्दीभवति = आनन्दवान् हो जाता है।

व्याख्या—यह स्थूल जड़-चेतनरूप जगत् सृष्टि के पहले नाम-रूप से अभिव्यक्त नहीं था। उससे यह नाम-रूप जगत् अभिव्यक्त हुआ अर्थात् प्रकाशित हुआ है। उस परब्रह्म ने स्वयं अपने को ही इस जगत् के रूप में परिणत (प्रकट) किया। इस

प्रकार श्रुति में ब्रह्म को ही कर्त्ता और कर्म कहा गया है। अतः ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अपनी शक्तिविक्षेपपूर्वक अपने को जगदाकार रूप में परिणत करता है तथा अविकृत रूप से अवस्थान करता है। यही उसकी सर्वशक्तिमत्ता का परिचय है (ब्र.सू.निम्बार्कभाष्य १।४।२६)। उस पर ब्रह्म ने भलीभाँति विश्व रूप से अपने को प्रकट किया है। इसलिये ब्रह्म को स्वयंकृत कहते हैं। जिसने अपने आपको प्रकाशित किया था वह रसस्वरूप पूर्णानन्द वासुदेव है और जीव उसे प्राप्त होकर ही आनन्दित होते हैं अर्थात् पूर्ण मनोरथ होते हैं। जैसा कि गीताशास्त्र में स्वयं श्रीभगवान् ने कहा है—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'। (६।२२) जिसे प्राप्त करके और अपर लाभ को उससे अधिक नहीं मानता है। वह कृतकृत्य हो जाता है। इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर अनलस होकर श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये।

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवाऽऽनन्दयाति।

तत्त्वप्रकाशिका—लोकचेष्टकत्वायथानुपपत्तिरूपयुक्त्यापि भगवान् वासुदेवः पूर्णानन्द इत्याह—एष आकाशः परमात्मा वासुदेवो यदि पूर्णानन्दो न स्यात् = न भवेत्, को ह्येव लोकेऽन्यात् चेष्टां कुर्यादित्यर्थः। कः प्राण्यात् प्राणनं कुर्यान्न कोऽपि वैदिकीं लौकिकीं वा प्रवृत्तिं कुर्यात्। प्राणिति चानिति च सर्वलोकोऽतस्तत्प्रवर्त्तको भवन् एष भगवान् केवलमुन्मत्तवदानन्दोद्रेकादेवेति वक्तव्यं, कार्यानुगुणत्वाच्च कारणस्य महाप्रवृत्त्या महानन्द एव सिद्ध्यतीत्यर्थः। तथा चैष भगवान् पूर्णानन्दो भवितुमर्हति प्रवृत्तिकारणत्रयरहितत्वे सति प्रवृत्तिमत्त्वात्। उन्मत्तवदित्यनुमानं द्रष्टव्यम्। अमुक्तानां ब्रह्माद्यखिललोकानामानन्दकारणत्वाच्चायं भगवान् पूर्णानन्द इत्याह—एष ह्येवेति। अखिलमिति शेषः। हि = यस्मादेष एव भगवानखिलं ब्रह्माद्यमुक्तजातमानन्दयाति आनन्दयति। छान्दसत्वाद्दीर्घः। अतोऽयं भगवान् वासुदेवः पूर्णानन्द इत्यर्थः। स्वस्यैव तदभावे परस्मै तद्दानुपपत्तेरिति भावः।

सान्वयानुवाद—एषः = यह, आकाशः = आकाश, आनन्दः = आनन्द, न स्यात् = न होता, हि = तो, कः एव = कौन, अन्यात् = लोक में दूसरा, कः प्राण्यात् = कौन चेष्टा कर सकता, एषः = यह पूर्णानन्द परमात्मा वासुदेव, एव = ही, आनन्दयाति = सबको आनन्दित करता है।

व्याख्या—ये आकाश की भाँति व्यापक परमात्मा वासुदेव पूर्णानन्द नहीं होते तो कौन लोक में चेष्टा कर सकता? कौन जीवित रह सकता? कौन श्वास-क्रिया और प्रश्वास-क्रिया कर सकता? परमात्मा की वजह से जीभ हिलती है, साँसें चलती हैं, सभी प्राणी चेष्टाएँ करते हैं। पूर्णानन्द परमात्मा वासुदेव ही समस्त प्राणियों को आनन्द प्रदान करते हैं।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।

तत्त्वप्रकाशिका—यदैवैषोऽधिकारी। अदृश्ये = अज्ञदृष्ट्यगोचरे प्राकृतचक्षुरादि-ग्रहणानर्हे। अनात्म्ये = आत्मन इदम् आत्म्यं जीवसम्बन्ध्यल्पज्ञानाल्पसुखादि तद्रहिते। अनिरुक्ते = अनन्तगुणवत्त्वेन साकल्येन वेदाप्रतिपाद्ये। अनिलयने = न विद्यते अन्यत् निलयनमाश्रयो यस्य सोऽनिलयनस्तस्मिन् अनिलयने निजाश्रयाद् अपराश्रयरहिते एतस्मिन् हरौ तद्विषय इति यावत्। अभयमिति क्रियाविशेषणम्। अभयं यथा भवति तथा अभयत्वेनेति यावत्। प्रतिष्ठां = निरन्तरस्मृतिलक्षणां निष्ठां विन्दते = लभते, अथ तदासौऽअधिकारी अभयं = हरिं, गतः = प्राप्तो भवति, मुक्तो भवतीत्यर्थः।

व्याख्या—मुक्त पुरुष जन्मादि-विकारों से शून्य होते हैं। वे स्वाभाविक अचिन्त्य, अनन्तगुणसागर, सर्वविभूतिसम्पन्न ब्रह्म के स्वरूप में अपने को अनुभव करते हैं। मुक्त पुरुषों की ऐसी ही स्थिति का उपदेश श्रुति ने किया है। यथा–तैत्तिरीय श्रुति ने मुक्तावस्था के सम्बन्ध में कहा है—'यदा ह्येवैष' इत्यादि। जब ये जीव इस अदृश्य, अनन्तगुणसम्पन्न, अवाङ्मनसगोचर और सर्वभूताशयालय परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में प्रतिष्ठित होते हैं और इसी कारण ही वे सर्वविध भय से विमुक्त होते हैं एवं उसी समय अभय ब्रह्मरूपत्व को प्राप्त होते हैं। जो पीछे बताया गया है—वह रसस्वरूप है। ये जीव उस रसस्वरूप पूर्ण ब्रह्म पूर्णानन्द श्रीकृष्ण को प्राप्त होकर आनन्दरूपता को प्राप्त करते हैं। यही मोक्षपद है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्द-वल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—उक्ताया प्रतिष्ठाया विच्छेदेऽनर्थः सम्पद्यत इत्याह—यदा = यदि, एषः = अधिकारी, एतस्मिन् = परमात्मनि, ध्यानस्यान्तरं उदरमल्पमपि कुरुते तस्य भयमुद्भवति। पूर्वमन्त्रे प्रतिष्ठाशब्दस्यानवरतस्मृतिसन्तानपरत्वमुपपादितम्, अत्राप्यन्तरशब्देन तद्विरोधिनो ध्यानविच्छेदस्य ग्रहणमुचितं भाति। किं भयं तत्राह—तत्त्वेवेति। विदुषो ब्रह्मोपासकस्य। अमन्वानस्य तदतिरिक्तस्पृहया निरन्तरं मननमकुर्वतस्तदेवामननं भयं न हि तदपेक्षयाऽयाऽन्यद्भयमस्ति। उक्तञ्च महर्षिभिः—

'यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया॥
वरं हुतज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्'॥

इति तदप्येष इति पूर्ववत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य तत्त्वप्रकाशिकाया टीकायां सप्तमोऽनुवाकः ॥७॥

सान्वयानुवाद—यदा हि एषः = अगर यह जीव, एतस्मिन् = इस परमात्मा में, अन्तरम् = ध्यान का विच्छेद, उदरम् = थोड़ा भी, कुरुते = करता है, अथ = तब, तस्य = उसको, भयम् भवति = भय होता है, तत् तु एव = वही, भयम् = भय, अमन्वानस्य = मनन न करनेवाले, विदुषः = विद्वान् को होता है, तदपि = उस सम्बन्ध में भी, एषः श्लोकः भवति = यह मन्त्र है।

मन्त्रार्थः—अगर जीव परमात्मा में थोड़ा-सा भी ध्यान का विच्छेद करता है तो उसको भय उत्पन्न होता है। विद्वान् व्यक्ति के भी अमननशील होने से उसको ब्रह्म से भय रहता है। इस सम्बन्ध में आगे कहा जानेवाला श्लोक है ॥

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥७॥

•

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥

तत्त्वप्रकाशिका—भीट्शब्दस्य तृतीयैकवचनं भीषेति। अस्मादिति पञ्चमी षष्ठ्यर्थे। अस्य भगवतो भीषा = भयेन, वातः पवते = तृणादिसम्मार्जनेन भूशुद्धिं करोति। भीषोदेति सूर्यः। अस्मादित्यनुवर्त्तते। उदितो भूत्वा ध्वान्तं विनाश्य पदार्थान् प्रकाशयतीति भाव;। अग्निश्चन्द्रेत्युभौ पचनवर्षणरूपं स्वव्यापारं कुरुत इति शेषः। अस्य भीषा पञ्चमः, पञ्चत्वसङ्ख्यापूरको मृत्युर्यमः प्रजासंयमनादिरूपे स्वव्यापारे धावति। अतीव जागरूकस्तिष्ठतीत्यर्थः। इदमुपलक्षणम्। एवं सर्वे देवा अस्य भीषैव स्वस्वव्यापारान् कुर्वन्तीति ग्राह्यम्। इति श्लोको भवतीति सम्बन्धः ॥

सान्वयानुवाद—अस्मात् भीषा = इसी के भय से, वातः = वायु, पवते = चलती है, भीषा = इसी के भय से, सूर्यः = सूर्यदेव, उदेति = उदय होता है, अस्मात् भीषा = इसी के भय से, अग्निः = आग, च = और, इन्द्रः = इन्द्र, च = और, पञ्चमः = पाँचवाँ, मृत्युः = मृत्यु, धावति = प्राणियों का संहार करती है।

व्याख्या—भीट् शब्द की तृतीया के एकवचन में भीषा रूप बनता है। 'अस्मात्' यहाँ पर षष्ठी अर्थ में पञ्चमी है। इस भगवान् के भय से वायु तृण, पर्ण आदि का सम्मार्जन द्वारा भूशुद्धि करती है। यथासमय सूर्य उदित होकर अन्धकार को दूर कर पदार्थों को प्रकाशित करता है। यह उपलक्षण है। इस प्रकार समस्त देवगण श्रीभगवान् के भय से ही अपने-अपने व्यापारों को करते हैं। इस मन्त्र का अक्षरशः अनुवाद श्रीमद्भागवत में भी है—

'मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्' ॥

मेरे भय से वायु चलती है, सूर्य तपता है, इन्द्र जलवृष्टि करता है, अग्नि जलती है और हे मातः! मृत्यु मेरे ही भय से प्राणियों का संहार करती हुई सर्वत्र विचरती है

तथा अतीव जागरूक होकर ठहरती है। इसलिये सर्वदा भगवान् श्रीकृष्ण का मनन व ध्यान करते रहना चाहिये। बस, यही समस्त शास्त्रों का सार है।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात् साधुयुवाऽध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्य-गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणा-मानन्दः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

तत्त्वप्रकाशिका—एषा वक्ष्यमाणा आनन्दस्य मीमांसा भवति। आनन्दवैचि-त्र्यविषयको विचारः क्रियमाणो भवति। क्रियत इति यावत्। युवा = षोडशवर्षमारभ्या-ऽऽपलितदर्शनमुपघातमन्तरेण मध्यमं वयो यौवनं तद्वान् अक्षीणेन्द्रियशक्तिः। यौवनेऽपि स्वभावतः शरीरस्येन्द्रियाणां वा वैरूप्यं सम्भावितं रोगादिनिमित्तं वा तन्निवारणार्थमाह—साधु युवा। साधुश्चासौ युवा चेति यूनो विशेषणम्। कन्दर्पसमानरूपः सन् यौवनसम्पन्न इत्यर्थः। तादृशोऽपि मूर्खो मा भूदित्याह—अध्यापकोऽधीतसाङ्गोपाङ्गवेदः। तादृशोऽपि केवलं स्वोदरम्भरिरितिमन्दो वा मा भूत् तद्द्वयं तन्त्रेण वारयति। अशिष्टाऽतिशयेना-ऽऽशास्ताऽतिशयेनाऽऽशुकारी च। द्रढिष्ठो दृढतरो न त्वव्यवस्थितस्वभावः। तादृशो-ऽपि बलहीनः स्यादित्यत आह–बलिष्ठोऽतिशयेन बलसम्पन्नः। एवम्भूतोऽपि वित्तहीनः स्यादित्यत आह–तस्येति। उक्तविशेषणविशिष्टस्य। इयं सप्तद्वीपाब्धिवलया लोक-मेखला। पृथिवी = भूमिः। सर्वा = निखिला। वित्तस्य = वित्तेन। दृष्टादृष्टसुखकरणेन गोहिरण्यादिना पूर्णा = परिपूर्णा, स्यात् = भवेत्। सर्वलक्षणसम्पन्नस्य चक्रवर्त्तिन इत्यर्थः। स सर्वलक्षणसम्पन्नस्य चक्रवर्त्तिनो जायमान आनन्दः। एकः एकत्वसङ्ख्या-क्रान्तः। मानुषो मनुष्येषु भवः। आनन्दो भावरूपः सुखात्मा। नातः परं मनुष्याणां सुखमित्यर्थः। ते परोक्षाः। ये प्रसिद्धाः शतं शतसङ्ख्याका मानुषा आनन्दाः स परोक्षः प्रसिद्धः, एकः एकत्वसङ्ख्याक्रान्तः। मनुष्यगन्धर्वाणां मनुष्याः सन्तो जन्मान्तरे गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः। अन्तरिक्षलोकनिवासिनोऽन्तर्धानादिशक्तिमन्तः तेषाम्। आनन्द अस्माकं चक्रवर्त्तिनां यथोक्तगुणविशिष्टानां शतगुणसुखं मनुष्यगन्धर्वाणां परमं सुखमित्यर्थः। अकामहत श्रोत्रियस्य मुक्तस्यापि स आनन्दोऽस्ति मुक्तस्य सर्वानन्दानु-भवशालितया तत्र मानुषानन्दस्यान्तर्गतत्वादिति भावः। देवगन्धर्वाणां देवाश्च ते गन्ध-र्वाश्च देवगन्धर्वास्तेषामानन्दाः, स एकः आनन्दः पितृणाम्। पितृविशेषणं चिरलोक-लोकानामिति। चिराद् दीर्घस्थायिनो लोकाः कर्मविशेषास्ते येषां लोकास्तत्स्थानानि च चिरलोकास्तेषामनेककालस्थायिनामित्यर्थः। आजानानाम्—कल्पादावुत्पन्नानामाजाने देवलोके जाता आजानजास्तेषां विशेषणमिदम्। विशेष्यमाह—देवानामिति। द्योत-नात्मकानामित्यर्थः।

व्याख्या—यह कही जानेवाली ब्रह्मानन्द की मीमांसा (विचार) की जा रही है। यदि एक वेदशास्त्रज्ञ, साधुप्रकृतिक, शुभलक्षणसम्पन्न दृढकाय युवा-पुरुष धन-रत्नसम्पन्न समस्त पृथ्वी का अधिकारी हो तो उसके आनन्द को एक गुणा आनन्द मान लेने से इसका शतगुण आनन्द एक मनुष्य-गन्धर्व का आनन्द है। मनुष्यगन्धर्व का शतगुण आनन्द एक देवगन्धर्व का आनन्द है। इसका शतगुण आनन्द पितृलोक है, इसका शतगुण आनन्द 'आजानज' देवताओं का, इसका शतगुण आनन्द कर्म-देवताओं का, इसका शतगुण आनन्द इन्द्र का, इसका शतगुण आनन्द बृहस्पति का, इसका शतगुण आनन्द प्रजापति का और इसका शतगुण आनन्द ब्रह्म का है। अकामहत श्रोत्रिय मुक्त का भी वही आनन्द है।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामा-नन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामह-तस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाका-महतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

तत्त्वप्रकाशिका—देवानाम्। इदं श्रुतिरेव व्याकरिष्यति। पूर्ववद् विशेषणमुक्त्वा विशेष्यमाह—देवानामाजानेभ्य उत्कृष्टानां द्योतनात्मकानाम्। कर्मदेवानामित्येतद्व्या-करोति। ये प्रसिद्धा याज्ञिकाः कर्मणाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तेन। देवान् = द्योतनात्मकान्, अपियन्ति = प्राप्नुवन्ति। देवत्वमुपगता इत्यर्थः। देवानाम्–त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्याकानां हविर्भुजामग्न्यादीनाम्। इन्द्रस्य त्रिलोकीपतेः। ते शक्रस्य। बृहस्पतेर्देवगुरोः। प्रजापति-र्चतुर्मुखः, न तु दक्षादयः; एकवचनश्रवणात्। अत्र ब्रह्मशब्दो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति। प्रकृतब्रह्मपरः। न च ब्रह्मानन्दस्य ते ये शतमिति परिच्छिन्नत्वं कथमिति शङ्क्यम्। क्षणार्धेन बहूनि योजनानि गच्छति खाविषुवद् गच्छति सवितेषु साम्यप्रतिपादकवचनस्य हि मान्द्यनिवृत्तिपरत्ववत्ते ये शतमिति वाक्यस्यापि चतुर्मुखानन्दाधिक्यमात्रपरत्वेन शत-गुणितचतुर्मुखानन्दात्न्यूनाधिकपरत्वाभावात्।

व्याख्या—आजानज देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही कर्मदेव देवताओं का है, जो कि अग्निहोत्रादि कर्म करके देवत्व को प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। कर्मदेव देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही देवताओं का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्र का एक आनन्द है तथा वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं वही बृहस्पति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापति का एक आनन्द

है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्मा का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। आत्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एवं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—एवम्भूतानन्दमयो यो वेद निहितं गुहायामिति हृदयगुहानिहितत्वेनोपास्यमानः कीदृशो विग्रहविशेषविशिष्टः, को वा देवताविशेष इति जिज्ञासायामाह—चशब्दौ परस्परसमुच्चयार्थौ। स प्रसिद्धो योऽयं पुरुषे तदुपलक्षितापकृष्टजीवेषु नियामकतया तिष्ठति, यश्चासावादित्ये तदुपलक्षितोत्कृष्टजीवेषु देवेषु नियामकतया तिष्ठति। स ब्रह्मादीनां स्वरूपानन्दाविर्भावाप्तिदाता कमनीयविग्रहयुक्तो पुण्डरीकाक्षो भगवान् वासुदेव एक एव, न तयोः परस्परं भेदो मन्तव्यः। ततश्च तादृशविग्रहवत्त्वेन हृदयगुहावर्त्तिनो भगवतो वासुदेवस्य ध्यानं कर्त्तव्यम्। एवं प्राप्यस्य प्राप्यत्वोपयुक्तमुताविद्वानमुं लोकमित्यादिनोपक्षिप्तानां प्रश्नानामुत्तरमाह–स एवं विदित्यादिना। य एवमुक्तप्रकारेण श्रीभगवन्माहात्म्यवेत्ता उपासकः, स भोगेन प्रारब्धं क्षपयित्वाऽनन्तरमस्माल्लोकात् चरमत्वेन प्रसिद्धाल्लोकाच्छरीरात्प्रेत्य हृदयाग्रप्रज्वलनप्रकाशितनाडीद्वारा देहान्निष्क्रम्य अर्चिरादिद्वारा आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति = गच्छति। एतमन्नमयमन्नमयशरीरकमात्मानं परमात्मानमुप तत्समीपं संक्रामति = गच्छति। एतं प्राणमयं प्राणमयशरीरकपरमात्मानमुपसंक्रामति। एतमुत्तरत्रापि योज्यम्। अत्र श्रीबादरायणाचार्यैः सर्वोऽपि विद्वानस्माल्लोकात्प्रेत्यान्नमयादिसमष्टिव्यष्टिविभूतिकं निरतिशयानन्दं परमात्मानं भोग्यभूतं भोक्तासन्ननुभवतीति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति। एवमानन्दमयं भगवन्तं प्राप्य संसारभयरहितः सन् इति शेषः। अत्राथ सम्मतितया श्लोकमुदाहरति–तदपीति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायाम् अष्टमोऽनुवाकः ॥८॥

व्याख्या—श्रुति में दो च शब्द परस्पर समुच्चय अर्थ है। वह प्रसिद्ध जो यह पुरुष में अर्थात् पुरुष-उपलक्षित अपकृष्ट जीवों में नियामक रूप से रहता है, वही आदित्य में अर्थात् आदित्य-उपलक्षित उत्कृष्ट जीव देवों में नियामक रूप से रहता है। वही ब्रह्मादि के स्वरूप-आनन्द-आविर्भावाप्तिदाता कमनीय विग्रहयुक्त पुण्डरीकाक्ष भगवान् श्रीवासुदेव एक ही है; उनमें परस्पर भेद नहीं समझना चाहिये। इसके बाद वैसे ही विग्रह युक्त सबों के हृदयगुफा में रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण का निरन्तर ध्यान करना चाहिये। जो इस प्रकार से श्रीभगवान् का माहात्म्य जाननेवाला वह उपासक भोग से प्रारब्ध कर्म का समूल नाश करके अनन्तर इस अन्तिम शरीर से मरकर हृदयाग्र

प्रज्वलन प्रकाशित नाडी द्वारा शरीर से निकल कर अर्चिरादि द्वारा इस अन्नमय अर्थात् अन्नमय शरीरक आत्मा (परमात्मा) के समीप शीघ्र पहुँच जाता है, उसे प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय परमात्मा की सन्निधि में शीघ्र ही पहुँच जाता है। ऐसा अर्थ भी जोड़ना चाहिये। महर्षि बादरायण जी ने इस प्रश्न का उत्तर बताया है—विद्वान् पुरुष इस लोक से विदा लेकर अन्नमयादि समष्टि-व्यष्टि सविभूतिक निरतिशयानन्द परमात्मा का सेवन करते हुए भोक्ता होकर अनुभव करता है। इस प्रकार आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त करके संसार के भय से रहित हो जाता है। इस सम्बन्ध में भी सम्मति रूप से मन्त्र उद्धृत किया जाता है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥८॥

•

यतो वाचो निवर्त्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतँ्ह वाव न तपति। किमहꣳ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्द-
वल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—वाङ्मनसे आनन्दस्येयत्तालक्षणं पारं गन्तुं प्रवृत्ते यतः = यस्मात् मनसा सह वाचः अप्राप्य निवर्त्तन्ते। आनन्त्यादिति शेषः। एतादृशं ब्रह्मणः आनन्दरूपिणमानन्दमयवासुदेवाख्यं परं ब्रह्म। विद्वान् तद्विषयकापरोक्षज्ञानद्वारा तं प्राप्त इति यावत्। कुतश्चन = कुतोऽपि, न बिभेति = संसारभयवान्न भवतीत्यर्थः। इति श्लोको भवतीति सम्बन्धः। श्लोकोक्तं भयाभयं विवृणोति—एतꣳ ह वावेति। अहं किं किमर्थं साधुकर्म नाकार्षं किमर्थं पापमकरवं येनैतादृशं पापफलं भुञ्जे इत्येवं रूपं पश्चात्तापजनितं भयं एतं मुक्तं न तपति = न सन्तापयति, इत्येतत् ह वाव अति-प्रसिद्धमित्यर्थः। संसारे प्रसिद्धमेतादृशभयं मुक्तस्य नास्तीति भावः। एतादृशं ब्रह्मविद्या-प्रयुक्तमाहात्म्यमपि ध्येयमित्याह-स य एवमिति। एते एताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं स्पृणुते = रक्षतीत्यर्थः। पुण्यपापफलानुभवो नास्तीत्युक्तं भवति। पुनर्वचनं पुण्यपाप-विधूननध्यानसातत्यतात्पर्यद्योतनाय। एवं वरुणं प्रत्युपदिश्योपसंहरति ब्रह्मा। इत्युप-निषदिति रहस्यभूता ब्रह्मविद्या त्वां प्रति मयोपदिष्टेति शेषः।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य
तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायां नवमोऽनुवाकः ॥९॥

॥ इति ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्ता ॥

सान्वयानुवाद—मनसा सह = मन के साथ, वाचः = वाणी, यतः = जहाँ से, अप्राप्य = उसे न पाकर, निवर्त्तन्ते = लौट आती हैं, (तस्य) ब्रह्मणः = उस ब्रह्म के,

आनन्दम् = आनन्द को, विद्वान् = जानकर, कुतश्चन = किसी से, न बिभेति = डरता नहीं, इति ह वाव = यह अतिप्रसिद्ध ही है, एतम् = इस मुक्त को, न तपति = तपता नहीं है, इति ह वाव = यह अतिप्रसिद्ध ही है, एतम् = इस मुक्त को, न तपति = तपता नहीं है, अहम् = मैंने, किम् = क्या, साधु = अच्छे कर्म, न = नहीं, अकरवम् = किया, किम् = क्या, अहम् = मैंने, पापम् अकरवम् = पाप किया है, इति = इस प्रकार, यः = जो, विद्वान् = सुधी (है), सः = वह, आत्मानम् स्पृणुते = अपनी रक्षा करता है, हि = निश्चय ही, यः = जो, एते = इन पुण्य और पाप, उभे एव = दोनों को ही, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है, एषः = वही यह विद्वान्, आत्मानम् स्पृणुते = आत्मा (अपनी) रक्षा करता है, इति-उपनिषद् = इस प्रकार रहस्यभूत उपनिषद् ब्रह्मविद्या कही गयी है।

व्याख्या—मन के सहित वाक्य जिसको न पाकर जहाँ से निवर्त्तित होते हैं, जिसने उस ब्रह्म के आनन्द को जान लिया है, संसार में उसको किसी से भय नहीं रहता। मन्त्र में बताया गया भयाभय का विवरण करते हैं—मैंने क्यों और किसलिए सत्कर्म नहीं किया अथवा क्यों किसलिये मैंने पापकर्म किया, जिससे इस तरह मैं पाप का फल भोग रहा हूँ। इस प्रकार का पश्चात्ताप-जनित भय मुक्त पुरुष को नहीं सताता है अर्थात् उसके हृदय में सन्ताप उत्पन्न नहीं करता है। विवेकी पुरुष हमेशा पुण्य और पाप इन दोनों प्रकार के कर्मों से आत्मा की रक्षा करते हैं। क्योंकि वे पुण्य और पाप को धुल कर ही ब्रह्म की समता को प्राप्त होते हैं और वे भगीरथखातावच्छिन्न जलप्रवाह के समान श्रीभगवान् का ध्यान करते रहते हैं एवं राग-द्वेषादि से सदा विमुक्त रहते हैं। इस मन्त्र में पुनर्वचन पाप-पुण्य, विधूनन, ध्यान-सातत्य-तात्पर्य द्योतन के लिए अक्षरशः दुहराया गया है।

॥ नवम अनुवांक समाप्त ॥९॥

॥ ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्त ॥२॥

•

अथ भृगुवल्ली ॥३॥

अथ प्रथमोऽनुवाकः

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳ होवाच।

तत्त्वप्रकाशिका—आनन्दमयस्य ब्रह्मण उपास्तिं ब्रह्मवल्ल्यध्याये उक्त्वा तत्रैव समाख्यातत्वेन भृगुवरुणसंवादरूपामाख्यायिकामाह—वरुणस्यापत्यं पुमान् वारुणि-भृगुः। वैशब्देन भृगोर्वरुणपुत्रत्वं प्रसिद्धमित्याचष्टे। पितरं वरुणमुपससार समीपं गत-वान्। किं वदन् उपससारेत्यत आह—अधीहीति। हे भगवः! 'मतो वसो रु सम्बुद्धौ

छन्दसि'। हे भगवन्! = पूज्य! ब्रह्म = परं ब्रह्म, अधीहि = अध्यापय। णिजर्थस्यान्तर्णीतत्वात्। एवं पृष्टो वरुणस्तस्मै भगवे एतत् ब्रह्म प्रोवाच = उपदिष्टवान्। तदेव दर्शयति—अन्नमित्यादिना। अत्तृत्वादन्नं प्राणं प्रकृष्टचेष्टाकत्वात्। चष्ट इति चक्षुः, श्रवणात् श्रोत्रं, मन्तृत्वात्। मनः, वक्तृत्वाद् वाक् विवेचनात्। विज्ञानं ब्रह्मेत्यादिकं तन्मनः-शोधनायोपदिश्य किं सर्वाणि उतैकं तत्रापि वस्तुसिद्धेर्लक्षणाधीनत्वात् व्याकुलचेतसं पुत्रं प्रति ब्रह्मलक्षणमुवाच॥

शब्दार्थ—वै = यह प्रसिद्ध है, वारुणिः = वरुण का पुत्र, भृगुः = भृगु, पितरम् = अपने पिता, वरुणम् उपससार = वरुण के समीप गया, भगवः = हे भगवन्! ब्रह्म अधीहि = मुझे ब्रह्मविद्या पढ़ाइये, इति = इस प्रकार कहने पर, तस्मै = उससे, एतत् = यह, प्रोवाच = कहा, अन्नम् = अन्न, प्राणम् = प्राण, चक्षुः = नेत्र, श्रोत्रम् = श्रोत्र (कान), मनः = मन, वाचम् = वाणी, इति = इस प्रकार, तम् ह उवाच = उससे स्पष्ट कहा।

व्याख्या—आनन्दमय ब्रह्म की उपासना ब्रह्मवल्ली अध्याय में कही गयी है, वही समाख्यात रूप से भृगु-वरुण संवादरूपा आख्यायिका को श्रुति बताती है—वरुणपुत्र भृगु अपने पिता वरुण के समीप गये, जाकर वे अपने पिता से बोले—हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये, उन्होंने इस प्रकार पूछा। वरुण ने जिज्ञासु भृगु को ब्रह्म का उपदेश किया—अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी यह सब ब्रह्म हैं। इस प्रकार वे अपने पुत्र से बोले। अब ब्रह्म का स्वरूप बताते हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

तत्त्वप्रकाशिका—जीवन्ति = चेष्टन्ते। यत् प्रयन्ति = प्रलये। अभि स्वेच्छया संविशन्ति मुक्तौ। तद् ब्रह्म इति ज्ञात्वा तद् ब्रह्म विजिज्ञासस्व = जिज्ञासां कुर्वित्यर्थः। इति पितुर्वचनसमाप्तौ।

शब्दार्थ—यतः = जिससे, वै = निश्चयार्थ, इमानि भूतानि = ये भूत-जड़-चेतन, जायन्ते = उत्पन्न होते हैं, जातानि = उत्पन्न होकर, येन = जिसके द्वारा, जीवन्ति = जीवित रहते हैं, प्रयन्ति = प्रयाण करते हैं, यत् अभिसंविशन्ति = जिसमें अभिसंवेशन करते हैं, तत् = उसको, विजिज्ञासस्व = विशेष जानने की इच्छा कर, तत् = वही, ब्रह्म इति = ब्रह्म है।

व्याख्या—जिससे यह दृश्यमान जड़-चेतन समस्त विश्व उत्पन्न होते हैं अर्थात् तृण से लेकर महदादि भूत-प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे वे जीवित रहते हैं, समस्त कर्मों के बन्धनध्वंसानन्तर जिसे प्राप्त होते हैं और प्रलय-काल में जिसमें लीन होते हैं वह ब्रह्म है; ऐसा जानकर तुम उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। इस प्रकार अपने पिता वरुण के वचन की समाप्ति है।

स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—स श्रुतपितृवाक्यो भृगुः तपःपर्यालोचनम् अन्नादिषूक्तेषु ब्रह्मलक्षणाक्रान्तं कतमदित्येवं रूपम्। अतप्यत = कृतवान्। अथवा तपः इन्द्रियनिग्रहलक्षणम्। अस्मिन् पक्षे तपसा शुद्धान्तःकरणस्य मनस इन्द्रियाणां चैकाग्र्यं जायत इति व्याख्येयम्। स तापसो भृगुः तप उक्तरूपं तप्त्वा = सम्पाद्य।

इति कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये तत्त्वप्रकाशिकायां प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥

व्याख्या—भृगु ने अपने पिता के वाक्यों को सुनकर ध्यानमग्न होकर कहे गये अन्नादि में पर्यालोचन किया अर्थात् जान लिया।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

तत्त्वप्रकाशिका—ब्रह्मलक्षणाक्रान्तमन्नं ब्रह्मशब्दाभिधेयमित्यनेन प्रकारेण व्यजानात् = विशेषेणावगतवान्। तद्विज्ञानप्रकारमाह श्रुतिः। अन्नादुक्तात् हि यस्मात्। एवान्नादेव न त्वन्यस्मात्। खलु निश्चितम्। इमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानीत्यादिकं पूर्ववत्। इत्यनेन प्रकारेण तदन्नं ब्रह्मरूपं विज्ञाय = अवगत्य, प्रत्यक्षेणोपपत्यान्नस्य नाशमवलोक्यान्नस्य ब्रह्मत्वं कथमिति सन्दिहानो भृगुः पुनर्भूय एव वरुणं पितरमुपससार। अधीहीत्यादिकं पूर्ववत्।

व्याख्या—अन्न ब्रह्म है—इस प्रकार जाना। क्योंकि निश्चय अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने पर अन्न से ही जीवित रहते हैं। प्रयाण करते समय अन्न में ही लीन होते हैं। ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया (और कहा—) "भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए"।

तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—वरुणस्तं भृगुं प्रति उवाच। तपसा = इन्द्रियनिग्रहलक्षणे ब्रह्मविद्योपायभूतेन ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्युक्तवान्। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा। इ पूर्ववत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये तत्त्व-प्रकाशिकायां टीकायां द्वितीयोऽनुवाकः ॥२॥

व्याख्या—पीछे 'ब्रह्मानन्द वल्ली' नामक दूसरी वल्ली में जो सारी बातें कह गयी हैं, इस 'भृगुवल्ली' नामक तीसरी वल्ली में आख्यायिका द्वारा द्वितीय वल्ली के उपदिष्ट विषयों को पुनः स्पष्ट किया गया है। भृगु ने ध्यानमग्न होकर समाधि द्वारा जान लिया कि ब्रह्म 'अन्नरूप' है। अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीते रहते हैं एवं अन्न में ही लीन होते हैं। इस प्रकार 'वह अन्न ब्रह्मरूप है' यह जानकर प्रत्यक्ष उपपत्ति से अन्न के नाश का अवलोकन कर अन्न में ब्रह्मत्व कैसे? ऐसे सन्दिहान भृगु फिर से ही अपने पिता वरुण के पास गये। वरुण ने उसके प्रति कहा—तपस्या द्वारा ब्रह्म को विशेष रूप से जानो। उन्होंने तप किया, ब्रह्म का ध्यान किया तब भृगु ने फिर ध्यान में मग्न होकर समाधि द्वारा समझा कि—

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥२॥

•

अथ तृतीयोऽनुवाकः

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्य-ध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥३॥

व्याख्या—प्राण ब्रह्म है, इस प्रकार विशेष रूप से जाना। क्योंकि निश्चय ही ये सब प्राणी प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। वे उत्पन्न होकर प्राण के द्वारा ही जीवित रहते हैं। प्रयाण करते समय प्राण में ही लीन होते हैं। इस प्रकार से उस प्राणब्रह्म को जानकर वरुणपुत्र भृगु फिर अपने पिता वरुण के पास गया। उन्होंने कहा—मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए। वरुण ने भृगु से कहा—तप से ब्रह्म को जानो। तप ब्रह्म है। उसने तप किया। उन्होंने तप करके जाना।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥२॥

•

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्य-
ध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥४॥

व्याख्या—मन ब्रह्म है, इस प्रकार विशेष रूप से जाना। क्योंकि निश्चय ही ये सब प्राणी मन से ही उत्पन्न होते हैं। वे उत्पन्न होकर मन के द्वारा ही जीवित रहते हैं। प्रयाण करते समय मन में ही लीन होते हैं। इस प्रकार से उस मनब्रह्म को जानकर वरुणपुत्र भृगु फिर अपने पिता वरुण के पास गया। उन्होंने कहा—तप से ब्रह्म को जानो। तप ब्रह्म है। उसने तप किया। उन्होंने तप करके जान लिया।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥२॥

•

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्य-
ध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥

व्याख्या—विज्ञान ब्रह्म है, इस प्रकार विशेष रूप से जाना। क्योंकि निश्चय ही ये सब प्राणी विज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। वे उत्पन्न होकर विज्ञान के द्वारा ही जीवित रहते हैं। प्रयाण करते समय विज्ञान में ही लीन होते हैं। इस प्रकार से उस विज्ञानब्रह्म को जानकर वरुणपुत्र भृगु फिर अपने पिता वरुण के पास गया। उन्होंने कहा—मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए। वरुण ने भृगु से कहा—तप से ब्रह्म को जानो। तप ब्रह्म है। उसने तप किया। उन्होंने तप करके जाना लिया।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥२॥

•

अथ षष्ठोऽनुवाकः

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

तत्त्वप्रकाशिका—यथाऽन्नस्य विनाशित्वं दोषो ब्रह्मत्वे तथाऽचेतनत्वं प्राणस्य। अनिश्चयात्मकत्वं मनसः। सुखदुःखभोक्तृत्वं विज्ञानस्य = प्रत्यगात्मनो दोषः। आनन्दमयस्य ब्रह्मशब्दाभिधेयत्वं ततोऽस्य दर्शनानन्तरं पितरं प्रतिगमनाभावः। प्राणमनोमयविज्ञानानन्दपर्य्यायश्चत्वारोऽपि समानपाठा अन्नपर्य्यायवद् व्याख्येयाः। इदानीमाख्यायिकासिद्धमर्थं श्रुतिराह विद्यास्तुतये।

व्याख्या—ब्रह्म प्राणरूप है। समस्त प्राणी प्राण से उत्पन्न होते हैं, प्राण के द्वारा जीवित रहते हैं एवं प्राण में ही लीन होते हैं तथा मरने के बाद सब प्राण में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उन्होंने अपने पिता के आदेशानुसार पुनः ध्यानमग्न होकर जाना कि मन ही ब्रह्म है, अनन्तर समझा कि विज्ञान ही ब्रह्म है एवं सब के अन्त में उन्होंने समझा कि ब्रह्म आनन्दरूप है। आनन्द से ही समस्त जीव उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, उसी में लीन होते हैं इत्यादि। उपर्युक्त इन दोनों वल्लियों में अनेक स्थानों पर ब्रह्म को ही आनन्दरूप कहा गया है। इन दोनों वल्लियों के उपदेशों का ऐक्य करके निविष्ट चित्त से विचारने से यही निश्चय होता है कि ब्रह्मानन्द वल्ली में वर्णित—अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा एवं आनन्दमय आत्मा क्रम से भृगुवल्ली में उपदिष्ट अन्नब्रह्म, प्राणब्रह्म, मनोब्रह्म, विज्ञानब्रह्म और आनन्दब्रह्म हैं। परन्तु भृगुवल्ली में वर्णित आनन्दब्रह्म परब्रह्म है, जीव नहीं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भाष्यकार की भी यही सम्मति है—'आनन्दमयः परमात्मैव न तु जीवः'। (ब्र.सू.नि.भा. १।१।१३) ब्रह्म स्वरूपतः आनन्दमय है, वही परब्रह्म है। ब्रह्म असीम आनन्द का स्थान है, उसमें किसी प्रकार के दुःख का सम्पर्क नहीं है। वह आनन्दस्वरूप है, यही आनन्दमय शब्द का अर्थ है। 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। एष ह्येवानन्दयति'। इत्यादि शास्त्रवाक्यों द्वारा ब्रह्म जाना जाता है। ब्रह्म ही जीवों के आनन्द का हेतु है। इसलिये परमात्मा ही आनन्दमय शब्द का अर्थ है। वेदों के द्वारा जिसका आनन्द शब्द से गान किया गया है वह ब्रह्म आनन्द रूप है।

(तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अनुवाक का स्वाभाविक सार अर्थ ही बताया गया है।)

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता।

तत्त्वप्रकाशिका—एषा इदानीमुक्ता। भार्गवी = भृगुणावगता। वारुणी = वरुणेन प्रोक्ता। विद्या = ब्रह्मविद्या। परमे = उत्कृष्टे। व्योमन् = व्योमनि। परमात्मनि प्रतिष्ठिता = अवस्थानं प्राप्ता, आनन्दमये ब्रह्मणि पर्यवसिता।

भावार्थ—वही ब्रह्मविद्या इस समय कही गयी है, जो वरुण ने अपने पुत्र भृगु को उपदेश की और भृगु को प्राप्त हुई। यह भार्गवी वारुणी ब्रह्मविद्या परम व्योम परमात्मा में प्रतिष्ठित है अर्थात् अवस्थान को प्राप्त हुई आनन्दमय ब्रह्म में पर्यवसित है।

य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति। प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥

तत्त्वप्रकाशिका—योऽधिकारी एवमन्नप्राणमनोविज्ञानेभ्योऽन्य आनन्दमयः परमात्मेति वेद = जानाति। स मुक्तो भूत्वा तस्मिन् ब्रह्मण्येव प्रतितिष्ठति। अन्नवान् = अन्नसम्पन्नः। अन्नादः = अन्नभक्षको नीरोगो महानधिकः, प्रजया = पुत्रादिसन्तत्या। पशुभिः = गवादिभिः, ब्रह्मवर्चसेन = वेदाध्ययनजाततेजसा न केवलमेवं किन्तु महानधिकः। कथं कीर्त्या यशसा प्रथमः। महच्छब्दस्तस्मिन्विद्याधिक्यमाह। द्वितीयस्तु प्रजादीनां कीर्त्यन्तानाम्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायां षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥

सान्वयानुवाद—यः = जो, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है, सः = वह, प्रतितिष्ठति = प्रतिष्ठित हो जाता है, अन्नवान् = अन्नवाला, अन्नादः = अन्न को खानेवाला, भवति = होता है, पशुभिः = पशुओं से, ब्रह्मवर्चसेन = ब्रह्मबल से, कीर्त्या = कीर्त्ति से, प्रजया = प्रजा से, महान् भवति = बड़ा होता है।

व्याख्या—जो विद्वान् इस प्रकार अन्न, प्राण, मन और विज्ञानमय से भिन्न आनन्दमय परमात्मा है–ऐसा जानते हैं वे पुरुष मुक्त होकर उसी आनन्दमय ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं तथा अन्नसम्पन्न, अन्नभक्षक, नीरोग, पुत्रादि सन्तति से, गौ आदि से, वेद-शास्त्रजनित तेज से वे बड़े होते हैं। कीर्त्ति से वे जीवित रहते हैं। इस संसार में जिसकी कीर्त्ति है वह पुरुष मरने पर भी जीवित रहता है। ऐसा कहा गया है—'कीर्त्तिर्यस्य स जीवति'।

षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥६॥

•

अथ सप्तमोऽनुवाकः

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥७॥

तत्त्वप्रकाशिका—एतद्विद्याङ्गव्रतमाह—अन्नमित्यादिना। अन्नस्य = अदनी-

यस्य, निन्दां न कुर्यात्। तदन्नानिन्दनं व्रतं = व्रतधारणम्। प्राणेऽन्नम्। प्राणेऽन्नत्वदृष्टि कार्या। शरीरेऽन्नादत्वदृष्टिर्विधेया। प्राणे पञ्चवृत्तौ शरीरं प्रतिष्ठितं तदधीनस्थितित्वेन प्रतिष्ठां प्राप्तम्। इदानीं वैपरीत्यमाह—शरीरे प्राण इति। एवं वेत्तुः फलमाह—स य इति। तस्य व्याख्यानं पूर्ववत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये तत्त्व-प्रकाशिकायां टीकायां सप्तमोऽनुवाकः ॥६॥

शब्दार्थ—अन्नं न निन्द्यात् = अन्न की निन्दा न करे, तद्व्रतम् = वह व्रत है, प्राणः वै अन्नम् = प्राण ही अन्न है, शरीरम् अन्नादम् = शरीर अन्न का भक्षक है, शरीरं प्राणे प्रतिष्ठितम् = शरीर प्राण में प्रतिष्ठित है, शरीरे = शरीर में, प्राणः प्रतिष्ठितः = प्राण प्रतिष्ठित है, तत् = वह, एतत् = यह, अन्ने = अन्न में, अन्नं प्रतिष्ठितम् = अन्न प्रतिष्ठित है, वेद = जानता है, यः = जो, प्रतितिष्ठति = प्रतिष्ठित है, सः = वह, अन्नवान् = अन्नवाला, अन्नादः = अन्न को खानेवाला, भवति = होता है, प्रजया = प्रजा से, पशुभिः = पशुओं से, ब्रह्मवर्चसेन = ब्रह्मबल से, महान् भवति = महान् होता है, कीर्त्या = यश से महान् होता है।

व्याख्या—प्राणियों का प्राण (जीवन) अन्न है, इसलिये अदनीय अन्न की निन्दा न करे। व्रतधारण करे कि मैं अन्न की निन्दा नहीं करूँगा। अन्न ही प्राण है और प्राण ही अन्न है। प्राण में अन्नत्व दृष्टि करनी चाहिये और शरीर में अन्नादत्व दृष्टि करनी चाहिये। पञ्च वृत्ति में शरीर प्रतिष्ठित है, उसके अधीन स्थिति रूप से प्रतिष्ठा को प्राप्त किया है। इस प्रकार अन्न को जानने वाले का फल बताते हैं—जो इस अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित हो जाता है। अन्नवान् एवं अन्नभक्षक होता है, नीरोग होता है, पुत्रादि सन्तति से महान् होता है। गौ आदि एवं वेदाध्ययन से उत्पन्न तेज से वह महान् होता है और यश से अधिक बड़ा होता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥७॥

•

अथाष्टमोऽनुवाकः

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्य-ध्याये अष्टमोऽनुवाकः ॥८॥

तत्त्वप्रकाशिका—अन्नं न परिचक्षीत = दीयमानमन्नं न निराकुर्यात्। पात्रस्थं वा

न परित्यजेत्। तदन्नापरित्यागलक्षणं व्रतं व्रतधारणम्। अन्नशब्देन भौतिकं भूतप्रसङ्गं प्रस्तावयति। आपो वा अन्नमिति आपोद्रवात्मिकाश्चतुर्गुणाः। ज्योतिः प्रकाशात्मकं त्रिगुणम्। शेषं प्राणशरीरपर्यायवत्समानपाठं व्याख्येयम्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायाम् अष्टमोऽनुवाकः ॥८॥

व्याख्या—अन्न का परित्याग न करे। यह व्रत है। जल ही अन्न है। ज्योति अन्नाद है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योति में जल स्थित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद होता है; प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है तथा कीर्ति के कारण भी महान् होता है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥९॥

•

अथ नवमोऽनुवाकः

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः ॥९॥

तत्त्वप्रकाशिका—अन्नमुक्तं बह्वधिकं शास्त्रोक्तैरुपायैरर्जनादिभिः कुर्वीत शेषं पूर्ववत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यध्याये तत्त्वप्रकाशिकायां टीकायां नवमोऽनुवाकः ॥९॥

भावार्थ—दीयमान अन्न का निराकरण न करे, अर्थात् पात्र में अन्न की अवहेलना कर उसका कभी परित्याग न करें। वह एक अपरित्याग लक्षण व्रतधारण है। यहाँ अन्न शब्द से भौतिक भूतप्रसङ्ग का प्रस्ताव है। जल ही अन्न है अर्थात् जल द्रवात्मिक चतुर्गुण है। ज्योति प्रकाशस्वरूप अन्नभक्षक है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है, ज्योति में जल प्रतिष्ठित है। शेष पूर्ववत् अर्थ जानना चाहिये।

शास्त्र में कहे गये उपायों द्वारा अन्न को खूब बढ़ायें, अन्नक्षेत्र खोलकर विद्यार्थी, ब्राह्मण, साधु-संन्यासी जनों को नित्य पकवानों द्वारा श्रद्धा-भक्ति से भोजन करायें। धनाढ्य व्यक्ति अगर ऐसा न करे तो उनका परलोक बिगड़ जाता है। धन द्वारा

धर्मोपार्जन करें, तभी उसे ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति हो सकेगी। यह शास्त्रों का अटल सिद्धान्त है। शेष पूर्ववत्।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥९॥

•

अथ दशमोऽनुवाकः

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः।

तत्त्वप्रकाशिका—कमपि मनुष्यमात्रं वसतौ अद्य रात्रौ त्वद्गृहवासं करिष्यामीति वसतिनिमित्तं समागतं न प्रत्याचक्षीत = न निराकुर्वीत। तद्वसतिनिमित्तं समागतानिवारणं व्रतं व्रतधारणम्। अन्नसम्पादनार्थं गृहस्थाश्रमवासिना मुमुक्षुणापि महान् प्रयत्नः करणीय इत्याह—तस्मादिति। यस्मादन्नमन्तरेण न पुरुषार्थसिद्धिर्गृहस्थस्य ततो यया कया च येन केनापि विधया = उपायप्रकारेण याजनाद्यन्यतमेनेत्यर्थः। बह्वधिकमन्नं व्रीह्यादिकं प्राप्नुयात् = सम्पादयेत्। अराधि = संसिद्धम्। अस्मै गृहं समागतायातिथयेऽन्नमदनीयम्। इत्यनेन प्रकारेण स्वभार्यादीन् प्रति आचक्षते = कथयन्ति। विद्वांसो गृहस्थाः। अनेन गृहस्थप्रसिद्धिः प्रमाणमन्नदाने कथिता। इदानीं दीयमानेऽन्ने देशकालपात्रश्रद्धासत्कारादिसम्पत्तिरङ्गमित्येतदर्थे यथा दत्तं तथैव फलं भवतीत्याह—एतद्वैति। एतद्वै प्रसिद्धम्। मुखतो मुखे मुख्यदेशे काले पात्रे च मुख्यया श्रद्धाप्रणिपातसत्कारादिरूपया वृत्त्या मुख्यमन्नमदनीयम्। राद्धं = संसिद्धं दत्तं यदि तदा मुखतो मुख्ये देशे काले मुख्यया वृत्त्या मुख्यं मुख्याय। अस्मै = अन्नस्य दात्रे। अन्नमदनीयम्। राध्यते संसिद्धं भवति। एतद्वै मध्यतो मध्यमदेशे काले पात्रे च मध्यमया वृत्त्या मध्यमम्। अन्ततोऽन्ते जघन्यदेशे काले पात्रे च जघन्यया वृत्त्या तिरस्कारादिरूपया जघन्यम्। एवं वेत्तुः फलमाह—य एवमिति। योऽन्नदानस्य फलाभिज्ञः। एवमुक्तप्रकारेण वेद। अन्नदानफलमुत्तममुपास्ते सोऽपि मुख्यतोऽन्नं लभत इति शेषः। तस्मान्मुखतोऽन्नं देयमिति सन्दर्भार्थः। क्षेमं = प्राप्तस्य रक्षणम्। क्षेमसाधनत्वाद् वाचः क्षेमत्वबुद्धिस्तत्र कार्येत्यर्थः। योगक्षेमः = अप्राप्तस्य प्राप्तिर्हि योगः। प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः। तद्बुद्धिः प्राणापानयोः कार्या। एवमुत्तरत्रापि। विमुक्तिर्विसर्गः, मलविमोचनव्यापार इति यावत्। इत्यध्यात्मोपासनासमाप्त्यर्थः। मानुषीः = मनुष्यसम्बन्धीः। समाज्ञाः = सम्यगाज्ञा उपासनाः। जानीयादिति शेषः।

शब्दार्थ—वसतौ = अपने घर पर, कञ्चन = किसी (व्यक्ति) का, न प्रत्याच-

क्षीत = प्रत्याख्यान न करे। तत् = वह, व्रतम् = व्रत है, तस्मात् = इसलिये, यया कया च विधया = जिस किसी भी प्रकार से, बहु = बहुत, अन्नम् = अन्न, प्राप्नुयात् = प्राप्त करे। अस्मै = अपने घर पर आये हुए इस अतिथि देवता के लिये, अन्नम् = पकवान्न, अराधि = तैयार है, इति = इस प्रकार, आचक्षते = (सद्गृहस्थ) कहते हैं, मुखत: = मुख्यवृत्ति से, अर्थात् श्रद्धा-भक्ति से एवं सत्कारपूर्वक, एतत् राद्धम् = यह संसिद्ध, अन्नम् = अन्न है, वै = निश्चय ही, अस्मै = इस अन्नदाता को, मुखत: = अधिक सत्कार आदि के साथ, अन्नम् राध्यते = अन्न सिद्ध हो जाता है, मध्यत: = मध्यम वृत्ति से, एतत् = यह, राद्धम् = सिद्ध, अन्नम् = अन्न है (अन्न दान देता है), अस्मै = इस (अन्नदाता) को, वै = निश्चय ही, मध्यत: = मध्यम श्रद्धा से, अन्नम् राध्यते = अन्न संसिद्ध (प्राप्त होता) है, अन्तत: = जघन्य वृत्ति से, एतत् = यह, राद्धम् = सिद्ध, अन्नम् = अन्न है (ऐसा समझकर भोजन देता है), अन्नम् राध्यते = अन्न संसिद्ध होता है, य: = जो, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है, वाचि = वाणी में, क्षेम इति = क्षेम रहता है, प्राणापानयो: = प्राण और अपान, योगक्षेम इति = ये योग और क्षेम है, हस्तयो: = दोनों हाथों में, कर्म इति = कर्म किया जाता है, पादयो: = दोनों पैरों में, गति: इति = गमन, पायौ = गुदा में, विमुक्ति: इति = मलविसर्जन, मानुषी: = मनुष्य सम्बधिनी, समाज्ञा: = भलीभाँति आज्ञा-उपासनाएँ, इति = इस प्रकार कही गयी हैं।

व्याख्या—सभी के लिये इस लोक में कुछ ईश्वर सम्बन्धी नियम बताये गये हैं—जैसे कोई भी मनुष्यमात्र 'आज रात में तुम्हारे घर पर रहूँगा' इस प्रकार रातभर ठहरने के लिए आये हुये अतिथि व्यक्ति को विमुखकर न लौटायें। पीछे शिक्षावल्ली में कहा गया है—'अतिथिदेवो भव'। इसलिये भगवद्बुद्धि से अतिथि की अवश्य सेवा करनी चाहिये। हम अतिथि-सेवा करेंगे ऐसा व्रत धारण करना चाहिये। अन्न सम्पादन के लिए गृहस्थाश्रम वासी मुमुक्षु को भी महान् प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि अन्न के बिना गृहस्थ के पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये जिस किसी भी उपाय-प्रकार से अधिक अन्न धान-गेहूँ आदि का सम्पादन करें। अर्थात् बहुत-से धन का सञ्चय करें। उससे यज्ञभागी पञ्चदेवता देव, ऋषि, पितर, भूत और नर की सेवा करें। हमारे घर पर समागत अतिथि के लिए अन्न-वस्त्रादि देना चाहिये। सद्गृहस्थ इस प्रकार से अपनी भार्या (स्त्री) से कहते हैं। इस समय दीयमान अन्न में देश, काल, पात्र, श्रद्धा, सत्कार आदि सम्पत्ति अङ्ग इस अर्थ में जैसे दिया गया है वैसे ही फल होता है, सो बताते हैं—मुख्य देश में, ठीक समय पर और सत्पात्र में श्रद्धा-प्रणिपात-सत्कार आदि रूप वृत्ति से मुख्य अन्न अदनीय है। मध्यम देश, काल और पात्र में मध्यम वृत्ति से मध्यम माने जाते हैं। जघन्यदेश, काल और पात्र में जघन्य वृत्ति से तिरस्कार आदि रूप से जघन्य है। इस प्रकार जानने वाले का फल बताया गया है—जो अन्नदान का फलाभिज्ञ है, इस प्रकार से जानता है; अन्नदान फल की उत्तम उपासना करता है वह भी मुख्य अन्नलाभ करता है। इसलिये मुख्य वृत्ति से अन्नदान करना चाहिये। यही

सन्दर्भ का अर्थ है। क्षेम का साधन होने से वाणी में क्षेमत्व बुद्धि उसमें करनी चाहिये। अप्राप्त की प्राप्ति ही योग है। प्राप्त वस्तु की सब ओर से रक्षा करना क्षेम है। प्राण और अपान में वह बुद्धि करनी चाहिये। इस प्रकार उत्तरोत्तर भी अर्थ जोड़ना चाहिये। मनुष्य सम्बन्धिनी भलीभाँति आज्ञा उपासनाएँ समझें।

अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान्भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति। तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति।

तत्त्वप्रकाशिका—अथ मानुष्युपासनाकथनसमनन्तरम्। दैवीः = देवसम्बन्धिनीः समाज्ञा इत्यनुषङ्गः। तृप्तिः = अशनपानजा तुष्टिः, तद्बुद्धिर्वृष्टौ कार्या। एवमुत्तरत्रापि। बलं = भूयसासमप्यभवकारणं सत्त्वम्। विद्युति = अचिरप्रभायाम्। यशः = कीर्त्तिरूपम्। पशुषु = गवादिषु। ज्योतिः = प्रकाशरूपम्। प्रजापतिः = पुत्रदातृत्वात् तद्बुद्धिः कार्या। अमृतं = सन्ततिः, तथा च पौत्रादिरूपसन्तानपरम्परादातृत्वादमृतमिति भावः। आनन्दं = क्षद्रसुखरूपम्। उपस्थे = गुह्येन्द्रिये। आकाशे भूताकाशे। प्रतिष्ठा = प्रतितिष्ठत्यस्मिन् कार्यकारणजातमिति सर्वाधार इत्यर्थः। इत्यनेन प्रकारेणोपासीतोपासनं कुर्यात्। तत्र फलमाह—प्रतिष्ठावान् भवतीति। महान् सर्वस्मादधिकः। अस्मै = उपासकाय। कामाः नम्यन्ते = नम्रा भवन्ति, प्राप्ता भवन्ति। पूर्णगुणत्वाद् ब्रह्मेत्युपासीत ब्रह्मवान् = ब्रह्मत्ववान् भवतीत्यर्थः॥

शब्दार्थ—अथ = इसके बाद, दैवीः = देवसम्बन्धिनी बातें हैं। वृष्टौ = वृष्टि में, तृप्तिः = तृप्ति, इति, विद्युति = बिजली में, बलम् = बल है, इति, पशुषु = पशुओं में, यशः = यश है, इति, नक्षत्रेषु = नक्षत्रों में, ज्योतिः = प्रकाशरूप है, इति, उपस्थे = उपस्थ में, प्रजातिः = प्रजाति है, अमृतम् आनन्द इति = पुत्र-पौत्र आदि सन्तन्ति को देनेवाला क्षुद्र सुख रूप है, आकाशे = आकाश में, सर्वम् इति = सब है, तत् = वह, प्रतिष्ठा = प्रतिष्ठा है, इति उपासीत = इस प्रकार (ब्रह्म की) उपासना करे, प्रतिष्ठावान् भवति = उपासना करने वाला व्यक्ति प्रतिष्ठावाला हो जाता है, तन्महः = वह मह है, इति उपासीत = इस प्रकार उसकी उपासना करे। महान् भवति = वह महान् हो जाता है। तन्मनः = वह मन है, इति उपासीत = इस प्रकार उसकी उपासना करे, मानवान् भवति = वह मननशील हो जाता है, तन्नमः = वह नमन करने योग्य है, इति उपासीत = इस प्रकार उसकी उपासना करे। अस्मै = ऐसे उपासक के लिये, कामाः = विषयभोग पदार्थ, नम्यन्ते = झुकते हैं, तत् = वह, ब्रह्म = ब्रह्म है, इति उपासीत = इस प्रकार उसकी उपासना करे, ब्रह्मवान् भवति = वह उपासक आत्मवान् हो जाता है।

व्याख्या—इसके बाद अर्थात् मानुषी-उपासना कथा के बाद देवसम्बन्धिनी

पासनाओं का वर्णन करते हैं। तृप्ति अन्न-जल से उत्पन्न तुष्टि वह बुद्धि वृष्टि में करनी ाहिये। इस प्रकार आगे भी जोड़ना चाहिये। अमृत सन्तान और पौत्रादि रूप सन्तान रम्परा को देने के कारण ही अमृत है। उपस्थ–गुह्येन्द्रिय में आनन्द क्षुद्र सुख है। म्भोग रूप रतिक्रीड़ा–स्त्रीपुरुषजनित सुख व आनन्द क्षुद्र है। भूताकाश में सब वेद्यमान है। वह ब्रह्म सर्वाधार है—ऐसा जानकर उसकी उपासना करनी चाहिये। इस कार से ब्रह्म की उपासना करें। इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करने वाले का उसमें फल बताया गया है—प्रतिष्ठावान् भवति = वह उपासक सब से अधिक महान् होता है। सारी कामनाएँ मूर्त्तिमती होकर उसके सामने सेवार्थ उपस्थित रहती हैं एवं नतमस्तक होकर रहती हैं। वही आत्मज्ञानी होता है॥

तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमय-मात्मानमुपसंक्रम्य।

तत्त्वप्रकाशिका—परितो म्रियन्तेऽस्मिन् इति परिमरः। सार्वत्रिकमरणस्याप्यव-काशतयाऽऽश्रयः। अथवा सर्वविनाशकः कालः परमेश्वरः ब्रह्मणा सम्बद्धश्च स इत्याकाशः। इत्यनेन प्रकारेण उपासीतोपासनं कुर्यात्। पर्येणम् = एनमुपासकं परि तद्द्विषन्तो म्रियन्ते = विनश्यन्ति। सपत्नाः = कामादयो बाह्या वा वैरिणः। परि = सर्वतो ये प्रसिद्धाः। अप्रियाः = कर्णनेत्रमनोदाहकाः, स्वस्य भ्रातृव्याः = वैरिणो द्विषन्तोऽपि अयमस्माकं वैरी अस्य अनिष्टम् अस्माभिः करणीयमित्युपासते सङ्कल्पयन्ते, उपासको वैते मम वैरिण इति सङ्कल्पं करोति येषु वैरमकुर्वाणेष्वपि ते सर्वे विनश्यन्तीत्यर्थः। स यश्चायमित्यादिकं प्रागुपदर्शितरीत्या व्याख्येयम्।

व्याख्या—परिमरः = सब ओर से इसमें मरते हैं, इस अर्थ में सार्वत्रिक मरण का भी अवकाश रूप से आश्रय है। वह ब्रह्म का परिमर है। अथवा सर्वविनाशक काल परमेश्वर ब्रह्म से सम्बद्ध और वह आकाश है, इस प्रकार से उपासना करे (पर्येणम् = एनं + परि)। इस ब्रह्मोपासक के प्रति विद्वेष करनेवाले दुश्मन मर जाते हैं, स्वतः विनष्ट हो जाते हैं। हिंसक खल अपने पाप से ही नष्ट हो जाते हैं और साधु-सज्जन अपनी समता से ही भयों से (द्वेष करनेवाले शत्रुओं से) बच जाते हैं। चारों ओर से ये प्रसिद्ध अप्रिय कान, नेत्र और मन का दाहक अपने अनिष्ट चाहनेवाले हमारे सारे शत्रु स्वतः विनष्ट हो जाते हैं। वे सब वैर करने वाले दुश्मन मारे जाते हैं। 'स यश्चायमि'त्यादि की पहले दिखलायी गयी रीति से व्याख्या करनी चाहिये।

एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्द एतं विज्ञानमयमात्मानमुप-संक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य इमाँल्लोकान् कामान्नीकामरूप्य-नुसञ्चरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा३वु हा३वु हा३वु। अहमन्नमहमन्न-महमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अह२ श्लोककृदह२

श्लोककृदह३ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः।

अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्ण-ज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्य-ध्याये दशमोऽनुवाकः ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—इमान् भूरादींल्लोकान् कर्मफलभूतान्। कामान्नीकामं यथाभि-लाषमन्नमदनीयमस्यास्तीति कामान्नीकामरूपी कामं यथाभिलाषं रूपमस्यास्तीति काम-रूपी। अनुसञ्चरन् = आत्मसाक्षात्कारमनु इमांल्लोकान् पर्यटन् मानुषेण शरीरेणाधि-कारिकेण वा एतद् वक्ष्यमाणं लोकानुग्रहार्थं साम = सामत्वप्रतिपादकं वचनं संसार-शूलार्पितान् प्राणिनो निरीक्ष्य करुणाक्रान्तमना गायन्नत्युन्नताञ्छब्दान् कुर्वन्। आस्ते = तिष्ठते। हा३वु हा३वु हा३वु। स्तोमाक्षराण्येतानि। लोकत्रयीस्थानं सम्बोधयति। वच-नत्रयेण अहो अहो अहो इति प्लुतिः पदत्रयेऽप्याश्चर्यार्था। अहमन्नमदनीयमुपभोग्यमि-त्यर्थः। अन्नादः = अन्नमत्तीत्यान्नदो भोक्ता परमात्मा। श्लोकयत इति श्लोकः, श्लाघ-नीयो जगद्रक्षणादिकृदित्यर्थः। ऋतस्य कर्मणः प्रथमजाः सर्गाद्यसमये तत्परिपाककृदि-त्यर्थः। देवेभ्यः पूर्वः पूर्वज इत्यर्थः। पूर्वभाव्यपेक्षयेदमिति ज्ञातव्यम्। अमृतस्य मोक्षस्य नाभिराश्रयः। नाभा इति गानकृतो विकारः। ये मां योग्याय शिष्याय ददात्युपदिशति स इदेव माऽवा प्राप्तो भवति। वा गतिगन्धनयोरिति धातुः। अहमन्नमिति अन्नमचेतनं तद्भोक्तारं चेतनं चाद्मि = व्याप्नोमि। अहं विश्वमिति प्रलयकाले विश्वमभि-भूतवानस्मि। सुवर्नः सुवर्णः तत्समानवर्णो देदीप्यमानविग्रहः, ज्योतिः = प्रकाशः। एवं वेत्तुः फल-माह-योऽधिकारी एवमुक्तप्रकारमानन्दमयं परमात्मानं वासुदेवं वेद = जानाति, साक्षा-त्करोति। सोऽपि सर्वाल्लोकानित्यादिनोक्तफलं प्राप्नोति। अस्य व्याख्यानं पूर्ववत्।

अनादिनिवृत्तपथप्रवर्तकब्रह्मविद्योपदेशकलोकाचार्यश्रीसनन्दादिप्रवर्त्तित श्री १०८ महामुनीन्द्रभगवन्निम्बार्काचार्यचरणोपबृंहितवैदिकसत्सम्प्रदायानुगतपूज्य-पादनिखिलरसिकचक्रचूडामणि श्री १०८ स्वामिहरिदासपदाश्रिताश्रित-परमविरक्तमहानुभावश्री १०८स्वामिनीशरणपादपद्मचञ्चरीकेण तर्क-वागीशोपाधिविभूषितामोलकरामशास्त्रिणा पूर्वाचार्योक्तितः कृष्ण-यजुर्वेदीयोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायः समाप्तः ॥३॥

शब्दार्थ—एतम् = इस, मनोमयम् = मनोमय, आत्मानम् = आत्मा को, उप-संक्रम्य = प्राप्त होकर, एतम् = इस, विज्ञानमयम् = विज्ञानमय, आत्मानम् = आत्मा को, उपसंक्रम्य = प्राप्त होकर, कामान्नी = अभिलाषानुसार, कामरूपी = इच्छानुसार रूपवाला होकर, इमान् = इन, लोकान् = लोकों में, अनुसञ्चरन् = पर्यटन करता हुआ, एतत् = इस, साम = सामत्वप्रतिपादक, गायन् आस्ते = वचन का गान करता

हुआ रहता है। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु। अहम् = मैं, अन्नम् = अन्न हूँ। अहम् = मैं, अन्नम् = अन्न हूँ, अहम् = मैं, अन्नादः = अन्न का भक्षक हूँ, अहम् = मैं, श्लोककृत् = जगद्रक्षण आदि करनेवाला हूँ, ऋतस्य = कर्म का, अहम् = मैं, प्रथमजाः सर्गादि के समय में उत्पन्न होने वाला, देवेभ्यः = देवों से, पूर्वम् = पहले उत्पन्न, अमृतस्य = अमृत का, नाभायि = आश्रय, अस्मि = हूँ, यः = जो, मा = मुझे, ददाति = देता है, सः = वह, इदेव मा आवाः = निश्चय ही मुझे प्राप्त होता है, अहम् = मैं, अन्नम् = अन्न, अहम् = मैं, अन्नम् = अन्न को, अदन्तम् = खाते हुए, अद्मि = निगल जाता हूँ, अहम् = मैं, विश्वम् = सब, भुवनम् = लोक में, अभ्यभवाम = अभिभूतवान् हूँ, सुवर्णज्योतिः = तपाये हुए सोने के समान कान्ति है, यः = जो, एवम् = इस प्रकार, वेद = जानता है, इति उपनिषद् = इस प्रकार यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या है।

व्याख्या—इन भूः आदि कर्मफल रूप लोकों को चाहने वाला व्यक्ति यथाभिलषित अभीष्ट पदार्थ भगवत्कृपा से पाप्त कर लेता है तब वह विषयभोगों को यथेच्छ—'कामान्नी' = भोगनेवाला और 'कामरूपी' हो जाता है। इन भूः आदि लोकों में मानुष शरीर से भ्रमण करता हुआ ये आगे कहे जाने वाले जनों पर अनुग्रह करने के लिए साम का गान करता रहता है। संसारशूल में अर्पित प्राणियों का निरीक्षण कर करुणायुक्त भक्तिगद्गद हृदय से ऊँचे शब्दों का गान करता हुआ रहता है। अर्थात् संसारशूलार्पित जीवों को साम के सुमधुर गान से आनन्दित करता हुआ रहता है।

'हा३वु हा३वु हा३वु' इस प्रकार तीनों लोकों में स्थित जनों को सम्बोधित करता है। वचनत्रय द्वारा 'अहो अहो अहो' इस प्रकार प्लुति पदत्रय में भी आश्चर्यार्थ है। मैं अन्न-अदनीय उपभोग्य हूँ। अन्न को खाता है-इस अर्थ में अन्नाद (अन्नभक्षक) भोक्ता परमात्मा है। श्रीभगवान् का जो जगद्रक्षणादि गुणानुवाद विद्वानों के द्वारा गान किया जाता है। कर्म का सर्गादि समय में कर्म का परिपाक करनेवाला जो देवताओं से पहले हुआ है, अमृत अर्थात् मोक्ष नाभि आश्रय है। नाभा यह गानकृत विकार है। जो मुझे योग्य शिष्य देता है वह उपदेश करता है, वही उसे प्राप्त होता है। मैं अन्न हूँ। अन्न अचेतन उसके भोक्ता चेतन को खाता हूँ अर्थात् उसको व्याप्त करके रहता हूँ। मैं सब हूँ। प्रलयकाल में विश्व (सब मैं) अभिभूतवान् हूँ। सुवर्ण के समान वर्ण देदीप्यमान विग्रह प्रकाशस्वरूप है। जो वेदान्त शास्त्र के अधिकारी उक्त प्रकार से आनन्दमय परमात्मा वासुदेव को जानता है उसे सब अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह अध्यात्म-परमात्मविद्या (उपनिषद्) समाप्त हुई।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्तिस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबातर्कतर्कव्याकरणतीर्थपादपद्मान्तेवासियोगिराजस्वामिराधाविहारिदासजी-
काठियाबाबाचरणारविन्दचञ्चरीक डा. स्वामी द्वारकादास
काठियाबाबा कृत तत्त्वप्रभा नाम्नी हिन्दी
टीका में तैत्तिरीयोपनिषद् समाप्त।

ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद्

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥२॥

श्रीकृष्णाय नमस्तस्मै राधाप्रेष्ठाय शर्मदे।
परमानन्दसन्दोहसान्द्रानन्दवपुष्मते ॥१॥
निम्बादित्यस्य पादाब्जं लोचनानन्ददायकम्।
सकलार्थप्रदं नृणां प्रणमामि पुनः पुनः ॥२॥
श्रीनिवासं गुरुं वन्दे करुणावरुणालयम्।
बादरायणसूत्राणां भाष्यकारं गुणार्णवम् ॥३॥
सकलान् देशिकान् नत्वा पूवाचार्योक्तितः खलु।
ऐतरेयस्य च व्याख्या व्याकरिष्ये यथामति ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—इदमनभिव्यक्तनामरूपात्मकं जगत्। तद्भिन्नाभिन्न एक एव सहायान्तरशून्यस्वतन्त्रसत्ताश्रयः सर्वज्ञोऽचिन्त्यानन्तशक्तिरात्मा परमात्मा श्रीवासुदेवोऽग्रे जगतः सृष्टेः प्रागासीत्। एवकारस्तदधिकोत्कृष्टत्वव्यवच्छेदपरः। प्रकृतादात्मनोऽन्यत् विलक्षणं किञ्चन किञ्चिदपि वस्तु न मिषत्। धातूनामनेकार्थत्वान्नासीदित्यर्थः। स परमात्मा पृथिव्यादींल्लोकान् स्रक्ष्यामीत्येवमीक्षत ईक्षणं पर्यालोचनं कृतवान्। नशब्दो वितर्के। इत्थं विचार्य स सर्वेश्वर इमान् लोकान् असृजत।

यद्यपि लोकानुसृजा इत्येतावन्मात्रविचारेण कुलालवन्निमित्तकारणत्वं ब्रह्मणः प्रतिभाति तथापि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति शाखान्तान्तरगतस्य स्वकीयबहुभावविचारवाक्यस्य गुणोपसंहारन्यायेनात्रोपसंहारादुपादानत्वमपि सिद्ध्यति। एतच्च भगवता श्रीबादरायणेन सूत्रितम्—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्' (ब्र.सू. १।४।२३)। ब्रह्मैव जगतः प्रकृतिरुपादानञ्च निमित्तञ्च कुतः उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादिति दृष्टान्तस्यानुसरणादिति सूत्रार्थः। यावन्तो लोका भगवता सृष्टास्तान् स्व-स्वनाम्ना निर्दिशति—अम्भ इत्यादिना। आकाशादिक्रमेणाणुमुत्पाद्याम्भःशब्दवाच्यद्युलोकप्रभृतील्लोकानसृजत एतेषामम्भःप्रभृतिशब्दानां लोकवाचित्वं न प्रसिद्धतरमित्याशङ्क्य तेषां शब्दानामर्थं स्वयमेव श्रुतिः व्याचष्टे—अदोऽम्भ इति परेण द्युलोकस्योपरि महर्लोकजनोलोकप्रभृतयः, या च द्यौः प्रतिष्ठा सर्वेषां देवानामाश्रयभूतो द्युलोकोऽदोऽम्भ

एतत्सर्वमम्भ:शब्दवाच्यम्। मरीचिशब्देनान्तरिक्षलोक उच्यते, सूर्यमरीचीनामाधारत्वात्। भूर्लोकवर्त्तिनां प्राणिनां मरणाश्रयत्वात् मरशब्दवाच्या पृथिवी। पृथिव्या अधस्तात् पातालविशेषाः आपशब्देनोच्यन्ते।

शब्दार्थ—इदम् = यह दृश्यमान जगत्, अग्रे = सृष्टि के पहले, एक: = एक, आत्मा = परमात्मा, वै = ही, आसीत् = था, अन्यत् = दूसरा, किञ्चन एव = कुछ ही, न मिषत् = नहीं था, स: = उस (परमात्मा) ने, ईक्षत = ईक्षण किया, नु = वितर्क उत्पन्न हुआ, (मैं) लोकान् सृजै = भुवनों का सर्जन करूँ, स: = उसने, अम्भ: = द्युलोक, मरीची: = मरीची (अन्तरिक्ष), मरम् = मर, मर्त्यलोक, आप: = जल, इमान् = इन, लोकान् असृजत = लोकों की सृष्टि की, दिवम् परेण = द्युलोक के ऊपर महर्लोक प्रभृति, प्रतिष्ठा = स्थापित है, स्थित है, अद: = वे सब, अम्भ: = अम्भ शब्दवाच्य हैं, द्यौ: = द्युलोक, अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष, मरीचय: = मरीचि, पृथिवी = पृथिवी, मर: = मर (जहाँ आदमी मरते हैं), या: = जो, अधस्तात् = नीचे, ता: = वे, आप: = जल हैं।

व्याख्या—परमात्मा श्रीवासुदेव से अखिल विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति (पालन) और विनष्टि (संहार) किस प्रकार से साधित होते हैं, श्रुतियाँ इन्हीं का सम्यक् प्रतिपादन करती हैं। छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक एवं द्वितीय खण्ड में उल्लिखित है—'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि। अर्थात्—हे सौम्य ! इस जगत् में पहले सृष्टि के पूर्व एक मात्र समानातिशयशून्य अद्वितीय सद्ब्रह्म ही था। उसी सत् ने ईक्षण (पर्यालोचन) किया है। मैं जगद्रूप में परिणत होकर बहुत हो जाऊँ। इस प्रकार से ईक्षण करके उस सत्सर्वेश्वर ने तेज की सृष्टि की। सद्ब्रह्म ने ईक्षणपूर्वक जगत् की रचना की है। अनन्त कल्याण गुणवाले परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम अपने सत्यसङ्कल्प मात्र से ही तीनों लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। वस्तुतः यह विश्व सृष्टि, स्थिति और विनाश रूप से उनकी माया का खेल है। जिसे उनकी अघटनघटनापटीयसी मायाशक्ति कहते हैं।

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्' इत्यादि श्रुति का तात्पर्यार्थ श्रीमद्भागवत (६।४।४७) में देखने को मिलता है—'अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः'। जगत्कर्त्ता ब्रह्म ईक्षणशक्तियुक्त है और बृहत्तम स्वतन्त्र अद्वैत सद्वस्तु है। प्रलयकाल में जगत् का अदर्शन हो जाने पर एकमात्र ब्रह्म शेष रह जाते हैं। इसलिये कहा—'नान्यत् किञ्चन मिषत्'। उस परमात्मा ने ईक्षण किया, प्रजारूप से अपने को स्वयं बनाया, अतएव अपना बहुत भाव रूप का विचार निमित्तकारण यह ईक्षणशक्ति ही है और उपादान वस्तु भी स्वयं ब्रह्म ही है। वस्तुतः ब्रह्म ही समस्त जगत् का सर्जनकर्त्ता, पालनकर्त्ता और प्रलयकर्त्ता है। यह उपनिषद्वेत्ताओं का सिद्धान्त है। ब्रह्म की स्वरूपगत ईक्षण शक्ति जगत् की केवल सृष्टि विषयक ही नहीं बल्कि इसके परिपालन, संरक्षण और प्रलयसाधन की शक्ति भी इसी के अन्तर्गत है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि परिवर्त्तन ही संसार का स्वरूपगत धर्म है। परिवर्त्तन शब्द पर विचार करने

से ज्ञात होता है कि सृष्टि, स्थिति और लय ये तीनों परिवर्त्तन शब्द के अर्थ हैं। 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'। अतएव प्रवाह की भाँति यह नामरूपात्मक जगत् परिवर्त्तनशील एवं सङ्कुचित होकर सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में विद्यमान था।

स्वर्गलोक के ऊपर महर्लोक, जनलोक प्रभृति हैं और जो स्वर्गलोक है वह समस्त देवताओं का आश्रयरूप है। यह सब अम्भ:शब्दवाच्य हैं। मरीचि शब्द से अन्तरिक्षलोक कहा जाता है, सूर्य मरीचियों का आधार है। भूर्लोक में रहने वाले प्राणी मरणाश्रय होने के कारण पृथिवी मरशब्दवाच्या है। पृथिवी के नीचे पाताल विशेष लोक 'आप' शब्द से कहे गये हैं। जितने लोक हैं उन सबकी श्रीभगवान् ने सृष्टि की है। यही श्रीभगवान् की असाधारण सर्वशक्तिमत्ता का परिचय है।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्। तमभ्यतपत् तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथा-ण्डम् ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—लोकसृष्टिरुक्ता पालकमन्तरा तस्याः सृष्टेः विनाशः स्यादित्याशङ्क्य लोकपालसृष्टिं दर्शयति—स परमात्मा ईक्षत = पर्य्यालोचत इमे त्वम्भः-प्रभृतयः मया रचिताः, तेषां रक्षणार्थं लोकपालानां नु सृजे = अहं सृजे। स विचारयुक्तः परमेश्वरः अद्भ्य एव = जलोपलक्षितपञ्चभूतेभ्यः, पुरुषं = पुरुषाकारं विराजं विराट्-पिण्डं समुद्धृत्य। अमूर्च्छयत् = कठिनमकरोत्। यथा कुलाल आर्द्रां मृदमानीय शोषयित्वा कठिनं पिण्डं करोति तद्वदित्यर्थः। विराडुत्पत्तिमभिधाय तदवयवेभ्यो लोकपालोत्पत्तिमाह–तमभ्यतपदिति। तं = पिण्डं पुरुषविधमुद्दिश्याभ्यतपत = पर्या-लोचितवान्। पर्य्यालोचनमेव तप इति प्रागभिहितम्। अभितः पर्य्यालोचितस्य विराट्-पिण्डस्य मुखच्छिद्रं निरभिद्यत = मुखच्छिद्रं विदारितमभूत्। यथा पक्षिसर्पादीनां पक्वपिण्डं भिन्नं भवति।

शब्दार्थ—सः = उसने, ईक्षत = ईक्षण किया, इमे = ये, नु = वितर्क में, लोकाः = लोक, लोकपालान् = लोकपालों की, सृजे = सृष्टि की, इति, सः = उसने, अद्भ्यः = जल से, एव = ही, पुरुषम् = पुरुषाकार विराट् पिण्ड को, समुद्धृत्य = निकालकर, अमूर्च्छयत् = कठिन किया, तम् = उस पिण्ड को, अभ्यतपत् = पर्या-लोचित किया, तस्य अभितप्तस्य = उस अभितप्त विराट्पिण्ड का, मुखम् = मुख-छिद्र, निरभिद्यत = विदारित हुआ, यथाण्डम् = जिस तरह अण्डों को फोड़कर पक्षी बाहर निकल आते हैं।

व्याख्या—पहले मन्त्र में लोकों की सृष्टि कही गयी है, पालक के बिना उस सृष्टि का विनाश हो-ऐसी आशङ्का कर लोकपालों की सृष्टि को दिखाते हैं—उस परमात्मा ने पर्य्यालोचन किया—ये अम्भ प्रभृति की मैंने रचना की है, उनकी रक्षा के लिये मैं लोकपालों की सृष्टि करूँ। इस प्रकार विचारयुक्त परमात्मा ने जलोपलक्षित पञ्च महाभूतों से पुरुषाकार विराट्पिण्ड को समुद्धृत कर उसे कठिन किया। जिस तरह

कुम्हार गिली मिट्टी को लाकर उसे सूखाकर कठिन ढेले को बना लेता है ठीक वैसे ही विराट् पुरुष जब चौबीस तत्त्वों के अण्ड का भेदन कर बाहर निकले तब उन्होंने अपने रहने के लिए निर्मल जल की सृष्टि की—'अपाऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः'। (श्रीमद्भागवत) विराट् की उत्पत्ति को बताकर उसके अवयवों से लोकपालों की उत्पत्ति को बताते हैं— उस पिण्ड = पुरुषाकार को उद्देश करके पर्यालोचन = तप किया। मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है—'तपसा चीयते ब्रह्म'। 'यस्य ज्ञानमयं तपः'। यहाँ तप पद से सङ्कल्परूप ज्ञान से ब्रह्म सृष्टि के लिये उन्मुख होता है। जिसका ज्ञान ही तप है। सब ओर से पर्यालोचित पिण्ड के मुख का च्छेद हुआ, जिस प्रकार पक्षी-सर्पादि का पक्व पिण्ड अलग हो जाता है।

मुखाद् वाग् वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद् वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद् दिशस्त्वङ्निरभिद्यत। त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत। हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत। नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत। शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४॥

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के प्रथमः खण्डः ॥१॥

तत्त्वप्रकाशिका—तद्वदस्मान्मुखच्छिद्राद् वागिन्द्रियं निष्पन्नम्। तस्माच्चेन्द्रियादग्निदेवता निष्पन्ना। एवमुत्तरपर्यायेष्वपि छिद्रेन्द्रियदेवता व्याख्येयाः। प्राणो प्राणेन्द्रियम्। लोमशब्देन तदाधारभूतत्वङ्निष्ठं स्पर्शेन्द्रियमुच्यते, हृदयमष्टदलकमलम्। अपानोऽधः सञ्चारो वायुः। रेतो गुह्येन्द्रियम् ॥४॥

इति ऐतरेयोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमः खण्डः ॥१॥

व्याख्या—मुख से वाक्-इन्द्रिय निष्पन्न हुई, उस वाक् इन्द्रिय से अग्नि देवता निष्पन्न हुआ, नासिका (नाक) के दोनों छेद उत्पन्न हुए, उनमें से प्राण-वायु निष्पन्न हुई, प्राण से वायु का प्रादुर्भाव हुआ, दोनों आँखों के छेद विदारित हुए, आँखों के छिद्रों में से नेत्र-इन्द्रिय निष्पन्न हुई, नेत्र-इन्द्रिय से सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ, दोनों कानों के छेद विदारित हुए, कानों से श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुई, श्रोत्र-कर्णेन्द्रिय से दिशाएँ प्रकट हुईं, त्वचा निकली, त्वचा से लोम उत्पन्न हुए, लोमों से ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। हृदय, हृदय से मन और मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ। फिर नाभि और नाभि से अपानवायु और अपानवायु से मृत्युदेव प्रकट हुआ। नीचे संचार करनेवाला वायु ही अपानवायु कहा जाता है। शिश्न = पुरुषलिङ्ग, उस शिश्न से रेत = गुह्य-इन्द्रिय और उससे जल उत्पन्न हुआ ॥४॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥१॥

•

द्वितीयः खण्डः

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं न प्रजानीहि। यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१॥ ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥२॥ ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति। ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥३॥

तत्त्वप्रकाशिका—या इन्द्रियतदभिमानिदेवता एताः सृष्टा रचिताः। अस्मिन् महत्यर्णवे = समुद्रवदत्यन्तविस्तृते विराट्देहे, प्रापतन् = प्रकर्षेण पतिता अभूवन्, तं सर्वेन्द्रियतद्देवताधिष्ठानभूतं विराट्देहं क्षुत्पिपासाभ्यामन्वावर्जत्तदनुगमितवान् संयोजितवान्। ता इन्द्रियाभिमानिन्यो देवताः। एनं स्रष्टारं परमात्मानं प्रत्यब्रुवन्। आयतनमधिष्ठानं नोऽस्मभ्यं प्रजानीहि विधत्स्व। यस्मिन् शरीरे प्रतिष्ठिताः सत्यः वयं तद्देहपर्याप्तमन्नमदाम। अन्नमत्तुं समर्था भवामः। ततः परमात्मा ताभ्यो देवताभ्यो भोगाय गां गोदेहमानयत्, तांश्च देवता अब्रुवन्। नोऽस्माकमयं देहो नैवालमिति अत्तुं न योग्यः। गोशरीरस्योपरिदन्ताभावेन दूर्वादिमूलस्योत्खातुमशक्यत्वादित्यर्थः। इतोऽन्यमप्युभयतोदन्तं देहं सृजेत्येवमब्रुवन्। परमात्मनाऽश्वशरीरं दत्तम्। विवेकज्ञानाभावादयमश्वदेहोऽपि न पर्य्याप्त इत्युक्तवत्यः। ततः परमात्मा विवेकसम्पन्नं पुरुषशरीरमानयत्। ताश्च देवताः परितुष्टाः सुकृतं = सुष्ठुकृतं परमात्मनेत्यब्रुवन्, बतेत्याश्चर्ये, तस्मान्मनुष्यशरीरं विवेकसम्पन्नं सुकृतं सर्वपुण्यकर्महेतुत्वात्। ता देवताऽब्रवीद् इष्टमासादितमिदमधिष्ठानमिति मत्वा स्वयोनिषु सर्वे हि रमन्ते ईश्वरसृष्टेषु भोगक्षमशरीरेषु देवतानां प्रवेशायेश्वरप्रेरणं दर्शयति–ता अब्रवीदिति। यस्मिन्नायतने छिद्रे यदिन्द्रियमुत्पन्नं या चाभिमानिदेवतोत्पन्ना तदायतनमनतिक्रम्य हे देवताः! प्रविशत ॥१-३॥

व्याख्या—जो इन्द्रियाँ और उनके अभिमानी देवता रचे गये हैं वे इस महान् सागर में अर्थात् समुद्र की भाँति अत्यन्त विस्तृत विराट् शरीर में आ पड़ें। उन्होंने समस्त इन्द्रियाँ और उसके देवता अधिष्ठानभूत विराट् देह को भूख और प्यास से संयोजित कर दिया। वे इन्द्रियाभिमानी देवता इस स्रष्टा परमात्मा से बोले—हे सर्वेश्वर! आप हमारे लिए आयतन—अधिष्ठान का विधान करें। जिस शरीर में स्थित होकर हम लोग उस देह में पर्याप्त अन्नभक्षण कर सकें। उसके बाद परमात्मा ने उन देवताओं के भोग के लिये गौ का शरीर उत्पन्न किया। देवता उनसे बोले—हमलोगों के लिए यह देह भक्षण के लिए योग्य नहीं है। गौशरीर का ऊपर दाँत न रहने पर दूर्वादि मूल का भक्षण करने में समर्थ नही हैं। इससे दूसरी दोनों ओर से दाँत शरीर युक्त सत्त्व की सृष्टि कीजिये। तब परमात्मा ने उनके लिए घोड़े का शरीर सर्जन कर दिया। देवताओं ने कहा- भगवन्! विवेक व ज्ञान का अभाव होने के कारण यह घोड़े का शरीर हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। उसके बाद उनके लिये परमात्मा ने विवेकसम्पन्न पुरुष के शरीर का सर्जन किया। उसे देखकर वे अग्नि आदि समस्त देवता परितुष्ट हो गये और वे बोले—यह मनुष्यशरीर विवेकसम्पन्न है, समस्त पुण्यकर्मों का कारण है,

श्रीभगवत्कृपा से ही यह मिला है। परमात्मा ने उन सबों से कहा—जिस छिद्र में जो इन्द्रिय उत्पन्न हुई और जो अभिमानी देवता उत्पन्न हुए हैं उसके आयतन-अधिष्ठान को अतिक्रमण करके प्रवेश कर जाओ ॥१-३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद् दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—इत्थमनुज्ञातानां देवतानां प्रवेशं दर्शयति–योऽयमग्निर्वागिन्द्रियाभिमानी देवः, सोऽयं वाग्भूत्वा वाच्यन्तर्भूय मुखच्छिद्रं प्राविशत्। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। चक्षुरादीनीन्द्रियाणि स्वस्वविषये स्वातन्त्र्येण प्रवर्त्तन्ते स्वस्वाधिष्ठातृदेवताप्रेरितानि वा तादृक्शक्तिमत्वात् स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते इत्याशङ्क्य भगवता बादरायणेन सिद्धान्तितम्—'ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात्'। (ब्र.सू. २।४०।१४) ज्योतिरादिभिरग्न्यादिभिर्देवताभिरधिष्ठानमधिष्ठितं वागादिकरणजातं देवताप्रवर्त्तितं सत् स्वकार्यार्थं प्रवर्त्तते न स्वातन्त्र्येण। कुतः तदामननात्। अग्निर्वाग्भूत्वेत्यादिना प्रेर्य्यप्रेरकभावं विनाऽग्न्यादिप्रवेशस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत इति सूत्रार्थः। एवमन्येऽपीन्द्रियविषयकविमर्शाः द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थखण्डे द्रष्टव्याः।

व्याख्या—इस प्रकार अनुज्ञात देवताओं का प्रवेश दिखाते हैं—वही यह वाक्-इन्द्रिय अभिमानी अग्निदेव वाणी होकर मुख के छिद्र में प्रविष्ट हो गये। इसी प्रकार वायुदेव प्राण होकर दोनों नाकों के छिद्रों में प्रविष्ट हो गये। सूर्यदेव नेत्र-इन्द्रिय होकर दोनों आँखों में प्रविष्ट हो गये। दिशाभिमानी देव श्रोत्रेन्द्रिय होकर दोनों कानों में प्रविष्ट हो गये। ओषधि और वनस्पतियों के अभिमानी देवता लोम होकर चमड़े में प्रविष्ट हो गये। चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हो गये। मृत्युदेव अपान—अधः सञ्चार वायु होकर नाभि में प्रविष्ट हो गये और जल रेत–गुह्येन्द्रिय होकर शिश्न (पुरुषलिङ्ग) में प्रविष्ट हो गये। वागादि करणसमूह अग्नि प्रभृति देवताओं के द्वारा प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य द्रष्टव्य २।४।१४) ॥४॥

तमशनापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनापिपासे भवतः ॥५॥

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के द्वितीयः खण्डः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—व्यष्टिशरीरेऽपि अशनापिपासयोरपि करणाधिष्ठातृदेवतासम्बन्धं वक्तुं तयोः प्रश्नं दर्शयति—तं परमात्मानं प्रति अशनापिपासे = क्षुत्पिपासे, स्वार्थं स्थानविशेषमनुग्रहेणेत्यब्रूताम् आवाभ्यामधिष्ठानमनभिप्रजानीहि चिन्तय विधत्स्व एवमुक्तः। परमात्मा ते क्षुत्पिपासे अब्रवीत् उभे अप्येतास्वेवाग्न्यादिदेवतासु आभजामि

ततस्तास्वेव भागिन्यौ विषयभोगयुक्ते करोमीत्यब्रवीत् भगवान्, यस्मादेवं भगवतोक्तं तस्माल्लोके यस्यै कस्यै अग्न्यादिदेवतायै हविर्गृह्यते भोग्यं वस्तु समर्प्यते अस्या-मग्न्यादिदेवतायामेते क्षुत्पिपासे भागयुक्त एव भवतः, अग्निवाय्वादिदेवतानां शरी-रेष्वाहारस्वीकारे क्षुत्पिपासयोरेव तृप्तिर्भवति तथा मनुष्यशरीरेऽपि चक्षुरादिदेवतायै हविः-स्वीकारे क्षुत्पिपासे तृप्यत इति भावः ॥५॥

इत्यैतरेयोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥२॥

व्याख्या—व्यष्टिशरीर में भूख और प्यास इन दोनों का करणाधिष्ठातृ देवता के साथ सम्बन्ध को बतलाने लिए दोनों का प्रश्न दिखलाते हैं—उस परमात्मा के प्रति भूख और प्यास अपने लिए स्थान विशेष के अनुग्रह से इस प्रकार कहने लगीं-हमारे लिए अधिष्ठान = ठहरने के लिए उचित स्थान का विधान करें। परमात्मा ने भूख और प्यास से कहा—तुम दोनों को इन अग्नि आदि देवताओं में ही मैं विषयभोगों से युक्त कर देता हूँ। क्योंकि यह भगवदुक्त वचन है इसलिये लोक में जिस किसी भी अग्नि आदि देवताओं के लिये हवि = भोग्य वस्तु समर्पित किया जाता है। इस अग्नि आदि देवता में ये भूख और प्यास भागयुक्त (भागीदार) ही होती हैं। जैसे अग्नि, वायु आदि देवताओं के शरीरों में आहार स्वीकार करने पर क्षुधा और पिपासा की ही तृप्ति होती है वैसे ही मनुष्यशरीर में भी चक्षुरादि देवता के लिये हवि स्वीकार करने पर भूख और प्यास दोनों ही हिस्सेदार होती हैं।

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

•

अथ तृतीयः खण्डः

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१॥

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्त्तिरजायत। या वै सा मूर्त्तिरजाय-ताऽन्नं वै तत् ॥२॥

तदेनत्सृष्टम्, पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत् प्राणेना-ग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—स परमात्मा पुनरप्येवं पर्य्यालोचितवान्। ये पृथिव्यादिलोकाः ये च लोकपालाः सर्वेन्द्रियशरीरदेवतारूपास्ते सर्वेऽपीमे सृष्टाः। क्षुत्पिपासाभ्याश्च संयो-जिता अत एभ्यो लोकपालेभ्योऽन्नं सृजे। अन्नमन्तरा तेषां जीवनासम्भवादिति भावः। अन्नं स्रक्ष्यामीति विचार्यान्ननिष्पादनार्थं तत्कारणजलप्रधानानि पञ्चमहाभूतान्यभ्यतपत् सर्वतः पर्यालोचनमकरोत्। ईदृशाज्जलसहितात् क्षेत्राद् व्रीह्यादयो जायन्तां स ईदृशानि मूषकादिशरीराणि मार्जारादीनामन्नभूतानि जायन्तामित्येवं सङ्कल्पं कृतवान्। ताभ्योऽद्भ्यो

जलोपलक्षितभूतेभ्यो व्रीहियवादिरूपा मूषकादिरूपा च मूर्त्तिरजायत। तत्र व्रीहियवादि-मूर्त्तिर्मनुष्यादीनामन्नं तैरद्यमानत्वात् ॥१-२॥

अन्नसृष्टिमुक्त्वाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्स्वीकारसाधनं निश्चिनोति–तदेनत्सृष्ट-मिति। यत्सृष्टमन्नं व्रीहियवादिकं तत्र व्रीह्याद्यन्नस्य स्वकीयवधविषये विवेकज्ञानाभावाद् गन्तुमसमर्थत्वाच्च नास्ति जनात् पलायनम्। यत्तु मूषकादिरूपं तदन्नं तदेतन्मार्जारादीनां भोक्तॄणां वधहेतुत्वं निश्चित्य तेभ्यः पराङ्मुखं सदत्यजिघांसदतिशयेन हन्तुं गन्तुमैच्छत् पलायितुं प्रारभतेत्यर्थः। पलायितुमुद्युक्तं तन्मूषकादिरूपमन्नं दृष्ट्वा भोक्तृवर्गो मार्जारादि-र्वागिन्द्रियेण ग्रहीतुमैच्छत्। ततः सर्वप्रयत्नेन वागिन्द्रियं प्रयुञ्जानोऽपि तेन तदन्नं ग्रहीतुं नाशक्नोत्। इदानीन्तनोदाहरणेन सृष्टिकालीना तदशक्तिः स्पष्टीक्रियते। स भोक्तृवर्ग आदिसृष्टिकाले यद्येतन्मूषकादिरूपमन्नं वाचा गृह्णीयात् तदेदानीमपि भोक्ता तदन्नवाचकैः शब्दैरीदृशमित्युक्तिमात्रेण तृप्तो भवेत्। नापि वागिन्द्रियस्याभिधानव्यतिरेकेणाकर्षण-सामर्थ्यं किञ्चिदस्ति। न चैवमन्नवाचकशब्दोच्चारणमात्रेण तृप्तिर्दृश्यते। तस्मात्सृष्टि-कालेऽपि वाचोऽन्नस्वीकारे सामर्थ्यं नास्तीत्यनुमेयम् ॥३॥

तत्प्राणेनेति। प्राणेन = घ्राणेन स्वव्यापारेणान्नमजिघृक्षत् = ग्रहीतुमैच्छत्, तदन्नं नाशक्नोन्न समर्थोऽभवत्प्राणेन ग्रहीतुमुपादातुम्। स पूर्वजः शरीरी यद्यदि हैनत् प्राणेनाग्रहैष्यत् गृहीतवान् स्यात् सर्वोऽपि जनः अभिप्राण्याघ्राय हैवान्नमत्रप्स्यत् तृप्तोऽभविष्यत् ॥४॥

सान्वयानुवाद—सः = उस (परमात्मा) ने, ईक्षत = ईक्षण किया, नु = वितर्क में, इमे लोकाः = ये सब लोक, च = और, लोकपालाः = लोकपाल, एभ्यः = इनके लिए, अन्नं सृजे इति = अन्न की सृष्टि की। सः = उस (परमात्मा) ने, अपः = जलों को, अभ्यतपत् = तपाया, ताभ्यः अभितप्ताभ्यः = उन सब ओर से तपाये हुए जलों से अर्थात् पञ्च महाभूतों से, मूर्त्तिः = मूर्त्ति, अजायत = उत्पन्न हुई, वै = निश्चय ही, या = जो, सा = वह मूर्त्ति, अजायत = उत्पन्न हुई, तत् वै अन्नम् = वह अन्न ही है। सृष्टम् = उत्पन्न किया हुआ, तत् एतत् = वह यह अन्न, पराङ् = विमुख होकर, अत्यजिघांसत् = भागने के लिये तैयार हुआ, वाचा = वाणी द्वारा, अजि-घृक्षत् = ग्रहण करने की इच्छा की, तत् = उसे, वाचा = वाणी द्वारा, ग्रहीतुं न अशक्नोत् = ग्रहण नहीं कर सका, यत् एनत् = अगर इस अन्न को, वाचा = वाणी द्वारा, अग्रहैष्यत् = ग्रहण कर सकता, ह = निश्चय ही, अन्नम् अभिव्याहृत्य = अन्न का उच्चारण करके, एव = ही, अत्रप्स्यत् = तृप्त हो जाता है। तत् = उस अन्न को, प्राणेन = प्राण (घ्राण) के द्वारा, अजिघृक्षत् = पकड़ना चाहा, तत् = उसको, प्राणेन = प्राण (घ्राणेन्द्रिय)द्वारा, ग्रहीतुं न अशक्नोत् = पकड़ न सका, यत् = अगर, सः = वह, एनत् = इस अन्न को, ह = ही, अग्रहैष्यत् = पकड़ सकता, अन्नम् = अन्न को, अभिप्राण्य = सूँघकर, एव = ही, अत्रप्स्यत् = तृप्त हो जाता ॥१-४॥

व्याख्या—उस परमात्मा ने फिर से इस प्रकार पर्य्यालोचना की—ये पृथ्वी आदि लोक और ये लोकपाल समस्त इन्द्रिय शरीर देवता रूप हैं। वे सब भी ये उत्पन्न हुए क्षुधा

और पिपासा से संयोजित हैं, अतः इन लोकपालों के लिए मुझे अन्न की सृष्टि करनी चाहिये। अन्न के बिना इनका जीना सम्भव नहीं। 'अन्न की सृष्टि करूँगा' ऐसा विचार करके भगवान् ने अन्न-सम्पादन के लिए उसके कारण जलप्रधान पाँच महाभूतों का सब ओर से पर्यालोचन किया। ऐसे ही जल सहित क्षेत्र से व्रीहि आदि बहुत उत्पन्न हों, राज्यों में समय पर वर्षा हों और पृथ्वी प्रचुर अन्न उत्पन्न करें; इस प्रकार संकल्प किया। उन जलोपलक्षित भूतों से धान, जौ इत्यादि रूपा मूषकादि रूपा मूर्त्ति उत्पन्न हुई। धान, जौ आदि अन्न मनुष्यादि के लिए भोग्य हैं। अन्न की सृष्टि बताकर अन्वय और व्यतिरेक द्वारा उसे स्वीकार कर साधन का निश्चय करते हैं—यदि उत्पन्न किया हुआ अन्न व्रीहि-यवादि व्रीहि-यवादि का स्वकीय वध के विषय में विवेक ज्ञान का अभाव होने के कारण चलने के लिये समर्थ नहीं है और जनों से भाग नहीं सकता। यदि मूषकादिरूप वह अन्न यह मार्जार आदि भोक्ताओं के वध हेतु निश्चय करके उनसे विमुख होकर उन्हें मारने के लिए दौड़ा अर्थात् उनसे छुटकारा पाने के लिये विमुख होकर पलायन करने की चेष्टा करने लगा। उसके बाद सभी प्रयत्न द्वारा वाक्-इन्द्रिय को लगाते हुए भी उससे वह अन्न पकड़ में नहीं आ सका। वह भोक्तृवर्ग आदि सृष्टिकाल में यदि यह मूषकादि रूप अन्न को वाणी द्वारा पकड़े तब इस समय भी भोक्ता उस अन्नवाचक शब्दों द्वारा इस प्रकार की उक्ति मात्र से तृप्त हो जाते। वाग्-इद्रिय का अभिधान व्यतिरेक द्वारा आकर्षण का सामर्थ्य कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अन्नवाचक शब्द के उच्चारण मात्र से ही तृप्त हो जाते लेकिन ऐसा देखा नहीं जाता। इसलिये सृष्टिकाल में भी वाणी का अन्न स्वीकारने में सामर्थ्य नहीं है, ऐसा अनुमान करना चाहिये। उसने अन्न को प्राण के द्वारा अर्थात् प्राण के द्वारा एवं अपने व्यापार द्वारा पकड़ना चाहा, परन्तु वह अन्न को प्राण के द्वारा पकड़ने में समर्थ नहीं हो सका। वह पूर्वज शरीरी यदि इस अन्न को प्राण द्वारा पकड़ सकता हो तो सभी व्यक्ति भी अन्न को नाक से सूँघकर ही तृप्त हो जाते ॥१-४॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥५॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

तत्त्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत् स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद् ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥८॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥९॥

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥१०॥

तत्त्वप्रकाशिका—तच्चक्षुषा तच्छ्रोत्रेण तत्त्वचा तन्मनसा तच्छिश्नेन तेन तेन करणव्यापारेणान्नं ग्रहीतुमशक्नुवन्पश्चादपानेन वायुना मुखच्छिद्रेण तदन्नमजिघृक्षत् स ग्रहीतुम् एतदन्नमावयज्जग्राहाशितवान्। अत्रापानशब्देनान्नस्य मुखबिलादन्तःप्रवेशनरूपं निगरणं कुर्वन्नन्तर्मुखो यो वायुः सोऽभिधीयते। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वायोरेवात्र ग्रहणे साधनत्वं निश्चित्य दार्ढ्यार्थं वायुं प्रशंसति—सैषोऽन्नस्य ग्रह इति। मुखबिलादन्तः-सञ्चारी वायुरिति यदस्ति स एषोऽन्नस्य ग्राहकः। अयमर्थोऽनुभवसिद्धः। किञ्चायं वायुर्वा अन्नद्वारेणायुष्यहेतुरेव। अन्नरसेन हि प्राणो देहे वध्यत इत्यर्थः ॥५-१०॥

सान्वयानुवाद—(उसने) तत् = उस अन्न को, चक्षुषा = आँखों से, अजिघृक्षत् = पकड़ना चाहा, तत् = उसको, चक्षुषा = आँखों के द्वारा, ग्रहीतुं न अशक्नोत् = पकड़ नहीं सका, यत् = अगर, सः = वह, एनत् = इस अन्न को, चक्षुषा = आँखों से, ह = ही, अग्रहैष्यत् = पकड़ लेता तो, ह = निश्चय ही, अन्नम् = अन्न को, दृष्ट्वा = देखकर, एव = ही, अत्रप्स्यत् = तृप्त हो जाता। (उसने) तत् = उस अन्न को, श्रोत्रेण = कानों द्वारा, अजिघृक्षत् = पकड़ना चाहा, तत् = उसको, श्रोत्रेण = कानों द्वारा, ग्रहीतुं न अशक्नोत् = पकड़ नहीं सका, यत् = अगर, सः = वह, एनत् = इसको, श्रोत्रेण = कानों द्वारा, ह = ही, अग्रहैष्यत् = पकड़ लेता तो, ह = अवश्य ही, अन्नम् = अन्न को, श्रुत्वा = सुनकर, एव = ही, अत्रप्स्यत् = तृप्त हो जाता। (उसने) तत् = उसको, त्वचा = चमड़ी द्वारा, अजिघृक्षत = पकड़ना चाहा, तत् = उसको, त्वचा = चमड़ी द्वारा, अजिघृक्षत् = पकडना चाहा, तत् = उसको, त्वचा = चमडी द्वारा, ग्रहीतुं न अशक्नोत् = पकड़ नहीं सका, यत् = अगर, सः = वह, एनत् = इसको, त्वचा = चमड़ी द्वारा, ह = ही, अग्रहैष्यत् = पकड़ सकता तो, ह = निश्चय ही, अन्नम् = अन्न को, स्पृष्ट्वा = स्पर्श करके, एव = ही, अत्रप्स्यत् = तृप्त हो जाता। (उसने) तत् = उसको, मनसा = मन से, अजिघृक्षत् = पकड़ना चाहा, तत् = उसको, मनसा = मन से, ग्रहीतुं न अशक्नोत् = पकड़ नहीं सका, यत् = अगर, सः = वह, एनत् = इसको, मनसा = मन से, ह = ही, अग्रहैष्यत् = पकड़ लेता तो, ह = अवश्य ही, अन्नम् = अन्न का, ध्यात्वा = ध्यान करके, एव = ही, अत्रप्स्यत् = तृप्त हो जाता। (उसने) तत् = उस (अन्न) को, शिश्नेन = लिङ्ग द्वारा (जिसके द्वारा मूत्र त्याग किया जाता है), अजिघृक्षत् = पकड़ना चाहा, तत् = उसको, शिश्नेन = शिश्न द्वारा, ग्रहीतुं न अशक्नोत् = पकड़ नहीं सका, यत् = अगर, सः = वह (पुरुष), एनत् = इस (अन्न) को, शिश्नेन = शिश्न द्वारा, ह = ही, अग्रहैष्यत् = पकड़ लेता तो, ह = अवश्य ही,अन्नं विसृज्य (त्यक्त्वा) एव अत्रप्स्यत् = अन्न का त्याग करके ही तृप्त हो जाता। तत् = उस (अन्न) को, अपानेन = अधःसञ्चार वायु के द्वारा, अजिघृक्षत् = पकड़ना चाहा, तत् = उस को, आवयत् = पकड़ लिया, सः = वह, एषः = यह, अन्नस्य = अन्न का , ग्रहः = ग्रहण करनेवाला, यत् = जो, वायुः = वायु, अन्नायुः = अन्न से आयु बढ़ती है, वै = यह प्रसिद्ध है, यत् = जो, एषः = यह, वायुः = वायु है ॥१०॥

व्याख्या—वह पुरुष आँखों से, कानों से, चमड़ी से, मन से, लिङ्ग से उस-उस करण-व्यापार से उस अन्न को पकड़ नहीं सका। बाद में नीचे सञ्चार करनेवाली अपानवायु के मुखछिद्र से उस अन्न को ग्रहण करना चाहा, उससे वह उसको ग्रहण कर लिया। यहाँ अपान शब्द से अन्न का मुखविल से अन्त:प्रवेशन रूप निगरण करते हुए अन्तर्मुख जो वायु है वही (वायु पद से) कहा जाता है। यहाँ अन्वय और व्यतिरेक द्वारा वायु के ही ग्रहण में साधनत्व निश्चित करके दाढ्यार्थ वायु की प्रशंसा करते हैं। मुखबिल से अन्त:सञ्चारी वायु है, वही यह अन्न को ग्रहण करनेवाला है। यह अर्थ अनुभव सिद्ध है। यह वायु अन्न द्वारा आयु का ही कारण है। अन्न के रस से ही प्राण शरीर में बँध जाता है ॥५-१०॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥११॥

तत्त्वप्रकाशिका—भोगाधिष्ठानभोगसाधनभोग्यभोगानां सृष्टिमभिधाय भोगस्वामिनं दर्शयितुं सर्वेश्वरस्य सङ्कल्पमाह—स ईक्षत इति। यदिदं देहेन्द्रियतदभिमानिदेवतातदीयान्नस्वीकाररूपमस्ति, तदिदं सर्वं मदृते मदात्मकं भोगस्वामिनं प्रत्यगात्मानं विना कथं न नाम स्यान्न कथञ्चिदुपपद्यते। नहि नगरस्वामिनं राजानं विहाय पुरस्य पौरजनानां वा रचना शोभते, तस्माज्जीवात्मना सह मया देहे प्रवेष्टव्यमित्यर्थः। प्रवेशद्वारविचारं दर्शयति—स ईक्षत इति। द्वावत्र प्रवेशमार्गौ पादाग्रं मूर्ध्नि ब्रह्मरन्ध्रं च। तयोर्मध्ये कतरेण केन मार्गेण प्रपद्ये = प्रविशानि सर्वनियन्तारमनपेक्ष्य वागादयोऽभिवदनव्यापारेषु स्वतन्त्राः कर्त्तारः स्युस्तदानीमहं को नाम स्यां न कोऽपि भवेयम्। अस्ति कश्चिद् देहेन्द्रियादिभ्यो विलक्षणः सत्यज्ञानानन्दस्वरूपः परमात्मा इत्येवं कश्चिदपि न जानीयात्। यदा त्वहमेव सर्वेषां करणानां नियन्ता वागादयस्तु मया प्रेरिताः सन्तोऽभिवदनादिक्रियाः कुर्युस्तदानीं तत्प्रेरकः कश्चिदस्तीति मम सद्भावोऽनुमातुं शक्यते। सोऽयमनुमानेन परमात्मसद्भाव उषस्तब्राह्मणे समाम्नायते–'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तर' इति ॥११॥

सान्वयानुवाद—सः = उस (परमात्मा) ने, ईक्षत = ईक्षण किया, नु = वितर्क में, इदम् = यह, मद् ऋते = मेरे बिना, कथम् = कैसे, स्यात् = रहेगा, इति = ऐसा निश्चय कर, सः = उसने, ईक्षत = ईक्षण किया, यदि = अगर, वाचा = वाणी द्वारा, अभिव्याहृतम् = कहने की क्रिया (वाक्यालाप) कर ली, यदि = अगर, प्राणेन = घ्राण-इन्द्रिय द्वारा, अभिप्राणितम् = सूँघने की क्रिया कर ली, यदि = अगर, चक्षुषा = नेत्र-इन्द्रिय द्वारा, दृष्टम् = देख लिया, यदि = अगर, श्रोत्रेण = श्रवणेन्द्रिय द्वारा, श्रुतम् = सुन लिया, यदि = अगर, त्वचा = त्वक् इन्द्रिय द्वारा, स्पृष्टम् = स्पर्श कर लिया, यदि = अगर, मनसा = मन द्वारा, ध्यातम् = ध्यान कर लिया, यदि = अगर, अपानेन = अपान द्वारा, अभ्यपानितम् = अन्न ग्रहण कर लिया, यदि = अगर,

शिश्नेन = शिश्न द्वारा, विसृष्टम् = मूत्र तथा वीर्य का त्याग कर लिया। अथ = इसके बाद, अहम् = मैं, कः = कौन हूँ, इति, सः = उसने, ईक्षत = ईक्षण किया, कतरेण = किस मार्ग से, प्रपद्ये इति = मुझे प्रवेश करना चाहिये।

व्याख्या—भोगों का अधिष्ठान, भोगों के साधनों का एवं भोग्य भोगों की सृष्टि बताकर भोगस्वामी को दिखलाने के लिए सर्वेश्वर परमात्मा के संकल्प को श्रुति कहती है—यह जो देह इन्द्रिय और उसके अभिमानी देवता तदीय अन्न स्वीकार रूप है, मेरे बिना वह सब मेरे अभिन्न स्वरूप भोगस्वामी प्रत्यगात्मा के बिना अकेला किस प्रकार रहेगा। यह कैसे उपपन्न हो सकता है ? नगर के स्वामी राजा को छोड़कर पुर अथवा पुरवासी जनों की रचना शोभा नहीं देती है। इसलिये जीव के साथ मुझे शरीर में प्रवेश करना चाहिये। प्रवेशद्वार को दिखलाते हैं—यहाँ प्रवेशमार्ग दो हैं, पैर का अग्र और सिर पर ब्रह्मरन्ध्र है। उन दोनों के बीच में किस मार्ग में से मैं प्रविष्ट होऊँ। सर्वनियन्ता परमात्मा की अपेक्षा न कर वाक्-आदि बोलने के क्रियाव्यापारों में स्वतन्त्र कर्त्ता वाले हों-उस समय मैं कौन हूँ ? कोई भी नहीं हूँ। कोई है शरीर-इन्द्रिय आदि से विलक्षण सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप परमात्मा इस प्रकार कोई भी नहीं जानता। जब मैं ही सभी करणों का नियन्ता हूँ, वाक् आदि इन्द्रियाँ तो मेरे द्वारा प्रेरित होकर कहने की क्रियाएँ कर रही हैं; वे करें तब उनके प्रेरक कोई है। जैसे कि भक्त ध्रुव ने श्रीभगवान् का स्तवन करते हुए कहा है—समस्त शक्तियों को धारण करने वाले जिन भगवान् श्रीवासुदेव ने मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर मेरी सोयी हुई वाणी को जागृत किया एवं कर, चरण आदि अन्यान्य जड़ इन्द्रियों को चेतन किया है, मैं उन आदि-पुराणपुरुष परमात्मा को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ। अतः हम सब प्राणी परमात्मा के ही सद्भाव का अनुमान कर सकते हैं।

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥१२॥

तत्त्वप्रकाशिका—अथ प्रवेशं दर्शयति—स सर्वेश्वर एतमेव मूर्धमध्यभागमेव कपालसन्धिरूपां सीमानं स्थानविशेषं विदार्य = छिद्रं कृत्वा, तच्छिद्ररूपद्वारा ज्ञानादि-सकलशक्तिसहितः सन् देहमध्ये प्राविशत्। मूर्द्धगतं प्रवेशद्वारं प्रशंसति-सैषेति। सेयं हि प्रसिद्धा द्वाः सैषा विदृतिः विदारितत्वाद्विदृतिर्नाम प्रसिद्धा तदेतन्नान्दनं नन्दनमेवानान्दनं, नन्दयत्यनेन द्वारेण गत्वा परस्मिन् ब्रह्मणि शरीरे प्रविष्टस्य सञ्चारस्थानानि तेष्ववस्था-विशेषांश्च दर्शयति-तस्येति। यथा महाराजस्य क्रीडार्थमुपर्यधोभागेन वर्त्तमानाः प्रासादस्य भूमयो निर्मीयन्ते। एवं तस्यात्मनः शरीरे क्रीडनार्थं त्रय अवस्थास्त्रीणि स्थानानि निर्मि-तानि, त्रयः स्वप्नाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः नेत्रकण्ठहृदयाख्यानि स्थानानि हस्ताग्रेण अयमावसथ इत्यादिना प्रदर्श्यन्ते, तेषु हि जागरणाद्यवस्थानिष्पत्तिः। तदुक्तम्—'नेत्रे जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्' ॥ इति ॥१२॥

सान्वयानुवाद—सः = उसने, एतम् एव = इस मूर्ध मध्य भाग को ही, सीमानम् = सीमा स्थान विशेष को, विदार्य = विदीर्ण (चीर) कर, एतया द्वारा = इसके द्वारा, प्रापद्यत = शरीर के मध्य में प्रवेश किया, सा = वह, एषा = यह, द्वाः = द्वार, विदृतिः नाम = विदृति नाम से जाना जाता है, तत् = वही, एतत् = यह, नान्दनम् = आनन्द देने वाला, तस्य = उस आत्मा के, त्रयः = तीन, आवसथाः = अवस्थाएँ हैं, त्रयः = तीन, स्वप्नाः = स्वप्न हैं, अयम् = यह, आवसथः = अवस्था, अयम् = यह, आवसथः = अवस्था, अयम् = यह, आवसथः = अवस्था है ॥१२॥

व्याख्या—अब प्रवेश को दिखलाते हैं—वह सर्वात्मा परमात्मा इस मूर्ध मध्य कपालसन्धि रूपा सीमा स्थान विशेष को छिद्र करके उस छिद्र रूप द्वार से ज्ञान आदि सकल शक्तिसहित शरीर के मध्य में प्रविष्ट हो गये। वही यह प्रसिद्ध द्वार विदारित होने के कारण विदृति नाम से प्रसिद्ध है। नन्दन ही नान्दन आनन्दित करता है, इस द्वार से जाकर परब्रह्म में ज्ञानी लीन हो जाते हैं। इस ब्रह्मरन्ध्रद्वार से जाकर परब्रह्म शरीर में प्रविष्ट ज्ञानी उपासक के अवस्था-विशेषों को श्रुति दिखलाती है—जिस प्रकार चक्रवर्त्ती सम्राट् के खेल के लिए ऊपर और नीचे भाग से वर्त्तमान प्रासाद की भूमियाँ निर्मित रहती हैं। इस प्रकार उस आत्मा के शरीर में खेल के लिए तीन अवस्थाएँ निर्मित हैं। जैसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं जो क्रमशः नेत्र, कण्ठ और हृदय नामक स्थान हैं। इस विषय में कहा गया है—नेत्र में जाग्रत्, कण्ठ में स्वप्न और हृदय में सुषुप्त तथा मूर्धा में तूर्य अवस्था स्थित जानो ॥१२॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती३ ॥१३॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके चतुर्थोऽध्यायः।

उपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः।

तत्त्वप्रकाशिका—स प्रत्यगात्मा शरीरे वर्त्तमानः सन् कदाचिदीश्वरानुग्रहाद् गुरूपदेशद्वारा भूतान्याकाशादीनि प्राणिनश्चाभिव्यैख्यत् सर्वतो विवेकेन ज्ञातवान्, आकाशादीनि भूतानि प्राणिदेहाश्च कुत उत्पद्यन्ते केन वा रक्ष्यन्ते कस्मिन् वा प्रलीयन्ते ? इत्येवं शास्त्रं विविच्य सर्वस्य संसारस्य ब्रह्मात्मकत्वं ज्ञातवान्। इह जगति अन्यं ब्रह्मव्यतिरिक्तं वावदिषत् किमिति का क्व नोक्तवानित्यर्थः। सर्वं चिदचिदात्मकं वस्तु ब्रह्मभिन्नाभिन्नं ज्ञातवानिति भावः। स प्रत्यगात्मा एतमेव जीवान्तर्यामितया प्रविष्टं परमात्मानं ब्रह्मापश्यत् ब्रह्मत्वेन निश्चितवान्। कीदृशं ब्रह्म ? ततमम्-एकतकारो लुप्तः, अतिशयेन ततं = विस्तृतम् ॥३॥

तस्मादिन्द्रो नाम परमात्मा, इन्द्रो ह वै नाम सुप्रसिद्धो लोके नन्विन्द्रो मायाभिरित्यादाविन्द्र इति प्रसिद्धो न त्विदन्द्र इत्यत आह—तमेवमिति। तमेवमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इति परोक्षेण परोक्षाभिधानेता चक्षते ब्रह्मविदः परोक्षप्रियाः परोक्षनामग्रहणप्रियाः। इव हि यस्माद् देवाः। द्विरुक्तिः प्रकृताध्यायसमाप्त्यर्था।

इत्यैतरेयोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां द्वितीयारण्यके चतुर्थाध्याये तृतीयः खण्डः।

सान्वयानुवाद—जातः सः = जीव रूप से उत्पन्न हुए वह प्रत्यगात्मा ने, भूतानि = आकाशादि पञ्च महाभूतों को, अभिव्यैख्यत् = सब ओर से विवेक द्वारा जाना, इह = इस जगत् में, अन्यम् = ब्रह्म के व्यतिरिक्त, किम् = कौन है, इति वावदिषत् = यही कहा है, सः = उसने, एतम् = इस, पुरुषम् = पुरुष को, एव = ही, ततमम् = व्याप्त, ब्रह्म = ब्रह्म के रूप में, अपश्यत = देखा, इति = अहो ! ये बड़े सौभाग्य की बात है कि इदम् अदर्शम् = इस गुणी ब्रह्म को मैंने अपनी आँखों से देख लिया ॥१३॥

तस्मात् = इसलिये, इदन्द्रः नाम = वह इदन्द्र नामवाला है, ह वै = निश्चय ही, इदन्द्रः नाम = इदन्द्र नामवाला ही है, इदन्द्रम् = इदन्द्र, सन्तम् = होते हुए, तम् = उस परमात्मा को, परोक्षेण = परोक्ष द्वारा, इन्द्रः = परम ऐश्वर्यवान् सर्वगुण-सम्पन्न, इति = इस प्रकार, आचक्षते = पुकारते हैं, हि = यह बिल्कुल ही सच्ची बात है, देवाः = देवगण, परोक्षप्रियाः इव = परोक्ष नामग्रहण प्रिय हैं, हि देवाः परोक्षप्रियाः इव = पूर्ववत् अर्थ ज्ञेय ॥१४॥

व्याख्या—उस प्रत्यगात्मा (जीव) ने शरीर में वर्त्तमान कभी ईश्वर के अनुग्रह से तथा सद्गुरु के सदुपदेश द्वारा आकाशादि पञ्च महाभूतों को और प्राणियों को सब ओर से भलीभाँति जाना। यह दृश्यमान जड़-चेतन किससे उत्पन्न होते हैं, किस के द्वारा ये सुरक्षित हैं और किस में लीन होते हैं ? इस प्रकार शास्त्र विचार कर सम्पूर्ण संसार की ब्रह्मात्मकता की जानकारी हुई। इस जगत् में ब्रह्मव्यतिरिक्त कौन है–ऐसा कहा; कौन है, कहाँ है–ऐसा नहीं कहा। समस्त स्थावर-जङ्गम, जड़-चेतन वस्तु ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है–ऐसा अवगत हुआ। उस प्रत्यगात्मा ने सभी प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट परमात्मा को देखा और ब्रह्म रूप से निश्चय किया। 'ततमम्' ब्रह्म का विशेषण है। एक वकार लुप्त है। जो अतिशय विस्तृत है ॥१३॥

इसलिये इन्द्र नाम परमात्मा का है, इन्द्र ही नाम लोक में सुप्रसिद्ध है। 'इन्दि परमैश्वर्ये'। इन्द्र = परमात्मा परम ऐश्वर्यवाले हैं। उनका ही नाम 'इदन्द्र' = सर्वत्र स्थित तथा व्याप्त इन्द्र–इस परोक्ष नाम से ब्रह्मविद् लोग पुकारते हैं, क्योंकि वे परोक्ष नाम ग्रहण करना पसन्द करते हैं। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' यह द्विरुक्ति प्रकरण तथा अध्याय की समाप्ति के लिये है।

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥३॥

प्रथम अध्याय समाप्त ॥१॥

•

अथ द्वितीयोऽध्याय:

आरण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्याय: । तत्र प्रथम: खण्ड: ।

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेत: । तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्य-स्तेज: सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥१॥ तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यै तमात्मात्मानमत्र गतं भावयति ॥२॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति ।

तत्त्वप्रकाशिका—अयं = जीवात्मा, आदित: = प्रथमत:, पुरुषे = पितृशरीरे गर्भो भवति, न चात्र स्त्रीगर्भवद् उदरवृद्ध्या सोऽभिव्यज्यते । किन्तु यदेतत् पितृशरीरे सप्तधातुरूपं रेतोऽस्ति तदेव गर्भ इत्युच्यते, तस्मिन् रेतसि जनिष्यमाणजीवस्य प्रविष्टत्वात् । स्वर्गाद्वा नरकाद्वा वृष्टिद्वारा भूमौ समगतो जीवो व्रीहियवाद्यन्नद्वारा पितृशरीरे प्रविशति । एतच्च पञ्चाग्निविद्यायां प्रपञ्चेनाम्नातम् । तस्य गर्भस्य जन्मप्रकारं दर्शयति-तदेतदित्यादिना । पुरुषे गर्भत्वेन व्यवस्थितं यद्रेतोऽस्ति तदेतत्तस्मिन् पुरुषशरीरे आपाद-मस्तकं सर्वेभ्योऽवयवेभ्य: सारभूतं निर्गतं भवति, तच्च सर्वावयवनिर्गतरेतोरूपमन्नं सारमात्मानं स्वस्यैव रूपान्तरभूतमात्मन्येव स्वशरीर एवासौ पुरुषो बिभर्त्ति पोषयति । तद्रेतो यदा यस्मिन् काले भार्यर्तुमती तस्यां योषाग्नौ स्त्रियां सिञ्चति । अथ तदैनद्रेत आत्मना गर्भभूतं जनयति पिता । तदस्य पुरुषस्य स्थानान्निर्गमनं रेतसेककाले रेतो-रूपेणास्य संसारिण: प्रथमं जन्म प्रथमावस्थाभिव्यक्ति: । स्त्रीयोनौ प्रविष्टं तत्पुरुष-रेतस्तस्या: स्त्रिया आत्मभूयं स्वशरीरभावं गच्छति यथा स्वमङ्गं हस्तादिकं शरीरात् न पृथग्भूतं तद्वत् तस्मात्स्वशरीरत्वेनैकीभावात् कारणादेनां स्त्रियं न हिनस्ति = उदर-लग्नबाणवद्धिंसां न करोति । तद्गर्भद्वारेण स्त्रीपुरुषयो: परस्परमुपकार्योपकारकभावं दर्शयति—सेति । सा = गर्भधारिणी स्त्र्यत्र गतं स्वशरीरे प्रविष्टमस्य पुरुषस्य रेत: सेक्तू रेतसमात्मानं पुत्ररूपं भावयति परिपालयति यस्मात् सा स्त्री गर्भपरिपालनेन भावयित्री पुरुषस्यैव पालयित्री तस्मात् कारणात् तेन पुरुषेण सा भावयितन्याऽभीष्टान्नपानवस्त्रादि-प्रदानेन पालयितव्या भवति ॥२॥

सान्वयानुवाद—अयम् = यह (जीवात्मा), ह वै = निश्चय ही, आदित: = प्रथम तो, पुरुषे = पुरुषशरीर में, गर्भ: भवति = गर्भ बनता है, यत् = जो, एतत् = यह, रेत: = वीर्य है, तत् = वह, एतत् = यह, सर्वेभ्य: अङ्गेभ्य: = सभी अङ्गों से, सम्भूतम् = भलीभाँति उत्पन्न हुआ, तेज: = तेज है, आत्मानम् = अपने को, आत्मनि = अपने में, एव = ही, बिभर्त्ति = धारण करता है, यदा = जब, तत् = उसको, स्त्रियाम् = स्त्री में, सिञ्चति = सिञ्चन करता है, अथ = तब, एनम् = इसको, जनयति = प्रादुर्भाव करता है, तत् = वह, अस्य = इसका, प्रथमम् = पहला, जन्म = जन्म है । तत् = वह, स्त्रिया: = स्त्री के, आत्मभूयम् = अपने शरीरभाव को, गच्छति = प्राप्त हो जाता है, यथा = जैसे, स्वम् = अपना, अङ्गम् = अङ्ग होता है,

तथा = ठीक वैसे, तस्मात् = इसी कारण से, एनाम् = इस स्त्री को, न हिनस्ति = उदर लग्न बाण की भाँति हिंसा नहीं करता, सा = वह (स्त्री), अत्रगतम् = यहाँ आये हुए, अस्य = इस (अपने पतिदेव) के, आत्मानम् = वीर्यरूप बिन्दु को, एतम् भावयति = इसे सावधानी से परिपालन करती है, सा = वह, भावयित्री = गर्भ का पालन-पोषण करनेवाली स्त्री, भावयितव्या भवति = पालन-पोषण करने योग्य होती है।

व्याख्या—यह जीवात्मा पहले तो जन्मदाता पिता के शरीर में वीर्यरूप से गर्भ बनता है। यहाँ स्त्री की भाँति उदर की वृद्धि से वह अभिव्यक्त नहीं होता। इस बारे में श्रीमद्भागवत में लिखा है—जीव पिता के वीर्य द्वारा माता के उदर में प्रवेश करता है। एक रात्रि में शुक्र और शोणित (वीर्य और रज) मिलकर जब एक हो जाते हैं तो उसे कलल कहते हैं। तृतीय स्कन्ध का इकतीसवाँ अध्याय द्रष्टव्य है। पिता के शरीर में सात धातु रूप रेत है, उसे ही गर्भ कहा जाता है। जन्म लेने वाला जीव उसी रेत में प्रवेश करता है। स्वर्ग से अथवा नरक से निकलकर वह जीव वृद्धि द्वारा भूमि पर व्रीहि-यव आदि अन्न द्वारा पिता के शरीर में प्रवेश करता है। ये सारी बातें पीछे पञ्चाग्निविद्या में विस्तार से बतायी गयी है। उस गर्भ के जन्मप्रकार को दिखलाते हैं—पुरुष में गर्भ रूप से स्थित जो रेत है वही इस पुरुष-शरीर में पैरों से लेकर सिर तक समस्त अवयवों से साररूप निकलता है। वही समस्त अवयवों से निर्गत रेतस रूप अन्नसार आत्मा को ही (दूसरे रूप को ही) अपने शरीर में ही वह पुरुष धारण-पोषण करता है। उस रेत (वीर्य) को जिस समय ऋतुमती स्त्री में सिञ्चन (स्थापित) करता है इसके बाद पिता अपने उसी वीर्य को माता के उदर में गर्भ रूप से उत्पन्न करता है। यही जीव का पहला जन्म है। मनुष्य योनि प्राप्त होने के पूर्व कूकर, सूकर आदि चौरासी लाख योनि को क्रम से भोगकर फिर जीव मनुष्ययोनि में आता है। स्त्री की योनि में प्रविष्ट वह पुरुष का वीर्य स्त्री के अपने शरीर में एक 'कलल' भाव को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार अपना अङ्ग होता है ठीक उसी प्रकार वह होता है। इसलिये इसकी हिंसा नहीं करता अर्थात् गर्भवती स्त्री को किसी तरह पीड़ा नहीं पहुँचाता है। उस गर्भ द्वारा स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे से उपकार्य और उपकारक भाव को दिखलाते हैं—वह गर्भधारिणी स्त्री अपने शरीर में प्रविष्ट हुए अपने पति के सन्तति रूप वीर्य का परिपालन करती है। क्योंकि वह स्त्री गर्भपरिपालन द्वारा भावयित्री है, पुरुष की ही पालयित्री है, इसी कारण से पुरुष द्वारा स्त्री पालन-पोषण करने योग्य है अर्थात् वह अभीष्ट अन्न-पान-वस्त्रादि प्रदान द्वारा पालयितव्या है। कहा भी गया है—'पितुरधिका माता गर्भधारणपोषणात्' ॥१-२॥

तं स्त्री गर्भं बिभर्त्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति।

तत्त्वप्रकाशिका—स्त्रीपुरुषयोरुभयोरपि पुत्रं प्रत्युपकारकत्वं दर्शयति—पुत्ररूपं गर्भं मातृरूपा स्त्र्यत्यन्तं प्रयासं सोढ्वा नव दश वा मासानुदरे धारयित्वा पोषयति, स च पिताऽग्र एव प्रसवात्पूर्वमेव निष्पन्नं कुमारं जन्मनोऽग्रे प्रसवादूर्ध्वमधिभावयति। अधिकत्वेन शास्त्रीयजातकर्मादिना संस्कारं करोति।

सान्वयानुवाद—स्त्री = स्त्री, अग्रे = प्रसव के पहले, तम् गर्भम् = उस गर्भ को, बिभर्त्ति = धारण करती है, सः = पुरुष, अग्रे = पहले, एव = ही, कुमारम् = नवजात शिशु का, जन्मनः = जन्म से, अधिभावयति = जन्म से नामकरण द्विजाति संस्कार करता है।

व्याख्या—पुत्ररूप गर्भ को मातृरूपा स्त्री अत्यन्त प्रयास से सहन कर नौ अथवा दस महीनों तक उदर में धारण कर पालन-पाषण करती है और पिता प्रसव से पूर्व ही निष्पन्न कुमार को (प्रसव होने से पहले) अधिक-से-अधिक शास्त्रीय जातकर्म आदि संस्कार करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन ही वर्णों का शास्त्रीय जातकर्म द्विजाति नामकरण संस्कार करने का विधान है। अतः 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इस गीताशास्त्र के अनुसार उसका सभी द्विजातियों को पालन करना चाहिये।

स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

सोऽस्याऽयमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्याऽयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥४॥

तत्त्वप्रकाशिका—कुमारसंस्कारेण पितुरुपयोगं दर्शयति—स यत्कुमारमिति। पुत्रसंस्कार इति यदस्ति तेन पिता स्वस्यैव संस्कारं करोति, पुत्रस्य स्वदेहरूपत्वात्। पुत्रपौत्रादय इमे जना लोकास्तेषामविच्छेदाय संस्कृतपुत्रोत्पादनम्, एवं पुत्रोत्पादनादि-कर्माविच्छेदेनैव ते सन्तताः प्रबन्धरूपेण वर्त्तन्ते अन्यथा विच्छिद्येरन्। मातृशरीरान्नि-र्गमनस्य पूर्वोक्तजन्मापेक्षमद्वितीयत्वं दर्शयति—तदस्येति। जनकस्य पुत्रप्रयुक्तमुपयोगं दर्शयति–सोऽस्यायमात्मेति। अस्य पितुर्द्वावात्मानौ देहौ तयोर्मध्येऽयमात्मा पुत्ररूपो देहः पुण्येभ्यः कर्मभ्यः शास्त्रोक्तकर्मनिष्पादनार्थं प्रतिधीयते = स्वस्य प्रतिनिधित्वेन गृहेऽ-वस्थाप्यते। ननु किमनेन प्रतिनिधिना स्वयमेव कुतो न करोतीत्यत आह—अथा-स्यायमितर इति। अस्य पितुरितर आत्मा स्थाविरो देहः कृतकृत्यः कृतान्ये-तज्जन्मप्रयुक्तानि कृत्यानि कर्माणि येनासौ कृतकृत्यः। वयोगतो वयसा पूर्वकर्म-सम्पादितेनायुषा हीनः प्रैति = म्रियते। पूर्वोक्तजन्मद्वयमपेक्ष्य जन्मान्तरं दर्शयति–स इत इति। स वृद्धपितेतोऽस्माज्जरठदेहात्प्रयत्नेन निर्गच्छन्नेव स्वर्गे नरके मनुष्यलोके वा स्वकर्मानुसारेण जायते। तदस्य तृतीयं जन्म। अनेन जन्मत्रयोपवर्णनेन संसाराद्विरक्ति-रुपजायते। न हि मातृपितृमलद्वयरूपदेहस्य निरन्तरं धारणादन्यदधिकं जुगुप्सितं वैराग्य-कारणमुदाहर्त्तुं शक्यम्। अतएव विष्णुपुराणे पठ्यते—

'स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्य वै' ॥

सान्वयानुवाद—सः = वह (पिता), यत् = जो, जन्मनः = जन्म के, अग्रे =

पहले, आत्मानम् एव = आत्मा को ही, अधिभावयति = संस्कारादि करता है, तत् = वह, एषाम् = इन, लोकानाम् = लोकों को, सन्तत्या = सन्तति द्वारा, भावयति = अपने वंश को फैलाता है, हि = क्योंकि, एवम् = इसी प्रकार, इमे = ये (सब), लोका: सन्तता: = लोक (जन) विस्तार को प्राप्त हुए हैं, तत् = वह, अस्य = इसका, द्वितीयम् = दूसरा जन्म है। स: = वह, अयम् = यह, अस्य = इस (पिता) के, पुण्येभ्य: = शुभ कर्मों के लिये, प्रतिधीयते = प्रतिनिधि रूप से घर में रहता है, अथ = इसके बाद, अस्य = इसका, अयम् = यह, इतर: = दूसरा, आत्मा = आत्मा, कृतकृत्य: = कृतकृत्य, वयोगत: = अवस्था पूरी होने पर, प्रैति = मरता है, स: = वह, इत: = यहाँ से, प्रयन् = जाकर, एव = ही, पुन: = फिर, जायते = उत्पन्न हो जाता है, तत् = वह, अस्य = इसका, तृतीयम् = तीसरा, जन्म = जन्म है ।।४।।

व्याख्या—कुमार के संस्कार से पिता के उपयोग को दिखलाते हैं—पिता अपना ही संस्कार करते हैं, पुत्र तो साक्षात् अपने पिता का ही देहरूप आत्मा है। पुत्र और पौत्र आदि ये सभी जन उनके अविच्छेद के लिये संस्कृत पुत्रोत्पादन है एवं पुत्रोत्पादन आदि कर्म अविच्छेद से ही वे परम्परा प्रबन्ध रूप से रहते हैं। अन्यथा विच्छिन्न हो जायेंगे। माता के शरीर से निकलने में पहले बताये गये जन्म की अपेक्षा अद्वितीयत्त्व को दिखलाते हैं। जनक (पिता) के पुत्रप्रयुक्त उपयोग को दिखलाते हैं—पिता के दो आत्मा (देह) के मध्य में यह आत्मा पुत्ररूप देह शास्त्र में कहे गये पुण्यकर्म सम्पादन के लिये अपने पिता के प्रतिनिधि रूप से घर में रहता है। शङ्का—क्या इस प्रतिनिधि द्वारा स्वयं ही क्यों नहीं करता ? इस पर कहते हैं—इस पिता की दूसरी आत्मा स्थाविर देह से इस जन्म में किये गये कर्मों से वह कृतकृत्य हो जाता है। वह पूर्व कर्मों से सम्पादित आयु से हीन होकर मरता है। पहले बताये गये दोनों जन्मों की अपेक्षा करके जन्मान्तर को दिखलाते हैं—वह वृद्ध पिता इस वृद्ध शरीर से निकल कर ही स्वर्ग में, नरक में अथवा मनुष्यलोक में अपने कर्मानुसार जन्म लेता है। वह इसका तीसरा जन्म है। इस जन्मत्रय के उपवर्णन द्वारा संसार से विरक्ति उपजात होती है। पिता के वीर्य और माता के विष्ठा-मूत्र भरे देह को हमेशा धारण किये जाने से इससे अधिक जुगुप्सित वैराग्य का कारण उदाहरण के लिये नहीं हो सकता है। इसलिये विष्णुपुराण में महर्षि ने पढ़ा है—जो व्यक्ति अपने शरीर रूपी अशुचि गन्ध से विरक्त नहीं होता उसके लिये दूसरा क्या वैराग्य कारण का उपदेश किया जाय।

तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध: श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ।।५।।

तत्त्वप्रकाशिका—प्रागुदाहृतप्रबन्धेन संसारस्य यत्कष्टत्वमुपवर्णितं यश्च संसार-निवर्त्तकोपायो विवक्षित: तदुभयमप्यर्थजातं केनचिन्मन्त्रेणाभिहितं तन्मन्त्रं पठति—गर्भ इति। अहं वामदेवाख्यो मुनि: गर्भे नु वितर्के मातु: गर्भ एवावस्थित: सन्नेषामग्नि-

वाय्वादित्यदेवतानां विश्वा जनिमानि सर्वाण्यपि जन्मान्यन्ववेदमनुक्रमेण विदितवानस्मि। औपनिषदात्मज्ञानं मम सम्पन्नमित्यर्थः। अथैतस्माज्ज्ञानोदयादधस्तान्मां वामदेवमायसीर्लोहनिर्मितशृङ्खलासमानाः, शतं पुरः शतसंख्याकानि शरीराण्यरक्षन् यथा शतसङ्ख्योपलक्षितान्यनन्तानि शरीराणि। यथा मुक्तो न भवामि तथैवारक्षन्। इदानीं गुरुशास्त्रप्रसादाल्लब्धतत्त्वविद्यायुक्तो संसारात् श्येन इव जालं भित्वा जवसा त्वरया निरदीयं निर्गतोऽस्मि। अहो गर्भ एव शयानो वामदेव ऋषिरेवमुवाचैतत्, इतिशब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः ॥५॥

सान्वयानुवाद—ऋषिणा = ऋषि द्वारा, तदुक्तम् = वह बात बतायी है, नु = वितर्क में, अहम् = मैंने, गर्भे = गर्भ में, सन् = रहते हुए ही, एषाम् = इन, देवानाम् = देवताओं के, विश्वा = बहुत-से, जनिमानि = जन्मों को, अन्ववेदम् = जान लिया, अधः = ज्ञान उदय के पहले, मा = मुझे, शतम् = सैकड़ों, आयसीः = लोह से बने हुए, पुरः = शरीरों ने, अरक्षन् = रोक रखा था, श्येनः = बाज पक्षी (के समान), जवसा = वेग से, निरदीयम् इति = निकल गया हूँ, गर्भे = गर्भ में, एव = ही, शयानः = सोये हुए, वामदेवः = वामदेव मुनि, एवम् = इस प्रकार से, एतत् = यह, उवाच = कहा ॥५॥

व्याख्या—पहले बताये गये प्रबन्ध द्वारा संसार का जो कष्टत्व उपवर्णित है और जो संसारनिवर्त्तक का उपाय कहा गया है उन दोनों का भी अर्थजात जिस मन्त्र से वर्णन किया गया है, उसी मन्त्र को यहाँ पढ़ते हैं। जो वामदेव ऋषि द्वारा बताया गया है। मैं वामदेव नामक मुनि ने माता के गर्भ में ही अवस्थित रहते हुए इन अग्नि,वायु, सूर्य आदि देवताओं के सभी जन्मों को अनुक्रम से जान लिया। औपनिषदात्मज्ञान मेरा सम्पन्न हो गया। इस ज्ञान के उदय से पहले मुझ (वामदेव) को लोह से निर्मित शृङ्खला के समान शतसङ्ख्याक शरीरों ने अवरुद्ध कर रखा था। जिस प्रकार कारागृह में अवस्थापित तस्कर को बद्ध शृङ्खला का पलायन दिखता है इसी प्रकार शत संख्या से उपलक्षित अनन्त-असंख्य शरीरों ने मुझे अवरुद्ध कर रखा था। अब इस समय मैं गुरु तथा शास्त्रों की प्रसन्नता से लब्ध तत्त्वविद्या से युक्त संसार से बाज पक्षी की भाँति जाल का भेदन कर वेग से लिकल गया, अलग हो गया हूँ। अहो ! आश्चर्य ! परमाश्चर्य !! गर्भ में ही वामदेव ऋषि ने इस प्रकार कहा है। इति शब्द मन्त्र की समाप्ति के लिये है ॥५॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥६॥

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के चतुर्थः खण्डः ॥४॥

उपनिषत्क्रमेण द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः ॥१॥

ऐतरेयोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—ज्ञानस्याव्यभिचरितफलज्ञापनाय वामदेवेन ज्ञानस्य फलं

प्राप्तमिति वक्तुमाह—स एवमिति। स वामदेवो महर्षिः। एवं प्रागुदाहृतप्रकारेणात्मतत्त्वं विद्वान् प्रारब्धकर्मणि क्षीणे सत्यस्मात् पाञ्चभौतिकाच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्तरकालेऽवस्थितः सर्वस्मात्संसारबन्धादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके = ब्रह्मलोके, सर्वान् कामान् = आनन्दानाप्त्वाऽमृतः = मरणरहितः, समभवत् = मुक्तोऽभूदिति यावत्। समभवदित्यभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः।

इत्यैतरेयोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिकाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

सान्वयानुवाद—सः = वह, विद्वान् = जानकार, एवम् = इस प्रकार, अस्मात् = इस, शरीरभेदात् = शरीर का पात हो जाने पर, ऊर्ध्वः उत्क्रम्य = संसारबन्धन से ऊपर उठ गया, अमुष्मिन् = उस, स्वर्गे लोके = ब्रह्मलोक में, सर्वान् कामान् = समस्त कामनाओं को, आप्त्वा = प्राप्त करके, अमृतः = मरणरहित, समभवत् = हो गया, समभवत् = हो गया।

व्याख्या—ज्ञान का अव्यिभिचरित फल ज्ञापन करने के लिये वामदेव ने ज्ञान का फल किया है। श्रुतियाँ उसी को बताती हैं—वह महर्षि वामदेव इस प्रकार पहले कहे गये प्रकार से आत्मतत्त्व को जानकर प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाने पर इस पाञ्चभौतिक शरीर के उत्तर काल में अवस्थित संसारबन्धन से छुटकर परमधामरूप ब्रह्मलोक में समस्त आनन्दों को प्राप्त कर (उनका अनुभव कर) मरणरहित हो मुक्त हो गये। 'समभवत्' पद की दो बार आवृत्ति अध्याय की समाप्ति के लिये है।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥१॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥२॥

•

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥१॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥२॥

तत्त्वप्रकाशिका—प्रतिदिनं प्रतिक्षणमात्मेति यमुपास्महे सः कतरः ? कोऽसावित्यर्थः। पुमान् नीलपीतादिरूपं पश्यति अतो येन वाचा, चक्षुषा चैतन्येन पश्यति तच्चैतन्यं किमात्मेत्येका कोटिः। येन श्रोत्रचैतन्येन शब्दं शृणोति तत् किमात्मेति द्वितीया कोटिः। एवं घ्राणवाग्जिह्वादिषु योज्यम्। हृदयम् = अन्तःकरणं बुद्धिः। तद्विशिष्टस्य कर्त्तुरात्मनो रूपादिविषयसङ्कल्पविकल्पादिसाधनं मन इत्युच्यते। संज्ञानं = सम्यक् इदं वस्तु इति ज्ञप्तिः। अज्ञानं = अज्ञप्तिः। विज्ञानम् = इदमस्माद्विशिष्टमित्येवमादि विवेकः। प्रज्ञानं = प्रज्ञता। मेधा = ग्रन्थतदर्थधारणा। दृष्टिः = चक्षुर्द्वारा

रूपोपलब्धिहेतुर्मनोवृत्तिः । धृतिः = धारणमवसन्नानां शरीरेन्द्रियाणां ययोत्तम्भनं भवति । मतिर्मननं, राजकार्याद्यालोचनम् । मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम् । जतिर्जवः प्राप्तकार्येषु मनसो व्यग्रता । स्मृतिः = अनुभूतार्थवस्तुस्मरणम् । सङ्कल्पः = एवं करिष्यामीत्याकारकः । क्रतुः = अवश्यं करिष्यामीत्यध्यवसायः । असुः = प्राणनादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः । कामः = असन्निहितविषयाकाङ्क्षा । वशः = अभीष्टवस्त्वभिलाषः । येन वा पश्यतीत्यादिना क्रतुरसुकामो वश इत्यन्तेन ग्रन्थेनोदाहृतानि सर्वाणि प्रज्ञानस्य ब्रह्मणो नामधेयानि सम्पद्यन्ते ॥२॥

सान्वयानुवाद—वयम् = हम लोग, उपास्महे = जिसकी उपासना करते हैं, (सः = वह) अयम् = यह, आत्मा = आत्मा, कः = कौन है, इति, येन = जिससे, पश्यति = जीव देखता है, वा = और, येन = जिससे, शृणेति = सुनता है, वा = अथवा, येन = जिससे, गन्धान् = गन्धों को, आजिघ्रति = सूँघता है, वा = अथवा, येन = जिससे, वाचम् = वाणी को, व्याकरोति = बोलता है, वा = और, येन = जिससे, स्वादु = स्वादयुक्त, च = और, अस्वादु = स्वादहीन वस्तु को, च = और, विजानाति = विशेष रूप से जानता है, सः = वह, आत्मा = आत्मा, कतरः = कौन है ? । यत् = जो, एतत् = यह, हृदयम् = हृदय है, एतत् = यही, मनः = मन, च = और, संज्ञानम् = संज्ञान, आज्ञानम् = आज्ञान, विज्ञानम् = विज्ञान, प्रज्ञानम् = प्रज्ञान, मेधा = मेधा, दृष्टिः = दृष्टि, धृतिः = धृति, मतिः = मति, मनीषा = मनीषा, जूतिः = जव, स्मृतिः = स्मृति, सङ्कल्पः = सङ्कल्प, क्रतुः = क्रतु, असुः = प्राण, कामः = कामना, वशः = अधीन, इति = इस प्रकार, एतानि सर्वाणि = ये सब, प्रज्ञानस्य एव = प्रज्ञान का ही, नामधेयानि भवन्ति = नाम हैं ॥२॥

व्याख्या—प्रतिदिन प्रतिक्षण 'आत्मा है' ऐसा जानकर जिसकी हमलोग उपासना करते हैं वह कौन है ? व्यक्ति नील-पीत आदि रूपों को देखता है इसलिये जिस वाणी से वाक्य बोलता है, जिस श्रोत्र चैतन्य द्वारा शब्दों को सुनता है, इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्धों को सूँघता है और रसना (जीभ) द्वारा स्वादु और अस्वादु वस्तु को जान लेता है ॥१॥

हृदय अर्थात् अन्तःकरण (बुद्धि) है, उस विशिष्ट कर्त्ता आत्मा का रूप आदि विषय संकल्प-विकल्प आदि साधन मन ऐसा कहा जाता है । संज्ञान = भलीभाँति वस्तु की जानकारी, आज्ञान = आज्ञा द्वारा शासन, विज्ञान = ये हम से विशिष्ट हैं आदि विवेक, प्रज्ञान = प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् वस्तु को देखकर समझ जाना, मेधा = धारणाशक्ति, दृष्टि = नेत्रों द्वारा रूपों की उपलब्धि हेतु मन की वृत्ति । धृति = धारणा, अवसन्न शरीर और इन्द्रियों का जिससे उत्तम्भन होता है । मति = मनन, राजकार्य आदि की आलोचना, जूति = प्राप्त कार्यों में मन की व्यग्रता । स्मृति = अनुभूतार्थ वस्तु का स्मरण । सङ्कल्प = इस प्रकार हम करेंगे इस प्रकार का निश्चय । क्रतु = हम अवश्य ही करेंगे—इस प्रकार का अध्यवसाय । असु = प्राणन आदि जीवन क्रिया निमित्त वृत्ति ।

काम = असन्निहित विषयों की आकांक्षा, वश = अभीष्ट वस्तु की अभिलाषा। 'येन वा पश्यति' इत्यादि से क्रतु, असु, काम, वश–यहाँ तक ग्रन्थ द्वारा उदाहृत समस्त प्रज्ञानस्वरूप परब्रह्म के ही नाम हैं ॥२॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमञ्च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३॥ स एतेन प्रज्ञानेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥

इति पञ्चमः खण्डः।

इत्यैतरेयारण्यके षष्ठोऽध्यायः।

उपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः ॥३॥ इत्यैतरेयोपनिषत् सम्पूर्णा ॥

तत्त्वप्रकाशिका—एष ब्रह्मा चतुर्मुखः। इन्द्रो देवराजः। प्रजापतिः कश्यपः। सर्वे देवा अग्निवाय्वादयः। पृथिव्यादीनि पञ्चमहाभूतानि प्रसिद्धानि। इमानि पञ्च महाभूतानीत्येतस्य वाक्यस्य पृथिवीत्यारभ्येत्येतानीत्यन्तं विवरणम्। इमानि चान्यानि क्षुद्रैरल्पकैर्मशकपिपीलिकादिदेहैः मिश्राणि बीजानि कारणानि तेषां बीजानां नानाजातीयत्वमितराणि चेतराणि चेत्यनेन प्रतिज्ञायते। परस्परविलक्षणबहुभेदयुक्तानीत्यर्थः। प्रतिज्ञातं नानात्वं प्रपञ्च्यते। अण्डजानीति पक्षिसर्पादीन्यण्डजानि। जारुजानि जरायुजानि मनुष्यगवादीनि। कृमिदंशादीनि स्वेदजानि। तरुगुल्मादीन्युद्भिज्जानि। यथोक्तेष्वेव जरायुजानामश्वा गावः पुरुषा हस्तिन इत्युदाहृत्य प्रदर्शनम्। उक्तानामनुक्तानाञ्च सङ्क्षेपेणोपसङ्ग्रहार्थं यत्किञ्चेत्यादिवाक्यम्। ब्रह्मादिस्थावरान्तं यज्जगदस्ति तत्सर्वं प्रज्ञानेत्रं = ब्रह्मात्मकमेव। प्रकृष्टा ज्ञप्तिः प्रज्ञा, नीयते सर्वं जगदनेनेति सृष्टिस्थितिलयमूलकारणं नेत्रं प्रज्ञैव नेत्रं यस्य तत् प्रज्ञानेत्रम्। अशेषजगतो मूलकारणभूतं ब्रह्मैवेति यावत्। सर्वस्यापि चेतनाचेतनात्मनो वस्तुनः सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वव्यापकत्वस्वतन्त्रसत्त्वसर्वाधारत्वादिना ब्रह्मणो भिन्नत्वम्। ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्यत्वतत्तन्त्रसत्त्वत्वपराधेयत्वादिना च तदभिन्नत्वमित्यर्थः। तदेव स्फुटयति—प्रज्ञाने प्रतिष्ठितमिति। प्रज्ञाने = ब्रह्मणि। प्रतिष्ठितं = सम्बद्धम्। आश्रितमिति यावत्। सर्वजगदाधारभूतमिति भावः। लोकः = प्राणिसमूहः। प्रज्ञानेत्रः—प्रज्ञा = ज्ञानसाधनं श्रुतिस्मृत्यादिकं नेत्रं यस्यासौ प्रज्ञानेत्रम्। तदुक्तम्—'श्रुतिस्मृती द्वे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते' इति। प्रज्ञा प्रतिष्ठा सर्वस्य जगतः तस्मात्प्रज्ञानं ब्रह्म इत्यर्थः। एवं वेत्तुः फलं दर्शयति—स एतेनेति। यः पुमान् प्रज्ञानं ब्रह्मेत्येव जानाति स पुमान् अस्माल्लोकादुत्क्रम्य प्रज्ञेन ब्राह्मणे स्वरूपेणाविर्भवति। स्वर्गे लोके = ब्रह्मलोके, सर्वान् कामान् = मनोऽभिलषि-

तान्, प्राप्यामृतः = जन्ममरणरहितः सन्, समभवत् = अवतिष्ठते। समभवदित्यभ्यासो-ऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥

श्रीसनन्दनादिप्रवर्त्तितश्री १०८ महामुनीन्द्रभगवन्निम्बार्काचार्यचरणोपबृंहित-
वैदिकसत्सम्प्रदायानुगतपूज्यपादनिखिलरसिकचक्रचूडामणि-
श्री १०८ स्वामिहरिदासपदाश्रिताश्रितपरमविरक्तमहानुभाव-
श्री १०८ स्वामिनीशरणपादपद्मचञ्चरीकेण तर्कवागी-
शोपाधिविभूषितामोलकरामशास्त्रिणा पूवाचार्योक्तितः
संगृहीता समाप्तेयमैतरेयोपनिषत्तत्त्वप्रकाशिका-
टीका।

सान्वयानुवाद—एषः = यह, ब्रह्मा = ब्रह्मा है, एषः = यह, इन्द्रः = इन्द्र है, एषः = यह, प्रजापतिः = प्रजापति है, एते = ये, सर्वे = समस्त, देवाः = देवगण, च = और, इमानि = ये, पृथिवी = पृथ्वी, वायुः = वायु, आकाशः = आकाश, आपः = जल, ज्योतींषि = तेज, इति = इस प्रकार, पञ्च = पाँच, महाभूतानि = महाभूत, च = और, इमानि क्षुद्रमिश्राणि इव = इन क्षुद्र मिले हुए जैसे, बीजानि = कारणरूप प्राणी, च = और, इतराणि इतराणि = इनसे भिन्न अन्य, च = और, अण्ड-जानि = अण्डे से पैदा होनेवाले, च = एवं, जारुजानि = जेर से पैदा होने वाले, च = और, स्वेदजानि = पसीने से पैदा होनेवाले, च = तथा, उद्भिज्जानि = जमीन फोड़कर पैदा होने वाले, च = तथा, अश्वाः = घोड़े, गावः = गायें, हस्तिनः = हाथी, पुरुषाः = पुरुष, यत् किञ्च = जो कुछ भी, इदम् = यह जगत्, च यत् = और जो, पतत्रि = पक्षी, च = और, जङ्गमम् = चलने-फिरनेवाले जीव, स्थावरम् = नहीं चलने वाले वृक्षादि, प्राणि = सकल प्राणी, तत्सर्वम् = वह सब, प्रज्ञानेत्रम् = प्रकृष्ट ज्ञानचक्षु स्वरूप, प्रज्ञाने = प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्म में, प्रतिष्ठितम् = स्थित है, लोकः = भुवन, प्रज्ञानेत्रः = प्रज्ञा नेत्रवाला, प्रज्ञा = प्रकृष्ट ज्ञप्ति, प्रतिष्ठा = प्रतिष्ठा, प्रज्ञानम् = प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप, ब्रह्म = ब्रह्म है, सः = वह, अस्मात् = इस, लोकात् = शरीर से, उत्क्रम्य = निकलकर, अमुष्मिन् = उस, स्वर्गे लोके = ब्रह्मलोक में, एतेन प्रज्ञेन आत्मना = इस ज्ञानस्वरूप आत्मा द्वारा, सर्वान् कामान् = सभी कामनाओं को, आप्त्वा = पाकर, अमृतः = अजर-अमर, समभवत् = हो गया, समभवत् = हो गया ॥

व्याख्या—ये चार मुखवाले ब्रह्मा हैं, ये देवराज इन्द्र हैं, ये प्रजापति कश्यप हैं एवं ये समस्त अग्नि, वायु आदि देवगण हैं। पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज ये पाँच महाभूत प्रसिद्ध हैं। ये दूसरे अन्य छोटे-छोटे मच्छर, चींटी आदि शरीरों से मिले हुए उन बीज़ों का कारण है, नाना जातीयत्व इतर सकल प्राणी इसके द्वारा जाने जाते हैं, अर्थात् एक-दूसरे से विलक्षण बहुत भेदयुक्त हैं। चतुर्विध जीवों को दिखलाते हैं—यथा—१. अण्डज, २. जरायुज, ३. उद्भिज्ज तथा ४. स्वेदज। अण्डज = अण्डे से उत्पन्न होनेवाले पक्षी-सर्प इत्यादि जीव; जरायुज = जरायु से उत्पन्न होने वाले मनुष्य,

गौएँ, घोड़ें इत्यादि जीव; उद्भिज्ज = जमीन को फोड़कर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष, गुल्म, झाड़ी इत्यादि जीव और स्वेदज = कृमि इत्यादि—ये जीव शरीर के मल से उत्पन्न होते हैं। इस दृश्यमान स्थावर = जड़-जङ्गम चेतन जगत् में ऊपर बताये गये ये चार प्रकार के ही जीव हैं, ऐसा समझना चाहिये। ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त जो कुछ जगत् है वह सब ब्रह्मात्मक ही है। प्रकृष्टा ज्ञप्ति प्रज्ञा है, इसके द्वारा समस्त जगत् का ज्ञान होता है। सृष्टि, स्थिति और लय का मूल कारण नेत्र ही है जिसकी प्रज्ञा वह प्रज्ञानेत्र है। अर्थात् समस्त जगत् का मूलकारण रूप परब्रह्म ही है। समस्त चेतनाचेतन वस्तु पंखों वाले तथा चलने-फिरनेवाले और न चलनेवाले जड़ जगत् प्रपञ्च ब्रह्म से भिन्न है। जैसे कि सर्वनियन्तृत्व, सर्वात्मत्व, सर्वव्यापकत्व, स्वतन्त्रसत्त्व, सर्वाधारत्व आदि धर्मों से ब्रह्म का चेतन जीवों से एवं अचेतन जगत् से भेद है एवं अभेद अभिन्न भी है। जैसे—ब्रह्मात्मकत्व, ब्रह्मनियम्यत्व तथा ब्रह्म के अधीन स्थिति प्रवृत्तिमान होने से एवं ब्रह्मव्याप्य होने से यह सम्पूर्ण चर-अचर जगत् ब्रह्म से अभिन्न है। यही उपनिषद्वेत्ताओं का सिद्धान्त है। प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्म में सम्बद्ध (आश्रित) है। वही समस्त जगत् का आधार रूप है। उस परमात्मा में ही लोक = चौदह भुवन स्थित हैं। ज्ञान का साधन श्रुति और स्मृति जिसके नेत्र हैं। समस्त जगत् की प्रज्ञा-प्रतिष्ठा इसलिये प्रज्ञानब्रह्म है। इस प्रकार जाननेवाले के फल को श्रुति दिखलाती है—जो व्यक्ति प्रज्ञान ब्रह्म है–इस प्रकार जानता है वह इस पाञ्चभौतिक शरीर से निकलकर अर्थात् इस लोक का परित्याग कर प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा के साथ अपने रूप से आविर्भूत हो जाता है। अर्थात् इस लोक से उठकर वह ब्रह्मोपासक परम ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के साथ अपने स्वाभाविक विशुद्ध रूप में आविर्भूत होता है। उस ब्रह्मलोक में अर्थात् परमधाम में सभी मनोवाञ्छित फलों को पाकर जन्म और मृत्यु से रहित होकर रहता है। 'समभवत्' इस पद की दो बार आवृत्ति अध्याय की समाप्ति के लिए है।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥३॥

॥ ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् समाप्त ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्यागमूर्त्तिस्वामिधनञ्जयदासजीकाठियाबाबातर्क-तर्कव्याकरणतीर्थपादपद्मान्तेवासियोगिराजस्वामिराधाविहारिदासजी काठिया-बाबाचरणारविन्दचञ्चरीक डॉ. स्वामी द्वारकादासकाठियाबाबा कृत तत्त्वप्रभा हिन्दी टीका में ऐतरेयोपनिषद् समाप्त ॥

॥ श्रीश्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु ॥

अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् (मूलमात्र) । निर्णयसागर संस्करण

ईशादिनवोपनिषद् (ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-एतरेय-छान्दोग्योपनिषद्) । शाङ्करभाष्य सहित । पं० हरिरघुनाथभागवत

ईशावास्योपनिषद् । 'शाङ्करभाष्य' एवं हिन्दी व्याख्या सहित

Isavasyopanishad : English Translation by N. B. Iyer

उपनिषद्वाक्यमहाकोषः । (२३९ उपनिषदां वाक्यैः सम्भृतः) । श्री एस० गजानन सघाले

केनोपनिषत् । 'शाङ्करभाष्य' एवं 'भावप्रकाशिका' हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी

छान्दोग्योपनिषद् । मूल, शाङ्करभाष्य, पदच्छेद, अन्वयार्थ एवं हिन्दी टीका सहित । टीकाकार—रायबहादुर बाबू जालिम सिंह

अथर्ववेदसंहिता । 'सायणभाष्य', पदपाठ एवं पं० रामस्वरूप गौड कृत हिन्दी अनुवाद सहित । १-८ भाग

ऋग्वेदसंहिता । 'सायणभाष्य', पदपाठ एवं पं० रामगोविन्द त्रिवेदी कृत हिन्दी टीका सहित। १-९ भाग

सामवेदसंहिता । 'सायणभाष्य', पदपाठ एवं पं० रामस्वरूपशर्मा गौड़ कृत हिन्दी टीका सहित ।

शुक्लयजुर्वेदसंहिता । पदपाठ, उव्वट एवं महीधरकृत भाष्य एवं डॉ० रामकृष्ण शास्त्री कृत हिन्दी टीका सहित

शुक्लयजुर्विधानसूत्र । कात्यायन महर्षि । श्रीकालनाथ प्रणीत यजुर्मञ्जर्याख्य व्याख्या एवं स्वाहाकार प्रयोग प्रदीप सहित

आदिपुराण । श्रीश्यामसुन्दरलाल त्रिपाठी कृत हिन्दी अनुवाद सहित

कल्किपुराण । श्रीरामस्वरूपशर्मा कृत हिन्दी अनुवाद सहित

पुराणविमर्श । आचार्य बलदेव उपाध्याय

श्रीमद्देवीभागवतम् । मूलमात्र । सम्पा० पं० रामतेजपाण्डेय

मत्स्यपुराण । पं० कालीचरण एवं पं० बस्तीरामजी कृत हिन्दी अनुवाद सहित

मार्कण्डेयपुराण । भाषा टीका सहित

वामनपुराण । भाषा टीका सहित

अद्वैतसंग्रह । हिन्दी टीका सहित । वेदान्तविषयक प्रमुख ग्रन्थों का संकलन

अद्वैतसिद्धि । मधुसूदनसरस्वती । व्यासपतिकृत 'न्यायामृत' एवं स्वामी योगीन्द्रानन्द कृत 'अद्वैतसिद्धि' व्याख्या सहित